पर्यवेक्षक का प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीकृष्ण कुमार द्विवेदी ने मेरे निर्देशन में अनुसंधान कार्य कर प्रस्तुत शोध-प्रबंध तैयार किया है यह कृति उन्हीं का मौलिक प्रयास है। यह भी प्रमाणित किया जाता है कि उन्होंने दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई के शोध केन्द्र पर मेरे साथ दो सौ दिन उपस्थित रहकर प्रस्तावित विषय का अनुशीलन एवम् इस गवेषणात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

मैं उनको इस कार्य के लिए उन्हें पहले से ही हार्दिक बधाई प्रदान करता हूं, और परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि उनका भविष्य उज्ज्वल एवम् सार्थक हो।

दिनांक: २८ - ६ - १९९०ई०,

दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव

(डा० दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव),
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
उरई (उ०प्र०)।

श्रीमद् भागवत और तुलसी-साहित्य में वर्णित भक्ति का तुलनात्मक अनुशीलन :-

बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध
सन १९९०
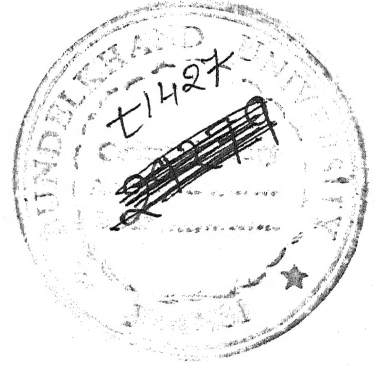
निर्देशक :
डॉ० दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव
वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
उरई (उ० प्र०)

अनुसंधाता :
कृष्णकुमार द्विवेदी
एम. ए. (गोल्डमेडलिस्ट)
१२६, नया रामनगर, उरई

शोध-केन्द्र
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उरई, (उ० प्र०)

प्राक्कथन

धार्मिक संस्कारों से संबंध परिवार में जन्म लेने से मुझे धार्मिक दार्शनिक एवम् भक्त्यात्मक कृतियों के अध्ययन में प्रारम्भ से ही रुचि रही है। मेरे पूर्वज भागवत् का पाठ और प्रवचन मंच से करते रहे तथा मेरे चाचा जी इसका नित्य पाठ स्वांत:सुखाय किया करते हैं। मैंने एम.ए.करने से पूर्व भागवत की कथा उन्हीं के श्रीमुख से सुनी और इसके अनुशीलन की सहज प्रेरणा जागृत हुई। तुलसी के मानस का नित्य पाठ मैं स्वयं तब से कर रहा हूं जबसे मैं हाई स्कूल का छात्र था। मैं इन दोनों ग्रंथों को समझने की शक्ति आजभी नहीं रखता तब उस समय की कहे कौन।तुलसी के शब्दों में - "तब अति रहेउ अचेत" कहा जा सकता है। मुझे यह अनुभव हुआ कि तुलसी के साहित्य और भागवत् के अनुशीलन में भक्त हृदय की ही रुचि हो सकती है। मैं भक्त होने का दावा पेश नहीं करता किन्तु यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि दिव्य प्रेम का बीज मुझे पैत्रिक रुप में प्राप्त हुआ है और उसके पोषणार्थ मुझे चतुर्दिक उपयुक्त वातावरण भी मिलता रहा है इसी ~~बीज से प्रेरित~~ होकर मैंने एम.ए. तक पहुंचते-पहुंचते भागवत और तुलसी-साहित्य का यथाशक्ति अध्ययन कर लिया है। इन दोनों में मुझे कुछ साम्य दृष्टिगोचर हुआ साम्य के इस आयाम से मैंनें अनुसन्धान के लिए प्रस्तावित विषय चयन किया। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इन दोनों में व्यक्त भक्ति का तुलनात्मक आकलन करने में कहां तक सफल असफल हुआ हूं, किन्तु मैंनें अद्यावधि अनालोचित पक्षों की गवेषणात्मक समीक्षा इसी रुप में की है कि यह शोध-प्रबंध तुलसी-साहित्य और भागवत् के अनुशीलन से कुछ आयामों का उद्घाटन कर सके। मेरी दृष्टि में मेरा यह प्रयास सर्वथा मौलिक है क्योंकि इस शीर्षक पर लिखा गया कोई ग्रंथ मुझे आज तक उपलब्ध नहीं हुआ।जहां तक आगे कि शोध सम्भावनाओं का प्रश्न है,हर अध्येता को स्वीकार करना पड़ेगा कि भागवत् और मानस जैसी कृतियों के रहस्योद्घाटन के लिए मनुष्य को एक जन्म तो कहे कौन कई जन्म लेने

पढ़ सकते हैं। रामधारी सिंह दिनकर ने अरविन्द के सावित्री महा-काव्य को पच्चीस बार अध्ययन करने के पश्चात भी कहा था कि मैं इसे आज भी समग्रता समझने का दावा नहीं कर सकता उनका यह कथन उक्त कृतियों के संबंध में भी चरितार्थ होता है। अतएव सुधी समीक्षक एवम् मनस्वी पाठक मेरी शक्ति और सीमा को ध्यान में रखते हुये मेरी हिमालयीय त्रुटियों के लिए मुझे क्षमा करेंगे।

इस कृति में जो कुछ भी तमस दिखायी पड़े उसे मेरा और जहां कहीं कोई प्रकाश मिले उसे विद्वानों का योगदान समझेंगे।

मैं इसका सर्वाधिक श्रेय श्रद्धेय गुरुवर एवम् निर्देशक-डा० दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव को प्रदान करते हुये भी अनुभव कर रहा हूं कि मैं इन शब्दों से उनके महत्व और योगदान को कहीं कम तो नहीं कर रहा हूं इस प्रबंध की रूप रेखा के निर्माण से लेकर उपसंहार तक उनका मार्गदर्शन मुझे पग-पग पर मिलता रहा है। मैं उनका हृदय से आभारी एवम् ऋणी हूं, मार्गदर्शन से भी बढ़कर उन्होंने मुझे कार्य करने के लिए अनेक बार प्रेरित किया है यदि उनकी प्रेरणा का आलोक न प्राप्त होता तो यह कार्य अपूर्ण ही पड़ा रहता।

डा० दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव के अतिरिक्त मैं उन सभी विद्वानों एवम् साथियों के प्रति आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूं। जिनसे मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कुछ सहायता प्राप्त हुई है।

विनयावनत
कृष्ण कुमार द्विवेदी
(कृष्ण कुमार द्विवेदी)

अनुक्रमणिका

रूप-रेखा :-

भूमिका (आलोच्य सामग्री का परिचय)

(क)- श्रीमद्भागवत का परिचय -	1 -	18
(ख)- तुलसी-साहित्य का परिचय-	19 -	39
(ग)- विषय की मौलिकता -	40 -	43

प्रथम अध्याय :-

भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन-

(क)- भक्ति की परिभाषा -

१- भागवत में	1 -	27
२- तुलसी-साहित्य में	28 -	38

(ख)- भक्ति के प्रकार -

१- भागवत में	39 -	69
२- तुलसी-साहित्य में	70 -	133

(ग)- भक्ति के अंग एवं साधन -

१- भागवत में	134 -	152
२- तुलसी-साहित्य में		

(घ)- भक्ति-पथ की बाधाएं -

१- भागवत में	153 -	188
२- तुलसी-साहित्य में	189 -	195

(ङ.)- बाधाओं से मुक्ति के उपाय -

१- भागवत में	196 -	239
२- तुलसी-साहित्य में	240 -	248

द्वितीय अध्याय:-

मुक्ति के भक्तीतर साधन और भक्ति -

(क)- ज्ञान और भक्ति -

१- भागवत में	249 -	254
२- तुलसी-साहित्य में	255 -	259

(ख)- कर्म और भक्ति -

१- भागवत में	260 -	264
२- तुलसी-साहित्य में	265 -	268

(ग)- योग और भक्ति -

१- भागवत में	269 -	274
२- तुलसी-साहित्य में	275 -	278

(घ)- सभी साधनों का समन्वय-

१- भागवत में	279 -	284
२- तुलसी-साहित्य में		

तृतीय अध्याय:-

भक्ति साधन और साध्य -

क- भागवत में	285 -	290
ख- तुलसी-साहित्य में	291 -	296

चतुर्थ अध्याय:-

भक्ति का आलंबन -

क- भागवत में 297 - 322
ख- तुलसी-साहित्य में 323 - 364

पंचम अध्याय:-

भक्ति का सामाजिक पक्ष:-

(क)- भक्ति और लोकमंगल की भावना -

१- भागवत में 365 - 369
२- तुलसी-साहित्य में 370 - 374

(ख)- शक्ति, शील, सौन्दर्य का समन्वय-

१- भागवत में 375 - 380
२- तुलसी-साहित्य में 381 - 392

(ग)- अन्य समन्वय-

१- भागवत में 393 - 398
२- तुलसी-साहित्य में 399 - 417

षष्ठम अध्याय:-

भक्ति के पात्र एवं उनके उद्गार-

क- भागवत में 418 - 454
ख- तुलसी-साहित्य में 455 - 589

सप्तम अध्याय:-

भक्ति एवं दार्शनिक सिद्धांत-

(क)- जगत् एवं माया का स्वरूप -

१- भागवत में 590 - 601
२- तुलसी-साहित्य में 602 - 625

(ख)- जीव का स्वरूप -

१- भागवत में 626 - 628
२- तुलसी-साहित्य में 629 - 636

(ग)- परम सत्ता का स्वरूप -

१- भागवत में 637 - 641
२- तुलसी-साहित्य में 642 - 656

अष्टम अध्याय:-

भक्ति का जनजीवन और साहित्य पर प्रभाव-

(क)- भागवती भक्ति का जनजीवन पर प्रभाव 657 - 664
(ख)- भागवती भक्ति का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव 665 - 680
(ग)- तुलसी की भक्ति का जनजीवन पर प्रभाव 681 - 701
(घ)- तुलसी की भक्ति का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव 702 - 717

नवम् अध्याय:-

उपसंहार - 718 - 747

परिशिष्ट :-

संदर्भ ग्रंथ-सूची - 1 - 12

रूप - रेखा

भूमिका- (आलोच्य सामग्री का परिचय)

(क) श्रीमद्भागवत का परिचय

(ख) तुलसी-साहित्य का परिचय

(ग) विषय की मौलिकता

श्रीमद्भागवत का परिचय :-

श्रीमद्भागवत संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत वैष्णव धर्म का अद्वितीय महापुराण है। इसमें विष्णु के नाना अवतारों की लीलात्मक चर्या का उपस्थापन है। इसमें श्रुतियों के ब्रह्म, गीता के पुरुषोत्तम एवम् (एवम) सांख्य के परमात्मा इन तीनों का विस्तृत विवेचन अनुस्यूत है। तत्वतः ये तीनों समशील नाम एक ही परम सत्ता के उपनाम (पर्याय) है। इन तीनों का भागवतकार भगवान शब्द में सन्निहित कर देते हैं।[१] आगम साहित्य एवम् विष्णु पुराण के आधार से यही भगवान क्रमशः षडैश्वर्य सम्पन्न, सृष्टि के उत्पादक, पालक एवम् संहारक बताए जाते हैं।[२] वही इस जगत के परम कारण हैं। उन्हीं से ये जगत् आविर्भूत है, उन्हीं से इसका संयमन तथा उन्हीं में गतियां सम्भव होती हैं। वही सृष्टि के उपादान एवम् निमित्त कारण हैं। परमसत्ता के ये विविध नाम ज्ञानी की ज्ञान साधना के लिए योगी की उपासना के लिए तथा भक्त द्वारा भगवान की भजनीयता के लिए व्यक्त किए गए हैं। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि श्रीमद्भागवत भागवती भक्ति का सर्वश्रेष्ठ पौराणिक ग्रंथ है।[३] इसकी नामकरण से ही विलक्षण उद्भावना -

---

१- श्रीमद्भागवत- १।२।११- 'वदन्ति तत्तत्व विदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

२- विष्णुपुराण- ६।५।७४- 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरितः ।।

३- अहि० सं०- २।५४-६१,
२।२८ -' षाड्गुण्य गुणयोगेन भगवान परिकीर्तितः ।'

का संकेत अभिव्यक्त होता है। 'मा' अक्षर से प्रकाश मान सच्चिदानन्द का संकेत दृष्टिगोचर होता है -- 'मा' प्रकाशेचिदानन्दे। 'ग' वर्ण से भगवान के सन्दर्भ में लौकिक गति प्रवाहमान है -- गतिर्यस्यात्र लौकिकी। 'व' अक्षर भागवत को सब शास्त्रों में वरिष्ठ बतला रहा है :- वरिष्ठं सर्व शास्त्राणाम्। और अन्तिम अक्षर तकार इस तथ्य को उजागर कर रहा है कि यह ग्रंथ भवार्णव से पार जाने के लिए एक मात्र तरणि-नाव है। इसप्रकार इसकी सांकेतिक व्याख्या यह है कि यह ग्रंथ प्रकाशरुप सच्चिदानन्द के विषय में लौकिक उपाय को बतलाने वाला, सब शास्त्रों में वरिष्ठ और इस संसार सागर से पार जाने के लिए निरुपायमुक्त एक सुदृढ़ नौका है।[1] श्रीमद्भागवत के स्वरुप पर जब हम विहंगम दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यह द्वादश स्कन्धों में विभाजित भगवान के विराट स्वरुप का प्रतिपादक है। यह भक्त को भजनीय के महात्म्य ज्ञान की अपूर्वता से अवगत कराता है। पद्मपुराणकार ने श्रीमद्भागवत को विराट पुरुष के विविध शारीरिक अवयवों के आधार पर ही इसकी साम्यता को व्यक्त किया है। कहा गया है -- विराट पुरुष में व्याप्त भगवान के चरण भागवत के प्रथम एवम् द्वितीय स्कन्ध है। तृतीय और चतुर्थ स्कन्धों को जंघा, पंचम को नाभि, षष्ठ को वक्ष स्थल, सप्तम-अष्टम को बाहु, नवम को कण्ठ, दशम को मुख, एकादश को ललाट तथा द्वादश स्कन्ध को मूर्धा कहा गया है।[2]

१- उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण विमर्श, योगाङ्क: गीताप्रेस गोरखपुर,

२- 'पद्मपुराण भागवत माहात्म्य:-

'पादौ यदीयौ प्रथम द्वितीयौ तृतीय तुर्यौ कथितौ यदूरु।
नाभिस्तथा पंचम एवं षष्ठो भुजान्तरं दोर्युगलं यथान्यौ।
कण्ठस्तु राजन्‌ नवमो यदीयो मुखारविन्दं दशमं प्रफुल्लम्।
एकादशो यश्च ललाटपट्टं शिरोऽपि यद द्वादश एव भाति।।
नमामि देवं करुणा निधानं तमाल वर्णं सुहिताववतारम्।
अपार संसार समुद्र सेतुं भजामहे भागवत स्वरुपम्।।

कौशिकी संहिता का भागवत माहात्म्य उक्त भाव की संपुष्टि करता है --

'पादादि जानु पर्यन्तं स्कन्धश्चैरितः ।
तदूर्ध्वं कटि पर्यन्तम् द्वितीयस्कन्ध मच्यते ।
तृतीयो नाभिरित्युक्तश्चतुर्थं उदरं मतम् ।
पंचमो हृदयं प्रोक्तं षष्ठः कण्ठः सबाहुकम् ।
सर्वं लक्षणं युक्तं सप्तमो मुखमोच्यते ।
अष्टमश्चक्षुषी विष्णोः कपोलौ भृकुटिः परः ।
दशमो ब्रह्मरन्ध्रं च मन एकादश स्मृतः ।
आत्मातु द्वादश स्कन्धः श्रीकृष्णस्य प्रकीर्तितः ।।'

अतः स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत का द्वादश स्कन्धों में वर्णित भगवान के द्वादश अंगों के रूप में अभिव्यक्त करना भक्त के मन में अनुराग और प्रतीति को जागृत करना है ।

महापुराणत्वः-

प्रायः यह अवेदाणीय है कि तुलसी की सम्पूर्ण कृतियां काव्य कृतियां हैं और महर्षि वेदव्यास का पुराण विश्व की आप्त संस्थापित मान्यताओं का आकर कोश है । मत्स्य पुराण में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है :--

'जिस ग्रंथ में गायत्री छन्द की अभिव्यक्ति द्वारा उद्देश्य का प्रवर्तन हो, इसके धर्मतत्व का सार सन्निहित हो, वृत्रासुर वध की कथा

१- कौशिकी संहिता भागवत माहात्म्य

अनुस्यूत हो एवम् १८ हजार श्लोक में सम्पादित हो, वही भागवतपुराण है।[1] अतः गायत्री धर्म विस्तारक एवम् वृत्रासुर के बध से युक्त वर्णन वाले ग्रंथ को भागवत कहते हैं।[2]

स्कन्द पुराण के अनुसार:-

स्कन्दपुराण में भागवत्पुराण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है — "द्वादश स्कन्ध, अष्टादश सहस्र श्लोक, हय ग्रीव चरित्र, ब्रह्म विद्या, वृत्रासुर बध वर्णन युक्त एवम् गायत्री से आरम्भ होने वाले ग्रंथ को ही भागवत कहते हैं।[3]

गरुड़ पुराण के अनुसार:-

गरुड़ पुराण पूर्ववर्ती कृतियों के प्रभाव की सादृश्यता के आधार पर लक्षण की मान्यता उपस्थापित करता है कि जिसमें ब्रह्मसूत्र का अर्थ, महाभारत का तात्पर्य निर्णय, गायत्री का भाष्य एवम् समस्त वेदों का सार

१- "मत्स्यपुराण- ५३।२१-२२

"यत्राधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्म विस्तरः।
वृत्रासुर वधोपेतं तद् भागवत् मुंच्यते ।।

२- मत्स्य पुराण भागमाहात्म्य -५३।३०-३२

"यत्रापि कृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्म विस्तारः।
वृत्रासुर वधो पेतं तद् भागवत मिष्यते ।।

३- स्कन्दपुराणः- "ग्रन्थोऽष्टा दश सहस्रो द्वादश स्कन्ध सम्मितः।
हयग्रीव ब्रह्म विद्या यत्र वृत्र वध स्तथ।
गायत्र्याच समारम्भस्त देव भागवतं विदुः ।।"

सन्निहित हो, वह भागवत पुराण है।[1] पद्म पुराणकार की एक और मान्यता है कि जिस शास्त्र के स्वाध्याय से सांसारिक विरति एवम् मोक्ष लाभ हो वह भी भागवत है --

'अम्बरीष शुक प्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु ।
पठस्व मुखे नापि यदिच्छसि भवक्षयम् ।।'[2]

तथा इसके साथ-साथ यह भी निर्दिष्ट करते सत्यवती नन्दन व्यास जी को महाभारत एवम् सत्तरह पुराण लिखने में जब आत्मशान्ति नहीं प्राप्त हुई तब नारद की प्रेरणा से विश्व के प्राणियों के कारुण्य भाव से विगलित, व्यास मानस, सरस्वती तट पर इस ग्रंथ का प्रणयन करते हैं।[3]

भागवत् मर्मज्ञ स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती इस श्रीमद्भागवत की रचना को केवल समाधि भाषा ही नहीं मानते जबकि पूर्वाचार्यों ने अपने मत का वैशिष्ट्य प्रदर्शन किया।[4] बल्कि इस महापुराण में समाधि भाषा, परकीय भाषा एवम् लौकिकी भाषा का अन्तर्मिलन भी मानते हैं।

१- गरुड़-पुराण:- 'अर्थोऽयं ब्रह्म सूत्राणां भारतार्थ विनीर्णय: ।
गायत्री भाष्य रूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहित: ।
पुराणानां सार रूप: साक्षात भगवतोदित: द्वादश-स्कन्ध संयुक्त: शतविच्छेद संयुत: । ग्रन्थोऽष्टादश-साहस्र: श्रीमद्भागवताभिध: ।।'

२- पद्मपुराण :-

३- पद्मपुराण - 'दश सप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवती सुत: ।
नाप्तवान मनस्तोषं भारते नापि भामिनी ।।
चकार संहिता मेतां श्रीमद्भागवतीं परां ।

४- शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, पृ०-४६ - 'वेदा: श्रीकृष्ण-वाक्यानि व्यास-सूत्राणि चैव हि ।
समाधि: भाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम् ।।'

उनके मतानुसार "तीन गुण, तीन भाव, और त्रिविध अधिकारी भेद से वेदार्थ भी त्रिविध होते हैं। ..... न केवल वेद अपितु संसार की समस्त वस्तुएं त्रिविध भाव से व्याप्त हैं जैसे 'नेत्र' शब्द से अधिभूत भाव में नेत्र गोलक, आधिदैव भाव में सूर्य, और अध्यात्म भाव में रूपतन्मात्रा इंद्रिय का ग्रहण होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पुराण भी त्रिविध शैली में वर्णित है। 'पुराण संहिता' के अनुसार शास्त्रों की भाषा भी त्रिविध होती है -- समाधि भाषा, परकीय भाषा, और लौकिकी भाषा। जिसमें बिना रूपक आदि की सहायता के समाधि गम्य विषयों (जीव बुद्धि) का स्पष्टत: वर्णन हो उसे समाधि भाषा कहते हैं और समाधि गम्य विषयों का जब रूपक अथवा लौकिक विषयों के समान वर्णन हो तो उसे लौकिकी भाषा कहते हैं -- जैसे ब्रह्मा का अपनी कन्या पर मुग्ध होना (बृहेव स्वा दुहितर मभ्यध्यायत "ऐत-३।३३")। परकीय भाषा उसे कहते हैं जिसके द्वारा धर्म संस्थापनार्थ किसी लोक, कल्प या व्यक्ति की यथार्थ कथा कही गयी हो। इन्हीं त्रिविध भाषाओं द्वारा पुराण वेदार्थ को स्पष्ट करते हैं।[१]

अत: तुला के निकष पर जब हम श्रीमद्भागवत में उक्त मान्य शर्तों का परीक्षण करते हैं तो स्पष्ट होता है कि यह भागवतपुराण गायत्री से प्रारम्भ होता है।[२] और गायत्री पर ही इसकी इतिवृत्ति है।[३] षष्ठम स्कन्ध में वृत्रासुर वध की कथा का विस्तार की क्रमबद्धता है।[४] हयग्रीव चरित्र ब्रह्म विद्या, द्वादश स्कन्ध, अष्टादश सहस्र श्लोक,[५] ३३५ अध्याय[६] तथा

१- श्रीमद्भागवत रहस्य- पृष्ठ- ३४

२- श्रीमद्भागवत- १।१।१,- "सत्यं परं धीमहि"

३- श्रीमद्भागवत- १२।१३।१६,- "कस्मै येन...... सत्यं परं धीमहि ।।

४- श्रीमद्भागवत- ६।६+१०-११-१२

५- श्रीमद्भागवत- माहात्म्य से द्वादश स्कन्ध मार्कण्डेय कथा तक इसका विवेचन है।

६- [illegible]- गौरी तंत्र में ३३५ अध्याय की पुष्टता का प्रमाण का उद्घोष है:-

समस्त वेदों का सार भी विवेचित किया गया है।[१] इस ग्रंथ का आधार प्रेरक स्रोत ही महाभारत पुराण है। पुराण पुरुष विश्व नेता भगवान श्रीकृष्ण हैं

देखें पिछले पृष्ठ की पादटिप्पण- ६

(क)- "ग्रन्थोऽष्टादश साहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः।
पंचत्रिंशोत्तराध्याया त्रिशता युक्त ईश्वरि ॥"
- गौरी तंत्रमाहात्म्य -

(ख)- कौशिकी संहितान्तर्गत भागवत माहात्म्य में सम्पूर्ण ग्रंथ की अध्याय संख्या पृथक पृथक गिनाकर उनका योग तीन सौ पैंतीस सिद्ध किया गया है --

"स्कन्धेषु सर्वेषां गतां बुवेऽहमध्याय संख्यां शृणुते द्विजेन्द्रा।
स्कोनविंशा दश राम रामा स्तथैक त्रिंशद रस नेत्र संख्याः
नन्देदु संख्या शर चन्द्र संमिताश्च चतुर्दयं चाग्रिमके तथैव।
खनन्द संख्या विधुर्वान्हि संख्या अध्याय संख्या क्रमतस्त्रिरूपाः
कौशिकी संहिता भागवत माहात्म्य।

प्रथम स्कन्ध में १४, द्वितीय स्कन्ध में १०, तृतीय स्कन्ध में ३३, चतुर्थ स्कन्ध में २६, षाष्ठ स्कन्ध में १६, सप्तम स्कन्ध में १५, अष्टम स्कन्ध में २४ नवम स्कन्ध में २४, दशम स्कन्ध में ९०, एकादश स्कन्ध में ३१, द्वादश स्कन्ध में १३, इसप्रकार पूर्णयोग ३३५ होता है। यही मान्यता मुझे भी प्रामाणिक एवं सटीक लगती है। जबकि अन्य आचार्यों के मत में वैषम्य दीखता है--

पद्मपुराण तथा चित्सुखाचार्य के अनुसार:- श्रीमद्भागवत में ३३२ ही अध्याय होने चाहिए। और इसी आधार पर दशम स्कन्ध के १२, १३, और १४वें अध्याय को एक आचार्य ने प्रक्षिप्त माना है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्धान्तर्गत १२, १३, १४वें अध्याय को सुबोधिनी टीकाकार श्री बल्लभाचार्य जी तथा शुकपक्षीयाटीकाकार- श्री रामानुज मतानुयायी श्री सुदर्शन सूरी ने प्रक्षिप्त माना है।"

१- श्रीमद्भागवत-१२।१३।१५- "सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवत मिष्यते।
तद्रसामृत तृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥

श्रीमद्भागवत-१२।१३।१२- सर्व वेदान्त सारं यद ब्रह्मात्मैक त्व लक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैक प्रयोजनम् ॥

वैसे इन्हें ही भागवतकार ने परिपूर्णतम अवतार मानकर सृष्टि के आश्रय तत्व का आधार माना है।[१] उपक्रम उपसंहार, अर्थवाद क्रमवद्धता, प्रयोजन एवम् सिद्धि की दृष्टि से भागवतकार के साध्य यही श्रीकृष्ण है जो जगत की उत्पत्ति स्थिति और संहार के परमकर्ता है। इन्हीं की लीला का बखान एवम् इनकी प्राप्ति ही भागवतकार का लक्ष्य है। यही कृष्ण वेदों के तात्पर्य, यज्ञों के उद्देश्य, योग के साध्य लक्ष्य, और सभी कर्मों की सिद्धि के दाता हैं। यही ज्ञान से प्राप्त ब्रह्म स्वरुप हैं। यही तपस्या के आधेय हैं। यही समस्त कर्मों के अनुष्ठान के परम सिद्धि रुप हैं। और यही समस्त गतियों का परम गति है। यही कृष्ण त्रिगुणात्मक पुरुष एवम् प्रकृति से अतीत एवम् प्रपंचात्मक सृष्टि के सृष्टि दाता हैं, पर तत्वत: निर्लेप एवम् निर्विकार है।[२]

१- 'आश्रय' शब्द का अर्थ जीवों के शरण लेने योग्य भगवान अथवा व्यक्त-अव्यक्त, आभास और निरोध का अधिष्ठान निरपेक्ष साक्षी ब्रह्म है। इसी आश्रय तत्व की उपलब्धि के लिए अन्य नौ विषयों का वर्णन हुआ। सर्ग विसर्ग आदि के वर्णन द्वारा भगवान की अनन्त महिमा और ब्रह्म के स्वरुप का बोधकराकर अविद्या को निवृत्त कर देना ही श्रीमद्भागवतका उद्देश्य है। श्रीमद्भागवत रहस्य- पृष्ठ- १२'

२- श्रीमद्भागवत- १।२।२८-२९-३०,

'वासुदेव परा वेदा वासुदेव परामखा: ।
वासुदेव परा योगा वासुदेव पराक्रिया: ।।
वासुदेव परं ज्ञानं वासुदेव परं तप: ।
वासुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गति: ।।
स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्म मायया ।
सद सद्रूपया चासौ गुणमय्या गुणो विभु: ।।

प्रतिपाद्य विषय:-

श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य परम सत्य ही है। इसीलिए इसका प्रारम्भ तथा अवसान 'सत्यंपरमं धीमहि'[1] से हुआ है। वर्णन की सुविधा की दृष्टि से इस प्रतिपाद्य का नाम कहीं भगवान, कहीं ब्रह्म, कहीं परमात्मा और कहीं वासुदेव रखा गया है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान वैराग्य भक्ति सहित परब्रह्म स्वरूप नैष्कर्म्य के अविष्कार के लिए ही भागवत का प्रणयन हुआ है।[2] स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती के मतानुसार 'श्रीमद्भागवत वेद रूप कल्पवृक्ष का सुस्वादु रस रूप फल है इसलिए अपना अपना दृष्टि से सभी उसमें अपना सिद्धान्त प्राप्त करते हैं।[3] अत: युग की पृष्ठभूमि के आधार पर वह ग्रंथ द्वापर युग की ओर प्रेरित करता है, इस स्तर से महर्षि वेदव्यास ने प्रतिपाद्य तत्व भगवान वासुदेव को माना। वही निर्गुण निराकार अकल अरूप स्वयम् ब्रह्म है। भक्तों के कारुण्य वश सगुण रूप में अवतार ले लेकर नर जैसा लीला चरित करते हैं।[4] और विमोहित जीव को अविद्या से निवृत्त कराते हैं।

१-श्रीमद्भागवत-१।१।१, तथा १२।१३।१६

२- श्रीमद्भागवत-माहात्म्य- ६।८१-८२

३- श्रीमद्भागवत रहस्य- पृ० ४६-५४, तथा भागवतांक, पृ० ५६-६१

४-(क)श्रीमद्भागवत-११।१३।११-

'राजन परस्य तनुभृज्जन नाप्ययेहा माया बिडम्बनमवेहि यथा नटस्य।
सृष्टवाऽऽत्मने दमनुविश्य विहृत्य चान्ते संहृत्यचात्ममहि मोपरत: स आस्ते।।

अन्यत्र- श्रीमद् भागवत-१।३।३६, ३।६।१४, ४।७।४३, ७।८।४०,
१०।५०।३०, (जीव के कल्याणार्थ-श्रीमद्०-८।१२।११)

(ख)-रा०मा०- ७।७२, ७।७३।१-

'भगवत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनुभूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।।
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावहि आपुन होइ न सोइ।।

भागवतकार ने समाधिदशा में साक्षात्कार किए परमात्मा को विश्व प्राणियों के कारुण्य वश भक्ति सरिता का प्रवाह मानसोदगार से रसामृत वाणी में प्रवाहित किया जिसमें सांगोपांग भक्ति की महिमा का ही यशोगान है। इस संसार में मनुष्य के लिए सबसे बड़ा स्वार्थ एवम् परमार्थ यही है कि वह अनन्य भक्ति से भगवान कृष्ण में अनुरक्ति स्थापित कर ले।[1] यही जीव का सबसे बड़ा कर्तव्य एवम् धर्म है कि वह किसी भी साधन का आधार लेकर भक्ति गंगा में स्नान कर ले और भगवान के नाम संकीर्तन द्वारा अविचलित मन की धारणा एक निष्ठ कर ले।[2] यही मनुष्य योनि में प्राप्त हुए सार्थक जीवन का लक्ष्य है।[3] इसी भक्ति रस की उपस्थापना में भागवतकार इस ग्रंथ की इतिवृत्ति करते हैं।[4] श्रीमद्भागवत महापुराण में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वतर, ईशकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय- इन दस विषयों पर भी गम्भीरता से विवेचन किया गया है।

१- श्रीमद्भागवत- ७।७।५५ -

'एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्त भक्ति-र्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥

२- श्रीमद्भागवत- ६।३।२२-

'एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्ति योगो भगवति तन्नाम ग्रहणादिभिः॥'

३- श्रीमद्भागवत- ७।६।२ -

यहा हि पुरुषस्येह विष्णोः पाद समर्पणम्॥

४- श्रीमद्भागवत-माहात्मय- १।१ -

'नमो वयं भक्ति रसाप्तये अनिशम्॥

कौषाोक्त पुराण लक्षण के अनुसार- सर्ग, विसर्ग, वंश, मंवन्तर और वंशानुचरित जिन पुराणों में विवेचित हो वही महापुराण कहलाता है, लेकिन इसका अन्तिम भागवत में आश्रय तत्व का निर्देश किया गया है, यही भागवतकार का प्रतिपाद्य विषय है। आश्रय का अर्थ जीवों के शरण लेने योग्य भगवान् अथवा व्यक्त अव्यक्त आभास और निरोध का अधिष्ठान निरपेक्ष साक्षी ब्रह्म है। यही ब्रह्म तत्व भगवान् श्रीकृष्ण ही है। वास्तव में ब्रह्म सूत्र के ब्रह्म गीता के पुरुषोत्तम और श्रीमद् भागवत के श्रीकृष्ण एक ही परम तत्व के बोधक हैं।[१] इसी आश्रय तत्व की उपलब्धि के लिए अन्य नौ विषयों का वर्णन विस्तार से किया गया है। सर्ग विसर्ग आदि के वर्णन के द्वारा भगवान की अनन्त महिमा और ब्रह्म के स्वरूप को बोध कराकर अविद्या को निवृत्त कर देना ही भागवत का उद्देश्य है। यों तो श्रीमद्भागवत के प्रत्येक स्कन्ध में आश्रय तत्व का निरूपण किया गया है तथा सगुण आकार रूप आश्रय का दशम स्कन्ध में और निर्गुण निराकार रूप आश्रय का बारहवें स्कन्ध में विशेष वर्णन हुआ है। द्वितीय स्कन्ध के दशवें अध्याय में और बारहवें स्कन्ध के सातवें अध्याय में आश्रय तत्व का लक्षण इस प्रकार किया गया है कि सृष्टि और प्रलय अथवा विषय प्रतीति एवं उसका अभाव दोनों ही जिसके द्वारा प्रकाशित होते हैं, वह परब्रह्म ही आश्रय अर्थात अधिष्ठान है,

---

१- श्रीमद्भागवत- १।२।११-१२,

"वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

,, १०।१४।५५ कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानम खिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ।।"

उसी को परमात्मा कहते हैं।[१]

श्रीमद्भागवत की चतुश्लोकी व्याख्या द्वारा आश्रय तत्व का ही संकेत निर्दिष्ट होता है।[२]

सर्ग:- सर्ग का आशय सृष्टि है। "परमात्मा" के द्वारा साम्यावस्था प्रकृति में क्षोभ होने पर गुणों की विषमता से महत्तत्व, त्रिविध अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रिय और पंचभूतों की जो सृष्टि होती है, उसे ही सर्ग संज्ञा से अभिहित करते हैं।[3]

१- श्रीमद्भागवत- २।१०।७-६

"आभासश्च निरोधश्च यतश्चाप्यवसीयते।
स आश्रय: परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुष: सोऽसावेवाधिदैविक:।
यस्तत्रोभयविच्छेद: पुरुषो ह्याधिभौतिक:।
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय:।।

श्रीमद्भागवत- १२।७।१६ "व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रय:।।

२- श्रीमद्भागवत- २।६

३- श्रीमद्भागवत- २।१०।३ -

"भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृत:
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्......।।"

श्रीमद्भागवत- १२।७।११-

"अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहम:।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भव: सर्ग उच्यते।।"

विसर्ग:-

ब्रह्मा की सृष्टि का नाम विसर्ग है। ब्रह्मा के द्वारा जीवों की वासना के अनुसार जो एक बीज से दूसरे बीज का होना- चराचर की सृष्टि है, वही विसर्ग है। वासना विशिष्ट सृष्टि का नाम विसर्ग है।[१]

स्थान:-

प्रतिपद नाश की ओर बढ़ने वाली सृष्टि को एक मर्यादा में स्थिर रखने से भगवान् विष्णु की जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है।

पोषण:-

भगवान् के द्वारा संरक्षित सृष्टि में भक्तों के ऊपर की गयी कृपा पोषण है।

मन्वन्तर:-

मन्वन्तरों के अधिपति जो भगवद् भक्ति और प्रजापालन रूप शुद्ध धर्म का अनुष्ठान क्रियान्वित करते हैं उन्हें मन्वन्तर कहते हैं।

१- श्रीमद्भागवत- २।१०।३ - 'विसर्गः पौरुषः स्मृतः।

श्रीमद्भागवत- १२।७।१२-

'पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्।।

ऊति:-

जीवों को वे वासनाएं, जो कर्म के द्वारा उन्हें बन्धन बद्ध करती हैं, ऊति कहलाती हैं।[1]

ईशकथा:-

भगवान् के विभिन्न अवतारों के और उनके प्रेमी भक्तों की विविध आख्यानों से युक्त गाथाएं ईशानुकथा हैं।[2]

निरोध:-

जब भगवान योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीव का अपनी उपाधियों के साथ उनमें लीन हो जाना निरोध है।

मुक्ति:-

आत्यन्तिक प्रलय का नाम मुक्ति है। अर्थात अज्ञान कल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्मभाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है।[3]

अत: ये (६) विषयों के द्वारा जीव या भक्त भगवान के दिव्य ऐश्वर्य की अनन्य महिमा से प्राप्त तत्व ज्ञान से सम्पन्न होकर भक्ति की आराधना करता है।

१- श्रीमद्भागवत-२।१०।४- क्रमश: स्थान, पोषण, मन्वंतर और ऊति का लक्षण देखिये :- "स्थितिर्वैकुण्ठविजय: पोषणं तदनुग्रह: ।
मन्वन्तराणि सद् धर्म ऊतय: कर्म वासना ।।

२- श्रीमद्भा०-२।१०।५- "अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
सतामीश कथा: प्रोक्ता नानाख्या नोपबृंहिता: ।।

३- श्रीमद्भा०-२।१०।६- "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मन: सह शक्तिभि: ।
मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति: ।।

श्रीमद्भागवत का रचना काल:-

श्रीमद्भागवत के रचनाकाल के सम्बन्ध में संशय बोपदेव के कारण उत्पन्न हुआ है। बोपदेव का काल तेरहवीं शताब्दी है। उन्होंने 'मुक्ता फल' 'हरिलीलामृत' 'परम हंस प्रिया' आदि छब्बीस ग्रन्थों का प्रणयन किया था। यदि भागवत बोपदेव की रचना होती तो हेमाद्रि उनके द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रसंग में उसकी चर्चा अवश्य करते।[1] इसका समर्थन करते हुये भागवत रहस्य में लिखा है कि --'.... जैसे श्रीधर स्वामी ने प्रत्येक अध्याय का संग्रह एक-एक श्लोक में किया है तथा जैसे 'भागवत मंजरी' नामक ग्रन्थ में सारे भागवत का सारांश दे दिया गया है वैसे ही बोपदेव की भी स्थिति है। यह भ्रम मुक्ता फल और उस पर लिखी गयी हेमाद्रीकृत 'कैवल्य दीपिका' टीका को न देखने के कारण ही हुआ है। दूसरी बात यह है कि हेमाद्रि ने--'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' एवम् दान खण्ड में भागवत के वचन उद्धृत किए हैं। यदि भागवत बोपदेव कृत होता, तो धर्म निर्णयप्रसंग में हेमाद्रि उसका उद्धरण न देते।'[2] इसके अतिरिक्त निम्नलिखित प्रमाण भी भागवत को अति प्राचीन सिद्ध करते हैं। --

---

१- यस्यव्याकरणे वरेण्य घटना: स्फीता: प्रबन्धादश।
प्रख्यातानववैद्यकेऽपि तिथि निर्धारार्थ मेकोऽद्भुत: ।।
साहित्येत्रय एव भागवत तत्वोक्तौत्रयस्तस्यच।
भूर्वाणि शिरोमणेरिहगुणा: के के न लोकोत्तरा:।
हेमाद्रि द्वारा कथित बोपदेव ग्रन्थ सूचि।

२- श्रीमद्भागवत रहस्य, पृ० ४७

१- द्वैत मताचार्य-श्री मध्वाचार्य का काल ईसा की बारहवीं शताब्दी का अन्तिम समय (सन् ११९९) माना जाता है। इन्होंने भागवत पर "भागवत तात्पर्य निर्णय" नामक टीका लिखी है। यदि मध्वाचार्य से पूर्व भागवत प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्य न होता तो वे उस पर टीका क्यों लिखते? उन्होंने अपने पूर्ववर्ती टीकाकार आचार्य, शंकर, हनुमान, चित्सुखाचार्य आदि का अपनी टीका में उल्लेख कर श्रीमद्भागवत को प्राचीनतर सिद्ध किया है। उन्होंने गीता की टीका में "नारायणाष्टाक्षरकल्प" का एक उदाहरण दिया है जिसमें श्रीमद्भागवत को पंचवेद कहा गया है।[१]

२- विशिष्टा द्वैत- श्रीसम्प्रदायचार्य श्री रामानुजाचार्य (१०१७ ई०) ने अपने वेदान्त तत्वसार में श्रीमद्भागवत के नामोल्लेख पूर्वक "वेद स्तुति" एवम् "एकादश स्कन्ध" के वचन उद्धृत किए हैं। इनका मुख्य कार्यकाल ग्यारहवीं शताब्दी तथा मध्वाचार्य से पर्याप्त पूर्व है।[२]

प्रसिद्ध भागवतान्वेषी श्रद्धेय स्वामी अखण्डानन्दजी ने श्रीमद्-भागवत की प्राचीनता तथा उस समय राधा की विद्यमानता का समर्थन करते हुए कल्याण भागवतांक में लिखा है कि --"राजशाही जिले में जमालपुर स्टेशन से तीन मील दूर "पहाड़पुर" ग्राम है जिसका प्राचीन नाम "सोमपुर धर्मपाल विहार" है। सन् १९२७ ई० को खुदाई में वहाँ बहुत -सी मूर्तियाँ, स्तूप और शासन पत्र प्राप्त हुए हैं। पुरतत्वविदों के अनुसार प्राप्त सामग्री पाँचवीं सदी की है। प्राप्त सामग्री में राधाकृष्ण की युगल मूर्ति भी है।

१- "बोपदेव का कार्य काल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है और श्रीमध्वाचार्य - का पूर्वार्ध।"

२- "वेद स्तुति" श्रीमद्भागवत- १०।८७ ,

आधुनिक अन्वेषकों का मत है कि 'श्रीमद्भागवत' से पूर्व श्रीराधाकृष्ण की युग उपासना प्रचलित न थी, अन्यथा श्रीमद्भागवत में राधा की चर्चा भी अवश्य होती। यदि थोड़ी देर के लिए उनकी बात मान भी ली जाय, तो भी पांचवीं सदी में राधाकृष्ण की मूर्तियों का मिलना इस बात को सूचित करता है कि श्रीमद्भागवत की रचना उससे पूर्व हो चुकी थी।[1] कलियुग का भविष्यवत वर्णन तो इसे स्पष्ट ही द्वापर (५००० वर्ष पूर्व) की रचना मानने पर विवश कर देता है।[2]

इन प्रमाणों के अतिरिक्त जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि भारत के प्राय: सभी विद्वान, आचार्य और सन्तों ने 'श्रीमद्भागवत' के प्रमाण उद्धृत कर अपनी कृतियों को गौरवान्वित बनाया है। इन सबके काल को देखते हुये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ईसा के पूर्व भी किसी न किसी रूप में श्रीमद्भागवत अवश्य विद्यमान था अत: किसी भी प्रकार इसे आधुनिक ग्रन्थ कहना समीचीन नहीं अब प्रश्न उठता है श्रीमद्भागवत के रचनाकाल -- ? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें दृष्टव्य हैं। 'पद्मपुराणान्तर्गत' भागवत माहात्म्य 'श्रीमद्भागवत के तीन सप्ताहों का वर्णन आता :--

---

१- अल्बेरुनी लिखित पुस्तक का नाम है 'हिन्दू मजहब' इसका १९१४ ई० में 'सचाऊ' नामक अंग्रेज विद्वान् ने अंग्रेजी में अनुवाद किया जिसे टबनर बुक सीरीज, लन्दन ने प्रकाशित किया।

२- श्रीमद्भागवत - ५।६।९-११

१- श्रीकृष्ण के परम धाम गमन के पश्चात् तीस वर्ष कलियुग बीत जाने पर भाद्रपद शुक्ला नवमी से शुकदेव ने परीक्षित को 'श्रीमद्भागवत' सुनाना आरम्भ किया था ।

२- उपरोक्त समय के दो सौ वर्ष पश्चात् अर्थात् कलियुग सम्वत् २३० आषाढ़ शुक्ला नवमी से 'गोकर्ण' ने 'धुन्धुकारी' को 'भागवत' सुनाया था ।

३- उक्त समय के तीस वर्ष पश्चात् अर्थात् कलियुग सम्वत् २६० में सनत्कुमार आदि ने यह कथा सुनाई थी ।[१]

इन सन्दर्भों से सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने परमधाम गमन के पश्चात् तीस वर्ष के भीतर ही श्री व्यास जी ने 'श्रीमद्भागवत' और 'महाभारत' का निर्माण करके अपने शिष्यों को पढ़ा दिया था। उपरोक्त विवेचन के पश्चात् हम 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के रचयिता श्री बलदेव उपाध्याय' के साथ सहमत होते हुए स्वीकार करते हैं कि --"... उक्त प्रकार से विवेचित भारतीय परम्परा के अनुसार इसे (श्रीमद्भागवत को) पांच हजार वर्ष पुराना होना चाहिए ।"[२]

--

१- 'पद्म पुराण' भागवत माहात्म्य अध्याय ६ तथा श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० ६ श्लोक- ६४-६६ ,

२- बलदेव उपाध्याय कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास'- संस्करण-६,१९६०, पृ० ११६-१२० ,

तुलसी साहित्य का परिचय:-

भक्तवर तुलसीदास जी को इस समय उत्तरभारत में वही गौरव प्राप्त है जो कभी व्यास को प्राप्त था। बल्कि व्यास जी भारतीय धर्म और संस्कृति के व्याख्याता कवि थे, साहित्य के क्षेत्र में उनका कोई स्थान नहीं बना, तुलसीदास जी धर्म एवं संस्कृति के साथ-साथ साहित्य के भी श्रेष्ठ कवि हैं। भक्तों और विद्वानों द्वारा अनेक टीकाएं उनकी रचनाओं की हुई हैं, भाव, भाषा, अभिव्यक्ति, साहित्य के मानदण्ड जैसे अलंकार, रस, व्यंजना, वक्रोक्ति, उदात्ततत्व आदि के निकष पर भी तुलसीसाहित्यको परखा गया है। सैकड़ों ही शोधार्थियों ने शोधकार्य तुलसी काव्य के विविध पक्षों पर किया है। इस सब के परिणामस्वरूप उनके विषय में किसी भी दिशा का विचार किया जाय, विवादास्पद बन जाता है, अनेक अनुकूल प्रतिकूल प्रमाण तथा तर्क प्रतितर्क देकर तुलसी साहित्य को भी संदेहों से घेर दिया गया है। फलत: सरलता से यह कह देना ठीक नहीं होगा कि तुलसीदास जी की कौन-कौन सी रचनाएं प्रामाणिक हैं, अर्थात् उनकी ही लिखी हुई हैं। इस समस्या को परखने का प्रयत्न करते हैं:--

पहले यह देखते हैं कि तुलसीदास जी की रचनाओं के विषय में किसने क्या लिखा है। इस विषय की प्राचीनतम पुस्तक बाबा बेनीमाधवदास की 'गुसाईं चरित' बतायी जाती है। उसमें तुलसीदास जी के तेरह ग्रन्थों की रचना तिथि के क्रम से गणना की गयी है, वह इस प्रकार है:--

१- रामगीतावली	सम्वत्- १६२८
२- कृष्णगीतावली	,, १६२८
३- रामचरितमानस	,, १६३१
४- दोहावली	,, १६४०
५- सतसई	,, १६४२

६- रामविनयावली (विनयपत्रिका)	सम्वत-१६४२
७- रामलला नहछू	,, १६४३
८- पार्वती मंगल	,, ,,
९- जानकी मंगल	,, ,,
१०- बाहुक	,, १६६६
११- वैराग्यसंदीपनी	,, ,,
१२- रामाज्ञा	,, ,,
१३- बरवै	,, ,,

उल्लेखनी यह है कि इस सूची में प्रसिद्ध रचना कवितावली का नाम नहीं है। तुलसी साहित्य के मार्मिक विचारक पंडित राम चन्द्र शुक्ल ने तुलसीदास जी के जीवनचरित के सन्दर्भ में वेनीमाधवदास के 'गुसाईं चरित' को जाली रचना प्रमाणित कर दिया है। इससे उक्त उल्लेख का अब कोई महत्व नहीं रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में सबसे पहला नाम शिव सिंह सैंगर का है। उन्होंने अपने 'शिव सिंह सरोज' में अठारह रचनाओं के नाम दिए हैं। साथ ही यह भी लिखा है कि --'इनके बनाये ग्रन्थों की ठीक-ठीक संख्या हमको मालूम नहीं हुई।'[१] रचनाओं के नाम ये हैं :--

रामायण (रामचरितमानस) कवितावली, गीतावली, छन्दावली, बरवै, दोहावली, कुंडलिया, सतसई, रामशलाका, संकट मोचन, हनुमत् बाहुक, कृष्णगीतावली, जानकी मंगल पार्वती मंगल, करखा छंद, रोला छंद, झूलना छंद और विनयपत्रिका, = १८

१- शिवसिंह सरोज, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ

पृष्ठ- ४२७-२८

डा० जौर्ज ग्रियर्सन ने पहले इण्डियन एन्टीक्वेरी खण्ड संख्या २२ सन् १८९३ में इक्कीस ग्रन्थ लिखे थे, लेकिन बाद में एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स खण्ड १२ में बारह ग्रन्थों को ही प्रामाणिक माना। ये ग्रन्थ उन्होंने ही छोटे बड़े दो वर्गों में बांट कर इस प्रकार बताये हैं :--

छोटे ग्रन्थ- रामलला नहछू, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामाज्ञा।

बड़े ग्रंथ- कृष्णगीतावली, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली और रामचरितमानस।

ग्रियर्सन के बाद भी कुछ लोगों ने इनके ग्रंथों की संख्या बीस या पच्चीस मानी पर वह किसी ने स्वीकार नहीं की। बंगवासी प्रेस कलकत्ता के मैनेजर श्री शिव बिहारीलाल बाजपेयी ने सन् १९०३ में तुलसी दास की २० रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया था। इसी प्रकार मिश्र बन्धुओं ने नवरत्न में इक्कीस रचनाओं की सूची दी है। उसमें चार ग्रंथ और बढ़ाकर संख्या पच्चीस कर दी है। पर बाद में बारह ग्रन्थों को ही प्रामाणिक माना है। ये ग्रंथ ग्रियर्सन की सूची के अनुसार नहीं है। ग्रन्थ इस प्रकार हैं -- रामचरितमानस, गीतावली, कृष्णगीतावली, हनुमान चालीसा, रामसतसई, कलिधर्माधर्म निरूपण, कवितावली, जानकी मंगल, हनुमान बाहुक, रामशलाका, विनयपत्रिका, दोहावली।

प्राचीन टीकाकारों ने भी बारह ग्रंथों पर ही अपनी टीकाएं लिखी हैं। श्रीवन्दन पाठक रामलला नहछू की टीकायें लिखते हैं --

और बड़े षट् ग्रन्थ ये टीका रचे सुजान।
अल्प ग्रन्थ षट् अल्पमति विरचत वंदन ज्ञान।।

पंडित महादेव प्रसाद ने वन्दन पाठक का ही समर्थन करते हुए पंडित राम गुलाम द्विवेदी का निम्नलिखित कवित्त उद्धृत किया है। उसमें भी बारह रचनाओं का उल्लेख है:-

राम लला नहछू त्यों विराग संदीपिनी हू,
बरवै बनाइ बिरमायी मति साईं की।
पार्वती जानकी के मंगल ललित गाय,
रम्यरामआज्ञा रची कामधेनु नाईं की।
दोहा औ कवित्त गीतबंध कृष्णराम कथा,
रामायण बिनै माँहि बात सब ठाईं की।
जग में सुहानी, जगदीस हू के मनमानी,
संत सुखदानी बानी तुलसी गुसाईं की।
इसी प्रकार का एक छन्द कोती राम ने भी लिखा है --

मानस गीतावली कवितावली बनाई कृष्ण,
गीतावली गाई सतसई निरमाई है।
पार्वती मंगल कही, मंगल कही जानकी की,
रामाज्ञा, नहछू अनुराग युक्त गाई है।
बरवै वैराग्य संदीपिनी बनाई, विनैपत्रिका बनाई।
जामें प्रेम परा छाई है।
नाम कला कोस मणि तुलसीकृत तेरा काव्य,[१]
नहि कलि में काऊ कवि की कविताई है।

पंडित राम चन्द्र शुक्ल ने भी इन्हीं बारह ग्रंथों को प्रामाणिक माना है।[२]

१- डा० रामकुमार वर्मा के हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास से गृहीत।
२- हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृष्ठ- १४२

उपर्युक्त बारह ग्रंथों का एक-एक कर प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

१- रामलला नहछू:-

"गोसाईं चरित" के अनुसार तुलसीदास जी ने इसकी रचना मिथिलायात्रा के समय की थी। गोस्वामी जी की यह यात्रा संवत् १६४० में हुई थी। अत: नहछू की रचना भी उसी के आसपास संवत् १६३६ में हुई होगी। "गोसाईं चरित" में संवत् १६४० में "विनयपत्रिका" की रचना लिखी गयी है। इसप्रकार डा० रामकुमार वर्मा का विचार है कि--"नहछू" और "विनयपत्रिका" के दृष्टि कोण में महान् अन्तर है। "नहछू" में कवि का न तो अभ्यास है और न प्रयास ही।...... "नहछू" कवि के काव्यजीवन के प्रभात की रचना होनी चाहिए।"[1]

"नहछू" २० सोहर छन्दों का लघुकाव्य है। इसमें राम का नहछू वर्णित है। बाबू श्यामसुन्दर दास और डा० बड़थ्वाल के अनुसार अवध और बिहार में विवाह के पहले से नहछू कराने की रीति प्रचलित है। उसमें अश्लीलगीत गाये जाते हैं जो बरात के पहली बार चौक बैठने पर होता है। "गुसाईं जी" ने वास्तव में विवाह के समय के गन्दे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिए बनाया है।"[2]

उदाहरण के लिए एक नहछू:-

आजु अवध पुर आनन्द नहछू राम कहो।
चलहु नयन भरि देखिय सोभाधाम कहो।।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ- ३६४

२- श्यामसुन्दरदास- गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ- ६६

काव्य की दृष्टि से नहु साधारण रचना है। इसमें तुलसी के समान कवि की उत्कृष्ट काव्यप्रतिभा और परिमार्जित भक्तिभावना दोनों का अभाव है। यह ठेठ अवधी भाषा में है।

२- वैराग्य संदीपिनी:-

`गोसाई चरित` के अनुसार` वैराग्यसंदीपिनी` की रचना सम्वत् १६६६ में हुई। इसमें दोहा है--

बाहुपीर व्याकुलभये, बाहुकरचे सुधीर।
पुनि विराग संदीपिनी, रामाज्ञा सकुनीर।।

बाबू श्याम सुन्दर दास इसे स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि वैराग्य संदीपिनी के कुछ दोहे-`दोहावली` में संगृहीत हैं। `दोहावली` संग्रहग्रंथ हैं और वैराग्य संदीपिन स्वतंत्ररचना है। अत: यह कल्पना नहीं की जा सकती कि दोहे`दोहावली` से वैराग्य संदीपिनी` में ले लिये गये हैं। `दोहावली को संवत् १६८० की रचना माना जाता है, अत:`वैराग्य संदीपिनी` इससे पूर्व की लगभग संवत् १६३८ की रचना है।

इसमें चार विषय संदर्भ हैं -- मंगलाचरण और वस्तुसंकेत, संतस्वभाव वर्णन। ग्रंथ का प्रतिपाद्य कवि ने स्वयम् बताया है --
तुलसी वेद पुरान मत, पूरन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार।।

३- बरवैरामायण:-

यह ६९ बरवै छन्दों का लघुकाय काव्य है। विषय रामकथा ही है पर इसमें कथा प्रवाह, संबंधसूत्र आदि नहीं है। मुक्त शैली के छन्द हैं। लंकाकांड में केवल एक छन्द है जो सेना के वर्णन पर है। ग्रन्थ स्फुट(फुटकल) रूप से लिखागया है। उसमें प्रबंधात्मकता का ध्यान नहीं रखा गया।

इसके प्रारम्भ के छन्दों में अलंकारों के चमत्कार पर कवि की दृष्टि है। रसनिरूपण भी है। इसमें तुलसीदास विशेषरूप से रस और अलंकार के निरूपण का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। "यदि इस ग्रंथ में उत्तर काण्ड न होता तो यह रीतिकालीन रचना कही जा सकती थी।"[1] भाषा अवधी है और छन्द की साधना सफलतापूर्वक की गयी है।

'गोसाईं चरित' के अनुसार तुलसीदास जी को 'बरवैरामायण' लिखने की प्रेरणा रहीम से मिली थी। रहीम ने एक बरवै लिखकर तुलसीदास जी के पास भेजा था रहीम का यह अतिप्रिय छन्द था।

४- पार्वतीमंगल:-

इसकी रचना तिथि के विषय में भी विवाद है। 'मूल गोसाईं चरित' में इसकी रचनातिथि संवत् १६६६ दी है। साथ ही यह भी लिखा है कि यह तुलसीदास जी ने मिथिला में रहकर रची थी।

मिथिला में रचना किये नहछू मंगलदोय।
मुनि प्राचे मंत्रित किये, सुख पावैं सब कोय।।

लेकिन तुलसीदास जी की मिथिलायात्रा संवत् १६६६ में न होकर १६४० में हुई थी। इसके अतिरिक्त कवि ने प्रारम्भ में इसका रचनाकाल जय संवत् दिया है।

जय संवत् फागुन सुदि पाँचे गुरु दि।
अस्विनि विरचेउ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु।।"[2]

१- डा०रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,पृ० ४०१
२- पार्वती मंगल छंद- ५

डाक्टर ग्रियर्सन ने जयसंवत् १६४३ स्थिर किया है। यही संवत् इसका रचनावर्ष मानना उचित है। हो सकता है गुसाईं चरित में इसकी चर्चा रचना के कुछ वर्ष बाद की गया है।

इसमें हरिगीतिका और अरुण छंद है। छंदों की संख्या १६४ है। शिव पार्वती का विवाह इसका वर्ण्य विषय है। लेकिन यह वर्णन रामचरित-मानस के शिव विवाह वर्णन से भिन्न है। पार्वती मंगल का वर्णन कालिदास के कुमार संभव ग्रन्थ के स अनुसार है। वैसे शैली मानस के समान ही है।

५- जानकी मंगल:-

इसका रचनावर्ष पार्वती मंगल के समान संवत् १६४३ है। दोनों की वर्णन शैली, कथानक और छन्द प्रयोग समान है। इसमें अरुण और हरिगीतिका २१६ छंद हैं। रचना नियमित एवम् योजनाबद्ध है। प्रारंभ में मंगलाचरण है और अन्त में मंगलकामना है। पार्वती मंगल में भी इसी प्रकार का प्रारम्भ और अवसान है। दोनों मंगलों में समानता विशेष उल्लेखनीय है। दोनों का नाम समान है। दोनों की कथा का आधार संस्कृत काव्य बाल्मीकि रामायण और कुमार संभव हैं। दोनों की भाषा और छन्द समान हैं। दोनों मानस से भिन्न हैं। आपाततः ये रचनायें तुलसीदास से भिन्न किसी अन्य भक्त कवि की लगती हैं। उसने अपनी कृति को अमर बनाने की इच्छा से स्वयम् का नाम गुप्त रख कर तुलसीदास जी की ही कह कर प्रचारित कर दिया है।

६- रामाज्ञाप्रश्न:-

डाक्टर ग्रियर्सन ने इस रचना का काल संवत् १६५५ माना है। उसका आधार मिर्जापुर निवासी खत्री छक्कनलाल की वह प्रति है जिसे उन्होंने तुलसीदास जी की मूल प्रति से प्रतिलिपि की थी। उन्होंने लिखा है--

"श्री संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रविवार को लिखी पुस्तक श्री गुसाईं जी के हस्तकमल की प्रहलाद घाट श्री काशी जी में रही । उस पुस्तक पर से श्रीपंडित रामगुलाम जी के सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ रामायणी मिरजापुर वासी ने अपने हाथ से संवत् १८८४ में लिखा था ।"[१]

इस ग्रंथ में सात संख्या पर विशेष बल है । समस्तग्रन्थ सात सर्गों में विभक्त है । प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक हैं । हर सप्तक में सात दोहे हैं । इस प्रकार इसके कुल छन्दों की संख्या ७ ७ ७ = ३४३ है । रचना का विषय राम कथा है । शैली की विशेषता यह है कि प्रत्येक दोहे से कोई शुभ या अशुभ संकेत मिलता है । इससे प्रश्नकर्ता को अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता है ।

प्रथम सर्ग के एक दोहे में गंगाराम का नाम आता है । दोहा इस प्रकार है:--

सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अतिअभिराम ।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर, गोगन गंगा राम ।।

इसके आधार पर यह किंवदन्ती चल पड़ी है कि यह रचना तुलसीदास जी ने गंगाराम के लिए लिखी थी ।

इसकी कथा भी बाल्मीकि रामायण के अनुसार है, जैसे परशुराम का मिलन राजसभा में न होकर वापिस अयोध्या जाते समय मार्ग में होता है । राज्याभिषेक के बाद की न्याय की कथाएं बाल्मीकि रामायण के अनुसार हैं। इसी प्रकार सीता जी के वनवास और लवकुश जन्म के भी

१- इण्डियन एन्टीक्वेरी खण्ड- २२, पृ० १६, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास से उद्धृत ।

संकेत हैं। यह सब मानस में नहीं है। कथासंघटन में प्रबन्धात्मकता का अभाव है। दोहे मुक्तक स्वभाव के हैं। रचयिता का ध्यान सगुन पर विशेष है, भाषा शैली साधारण इतिवृत्तात्मक है।

७- दोहावली:-

बेनीमाधवदास ने अपने 'गुसाईं चरित' में दोहावली का रचना-काल संवत् १६४० बताया है। पर यह सत्य नहीं मानागया। इसका कारण दोहावली का वह दोहा है जिसमें रुद्रबीसी की चर्चा है जो संवत् १६८५ में आयी थी। दोहा इस प्रकार है --

अपनी बीसी आपु ही पुरि हि लाये नाथ।
केहिविधि बिनती विश्व की करौं विश्व के नाथ।।[1]

दो अन्य दोहों में बाहुपीड़ा की भी चर्चा है। बाहुपीड़ा गोस्वामी जी की जीवन के सन्ध्याकाल में हुई थी। इसलिए दोहावली की रचना संवत् १६८० के आस-पास की मानी जाती है।

इसके दोहों की संख्या ५७३ है। इनमें मानस के ८५, सतसई के १३१, रामाज्ञा के ३५ और वैराग्य संदीपिनी के २ दोहे संगृहीत हैं। शेष दोहे नवीन हैं। ये सब मुक्तक हैं, कथा पर आधारित नहीं है। दोहों में नीति, भक्ति, राम महिमा, नाममहिमा, स्वम् रामसामयिक परिस्थितियों का वर्णन है। चातक की प्रसिद्ध अन्योक्तियां भी यहीं हैं। अपनी परिस्थितियों का वर्णन भी कवि ने यथार्थ और मार्मिक किया है।

१- दोहावली- २४०

८- कृष्णगीतावली:-

इसका रचनाकाल वेणीमाधवदास द्वारा संवत् १६२८ बताया गया है।

जब सोरह सौ वसुबीस चढ़्यो ।
पद जोरि सब शुचिग्रंथ गढ़्यो ।
तेहि रामगीतावलि नाम धर्‌यो ।
अरु कृष्ण गीतावलि रांचि सर्‌यो ।

इसमें स्फुट पदों का संग्रह है, किसी प्रकार की योजना आदि इसमें नहीं है। रचनाका काण्ड, स्कन्ध आदि में विभाजन भी नहीं है। कृष्ण के जीवन पर राग रागिनियों में पद लिख दिए गए हैं। पदों की संख्या ६१ है। डा० रामकुमार वर्मा का इस रचना के विषय में विचार है कि--"कृष्ण गीतावली" तुलसी दास की बड़ी रसल रचना है। यह जितनी सरल है उतनी ही मनोवैज्ञानिक भी।"[1]

९- बाहुक:-

इसकी रचना वेणीमाधवदास के अनुसार संवत् १६६९ में की गयी। इस संवत् में तुलसीदास जी के जीवन की अनेक घटनाओं का वेणीमाधवदास जी ने उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में बाहुक, वैराग्य संदीपिनी और रामाज्ञा की रचना का उल्लेख है, कोई अन्य विपरीत प्रमाण न मिलने से यही समय रचना का मान लिया गया है। इसकी शैली भी प्रौढ़ और परिष्कृत है। उस आधार पर भी इसे कवि के उत्तरकालीन जीवन की कृति माना जाना चाहिए।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक -इतिहास- पृ० ४१३

बाहुक में चार छन्दों का प्रयोग हुआ है-- छप्पय, झूलना, मत्तगयंद और घनाक्षरी । छंदों की संख्या ४४ है और ग्रंथ में व्यवस्था एवम् योजना क्रम के दर्शन होते हैं, रचना में कवि ने अपनी बाहुपीड़ा का वर्णन बड़ा करुणापूर्ण एवम् हृदयद्रावक रूप में किया है। इसमें तुलसीदास के पांडित्य और प्रतिभा का परिचय सरलता से पाया जाता है। इसमें ब्रजभाषा का रूप बहुत ही परिमार्जित है।"[१]

१०- गीतावली :-

"मूलगोसाईं चरित" के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इसके रचना-काल संकेत नहीं मिलता गुसाईं चरित में संवत् १६२८ इसका रचनाकाल दिया है। कोई बालक पद गाता हुआ तुलसीदास जी के समक्ष उपस्थित हुआ। उसके गान पर प्रसन्न होकर उन्होंने उसे चार पद लिख दिये। दूसरे दिन उसने वे ही पद गोस्वामी जी को सुनाये और अन्य नये पदों का आग्रह किया। इस कारण तुलसीदास जी रामकथा के प्रसंगों पर पद बनाने लगे। उन्हीं पदों का संग्रह गीतावली है।

शिल्प सौष्ठव के आधार पर विद्वानों का विचार है कि इसकी रचना मानस के बाद हुयी है। इसमें बाल्मीकि रामायण का प्रभाव दिखाई देता है। उसका सर्वोत्तम भाग राम का बालवर्णन है। इससे अनुमान होता है कि बाद में तुलसीदास जी कृष्ण काव्य से प्रभावित होगये थे।

यह फुटकल स्वभाव की है, कवि ने रामकथा में जहां भी भावपूर्ण स्थल देखे हैं वहीं अनेक गीतों की रचना कर दी है। बालकाण्ड में सबसे

१- डा० रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक - इतिहास- पृष्ठ- ४१५

अधिक १०८ पद हैं। उसके बाद अयोध्याकांड में ८९ और सुन्दरकाण्ड में ५२ पद हैं। किष्किंधा काण्ड में केवल दो ही पद हैं। रचना में कथा की अन्विति या अनुपात की कमी है। प्रारम्भ में मंगल पाठ और अन्त में पाठकों की मंगल कामना या आशीर्वाद नहीं है। इससे भी लगता है कि रचना समय- समय पर रचे गये पदों का बाद में कियागया संग्रह है। सूरसागर के अनेक पदों से इसके पदों का साम्य है। इस पर विद्वानों ने अनेक कल्पनाएं की हैं।

वर्ण्य विषय रामकथा ही है, कथा की घटनाओं का समानु-पातिक वर्णन नहीं हुआ है। यह रचना के मुक्तक स्वभाव के कारण हुआ है। पदों की कुल संख्या ३१८ है। रचना भाव प्रधान है इसलिए यथास्थान शृंगार, वात्सल्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत, शान्त हास्य आदि सभी रसों का प्रभावशाली वर्णन हुआ है। इसके संबंध में डा० रामकुमार वर्मा का कथन है:--

'गीतावली में तुलसी की बहुत मधुर अनुभूति है। अनेक स्थानों पर मनो दशा के बड़े करुण चित्र हैं। तुलसीदास ने इसके लिए ब्रज भाषा के माधुर्य का अक्षय कोष प्रयुक्त किया है। ×××× ×××× जहां तक रामकथा के कोमलस्वरूप का संबंध है, वह बड़ी सफलता के साथ गीतावली में प्रदर्शित हुआ है।'[२]

१- गोसाईं चरित ३३वें दोहे चौपाइयां।

२- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,
पृष्ठ- ४४५-४४६

११- कवितावली :-

'कवितावली' तुलसीदास की कविदाता का प्रसिद्ध आधार है। लेकिन बेनीमाधवदास ने न रचना की चर्चा की है और न उसका रचनाकाल बताया है, इतना भर संकेत उन्होंने किया है कि तुलसीदास जी ने सीतावट के नीचे बैठकर कुछ कवित्त बनाये और फिर काशी को चले गये।

सीतावट तीनदिन बसि सुकवित्त बनाय।
बंदि सुहावन विन्ध नृप पहुंचे कासी जाय।।

इससे यह अनुमान सरलता से हो जाता है कि तुलसीदास जी ने कुछ कवित्त बनाये थे और वह प्रयास निरन्तर नहीं चला। 'कवितावली' एक तार से लिखी रचना है भी नहीं, वह समय समय पर लिखे कवित्तों को कथाक्रम से संगृहीत किये कवित्तसवैयों का संग्रह है।

इसमें ३२५ छंद हैं, सब से अधिक १८३ छंद उत्तरकाण्ड में हैं, उसमें कथा के अतिरिक्त कलियुग, व्यक्तिगत घटनाएं, तत्कालीन परिस्थितियाँ आदि विस्तार से वर्णित हैं। पण्डित सुधाकर द्विवेदी की मान्यता है कि तुलसी दास जी ने जो समय- समय पर कवित्त सवैये लिखे थे उन्हें उनके भक्तों ने बाद में एकत्र कर दिया है।

वर्ण्य विषय :-

कवितावली में कवि ने रामकथा के कोमल, सरस भावस्थलों को काव्य का विषय बनाया है और कवितावली में राम के ऐश्वर्य द्योतक महनीय स्थलों को वर्णन के लिए चुना है। इसमें राम का ओजपूर्ण, अद्भुत रूप मुख्य भाग से वर्णित किया है, 'गीतावली' में राम का आकर्षक एवम् सौ सौन्दर्य पूर्ण चित्र है, कवितावली में राम का वीरत्व और शौर्य है। इन दोनों को मिला देने से राम का चरित्र कोमल और परुष दोनों ही दृष्टि कोणों से पूर्ण हो जाता है।

गीतावली के समान कवितावली में भी रसात्मक वर्णन प्रचुर हैं। इनमें भावात्मक श्रृंगार वीर, भयानक, रौद्र, करुण, हास्य, वीभत्स, अद्भुत सभी रसों की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हुयी है। कवितावली का सुन्दर काण्ड इसके लिए विशेष उल्लेखनीय है। भयानक और रौद्ररसों का जितना सफल चित्रण इस काण्ड में है उतना मानस में भी नहीं है। रौद्र और भयानक रसों का वर्णन लंकाकाण्ड में बड़ा हृदयग्राही है।

उत्तरकाण्ड तुलसी की सब रचनाओं में परिशिष्ट जैसा है। कविता-वली में भी उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत कथा कुछ नहीं है। पर ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और भक्ति की महिमा के अनेक छंद हैं। तुलसी के आत्मचरित का विस्तृत वर्णन है। यह उनके जीवन का निर्धारण करने में अन्तः साक्ष्य का काम करता है।

१२- विनयपत्रिका:-

इसका रचनाकाल 'गोसाई चरित' में संवत् १६३९ दिया है। इसी समय तुलसीदास जी मिथिला गये थे।

> विरचित राम विनयावली, मुनि तब निर्मित कीन।
> सुनि तेहि साखी युत प्रभू, मुनि हि अभय कर दीन।[१]

रचनाकाल का और कोई संकेत तो नहीं मिलता पर विनयपत्रिका की शैलीगत, भावगत प्रौढ़ता को देखकर यही अनुमान होता है कि यह रचना कवि की मृत्यु से चालीस वर्ष पहले की नहीं हो सकती। उस समय कवित्व में इतना परिष्कार और प्रौढ़ता संभव नहीं है। रचना में ऐसे संकेत हैं कि यह उनकी जीवन की सन्ध्याकाल की कृति है।

१- गोसाईं चरित -दोहा- ५१

"मैं तो जो कर सकता था वह करके जारहा हूं,[1] अब जीने के बहुत थोड़े दिन रह गये हैं," आदि ।[2] ऐसी उक्तियों से स्पष्ट है कि "विनयपत्रिका" तुलसी के उत्तरकालीन जीवन की रचना है ।

यद्यपि रचना में सम्बन्ध सूत्र है । प्रारम्भ में विस्तार के साथ देवताओं, राम, सीता, लक्ष्मण आदि की अनेक पदों में स्तुति की गयी है अन्त में रचना का साभिप्राय उपसंहार है फिर भी मुक्तक पदों का संग्रह है । संग्रह में क्रमभंग और आवृत्ति भी है अत: यह एक काल की रचना नहीं लगती । कुछ विद्वान् ऐसा मानते भी हैं ।[3] समय-समय पर रचे गये पदों को बाद में क्रमबद्ध कर संगृहीत कर लिया है । इसलिए "गोसाईं चरित" की बात भी सही हो सकती है और ऊपर संकेत किये गये तथ्य भी संगत हो सकते हैं ।

गण्य विषय:-

विनयपत्रिका में कोई कथा नहीं है , तुलसी ने चित्रकूट में वास करने के बाद अनुभव किया कि उसमें जो छल, कपट, भक्ति का अभाव, धृष्टता आदि दोष आगये हैं वह कलियुग के प्रभाव के कारण हैं । कलियुग बड़ा प्रबल है । तुलसी के प्रयासों से वह नहीं हटता । अत: वह रामदरबार में अपना प्रार्थना (विनयपत्रिका) पेश करते हैं और कलियुग रूपी चोर की यातना से उन्हें मुक्त करने की विनय करते हैं ।[4]

१- विनयपत्रिका- २६०

२- विनयपत्रिका- २७३

३- डा०रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृष्ठ- ४६०

४- विनयपत्रिका- २७७

इसमें मन की चंचलता, संसार की असारता, ज्ञान, वैराग्य का स्वरुप एवम् महिमा, भक्ति का सर्वोपरिमहत्व, कवि का आत्म-कादर्शीना एवम् आत्म चरित आदि आदि ।

विनयपत्रिका में केवल एक ही शान्त रस है । इसके आलंबन विभाव हैं - हरिकृपा , गुरु , देवता, श्रीराम आदि । संचारी भाव अनेक वर्णित हुए हैं - जैसे, विवेक , ग्लानि, गर्व , दीनता , हर्ष, मोह, विषाद, चिन्ता आदि ।

विनयपत्रिका के सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा का विचार है-- "विनयपत्रिका" का आदर्श (आत्मसमर्पण की भावना) मौलिक रुप से साहित्य में अवतरित हुआ उन्होंने दास्यभाव की भक्ति में आत्मा की सभी वृत्तियों को सजीव रुप देकर विनय पत्रिका की रचना की ।"[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके विषय में कहा है कि यह तुलसी दास जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है ।यदि अन्यरचनाएं समाप्त भी हो जायें तो तुलसी के यश में कोई कमी नहीं आयेगी।

१३- रामचरितमानस:-

तुलसी उत्तरभारत के सर्वाधिक लोक प्रिय भक्त कवि हैं।उनकी लोक प्रियता का आधार मुख्यरुप से "रामचरित मानस" ग्रन्थ है । काव्य विधा की दृष्टि से यह चरितकाव्य है । नाम में "चरित" शव्द का प्रयोग भी है । जैन क कवियों ने बारहवीं -तेरहवीं शती तक अनेक ग्रंथ "चरित" नाम से लिखे हैं -- "पउम चरिउ", कर कंडो चरिउ" आदि । अवधी भाषा में सूफी कवियों ने चरित स्वभाव के ही अनेक ग्रन्थ "पद्मावत", आदि काव्य रूप में लिखे । इन

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- पृ०-४६७

सबकी एक परम्परा तुलसी से पहले बन गयी थी । तुलसी ने उसी को अपनाया। उन्होंने संस्कृतज्ञ होकर भी संस्कृत महाकाव्यों की सर्बद्ध परम्परा को नहीं अपनाया अपभ्रंशी और अवधी के कवियों से प्रेरणा ली। लोकजीवन के निकट ये ही कृतिकार थे ।

रचना के नाम में मानस शब्द का प्रयोग साभिप्राय है । मानस शब्द श्लिष्ट है -- दो अर्थ देता है, मन और मानसरोवर तुलसी दास जी ने दोनों अभिप्रायों पर दृष्टि रखी है । शिव जी ने दीर्घकाल तक रामकथा को अपने मन में छिपाये रखा । पार्वती जी के आग्रह पर इसे प्रकट किया इस लिए रचना मानस है,[1] बालकाण्ड के दोहा ३६-३२ में अपनी रचना को मानसरोवर के समान स्वच्छ, शीतल और अमहारी बताकर कवि मानस का दूसरा अर्थ मानसरोवर भी इस में संगत करता है ।[2]

विश्वामित्र की यज्ञरक्षा , धनुषभंग और राम सीता के वर्णन के साथ काण्ड समाप्त हो जाता है ।

अयोध्याकाण्ड में श्रीराम का मानवीय चरित वर्णित हुआ है । राज्याभिषेक की तैयारी, वन कानन ,केवट प्रसंग, भरद्वाज- रामसंवाद, बाल्मीकि राम संवाद चित्रकूट निवास, दशरथ की मृत्यु और भरत का अयोध्या वासियों के साथ वनगमन,वन में श्रीराम एवम् भरत का संवाद ,आदि प्रसंग आये हैं। काव्यत्व की दृष्टि से मानस का यह भाग अधिक श्रेष्ठ माना जाता है ।

१- महामंत्र जोइ जपत महेसू - रा०बा०-१६
संभु कीन्ह या चरित सुहावा।
बहुरिकृपा करि उमहि सुनावा। रा०बा०-१६
२- सुठि सुंदर संवाद वर विरचे बुद्धि बिचारि ।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ।। रा०बा०-३६

अरण्य काण्ड में अनसूया, सुतीक्ष्ण, शबरी आदि तपस्वियों से मिलन, जयन्त का मान मर्दन, खरदूषण का वध और सीता हरण के प्रसंग आते हैं। किष्किंधाकाण्ड में सुग्रीव, हनुमान से मिलन बालि वध और सीता की खोज के लिए वानरों का चारों ओर को प्रस्थान वर्णित है। सुन्दर काण्ड का नामकरण रामकथा के किसी प्रसंग या स्थान आदि के नाम के आधार पर नहीं है। बाल्मीकि रामायण में भी ऐसा कोई आधार इसका नहीं दिया है। तुलसी ने प्रारम्भ में ही उस पर्वत को सुन्दर कहा है जिसपर चढ़कर हनुमान जी ने लंका की ओर छलांग लगायी थी।[१] पर यह विशेषण पद है, संज्ञा वाची नहीं। सुन्दरकाण्ड में सीता की खोज और हनुमान् के दुष्कर अध्यवसाय का वर्णन है। यह राम कथा का आशाजनक सुन्दर अंश है। इस आशय से सम्भव है इसे सुन्दर काण्ड नाम दे दिया हो।[२]

लंकाकाण्ड में मुख्य रूप से युद्ध वर्णन है। इसमें सेतुबंध, अंगद-रावण संवाद, लक्ष्मण पर शक्ति प्रहार, रावण वध और अवध के लिए प्रस्थान का वर्णन हुआ है। उत्तरकाण्ड में कथाभाग नहीं के बराबर है। ~~वस्तुतः~~ राम का राज्याभिषेक हो जाने पर कथा समाप्त हो जाती है। पर काण्ड आगे भी चलता है। इसमें राम का प्रजा को उपदेश, काकभुशुण्डि और गरुड़ का संवाद एवम् रामचरितमानस पर पुराण शैली का प्रभाव है। जैसे पुराणों में प्राय: सूत जी वक्ता होते हैं और मुनि लोग श्रोता एवम् प्रश्नकर्ता होते हैं उसी प्रकार मानस में चार संवादों में रामकथा चलती है। ये संवाद हैं-- शिवपार्वती संवाद, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य संवाद, काकभुशुण्डि गरुड़ संवाद

१- सिन्धुतीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर ।। रा० सु०-१

२- सुन्दरे सुन्दरी सीता, सुन्दरे सुन्दरं वनम् ।
सुन्दरे सुन्दरो रामः, सुन्दरे किं नसुन्दरम् ।।

और तुलसी एवम् सन्त समाज का संवाद । इन चार संवादों को कवि ने मानसरोवर रूप मानस के चार घाट बताया है ।

परिमाण:-

बाल्मीकि रामायण के समान रामचरितमानस भी काण्डों में विभक्त है । कुल सात काण्ड हैं, बालकाण्ड ,अयोध्या काण्ड, अरण्यकाण्ड , किष्किंधा काण्ड, सुन्दरकाण्ड , लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड पहले और दूसरे काण्ड अपेक्षाकृत बड़े हैं । इनमें क्रमश: ३६१ और ३२६ दोहे चौपाइयों के साथ हैं । अन्त के दो काण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड भी बड़े हैं । लंका काण्ड में १२१ और उत्तरकाण्ड में १३० दोहे , अरण्य,किष्किंधा और सुन्दरकाण्ड छोटे हैं । अरण्यकाण्ड में ४६ ,किष्किन्धा में ३० और सुन्दरकाण्ड में ६० दोहे हैं ।

बालकाण्ड में अधिकतर भूमिका भाग है । मंगलाचरण अनेक देवताओं को प्रणाम निवेदन करते हुए, राम नाम की महिमा का विस्तार से वर्णन किया है, खल-निन्दा और सज्जन प्रशंसा वक्रोक्ति पूर्ण शैली में की है । सती जी का मोह, उनका शिव के साथ संवाद , इसी प्रकार याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद भी यहीं पर हैं । नारद का अभिमान, मनुशतरूपा का तप, राजा भानु प्रताप की कथा आदि राम जन्म की पौराणिक पृष्ठ भूमि के रूप में वर्णित है । फिर रामजन्म ज्ञान तथा भक्ति का तुलनात्मक निरूपण वर्णित हुआ है । राज्याभिषेक के अतिरिक्त शेषांश परिशिष्ट है । इसे घटनाओं के साथ न मिलाकर पृथक् से अन्त में रख देने से तुलसीदास जी ने साहित्यिक दक्षता का ही परिचय दिया है , कथा बोझिल होने से बच गयी और आध्यात्मिक प्रसंगों का संगति के साथ उल्लेख भी हो गया । भागवतकार ने भक्ति, ज्ञान , दर्शन आदि को बार-बार स्तुतियों में देकर कथा को बोझिल और अस्वाभाविक बना दिया है ।

तुलसीदास जी ने मानस की रचना में अध्यात्म रामायण, वाल्मीकि रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण किया है। प्रारम्भ में उन्होंने इसका संकेत भी दिया है।[1] लेकिन उन्होंने यह प्रभावग्रहण अपने अभिमत के अनुकूल ही किया है। उनकी अपनी मान्यता अक्षुण्ण बनी रही है। राम का शील-शक्ति- सौन्दर्य मण्डित रूप व्यक्त कर उसे भगवान् का साक्षात् रूप वर्णित किया है। ऐसे कोमल, दयालु भगवान् के प्रति भक्तों को भक्तावत्सल होने का संदेश वह स्थान स्थान पर देते हैं।

मानस और रस:-

मानस में नवों रसों का उद्रेक सफलता के साथ हुआ है। यह उन्होंने अपनी प्रतिभा और काव्यशक्ति के बल पर अनायास ही कर दिया है। रसों का यह वर्णन रचना के भक्ति पूर्ण वातावरण को विकृत नहीं करता। अंगीरस सर्वत्र दास्यभक्तिरस ही रहा है।

१- नाना पुराण निगमागम संमतंयत्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,
भाषा निबंधमति मंजुलमात नोति।"

विषय की मौलिकता

भक्ति की अभिव्यक्ति वैदिक वाङ्मय से लेकर अधुनातन साहित्य में मिलती है, पर इसकी धारा कहीं मन्द, तो कहीं तीव्र, कहीं परोक्ष, कहीं प्रत्यक्ष रूप में परिलक्षित होती है। भक्ति की सुरसरि पौराणिक साहित्य, विशेषकर श्रीमद्भागवत, में आकर महानद बन जाती है। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन को यही दिशा एवम् प्रेरणा श्रीमद्भागवत से ही प्राप्त हुई प्रतीत होता है। मध्यकाल का ऐसा कोई भी भक्त कवि दृष्टिगोचर नहीं होता, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उक्त पुराण से प्रभाव ग्रहण न करता हो। उदाहरणार्थ, निर्गुण कवि कबीर 'कबीर-ग्रन्थावली, पद सं० ३७८ तथा ३८८' तक में विष्णु के अवतारों का उल्लेख हुआ है। दादू, रैदास, चरनदास, सहजोबाई, दयाबाई तथा गरीबदास इत्यादि कवियों ने तो कृष्णावतार के प्रति असीम अनुराग व्यक्त किया है। कृष्ण भक्ति शाखा के काव्य-सरोवर में तो भागवत का ही नीर स्थान-स्थान पर तरंगायित है। भक्ति के स्वरूप का कोई भी अणु-परमाणु भागवतकार की दृष्टि से बचकर नहीं निकल सका है। यही कारण है कि किसी भी शाखा का साहित्य हो, उसमें निरूपित भक्ति की तुलना 'भागवत' में वर्णित भक्ति से सहज ही की जा सकती है। यह सत्य तुलसी-साहित्य के सन्दर्भ में भी चरितार्थ होता है।

यह उल्लेख अनावश्यक ही होगा कि मध्यकालीन भक्त कवियों में तुलसी प्रतिभा और पाण्डित्य की दृष्टि से सर्वाधिक सम्पन्न हैं। लोक और शास्त्र के ज्ञान(व्युत्पत्ति) की जैसी अभिव्यक्ति तुलसी के साहित्य में दिखाई पड़ती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके शब्द-शब्द में अनुभव, शक्ति और निपुणता का सरोवर लहराता हुआ प्रतीत होता है। 'मानस' को तो उन्होंने स्पष्ट रूप में 'नानापुराणनिगमागमसंम्मत' बताया है, उनकी अन्य कृतियों में भी इनकी छाया विद्यमान है। समग्र तुलसी-साहित्य भक्ति का साकार रूप प्रतीत होता है। उसका प्रयोजन भक्ति का प्रतिपादन ही है। ऐसा लगता है कि दिव्या-

नुराग की एक-एक तरंग ही तुलसी की एक-एक कृति में रूपायित हो गई है। सर्वत्र परमात्मा में परमानुरक्ति का पारावार उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। इस पारावार में निगमागम एवम् पुराणों की पुष्कल जल राशि एकत्र है, जो तुलसी की निजी संपदा बन गयी है अर्थात् तुलसी ने अनेक स्थानों से जो कुछ ग्रहण किया है, उसे अपना बना लिया है - विविध पुष्पों का पराग मधु में परिणत हो गया है। इस मधु में से किसी एक पुष्प के पराग को बिलगाना असम्भव कार्य प्रतीत होता है, फिर भी विद्वानों ने प्रयास तो किया ही है। ऐसा ही प्रयास प्रस्तुत विषय के माध्यम से प्रस्तावित है।

तुलसी का भक्ति वर्णन 'भागवत' के भक्ति-निरूपण से सर्वाधिक साम्य रखता है। भक्ति का स्वरूप, भक्ति के प्रकार, भक्ति का ज्ञान-योग-कर्म से संबंध आदि विषयों की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अभिव्यक्ति दोनों में समान रूप से दृष्टव्य है। निर्गुण और सगुण भक्ति पर दोनों में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। भागवती भक्ति के आलम्बन कृष्ण हैं, पर राम भक्ति की उपेक्षा नहीं की गयी है। तुलसी के आराध्य राम हैं, पर उन्होंने 'श्रीकृष्ण गीतावली' लिखकर वैसी ही समन्वय- भावना का परिचय दिया है, जैसी उदारता भागवतकार ने राम-कथा का उल्लेखकर दिखायी है। 'भागवत' और 'तुलसी-साहित्य' में आये हुए भक्तों के भावात्मक उद्‌गारों में भी साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों का समाज और साहित्य पर समान प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन और ऐसे ही अन्य आलोच्य तथ्यों का अनुसंधान प्रस्तावित विषय का प्रमुख आयोजन है।

तुलसी की भक्ति-भावना का विवेचन बहुत हुआ है। तुलसी के भक्ति-निरूपण की उपेक्षा कर कोई भी समीक्षा-ग्रन्थ अथवा शोध-प्रबन्ध आगे नहीं बढ़ सकता है, पर तुलसी पर अद्यावधि उपलब्ध शोध-समीक्षा-साहित्य में 'मानस' ही अनुशीलन का केन्द्र दिखाई पड़ता है। तुलसी की मानसेतर कृतियों में अभिव्यक्त भक्ति का वैज्ञानिक विवेचन अभी तक अछूता दिखाई पड़ता है। अन्य कृतियों के दो-चार उद्धरण यत्र-तत्र अवश्य मिल जाते हैं, पर भक्ति के आधार पर

मानसेतर किसी भी कृति का सम्यक् आकलन दृष्टिगोचर नहीं होता । इस दिशा में कार्य करना अपेक्षित प्रतीत होता है । भागवती भक्ति की छाया 'मानस' और मानसेतर कृतियाँ अर्थात् संपूर्ण तुलसी-साहित्य में दिखाई पड़ती है । इसका अनुशीलन अस्पष्ट है ।

'भागवत' के साथ मध्यकालीन भक्ति- काव्य का तुलनात्मक अध्ययन अत्यल्प रूप में दिखाई पड़ता है । इस क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम कार्य 'सूर सागर और भागवत की तुलना' डा० हरवंश लाल शर्मा का दिखाई पड़ता है । विद्वानों की दृष्टि और भी आगे गयी होगी तो कृष्ण भक्त कवियों के काव्य के साथ 'भागवत' की तुलना तक हो गयी होगी । सम्भव है किसी ने 'मानस' और 'भागवत' की तुलना पर अनुसंधान कर लिया हो पर ऐसा कार्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है । 'भागवत' के साथ तुलसी की अन्य कृतियों के स्पर्श का तो कोई चिन्ह दूर-दूर तक दिखाई नहीं पड़ता । मैंने डा० उदयभानुसिंह, डा० सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण', डा० प्रेमस्वरूप गुप्त तथा विनय मोहन शर्मा द्वारा तैयार की गयी शोध-विवरणिकाएं देख ली हैं और इनके अतिरिक्त हिन्दी अनुशीलन (शोध विशेषांक) का भी अध्ययन किया है । इसी शृंखला में आगरा तथा मेरठ विश्वविद्यालय की प्रकाशित सूचियां पढ़ ली हैं और 'यूनिवर्सिटी न्यूज' के भी कई अंक देख डाले हैं । मुझे प्रस्तावित विषय कहीं भी दिखायी नहीं पड़ा है । इसकी मौलिकता की खोज के लिए इससे अधिक प्रयास संभव प्रतीत नहीं होता । मौलिकता का वास्तविक पता शोध-प्रबंध के छपाकित होने पर ही लग सकता है, अभी संभावना के सम्बन्ध में संकेत ही दिये जा सकते हैं ।

प्रस्तावित विषय मौलिक है । मौलिक विषय का अनुशीलन 'भागवत' और तुलसी-साहित्य के प्रेमियों, पाठकों, आलोचकों एवम् अनुसंधाताओं के लिए कितना उपयोगी सिद्ध हो सकता है, इस संबंध में कोई भी कथन अनावश्यक प्रतीत होगा । इस अध्ययन से 'भागवत' तथा अन्य पुराणों के साथ तुलसी-

साहित्येतर भक्ति- काव्य की तुलना की प्रेरणा एवम् दिशा मिल सकती है। तुलसी को नवीन दृष्टि से देखा-परखा जा सकता है। शोध-समीक्षा के नये क्षितिज उद्घाटित हो सकते हैं। यह अध्ययन भक्ति-काव्य के अनुसंधान के प्रति महत्वपूर्ण योगदान सिद्ध हो सकता है।

प्रथम-अध्याय

भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन

(क)- भक्ति की परिभाषा

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(ख)- भक्ति के प्रकार

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(ग)- भक्ति के अंग एवं साधन

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(घ)- भक्ति-पथ की बाधाएं

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(ङ)- बाधाओं से मुक्ति के उपाय

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

प्रथम- अध्याय

भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन

(क) भक्ति की परिभाषा-

श्रीमद्भागवत में:-

हमारा देश धर्म दर्शन एवम् अध्यात्म की गौरवान्वित पराकाष्ठा में विश्व गुरु के रूप में समादरणीय एवं ख्याति जन्य रहा है। सृष्टि के आदिकाल से लेकर अधुनातन समय तक मनीषियों का चिन्तन धारा भारतीय संस्कृति को नये नये आयामों से अलंकृत करता आया है। हमारे देश के प्रवर ऋषि मुनियों एवम् महापुरुषों ने अध्यात्म को ही अपने चिन्तन का प्रमुख विषय मानकर ज्ञान, भक्ति और कर्म के प्रतिपादित सिद्धान्तों का विवेचन अनुस्यूत किया है।

प्रतिपाद्य विषय के अन्तर्गत हम भक्ति के सैद्धान्तिक स्वरूप पर विहंगम दृष्टिपात करेंगे --

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति एवम् अर्थ :-

भारतीय संस्कृति के आदि ग्रंथ वेद कहे जाते हैं। वेदों में भक्ति की मीमांसा कर्म काण्ड के आधार पर यज्ञ प्रक्रिया के साधन रूप में व्यवहृत की गयी है। देवतृप्ति ही उनका स्वर्ग साध्य था। उक्त कर्मकाण्ड में मानव जाति के अन्तर्गत विशिष्ट वर्ग ही उसका उत्तराधिकारी था।

जैसे पुरोहित, ऋषि प्रवर्ग इत्यादि। नारी एवं शूद्र निम्न वर्ग उक्त अभीष्ट कर्म से प्रतिबन्धित थे।[१] हां, वैदिक शब्दों को शास्त्रीय रूप में व्यवस्थित करने वाले महर्षि यास्क ने अपने शास्त्रीय ग्रंथ निरुक्त में भक्ति शब्द का प्रयोग भक्ति साहचर्य [२] एवम् भक्तीनि [३] इन दो रूपों में निरूपित किया है। जिसमें मानव का लक्ष्य देवताओं का यजन करना और देवताओं द्वारा प्रतिदान में अभीष्ट पदार्थों की सम्पूर्ति कराना- ये परस्पर का कर्तव्य भाव सन्निहित है।[४]

भक्ति शब्द के मूल पर जब हम विहंगम दृष्टिपात करते हैं तो अधिकतर मनीषियों एवं विद्वानों ने भज धातु से इसकी व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है।[५]

१- देखिए- सिंह, डा० उदयभानु - तुलसी दर्शन मीमांसा -प्रकाशन लखनऊ पृष्ठ- २५६ - विश्वविद्यालय-सं० २०१८

अष्टम् अध्याय, भक्ति निरूपण।

२- गुप्ता, डा० आशा, भक्तिसिद्धान्त, पृष्ठ-१, लोकभारती - प्रकाशन इलाहाबाद-१९८४

(I)-`निरुक्तम्` - तिस्र एव देवता इत्युक्त पुरस्तात्। तासा भक्ति साहचर्यं व्याख्यास्याम ।।

३- (II)-अथैतान्यग्निभक्तीनि -`...` निरुक्तम् सप्तमोऽध्याय: पृ०[illegible],

४- गीता - ३।१०-११

५- Encyclopaedia of religion and Ethics' James Hasting's Page 539 F.

" The word Bhakti with the allied word Bhagwata is derived from a Sanskrit root 'Bhaj' meaning in this case is to adore."

भक्ति शब्द संस्कृत के भजसेवायाम्[१] धातु से स्त्रियांक्तिन्[२] इस सूत्र के अनुसार भावार्थक 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। अतः इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ सेवा करना या पूजा करना विवक्षित है।

प्रसिद्ध कोशकार नगेन्द्र नाथ वसु ने हिन्दी विश्वकोष में भक्ति के अठारह अर्थों का उल्लेख पर्याय के रूप में चित्रित किया है।[३] शब्दार्थ कौस्तुभकार ने भक्ति का अर्थ भिन्नता, पृथकता, बंटवारा, बांट, विभाग, अंश, विभाग करने वाली रेखा, गौणवृत्ति, अनुराग, श्रद्धा, इत्यादि पर्यायों का संकेत निर्दिष्ट किया है।[४] इलायुध कोशकार ने सेवा,

---

१- पाणिनी धातु पाठ, भ्वादिगण, पृष्ठ १५, पंक्ति ६

२- पाणिनी अष्टाध्यायी, अध्याय (३), पाद ३, सूत्र ९४

३- १- भाग, विभाग, २- सेवा-शुश्रूषा, ३- अनेक अंशों में विभक्त करना, ४- अंश, अवयव, ५- खण्ड, ६- वह विभाग जो रेखा द्वारा किया जाय, ७- विभाग करने वाली रेखा, ८- पूजा, ९- अर्चन, १०- श्रद्धा ११- विश्वास, १२- अनुराग, स्नेह, १३- जैन मतानुसार वह ज्ञान जिसमें निरतिशय आनन्द हो जो सर्व प्रिय अनन्य, प्रयोजन, विशिष्ट, तथा वितृष्णा का उदयकारक हो, १४- भंगी, १५- गौणवृत्ति १६- उपचार, १७- एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तगण भगण और अन्त में गुरु होता है, १८- पूजा विषय में अनुराग भक्ति।

४- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ- ८१५

विभाग, गौण वृत्ति, भक्ति अनुराग, ईश्वर में अनुरक्ति भाग, उपासना, ईश्वर के प्रति निष्ठा एवम् परम प्रेम और श्रद्धा को भक्ति के अर्थों में विभाजित किया है ।[१]

वाङ्मयार्णव में महामहोपाध्याय रामवतार पाण्डेयने सेवा और सेव्य इन दो रूपों में भक्ति के अर्थ को स्वीकार किया है ।[२] वामन आप्टे ने सेपरेशन, पारटीशन, डिवीजन, रडिवीजन पारसन शेयर, डिवोशन, अटैचमेण्ट लोयल्टी, फेथफुल नेस, इत्यादि भक्ति शब्द के अर्थों की उदभावना की है ।[३]

अमर कोशकार ने अष्टाध्यायी प्रणेता पाणिनि के ~~अनुसार~~ अनुरूप ही सेवा, आराधना, पूजा आदि पर्यायों के अर्थ में भक्ति के शब्दार्थ का अनुमोदन किया है ।[४]

१- जोशी, जयशंकर, हलायुध कोश, पृष्ठ- ४८७

२- शर्मा, महामहो० पाण्डेय रामावतार, वाङ्मयार्णवः ।

३- Apte's Prin. Vaman Shivaram; The Practical Sanskrit English Dictionary, Part II. P. 1182

४- अमर कोषकार, २।६।४८

पाली[1] में "भक्ति" शब्द का अर्थ उपासना के अर्थ में तथा प्राकृत कोश में श्रद्धा, उपासना, सेवा के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी भक्ति शब्द की अर्थाभिव्यक्ति की गयी है।[2]

अतः स्पष्ट है कि भक्ति शब्द की संरचना एवम् अर्थ को विभिन्न कोशकारों एवं शास्त्रीय मीमांसकों ने सेवा, आराधना, श्रद्धा प्रेम और अनुराग इत्यादि के अनेक पर्यायों के द्वारा भक्ति शब्द की अर्थाभिव्यक्ति की है। लेकिन कालक्रम की अविच्छिन्न स्थिति में यह शब्द ईश्वर के प्रति श्रद्धात्मक अनुरक्ति भाव में केन्द्रित होता हुआ एक निष्ठ होगया अर्थात बौद्धकाल में आकर भक्ति शब्द का अर्थ उपासना में रुढ़ हो गया। जिसप्रकार भक्ति का अर्थ सेवा भाव मात्र देव के प्रति आराधनाभाव में सीमित हो गया उसी प्रकार उपासना शब्द का अर्थ समीप में बैठने की चाह मात्र देव समीप जाने के लक्ष्य में सीमित एवम् रुढ़ हो गया।

१- Edgerton Franklin; Budhist Hybrid Sanskrit language and literature " Bhatti Magga/Bhakti Marge is the path of devotional practice. with some expectation of spiritual aid in return Centering around the Veneration (Puja) of the Budha puja and thupa/stupa puja."

२- देखिए- गुप्ता-डा० आशा,:- भक्तिसिद्धान्त -पृष्ठ- ५,

(१) सेवा, नियम, आदर(णाया-१,,८-पत्र १२२,उव,ओ,प्रासू २६)
(२)-रचना(विसे १६३१,ओप,सुपा ५२)।(३)- एकाग्र-वृत्ति विशेष(आव २,)
(४)-कल्पना,उपचार,(धर्म सं०७४२।(५)- प्रकार-भेद(ठा ६),(६)-विच्छित्ति विशेष ओप)(७)अनुराग(धर्म १)(८)-विभाग(६) अवयव(१०)श्रद्धा,(११) मंत,वंत वि० (मंत) भक्तिवाला, भक्त(पउम ६२)- २८इप,सुपा १६०,हे- २,१५६भवि)।

भक्ति की प्रमुख परिभाषाएं:-

अब हम सुप्रसिद्ध भक्त्याचार्यों की परिभाषाओं को नीचे उद्धृत करेंगे - जिन्होंने भक्ति भाव से भावद् कारता एवं अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति की है।

भक्ति के पूर्ववर्ती आचार्यों में महर्षि शाण्डिल्य का नाम प्रमुख रूप से सभी विद्वान स्वीकार करते हैं, जिसे नारद ने भी अपने भक्ति सूत्र नाम ग्रंथ में उल्लेख किया है।[1] महर्षि शाण्डिल्य ने भी स्वर-चित भक्तिसूत्र -नामक ग्रंथ में ईश्वर विषयक परानुरक्ति को भक्ति माना है।[2] यहां पर महर्षि शाण्डिल्य ने निर्हेतुक या निष्काम अनुरक्ति को ही परानुरक्ति कहा है।[3] यही परानुरक्ति ईश्वर में अनुरक्ति या अनुराग है। यह अनुरक्ति का 'अनु' उपसर्ग इस बात को घोतित करता है कि वह राग, प्रेम भाव ध्येय के महत्व अनन्य नित्यत्व के जान लेने के बाद ही उत्पन्न होता है और यह जैसे जैसे ध्येय के महत्व आदि गुण आत्म दर्शन का रूप धारण करते ह जाते है वैसे ही वैसे यह रागात्मिका या प्रेमभाव भी प्रगाढ़ और अद्वितीय होता जाता है यहां तक कि परिपाक की चरम सीमा पार पराभक्ति का नामान्तरण हो जाता है।[4]

१- नारदभक्ति सूत्र- ८६

२- शाण्डिल्य सूत्र-(२), सा परानुरक्तिरीश्वरे

३- शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, भक्ति का विकास, सूरदास- पृ० ३३

४- 'नारद और शाण्डिल्य की भक्ति पद्धति'-हिन्दुस्तानी एकेडेमी की त्रैमासिक पत्रिका अक्टूबर- दिसम्बर- १६४६, पृ०- ३१५

देवर्षि नारद ने सूक्ति भक्ति सूत्र में भक्ति को परम प्रेम रूपा एवम् अमृत स्वरुपा माना है।[१] उक्त परिभाषा में नारद ने प्रेम की चरम पराकाष्ठा को ही भक्ति कहा है कि यही पराकाष्ठा अमृत स्वरुप एवम् शाश्वत है, जिस प्रेम भक्ति के उदय होते ही व्यक्ति के सारे कर्म आचार ईश्वर के प्रति अर्पित हो जाते है। इस अवस्था में साधक को अपने साध्य या ध्येय की थोड़ी सी भी क्षणिक विस्मृति हो जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल एवम् अधीर हो उठता है।[२] आशय यह है कि साधक प्रेम की पराकाष्ठा में पहुंचकर अपने आपको विस्मृत कर देता है, उस अवस्था में लोक धर्म कर्म वास्तव में कर्म नहीं रह जाते, उस स्थिति के क्रियात्मक व्यापार एवम् मनोगतियां आराध्यानुकूल, हो जाती हैं। उक्त दोनों परिभाषाओं में तत्वत: कोई अन्तर नहीं दीखता लेकिन दृष्टिभेद से अन्तर आना स्वाभाविक है। महर्षि शाण्डिल्य भक्ति को शुद्ध रागात्मिका वृत्ति के साथ-साथ ज्ञान को शुद्ध प्रेमाभक्ति की प्राप्ति का अंग मानते हैं। और कर्म के विषय में मौन हो जाते है। लेकिन नारद के विचार में साधक के हृदय में सात्विक भावों के उद्रेक के साथ-साथ ईश्वर के प्रति समर्पित मनोगति की अनन्यता पर बल देते हुये परिलक्षित होते है। और ज्ञान के विषय में मौन हो जाते हैं। देवर्षि नारद ने अपने भक्ति सूत्र ग्रंथ में निम्नलिखित आचार्यों का भक्ति के सम्बन्ध में मत स्पष्ट किया है :--

---

१- नारद भक्ति सूत्र- २-३, " सा त्वस्मिन परम प्रेमरुपा ,"

"अमृतस्वरुपा च"

२- नारद भक्ति सूत्र- १६,

"नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति"

महर्षि पाराशर ने भगवद् पूजा आदि में अनुराग भाव को भक्ति कहा है। श्री आचार्य ने भगवद्गुण कीर्तन भजन और पुराणादि में प्रीति भाव को ही भक्ति कहा है।[१] नारद शाण्डिल्य का मत-उद्धृत करते हुए कहते हैं कि आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है। नारद स्वयं भक्ति के विषय में मत स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भगवान के प्रति अपने समस्त कर्मों को अर्पित करना एवं उनका विस्मरण होने पर व्याकुल एवं अधीर हो जाना ही भक्ति का प्रतिपाद्य है।[२] उनकी दृष्टि में भक्ति के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं क्योंकि वह स्वयं प्रमाणरूपा, शान्तिरूपा एवं परमानन्दरूपा है।[३] "आवृत्तिरस कृदुपदेशात्" सूत्र की व्याख्या करते हुये शंकराचार्य ने कहा है कि परमेश्वर की निरन्तर उत्कण्ठा युक्त स्मृति ही भक्ति है।[४] विवेक चूड़ामणि ग्रंथ में श्री शंकराचार्य ने स्वस्वरूपानुसंधान को ही भक्ति कहा है।[५] "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र की व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य भी परमात्मा की निरंतर स्मृति को ही भक्ति स्वीकार करते हैं।[६] वैसे इन्होंने स्नेह पूर्वक किए गए अनवरत ध्यान को भी भक्ति माना है।[७] तत्वतः दोनों की क्रियायें एवं उदय एक ही है।

१- नारद भक्ति सूत्र, १७, "कथादिष्विति गर्गः ।।

२- नारद भक्ति सूत्र- १९

३- नारद भक्ति सूत्र- २,३,५६

"प्रमाणान्यतरस्यान पेक्षात्वात् स्वयं प्रमाणत्वात् ।(५९)
शान्ति रूपात्परमानन्द रूपाच्च ।। (६०)

४- ब्रह्मसूत्र, अध्याय-४, पाद १, सूत्र-१, का शंकरभाष्य -

"तथा हि लोके....या निरन्तर स्मरणापत्तिं प्रति-
सोत्कण्ठा सैवमभिधीयते ।

५- स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।। शंकराचार्य, विवेक चूड़ामणि-३१

६- ब्रह्म सूत्र, अध्याय१, पाद-१, सूत्र-१ का- रामानुजभाष्य-

"एवं रूपा ध्रुवानुस्मृतिरेवभक्ति शब्देनाभिधीयते ।"

पाञ्चरात्र आगम, विष्णुपुराण तथा महाभारत में चित्त वृत्ति की एकाग्रता, भाव की अनन्यता एवम् एकान्तिक तत्परता पर विशेष बल दिया गया है। नारद पन्चरात्र में तत्परता के साथ हृषीक (इन्द्रिय) के द्वारा हृषीकेश की निर्मल एवम् सभी उपाधियों से विनिर्मुक्त सेवा को भक्ति बतलाया है।[१] पान्चरात्र आगम में नारद, भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव आदि ने विष्णु के प्रति अव्यभिचारी प्रेमभाव को भक्ति माना है।[२]

विष्णुपुराण में भगवान नृसिंह की स्तुति में भक्तराज प्रह्लाद निवेदन करते हुए कहते हैं कि हे भगवान ! जैसी तीव्र आसक्ति अविवेकी जनों की विषयों में केन्द्रीभूत रहती है, उसी प्रकार की अनुरक्ति मेरे हृदय में अविच्छिन्न स्मृति स्वरुप बनी रहे।[३] महाभारत में नारायण और नारद तथा जनमेजय और वैशम्पायन के वार्तालाप में भक्ति के एकान्तिक स्वरुप एवं अनन्यता पर ~~बल~~ बलदेते हुए कहा है कि अमनस्वी पुरुष के लिए यह धर्म गहन है।[४] श्रीमद्भागवद्गीता में भक्त के लिए

१- नारद पन्चरात्र, देखिए- ह०र०सि०, पृष्ठ- १२

"सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलं,हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।"

२- पन्चरात्रे, -" अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंज्ञिता।

भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धव नारदैः ।।

भ०च०- पृष्ठ- ६

३- विष्णुपुराण- १।२०।१६

४- महाभारत शान्तिपर्व- ३।५८।१-४

सगुण रूप परमेश्वर के स्वरुप का तैलधारा के सदृश्य अनन्य ध्यान योग से निरन्तर चिन्तन मनन करने वाले मानसिक एवम् बौद्धिक वृत्ति व्यापार को भक्ति कहा है।[१] वैसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से होने वाले अन्त: एवम् बाह्य कर्मों में आसक्ति और फल त्याग को भी भक्ति माना है।[२] गीता के अठारहवें अध्याय में भक्ति के आत्मनिवेदन भाव या शरणागति पर विशेष बल देते हुये श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं कि हे अर्जुन! तू सब धर्मों एवम् कर्मों के आश्रय को त्यागकर केवल मेरी ही अनन्य शरण को प्राप्त होने से तू सम्पूर्ण पाप एवं शोक से मुक्त रहेगा।[३] इस प्रकार अनन्य चित्त से मेरे स्वरुप का निरन्तर स्मरण करने से तू मेरे सहज स्वरुप को प्राप्त होकर अभीष्ट पुरुषार्थ रूप परमगति को प्राप्त करेगा।[४] इस प्रकार गीता में अन्त: एवं बाह्य मनोभक्ति का ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित भाव को ही भक्ति माना है।

आचार्य मध्वाचार्य ने भगवान के माहात्म्य ज्ञान से उद्भूत पराकाष्ठा जन्य सुदृढ़ एवम् सतत स्नेह को भक्ति कहा है।[५] आचार्य

१- श्रीमद्भगवद्गीता- १२।८,

२- गीता- १२।१४

३- गीता- १८।६६

४- गीता- १८।६५

५- महाभारत तात्पर्य निर्णय- १।८६।१०७,

महात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोधिका: ।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ।।

वल्लभ ने भगवान के माहात्म्य ज्ञान से सम्पन्न सुदृढ़ एवम् स्नेह जन्य परानुरक्ति भाव को भक्ति माना है।[1]

श्री जीव गोस्वामी ने भगवान के दाम्पत्य की स्थापना को अप्राकृत माधुर्य भाव माना है तथा विभावादि के संयोग द्वारा उक्त भाव से निष्पन्न रस को मधुर, उज्ज्वल या भक्ति रस कहा है और बताया है यह रस हृदय की चरम प्रेम पराकाष्ठा का निदर्शन है। यही भक्ति है।[2]

श्री रूपगोस्वामी ने भक्ति रसामृत सिन्धु -नामक भक्ति शास्त्रीय ग्रंथ में श्रीकृष्ण के अनुशीलन को ही उत्तम भक्ति कहकर उनकी अनुकूलता से युक्त तथा अन्य अभिलाषा शून्य एवम् ज्ञान कर्म से अनावृत स्थिति का निरूपण किया है।[3]

श्री मधुसूदन सरस्वती ने प्रणीत 'भक्तिरसायन' नामक भक्ति ग्रंथ में भागवत धर्म के सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति अविच्छिन्न वृत्ति को भक्ति कहा है।[4]

१- तत्त्वदीपनिबन्ध- ज्ञानप्रकरण। श्लोक ४६-

माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़: सर्व तोधिक:।
स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तस्तदा मुक्तिर्नैवान्यथाम् ।।

२- शर्मा, डा० मुंशीराम, भक्ति का विकास, पृष्ठ- ३०७

३- भक्तिरसामृत सिन्धु, १।११

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्म्माधिनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति रुत्तमा ।।

४- श्रीमद्भगवद्भक्ति रसायनम्, उल्लास त्रयोल्लसितम् ,

द्रुतस्यभगवद्धर्मात धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्ति: भक्तिरित्यभिधीयते ।।

प्रथम उल्लास का श्लोक -२

भक्ति मीमांसाकार ने मन के विशेष उल्लास या अनुरक्ति को भक्ति माना है ।[1] रामानुज दर्शन के अनुयायी श्रीरामानन्द ने भक्ति की परिभाषा का निरूपण करते हुये कहा है कि भक्ति मानस का नियमन करके अनन्य भाव से भगवत्परायण होकर की गयी उपाधि निर्मुक्त परमात्म सेवा है । वह ईश्वर के प्रति परानुरक्ति या प्रेम रूप है, स्मृति संतान रूपा है, तैलधारा के सदृश अविच्छिन्न ध्यान है । विवेक आदि उसकी सात भूमियां और यम आदि आठ अवयव है ।[2] योगसूत्र के भाष्यकार व्यास और वृत्तिकार भोज ने भी प्रणिधान को भक्ति विशेष मे परिभाषित किया है कि यह प्रणिधान ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण कर्मों का समर्पण है ।[3]

स्वामी विवेकानन्द ने भक्तियोग नामक पुस्तक में मत प्रस्तुत करते हुये कहा है कि- निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज करना ही भक्ति है ।[4]

१- भक्ति मीमांसा, प्रथम अध्याय, प्रथमपाद-२,

"भक्तिर्मनस उल्लास विशेष: "

२- वै०म० भा०गु०- ६५-६६, -

"उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदं भक्ति: समुक्त परमात्म सेवनम्
अनन्यभावेन नियम्य मानसं महर्षिमुख्यै भगवत्परत्वत:
सा तैलधारावदनष्ट संस्मृति प्रतानरूपेश परानुरक्तिका ।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तभूमिजा यमादिकाष्टावयवामता बुधै: ।

३- योग सूत्र- २।१, २।३२, २।४५, -

उनपर व्यासभाष्य तथा भोज वृत्ति: "

४- भक्तियोग: पृष्ठ- १

श्री रामकृष्ण परमहंस ने ईश्वर के चरणों में अनुराग तथा नामगुण कीर्तन में नित्य नूतन प्रेम को भक्ति माना है।[१]

श्री कुन्ज गोविन्द गोस्वामी ने ने आराध्य देव के प्रति समर्पित भावना को ही भक्ति कहा है और बताया है कि यही प्रेम की उत्कट अवस्था ही परानुरक्ति है।[२]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक एवम् निबन्धकार आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने श्रद्धा और प्रेम के योग[३] को तथा धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति माना है।[४]

डा० मुंशीराम शर्मा ने अपने शोध प्रबन्ध में भक्ति की परिभाषा को उद्धृत करते हुये कहा है कि जब मनुष्य भौतिक सुख-दुख को त्यागकर ब्रह्म की ओर अग्रसर या अभिमुख होने लगता है तो उस रागात्मक प्रवृत्ति से किया गया अनुसंधान ही भक्ति है।[५]

डा० भण्डारकर ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेमभाव को भक्ति मानते हैं।[६]

१- उपाध्याय, हरिभाऊ, `भागवत धर्म`

२-

३- चिन्तामणि- पृष्ठ ४०, `श्रद्धा और भक्ति` निबन्ध से

४- चिन्तामणि- पृष्ठ- २०७

५- शर्मा, डा० मुंशीराम- भक्ति का विकास, पृष्ठ- ६८,६९

६-

श्रीमद्भागवत के आधार में भक्ति की परिभाषा एवम् स्वरुप:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार भक्ति की परिभाषा एवम् लक्षण पर विचार करने से पूर्व यह बात नितान्त विचारणीय है कि यह विशाल ग्रंथ शास्त्र की सीमा के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया जाता है, यह ग्रंथ महापुराण की सीमा के अन्तर्गत मान्य है। इसकी अपनी प्रतिपादन शैली है। शास्त्र ग्रंथों की नियत सीमाएं एवं व्यवस्थाएं होती है। इस महापुराण में अनेक प्रतिपाद्य विषय है लेकिन तत्वत: एक ही परमतत्व पूर्णावतार श्रीकृष्ण का ही चरित्रांकन किया गया है। प्रमुख रुप से इसमें हरि (विष्णु) के विभिन्न अवतारों की लीलात्मक चर्या का समा-योजन भी दर्शनीय है। इस महापुराण में महापुरुषों के चरित्र, भक्त सन्तों की गाथाएं भी अनुस्यूत है। प्रासंगिक रुप से भक्ति ज्ञान वैराग्य एवं प्रेम साधना का सफल परिपाक वर्णित हुआ है। इसके साथ-साथ युगानुक्रम वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था एवं परमार्थ तत्व तथा ऐहिक एवम् पारलौकिक गतियों का भी निरुपण किया गया है। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि सर्वत्र भक्ति भावना का विस्तार से प्रवचन किया गया है पर शास्त्रों में जिस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषों से शून्य किसी वस्तु का लक्षण किया जाता है वैसा भागवतकार ने कहीं नहीं किया है। अनेकत्र उन्होंने विभिन्न प्रकार से भक्ति की महिमा का गायन किया है। उसी में भक्ति के अनिवार्य गुणों एवम् विशेष-ताओं का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसी को भक्ति की परिभाषा या लक्षण मान सकते हैं पर शास्त्रीय भाषा में इन्हें 'तटस्थ लक्षण' से सम्बोधित किया जाता है।

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत परमात्मा में जीवों की अनुरक्ति के लिए भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीन प्रकार के योगों का वर्णन किया गया है।[1] पर भक्ति की महिमा का यशोगान सर्वत्र हुआ है, कहा है कि हे उद्धव! जैसे धधकती हुई अग्नि लकड़ियों के समूह को जलाकर खाक कर देता है, उसी प्रकार भगवद् भक्ति मनुष्य के हृदय में कलुषित पाप राशि को भष्म कर डालती है।[2] इसलिए मैं न योग, सांख्य, स्वाध्याय, तप, एवम् त्याग के द्वारा वशीभूत होता हूं मेरी प्राप्ति का साधन केवल भक्ति है।[3] श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भागवत धर्मों के व्याख्यान में विशुद्ध, भक्ति, नवधाभक्ति एवम् प्रेमाभक्ति द्वारा भक्ति के स्वरुप को स्पष्ट किया है। विशुद्ध भक्ति की उपादेयता में निर्हेतुक, निष्काम एवम् निष्प्रयोजनवती होना नितान्त आवश्यक है। यह सर्वेश्वर के प्रति चित्त की एकाग्रता के समाहित अनन्य प्रेमभाव को सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं। अर्थात कामना राहित्य प्रेम विशुद्ध भक्ति का स्वरुप है। इसी को निर्गुण भक्ति एवम् विशुद्ध प्रेम तथा भक्ति योग कहते हैं। कुन्ती द्वारा भगवान कृष्ण की स्तुति में इसी अप्राकृत प्रेम एवम् विशुद्ध भक्ति भाव को स्पष्ट किया है - जैसे - गंगा की अखण्ड धारा समुद्र में प्रवाहित रहती है, उसी प्रकार मेरी बुद्धि अन्यत्र न जाकर निरन्तर आपके स्वरुप का ही स्मरण करती रहे।[4]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२०।६

२- श्रीमद्भागवत- ११।१४।१६

३- श्रीमद्भागवत- ११।१४।२०

४- श्रीमद्भागवत- १।८।४२

महामुनि कपिल द्वारा माता देवहूति को इसी निर्गुण भक्ति अर्थात विशुद्ध भक्ति योग को परिभाषित करते हुये बताया है कि -- जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर अनवरत बहता रहता है, उसी प्रकार भगवद् गुणों के श्रवण मात्र से मन की गति तैलधारावत अविच्छिन्न रूप से सर्वान्तर्यामी के प्रति निष्काम एवम् अनन्य प्रेम हो जाने को ही भक्ति कहते हैं ।[1] इस प्रकार की अविच्छिन्न ध्यान योग की पराकाष्ठा को ही भागवतकार मनुष्यों के लिए प्राप्ति का श्रेष्ठ धर्म बतलाते हैं कि यह (भक्ति) ही निर्हेतुक एवम् निष्काम मनोगति का बौद्धिक अभ्यास है ।[2] यही भगवान में एकाग्र होने की चित्त की स्थिर प्रक्रिया है ।[3] यही दान धर्मानुष्ठान यम, नियम वेदाध्ययन, सत्संग और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रतों का अन्तिम परिणाम है , इसी मन की अविच्छिन्न गति को ही परमयोग कहते हैं ।[4]

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति के माध्यम से श्रीकृष्ण की भक्ति को प्राप्त करना ही श्रेष्ठ धर्म बतलाया है- यथा- संतों के परमाश्रय भगवान श्रीकृष्ण के नाम, रुप गुण लीला आदि का श्रवण, कीर्तन स्मरण उनकी सेवा पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य सख्य और

१- श्रीमद्भागवत- ३।२६।११-१२

२- श्रीमद्भागवत- १।२।६-

सर्वैपुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्य प्रति हता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति ।।

३- श्रीमद्भागवत- ३।२५।४४

४- श्रीमद्भागवत- ११।२३।४६

समर्पण इत्यादि ही मनुष्यों का श्रेष्ठ धर्म है ।[१] सर्वत्र भगवान कृष्ण की ही सत्ता समझकर सब वस्तुओं में भावद् दर्शन करना जीव के लिए मनुष्य शरीर पाकर सबसे बड़ी उपलब्धि है, यही भक्ति का स्वरूप है।[२]

श्रीमद्भागवत में सकाम भक्ति से निष्काम भक्ति को सर्वोत्तम माना है क्योंकि सकाम भक्ति में कामना एवम् आसक्ति का बीज विद्यमान रहता है । कामना और आसक्ति की उत्पत्ति गीतानुसार राग रूप रजोगुण से होती है । वह इस जीवात्मा को कर्मों[३] की ओर एवम् उनके फल की आसक्ति से बांधता है ।[४] यह रजोगुण सत्वगुण और तमोगुण को दबाकर बढ़ता है ।[५] इस रजोगुण के बढ़ने पर लोभ प्रवृत्ति एवम् सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थ बुद्धि से आरम्भ एवम् अशान्ति अर्थात मन की चन्चलता और विषय भोगों की लालसा यह सब उनके मनोव्यापार चला करते हैं ।[६] इसलिए भक्त प्रह्लाद भगवान से हृदय में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित न होने का ही वरदान मांगते हैं ।[७] क्योंकि हृदय में किसी की कामना के उदय होते ही इन्द्रिय मन, बुद्धि, प्राण ,देह,धर्म लज्जा श्री,तेज ,स्मृति और सत्य ये सबके सब नष्ट हो जाते हैं ।[८]

१- श्रीमद्भागवत- ७।११।११

२- ,, -७।७।५५

३- ,, - ११।१६।३२,३।२८।१३,११।२५।१४
गीता - १४।७,१४।६

४- श्रीमद्भागवत- ११।२५।६

५- गीता - १४।१०, - भागत- ११।२५।१४

६- गीता - १४।१२, भागवत- ११।२५।१४, गीता -१४।१७

७- भागवत- ७।१०।७

८- भागवत- ७।१०।८

कामना में प्राकृत गुणों एवम् सांसारिकता तथा स्वयं के अपनत्व का बोध होता है जबकि निष्कामता में एक तत्व स्वरुप भगवान की सार्वभौमता का तत्वज्ञान निहित होता है। इसलिए कामनाओं की पूर्ति चाहने वाले को प्रह्लाद लेन देन करने वाला निरावनिया मानते हैं।[१] और आगे कहते हैं कि जिस समय मनुष्य अपने मन में रहने वाली कामनाओं का परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत स्वरुप को प्राप्त कर लेता है।[२] जिस प्रकार सृष्टि की संरचना में सत्व रज, तम, त्रिगुणात्मक प्रकृति का योग सन्निहित होता है उसी प्रकार साधकों के स्वभाव एवम् गुणों के भेद से भक्तियोग के पारिभाषिक निरुपण में भी वैषम्य आ जाना गुणों की कार्यावस्था का ही परिणाम है।[३] श्रीमद्भागवत में प्राकृत गुणों के आधार पर सात्विकी, राजसी एवम् तामसी भक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि इन तीनो भक्तियों में कामना और आसक्ति, मोह एवं ज्ञानाभिमान निहित रहता है। सांख्य दर्शन के के प्रतिष्ठापक महामुनि कपिल ने माता देवहूति को उक्त तीनों प्रकार की भक्तियों का उपदेश देते हुए कहा है कि--

जो भक्ति पाप नाश के उद्देश्य से सभी कर्म फलों को भगवान में समर्पण करने के रुप में अथवा जिसमें पूजन करना कर्तव्य है यह समझकर भेद दृष्टि से पूजा की जाती है,वह भक्ति सात्विकी है।[४] जो भक्ति विषय यश और ऐश्वर्य की कामना से भेद दृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमादि के

१- भागवत- ७।१०।१४

२- भागवत- ७।१०।६

३- भागवत- ३।२६।७

४- भागवत- ३।२६।१०

पूजन के रूप में ही की जाती है वह भक्ति राजसी है ।[1] जो भक्ति क्रोध से हिंसा दम्भ और मत्सरतादि को लेकर भेद दृष्टि से की जाती है वह भक्ति तामसी है ।[2]

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भक्ति के अंगों में समर्पण या आत्म-निवेदन भक्ति को सबसे अधिक गौरव प्राप्त हुआ है । सभी प्रकार के भक्तों ने इस भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है । इसी को प्रपत्ति,शरणागति भी कहते हैं । यह भक्ति भगवान के प्रति मनुष्य के अन्त: एवम् बाह्य क्रियाओं के समग्र समर्पण का ही परिणाम है अर्थात ऐन्द्रिक, मानसिक एवम् बौद्धिक व्यापारों का भगवान में निवेदित भाव ही आत्म निवेदन है । संपुष्टि के लिए योगीश्वर कवि जी के उदगार उद्धृत है--

"मनुष्य अपनी इन्द्रियां, वाणी, मन , बुद्धि अथवा अन्तरात्मा से जो कुछ भी कर्म का सम्पादन करे वह सब भगवान को अर्पण कर दे । यही सर्वोत्तम भक्ति है ।[3] इस आत्म निवेदन भक्ति का उपदेश श्रीमद्-भागवत में प्रत्येक स्कन्ध में वर्णित हुआ है ।[4]

श्रवण कीर्तन, स्मरण भी भक्ति के अंगों में परिगणित किए जाते हैं । यही अंग भक्तों के चित्त शुद्धि के माध्यम बनते हैं और आत्म प्रसाद की उपलब्धि कराते हैं।[5]नवधा भक्ति में इनकी गणना प्रारम्भ में ही की गयी है। श्रीमद्भागवत में कथा श्रवण और नाम संकीर्तन की महिमा

१- श्रीमद्भागवत- ३।२६।६

२- श्रीमद्भागवत- ३।२६।८

३- श्रीमद्भागवत- ११।२।३६

४- श्रीमद्भागवत- ११।२।४३, ११।१६।२३,११।१६।२४

५- श्रीमद्भागवत- ७।११।७

का सर्वत्र गायन किया गया है कि यही साक्षात् भगवान कृष्ण को प्राप्त कराने के मुख्यांग है। शुकदेव जी कहते हैं कि जो मनुष्य अभय पद प्राप्त करना चाहता है उसे सर्वात्मा सर्व शक्तिमान, भगवान श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण कीर्तन, स्मरण करना चाहिये।[१] यही मनुष्य जन्म का लाभ है, चाहे ज्ञान से, भक्ति से, अथवा अपने धर्म की निष्ठा से, जीवन को ऐसा बनालिया जाय कि मृत्यु के समय भगवान श्रीकृष्ण की स्मृति बनी रहे।[२] अर्थात भगवान कृष्ण की अविचल स्मृति ही भक्ति है।

श्रीमद्भागवत महापुराण में भगवान्नाम संकीर्तन की महिमा का सर्वत्र गायन किया है।[३] इन्हीं श्रेष्ठ नामों के संकीर्तन से विषयी या संसारी मन शान्त होकर भगवन्मुखी हो जाता है इसीलिये भक्ति के आचार्य यमराज जी का उदघोष है कि इस जगत में जीवों के लिए यही सबसे बड़ा कर्तव्य एवम् परमधर्म है कि वे नाम संकीर्तन आदि उपायों से भगवान के चरणों में भक्ति भाव प्राप्त कर लें।[४] अर्थात भगवन्नाम संकीर्तन द्वारा किया गया भगवत्प्रेम ही भक्ति है।

भागवतकार ने कलियुग के दोषों से मुक्ति पाने के लिए एवं आसक्ति क्षय के लिए तथा परमात्मा की प्राप्ति के लिए नामसंकीर्तन को विभिन्न युगों में जिन जिन साधनात्मक क्रियाओं एवम् अनुष्ठानों से

१- श्रीमद्भागवत- २।१।५

२- श्रीमद्भागवत- २।१।६

३- श्रीमद्भागवत- ११।१४।२६। ३।३३।७, १२।३।४६, १।४।३१, १२।३।५१, १२।१२।५७, ११।१४।२६

४- श्रीमद्भागवत- ६।३।२२

अभीष्ट की प्राप्ति होती था, वह प्राप्ति ~~कर्म~~ कलियुग में नाम संकीर्तन द्वारा प्रमाणित की है। शुकदेव जी कहते हैं कि -- कलियुग में केवल भगवान श्रीकृष्ण का संकीर्तन करने मात्र से ही सारी आसक्तियां छूट जाती है ~~औरर~~ परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।[1] -++- सत्ययुग में भगवान का ध्यान करने से, त्रेता में बड़े- बड़े यज्ञों के द्वारा उनकी आराधना करने से और द्वापर में विधिपूर्वक उनकी पूजा सेवा से जो फल प्राप्त होता है वह कलियुग में केवल भगवन्नाम का कीर्तन करने से ही प्राप्त हो जाता है।[2]

भक्ति साधना को राग प्रधान माना गया है। यह विशुद्ध धर्म की रसात्मक अनुभूति है।[3] इसका सम्बन्ध हृदय से होने के कारण संवेदन शील है, समष्टि करुणा की आधार शिला है। शास्त्रों में इसे रसो वै स: स्वम् परमानन्द सहोदर भी कहागया है।

चैतन्य मत के अनुयायी इसी रस साधना को राग, काम एवं प्रेम की अप्राकृत अवस्था मानते हैं तथा गुणातीत स्तर की अनुभूति कहते हैं, श्रीमद्भागवत में शुकदेव जी के मुख से किया गया परीक्षित के प्रति उपदेश परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण की प्राप्ति का ही साक्षात् प्राकट्य है।[4] अर्थात जिसे व्यक्ति भौतिक परमानन्द(रस) मानकर उसका आस्वाद लेता है, ठीक उसी प्रकार भक्त भगवन्मुख होकर चिदानन्द

१- श्रीमद्भागवत- १२।३।५१

२- श्रीमद्भागवत -१२।३।५१

३- श्रीमद्भागवत-

४- श्रीमब्द्भागवत- १।४।४८

स्वरूप में तन्मय हो जाता है। जिसमें स्वाभाविकी प्रेम, पूर्ण आवेश एवम् ~~तन्मय हो जाता है। जिसमें~~ तन्मयता युक्त अवस्थाएं एक साथ जुड़ी होती है। श्रीमद्भागवत में गोपियों का प्रेम इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसी एक निष्ठ तन्मयता को रूपगोस्वामी रागात्मिका भक्ति कहते हैं।[1] ~~इसी व~~ यही अप्राकृत प्रेम है, जो लौकिक मर्यादाओं को लांघकर अर्थात वैषयिक गुणों का अतिक्रमण कर अलौकिक प्रेम की अवतारणा करता है। इसी प्रेमाभक्ति के उद्रेक से मानव मन की वासनाएं, प्रबल इच्छाएं तथा सांसारिक आसक्तियां और कर्म संस्कार आदि नष्ट हो जाते है। उसका अन्त:करण शुद्ध हो जाता है, चित्त द्रवीभूत होकर बहता रहता है, वह देहात्मपदार्थों के जन्म मृत्यु धर्मा बन्धनों के भय से मुक्त हो जाता है। वह भगवान की अविचल स्मृति में एवम् उनकी लीला कथाओं में अपने मानसिक, बौद्धिक तथा ऐन्द्रिक व्यापारों को एकाग्र किए रहता है।[2]

भगवान की क्षणिक विस्मृति होने पर अधीर एवम् व्याकुल होकर कभी रोने लगता है, तो कभी वह खिलखिलाकर जोरों से हंसता है। तो कभी वह लाज संकोच छोड़कर नाचने गाने लगता है।[3] तो कभी लोकातीत जगत में भगवान से बात चीत करने लगता है। कभी-कभी वह भगवान की प्रेम और दर्शन की अनुभूति में प्रेममग्न हो जाता है।[4] तो कभी वह भाव विभोर होकर आकाश, वायु अग्नि जल पृथवी गृह, नक्षत्र प्राणी दिशाएं वृक्ष, वनस्पति नदी, समुद्र सभी में भगवान का रूप समझकर

१- ह०भ०र० सिन्धु- इष्टे स्वारसिकी राग: परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्ति: सात्र रागात्मिकोदिता ।।

२- श्रीमद्भागवत- ११।१२।५४

३- श्रीमद्भागवत- ७।७।३४-३६, नारद भक्तिसूत्र- १६

४- श्रीमद् भागवत -११।३।३२,११।२।४०

प्रणाम करने लगता है [१] उसकी यह अवस्था अपार्थिव या असाधारण होती है। इस प्रकार का भक्त स्वयं को तो पवित्र करता ही है बल्कि सारे संसार को भी पवित्र कर देता है। [२] पृथ्वी सनाथ हो जाती है। ऐसे ही भक्तों की चरण रज स्पर्श के लिए भगवान भी पीछे पीछे दौड़ा करते हैं। तथा उस रज को अपने मस्तक पर धारण कर अपने को धन्य एवं सौभाग्य शाली समझते हैं। इसलिए भागवतकार श्रीहरि और दुर्वासा के प्रसंग में उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। [३] ऐसे ही निष्काम भक्तों को सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मोक्ष देने पर भी वह भगवत्सेवा के अतिरिक्त किसी भी मुक्ति को वह स्वीकार नहीं करते हैं। यहां तक कि भगवच्चरणों के आश्रय के अतिरिक्त स्वर्ग चक्रवर्ती का पद, ब्रह्मा का स्थान, पाताल का आधिपत्य तथा विभिन्न योग सिद्धियां आदि को गौण समझते हैं। [४] वह जानते हैं कि मुक्ति जन्म मृत्यु के छोर के हेतु है और भक्ति भगवान का स्वरूप है। एक का उदय कामना द्वारा मुक्ति की चाह है, तो दूसरे का उदय निष्काम एवम् निर्हेतुक सेवा से है। मुक्ति के सिलसिले में श्री रूप गोस्वामी कहते हैं कि जब तक भुक्ति और मुक्ति की इच्छा रूपिणी पिशाचिनी हृदय में विराजमान है, तब तक वहां भक्ति सुख की उत्पत्ति कैसे हो सकती है --

---

१- श्रीमद्भागवत- ११।२।४१

२- ,, ११।२६।३२

३- ,, ६।४।६३-६६-६८

४- ,, ६।४।६७, ३२६।१३, ११।२।५३, ३।२३।२४

मुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत ।।[1]

और भक्ति के सिलसिले में भागवतकार कहते हैं --सत्वमूर्ति श्रीहरि के प्रति जो साधक की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है वही भगवान की अहैतुकी भक्ति है । यही भक्ति मुक्ति से बढ़कर है । जैसे जठरानल खाये हुए अन्न को जिसप्रकार पचा देता है उसी प्रकार यह कर्म संस्कारों के भण्डार रूप लिंग शरीर को तत्काल भस्म कर देती है । इसीलिए भक्ति मुक्ति से श्रेष्ठ है ।[2]

दूसरा तथ्य यह भी है कि मुक्ति में भगवान के नाम रूप गुण लीला कथाओं से साधक वञ्चित हो जाता है अर्थात उसका अस्तित्व शून्य हो जाता है और भक्ति में भक्त भगवान की अपौरुषेय लीला कथाओं के दिव्यानुराग में तन्मय एवम् मस्त रहा करता है । मुक्ति ज्ञान का अभीष्ट है मुक्ति का परिणाम फल है और भक्ति रसानन्द भाव की चरम परणति है । ज्ञान भक्ति का सहायक है । परिपक्व ज्ञान से वैषयिक विरक्ति होती है और ज्ञान वैराग्य से प्रौढ़ होकर भक्त भगवान की शरण में अभिमुख होता है अर्थात परिपक्व ज्ञान और वैराग्य प्रेमा-भक्ति के या विशुद्ध भक्ति के अविर्भाव के हेतु है ।[3]

१- हरिभक्ति रसामृत सिन्धु- प्रथमोऽध्याय श्लोक- २ ,

२- श्रीमद्भागवत- ३।२३।३२+३३

३- श्रीमद्भागवत- १२।१२।५२

इसीलिए भागवतकार कहते हैं कि जो निर्मल ज्ञान मोक्ष का साक्षात् साधक है यदि वह भगवान की भक्ति से रहित है उसकी शोभा उतनी वरणीय नहीं होती है । और फिर जो कर्म भगवान को अर्पित नहीं किया गया है, वह चाहे जितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो सुधी जन उसे अमंगल एवं दुखदायी ही कहते हैं ।[१]

श्री कृष्ण भगवान की स्तुति में ब्रह्मा जी भक्तिरहित ज्ञान का उपालम्भ देते हुये कहते हैं कि जो लोग कल्याण कारिणी भक्ति को त्यागकर केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए कष्ट उठाते हैं, उन्हें परिणाम् में कष्ट ही प्राप्त होता है जैसे धान की भूसी कूटने वाले को परिणाम में भूसी ही मिलती है , चावल नहीं ।[२]

भक्ति में किसी जाति विशेष का बन्धन नहीं होता है । भक्ति में सभी का समान अधिकार होता है । भक्ति में चान्डाल या द्रोही ही क्यों न हो यदि वह निश्चय पूर्वक भगवत् शरण में आ जाता है तो उसे भगवान परम शक्ति एवम् अभयता प्रदान करते हैं । श्रीमद्भागवतकार भक्त प्रह्लाद के माध्यम से कहलवाते हैं कि- मेरी समझ में धन,कुलीनता रूप,तप,विद्या ओज, तेज, प्रभाव बल,पौरुष,बुद्धि और योग ये सभी गुण परम पुरुष भगवान को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हैं, भगवान तो मात्र भक्ति से ही गजेन्द्र पर प्रसन्न हुये थे + + + यदि उक्त १२गुणों से युक्त ब्राह्मण भी भगवान के चरण कमलों से विमुख है तो वह चान्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन वचन कर्म धन, और प्राण भगवान में समर्पित कर

१- श्रीमद्भागवत- १२।१२।५२

२- श्रीमद्भागवत- १०।१४।४

दिये है । वह चान्डाल अपने कुल समेत को पवित्र कर देता है और बड़प्पन का अभिमान रखने वाला वह ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता ।[1] इसलिए भक्ति में सभी प्राणियों का समान अधिकार है । सूक्तिकार कहते है कि व्याध ने कौन सा सदाचार किया था? ध्रुव की क्या अवस्था थी ? गजराज में ऐसी कौन सी विद्या थी कुब्जा में ऐसा कौन सा सौन्दर्य था ? सुदामा के पास क्या धन था ? विदुर का कौन सा उच्च कुल था ? आपका यादव पति उग्रसेन में कहां का पुरुषार्थ था ? भगवान तो केवल भक्ति द्वारा ही प्रसन्न होते है ,गुणों से नहीं है ।[2]

उपर्युक्त विश्लेषणों से स्पष्ट होता है कि भक्ति में ज्ञान, वैराग्य एवम् प्रेम तीनों का समावेश अन्तर्भूत है जैसे भोजन करने वाले व्यक्ति को एक साथ ही तृप्ति, शरीर का पुष्टि और क्षुधा निवृत्ति होती है, उसी प्रकार भक्ति के साधक को एक साथ ही, भगवदनुराग ,परमेश्वर का सच्चा ज्ञान और इतर पदार्थों के प्रति विराग भाव जाग्रत हो जाता है ।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ७।९।९-१०, ११।२।५१, ७।७।५४

२- व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ।
कुब्जाया: किमु नाम रुपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम् ।।
वंश: को विदुरस्य यादव पतेरुग्रस्य किं पौरुषं ।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधव: ।।
सूक्ति सुधाकर , पृष्ठ- २०७

३- श्रीमद्भागवत- ११।२।४२

श्रीमद्भागवत में भक्त के लक्षणों द्वारा भक्ति की अनुष्ठान -मयी सार्थकता को सिद्ध किया गया है, जो साधक भक्ति साधना द्वारा ऐन्द्रिक, मानसिक एवं बौद्धिक क्रिया व्यापारों एवं चेष्टात्मक शक्ति पर नियंत्रण करके सांसारिक धर्मों से अतीत होकर भगवच्चरणों की अविचल स्मृति में अनुरक्त रहता है, उसी श्रेणी के भक्तों का भागवतकार विश्लेषण करते हुये कहते हैं कि --

" जो व्यक्ति चक्षुरादि इन्द्रियों से रूपादि विषयों को ग्रहण तो कर लेता है, जिसे इच्छा के प्रतिकूल एवम् अनुकूल विषयों की प्राप्ति में न तो द्वेष एवम् हर्ष होता है, वल्कि तटस्थ दृष्टि से उक्त व्यापारों को भगवान की माया का क्रियाकलाप समझता है, वही उत्तम भागवत है।[१] संसार के धर्म जन्म मृत्यु भूख प्यास, श्रम- कष्ट भय-तृष्णा व्यक्ति के शरीर, इन्द्रिय प्राण मन एवं बुद्धि को पीड़ित करते रहते हैं, पर जो व्यक्ति इनसे मोहित एवम् पराभूत नहीं होता, वही उत्तम भक्त है।[२] जिसके मन में काम वासना एवम् कर्म वासना का उदय नहीं होता, सदा भगवान के ही ध्यान में निमग्न रहता है वह भी उत्तम भक्त है।[३] संसार का बड़े से बड़ा आकर्षण आने पर भी जो भगवान के चरणारविन्दों को भी निमिष मात्र के लिए भी नहीं छोड़ता, वह उत्तम भक्त है।[४] जिसकी प्रेम शृंखला में बंधकर परम दयालु भगवान हृदय से बाहर नहीं होते, वह भागवद्भक्तों में उत्तम भक्त है।[५]

१- श्रीमद्भागवत ११।२।४८

२- श्रीमद्भागवत- ११।२।४९

३- श्रीमद्भागवत- ११।२।५०

४- श्रीमद्भागवत- ११।२।५३

५- श्रीमद्भागवत- ११।२।५५

(क) - भक्ति की परिभाषा:-

तुलसी साहित्य में -

तुलसी साहित्य में भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने आराध्य राम की भक्ति की महिमा का गायन किया है। वही तुलसी के आलंबन स्वम् भजनीय है।[१] उनके चरणों में अनुराग को ही तुलसी भक्ति का साधन स्वम् साध्य मानते हैं।[२] दोहावली[३] में कविवर तुलसी उस नीति का प्रतिपादन किया करते हैं जो भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों से परिपुष्ट है। जिन सिद्धान्तों से लोक का संरक्षण स्वम् मर्यादा की प्रतिष्ठा स्थापित होती है। वही श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ है, जिसका अनुशीलन अलौकिक राग की क्रियाशीलता से होता है। राम के प्रति की गयी अवैषयिक स्नेह की पराकाष्ठा ही राम-भक्ति है, जिसका आधार पतन्जलि के सुखानुशयी राग से है।[४] यही सन्तों द्वारा अनुकरणीय स्वम् समर्थित भक्ति पद्धति है। तुलसी की उपरिलिखित परिभाषा में दो तथ्य अवेक्षणीय है- प्रथम , नीति पथ जिसे तुलसी ने रामभक्ति मार्ग, राजमार्ग या हरिभक्ति पथ कहा

१- रा०मा०- ७।६१।३- प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना ,
   रा०मा०- १।३४२।३- वार वार मागौं कर जोरे, मनु परिहरै चरन जनि मोरे।
   रा०मा०- २।१२६- सबु करि मांगहि एकुफलु राम चरन रति होउ ।
   रा०मा०- २।२०४ जनम जनम रति राम पद यह वर दानु न आन ।
२- रा०मा०- २।२८६।४- साधन सिद्धि राम पग नेहू ।
३- दोहावली- ८६- प्रीति राम सौ नीति पथ चलिअ राग रिस जीति ।
   तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति ।।
४- योगदर्शन- सुखानुशयी रागः ।

है ।[1] द्वितीय, भगवान राम के चरणों में निष्काम प्रेम का होना अर्थात अनासक्त भाव से राम के चरणों में की गयी प्रीति भक्ति है ।[2]

डा० बल्देव प्रसाद मिश्र ने तुलसी के अभिमत भक्ति मार्ग को श्रुति सम्मत एवम् आर्यभाव से मुखरित भारतीय भाषा के सच्चे कोशमाने हैं।[3]

१- रा०मा०- ७।१००ख, दो०-५५५-

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ सुजान ।

विनयपत्रिका- १७२।५, -

गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो ।

गीतावली- ५।४२।२- राम राज मारग चलो ।

२- रा०मा०- ७।१३०ख, -

कामहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।

रा०मा०- ७।११०।३ - मन ते सकल बासना भागी ।
केवल राम चरन लय लागी ।।

३- तुलसी दर्शन, पृष्ठ- २५४-

"दूसरी बात यह है कि भारत वासियों के लिए वही भक्ति पथ वान्छित है, जिसका सम्बन्ध भारतीय संस्कृति और भारतीय भाषा से हो। यह सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है, जब श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ ही की चर्चा की जाय, क्योंकि श्रुति ग्रंथ ही आर्यभाव और भारतीय संस्कृति तथा भारतीय भाषा के सच्चे कोश हैं ।"

इसी श्रुति सम्मत भक्तिमार्ग का अनुमोदन कई समीक्षकों ने किया है।[1] डा० मिश्र ने तुलसी द्वारा गृहीत हरिशब्द के अनेक कारण बतलाए हैं।[2] वस्तुत: तुलसी की दृष्टि में श्रीराम ही हरि है,[3] वही

१-(I) तुलसी-दर्शन मीमांसा- पृष्ठ-२७१

"तुलसी ने अपने अभिमत भक्तिमार्ग को श्रुति सम्मत एवं विरति विवेक संयुक्त हरि भक्ति पथ कहा है। -+++- -+++- -+++-
"बौद्धों जैनों, शाक्तों, सूफियों निर्गुण संतों आदि के वेद पुराण विरोधी मार्गों के निराकरण के लिए भी तुलसी ने श्रुति सम्मत पर जोर दिया है। विरति विवेक को भक्ति के दो रूपों में संयुक्त माना जा सकता है। साधन जन्या भक्ति में वे सहायक रुप है, कृपा जन्या भक्ति में उनका रूप सहचर का सा है क्योंकि उसमें भावद्रुति, विषयविरति एवं भजनीय का माहात्म्यज्ञान इन तीनों का उदय साथ-साथ होता है।"

(II) मानसपीयूष- प्रस्तावना- बाबा अन्जनीनन्दन शरण जी,

२- तुलसी दर्शन- पृष्ठ- २३६-४२

१:- तुलसी दास को बाल्यकाल से हरिभक्ति की ही शिक्षा मिली थी।

२:- लोकरक्षा का भाव हरि के साथ ही विशेष रूप से सम्बद्ध है।

३:- पुराणादि ग्रंथों में हरि भक्ति (हरि के नाम, रुप, गुण, लीला आदि) का ही सर्वाधिक विस्तृत एवं आकर्षक वर्णन हुआ है।

४:- आराध्य की त्रिविधता (निराकारता, सुराकारता और नराकारता) का महत्तम रूप हरि में ही है।

५:- अपनी विविधता, लोक रंजकता एवं लोक रक्षकता के कारण हरि के अवतारों का ऐतिहासिक महत्व है।

६:- हरि का व्युत्पत्यर्थ (पापं हरतीति हरि उणादिकाहरि:) भी हरि की मंगलकारिता और व्यापकता का ज्ञापक है।

७:- हरि के अन्तर्गत- राम कृष्ण दोनों श्रेष्ठ अवतारों का समावेश होता है।

४- रा०मा०- १।१२१।१- "हरि अवतार हेतु जेहि होई।"

रा०मा०- १।१।श्लोक-६, "रामाख्यमीशं हरिं।"

सृष्टि के आदि व मध्य और अन्त में रहे है ।[1] वही सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और संहार रुप है ।[2]

तुलसी के सम्पूर्ण ग्रंथो में रामभक्ति की प्राप्ति के लिए ३ बातों को आवश्यक बताया है- प्रथम- रामभक्ति के प्राप्ति के लिए शिवाराधन नितान्त आवश्यक है ।[3] द्वितीय- रामभक्ति की प्राप्ति के लिए निष्कपट, निश्छल, निष्काम एवम् निर्हेतुक होना आवश्यक है ।[4] तृतीय- दास्यभक्ति द्वारा किया गया भगवत प्रेम।[5] अर्थात दास्य भाव द्वारा श्रीराम की

१- वि० ७८।३- आदि मध्य अन्त राम साहबी तिहारी ।

२- रा०मा०-६।७।२- तासु भजन कीजिअ तहं भरता।जो करता,पालक संहर्ता ।

३- रा०मा०- १।१०४।३- बिनु छलु बिस्वनाथ पद नेहू।
राम भगत कर लच्छन एहू ।।

रा०मा०-७।४५ औरौ एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि ।
संकर भजन बिना नर भगति न पावहि मोरि ।।

रा०मा०-१।३८।४- जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी।
सो न पाव मुनि भगति हमारी ।।

रा०मा०-७।१०६।१- सिव सेवा के फल सुत सोई।
अविरल भगति राम पद होई ।

रा०मा०-६।२।४ दो०- सिवद्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपनेहुं मोहि न पावा ।
संकर बिमुख भगति चह मोरी।
सो नर की मूढ़ मति थोरी ।

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।ते नर करहिं कलप भरि घोर - - नरक महुं बास ।।

विनयपत्रिका- ६।२- बिनु तव कृपा राम पद-पंकज सपनेहुं भगति न होई ।।

४-रा०मा०-३।१६।५दो०- बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निह काम।
तिनके हृदय कमल महुं करौं सदा बिश्राम ।।

रा०मा०-२।१२६।४ सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ।

रा०मा०- मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।

५- विनयपत्रिका- ११३।२-जब लगि मैं न दीन,दयालु तें,मैं न दास तें स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउं कहेउं नहिं जद्यपि अन्तर्जामी ।।

आराधना में ही जीव का कल्याण है, यही भक्ति का प्राण है, क्योंकि जीव अज, अविनाशी, निर्विकारी, आवरण रहित एवं नित्य, शाश्वत होने के साथ-साथ राम की अविद्या से आबद्ध है, बिना सेवक सेव्य भाव के भवबन्धन से मुक्ति पाना असम्भव है।[1] तुलसी ने अपने वांगमय में चातक के प्रेम की अनन्यता एवम् आराध्य विषयक अखण्ड निष्ठा पर विशेष बल दिया है।[2] और स्पष्ट किया है कि इस प्रकार का अनन्य भाव का साधक ही राम भक्ति को प्राप्ति कर सकता है।[3] यही अनन्य प्रीति भगवान

१- रा०मा०- ७।११९(क)- सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहुं राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि।।

२- दोहावली- २७७
एकभरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास।।

वि०प०- ७५।७ तुलसी चातक आस राम स्याम घन की।

कवितावली -७।६६-
प्रीति राम नाम सों, प्रतीत राम नाम को प्रसाद राम नाम के
- पसारि पाय सूति हौं।

२- कवितावली ७।१०१-
जानकी नाथ बिना तुलसी जग दूसरे सौं करिहौ न हहा हैं।।

विनयपत्रिका- २७४।३-
तिहुं काल तिहुं लोक में एक टेक रावरी।

विनयपत्रिका- १०१।१-
जाउं कहा तजि चरन तुम्हारे।

राम को प्रिय है ।[1] इसी अनन्य प्रेम के कारण वे भक्तों के वशीभूत हो जाते हैं ।[2] तुलसी ने भक्ति शब्द की व्यन्जना में अनुराग[3] प्रीति [4] ~~तुलसी ने~~ प्रेम[5] स्नेह[6] आदि को समशील अर्थों में व्यवहृत किया है । प्रीति की गाढ़ता प्रतीति के बिना सम्भव नहीं इसलिए तुलसी बिनु परतीति होई नहि

१- रा०मा०- २।१३७।१-

रामहि केवल प्रेमु पियारा ।

जानि लेउ जो जाननि हारा ।।

विनयपत्रिका- १०७।३-

वलि पूजा चाहत नहीं चाहत एक प्रीति ।

२- रा०मा०-७।६२ सो०-

भाववस्य भगवान सुख निधान करुना भवन ।

गीतावली- ३।११।४-

तुलसी रामहि प्रिया विसरि गई सुमिरि सनेह सगाई ।

विनयपत्रिका- २४०।४-

तुलसी सहज सनेह राम बस और सबै जल की चिकनाई ।

३- रा०मा०- २।११।४, ३।१०।४, वि० ७४।१, १०३।२

४- रा०मा०- १।५०।४, ३।१०।७-

विनयपत्रिका- १०७।३,१६४।१

५- रा०मा०- १।१६६।३ ,७।११०।४-

दोहावली- ५७।८२,१०३

६- गीतावली-१।२२।१६। बरवैरामायाण -६४ ,

६- रा०मा०- १।१०४।३,२।२१८।४ ,

विनयपत्रिका- २४०।४

दोहावली- ६३

प्रीती ‡ कहकर प्रेम की गाढ़ता सिद्ध करते हैं ।[1] शरणागति राम भक्ति शाखा का चरम लक्ष्य है, भक्त की शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक एवम् बौद्धिक क्रियाओं का भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण ही शरणागति है । तुलसी साहित्य में इस विधा का सर्वत्र प्रयोग किया गया है ।[2] कविवर तुलसी ने भक्ति साधनों के क्रियात्मक प्रतिफलन में 'भजन' संज्ञा तथा भजना क्रिया का भी अनेकश: प्रयोग किया है, जिसके अभ्यास से मानसिक वृत्ति में एकाग्रता एवम् लयात्मकता की क्रियाएं भावन्निष्ठा होती है ।[3] अस्तु भक्ति की पूर्णता में श्रद्धा का भी योगदान प्रमुख है, इसके बिना विशुद्ध रागात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं, अत: श्रद्धा और प्रेम के संयोग से ही भक्ति साध्य की प्राप्ति सम्भव है । इसलिए श्रद्धा भी

१- विनयपत्रिका- ७६।४, १३०।५, १५१।६, १५६।२, १७२।६, १८४।५, १६४।४, २५०।३, २६०।२, २६१।४, २७५।३, २७६।२

२- रा०मा०- २।१३१।४, २।२५६।१, ३।१६।५,
विनयपत्रिका- ४२।३, ११२।४
कवितावली- ७।७६, ७।८४
गीतावली - ७।६।६

३- रा०मा०- २।१६७, ३।१३।३, ४।३।२, ५।३२।२, ७।३०।३,
कृष्णगीतावली- २२, २३
विनयपत्रिका- ४५।१, १३५।३
गीतावली- ६।२।३
वैराग्य संदीपनी -६

भक्ति का साधन है ।[१] भक्ति में सात्विकता[२] क्रमायिकता[३] एवम् सत्यता[४] का बोध होना नितान्त आवश्यक है यही भगवद्विषयक अनुराग को दृढ़ करती है, यही भगवान के माहात्म्य ज्ञान के परिवर्धन का हेतु है । उपर्युक्त लक्षणों के सम्मिलन से ही प्रेमाभक्ति का उदय होता है , यही अनन्य भाव की उत्तरावस्था है इसी प्रेमाभक्ति के प्रभाव से जड़ में चैतन्य हो जाता है अर्थात परमेश्वर पाहन से भी प्रकट हो जाता है ।[५] यही भक्ति काव्य के नौ रसों एवम् रसना के ६ रसों से श्रेष्ठ होती है ।[६]

१- रा०मा०- १।१।श्लोक-२

भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ ।

रा०मा०-६।- सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।

आचार्य शुक्ल चिन्तामणि भाग-१-

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।

२- रा०मा०- ३।२३।३-

होहहि भजनु न तामस देहा।मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ येहा ।।

३- रा०मा०- ७।३८।२- मन क्रम वचन मम भाति आया ।

४- दोहावली- ८०

निगम आगम साहेब सुगमनि राम सांचिली चाह ।

५- कवितावली - ७।१२७-

प्रेम बदो प्रह्लादहि को जिन पाहन तें परमेस्वरु काढ़े ।

६- विनयपत्रिका -१६६।१ -

जो मोहि राम लागते मीठे ।

तौ नव रस षट रस रस-अनरस है जाते सब सीठे

इसी प्रेमाभक्ति के आविर्भाव से भक्त प्रेम विवश हो जाता है, उसके नेत्र सजल हो जाते हैं, उसका शरीर पुलकित एवम् हृदय उल्लसित हो उठता है।[1] कभी कभी वह भगवान के माहात्म्य ज्ञान के स्वरूप जन्य प्रभाव से आत्मविहोर होकर नृत्यन करने लगता है,[2] अर्थात उसकी यह दशा असा- धारण एवम् अपार्थिव होती है। यही भक्ति का साध्य है। भक्त और भगवान के मध्य की कृपादायिनी भक्ति का अलौकिक प्रसाद है। यही भक्ति अलौकिक परम प्रकाश वर्ती चिन्तामणि का प्रकाश है जो अविद्या- -न्धकार को नष्ट कर देती है, यही षडविकार भस्मीभूता एवम् मानस रोग विमुक्ता होती है।[3] तुलसी ने अपने साहित्य में दोनों प्रकार की भक्ति का निरुपण किया है उन्हें भक्ति का निर्गुण अर्थात अभेद भक्ति[4] और सगुण अर्थात् भेदभक्ति[5] दोनों ही पक्ष मान्य है। लेकिन तुलसी ने भेद भक्ति को ही प्रमुखता दी है क्योंकि तुलसी का गौरव उनकी 'दास' भक्ति में है।[6] तुलसी को भेदभक्ति स्वरुपतः इसलिए मान्य है कि उसमें जीव और ब्रह्म का, विश्व और विश्व रूप भगवान का तथा जीवों का परस्पर भेद अन्तर्निहित रहता है। स्वामी सेवक भाव की पराकाष्ठा में

१- रा०मा०- ~~मक्रि~~ १।१०४।१-२, १।१११।४, २।११०, ३।१२।५,
५।१४।१, ७।८८।१, ७।६३।१

२- रा०मा०- ३।१०।६-७

३- रा०मा०- ७।१२०।१-५

४- दोहावली- ७, विनयपत्रिका- १६७।४-५
रा०मा०- ३।१३।६-७

५- रा०मा०- ३।६।१, ६।११२।४, ७।७६।२

६- रा०मा०- १।१३२।४, ३।११।१२, वि०प०- ८६।६, ६०।८
दोहावली- ६४, वैराग्य सं०- ४०,

रस भक्ति का गौरव है।[१] वैसे तुलसी ने शान्त, वात्सल्य, सख्य, दास्य माधुर्य सभी रतियों का निरूपण किया है फिर भी तुलसी ने दास्य भक्ति को ही अपनी प्रतिभा का आधार बनाया है। दास्य भक्ति ही उनके भक्ति का लक्ष्य है।

१- रा०मा०- ७।११६(क), ७।१२२।६-७,

रा०मा०- २।२३४।१- (भरत-)-

" जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी ।
जौं सनमानहिं सेवकु मानी ।।
मोरे सरन राम की पनहीं ।
रामु सुस्वामि दोसु सब जनहीं ।।

रा०मा०-२।७१- (लक्ष्मण)-

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ ।
नाथ दास मैं स्वामि, तुम्ह तजहु त कहा बसाइ ।।"

रा०मा०-४।२१।२, (सुग्रीव)-

विषयवश्य सुर नर मुनि स्वामी ।
मैं पाँवर पसु कपि अति कामी ।।

रा०मा०- ५।४५-(विभीषण)-

श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ।।

कविवर तुलसी ने अपने साहित्य में अविनाशी, अनपायिनी, अविचल, निरुपाधि, अविरल तथा प्रेमभक्ति, भक्ति प्रेम, भावभक्ति, निर्भर प्रेम, इत्यादि का सम्यक विवेचन किया है,[१] तत्वत: यही साध्य-भक्ति का स्वरूप है। ~~अतः~~ यही भक्ति नारद की दृष्टि में परमप्रेम रूपा है।[२] शाण्डिल्य इसी को परानुरक्ति कहते हैं[३] तथा श्रीरूप गोस्वामी इसे ही अभिलास शून्य भक्ति कहते हैं।[४] इसी भक्ति को भागवतकार निर्हेतुक, परा, निष्काम, निर्गुण तथा अनन्यभावमयी, विशुद्ध स्वम् प्रेमा भक्ति कहते हैं।[५] इसी में नाम और नामी की एक रुपता है।[६]

अत: स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति श्रुति सम्मत परम्परा की अनुवर्तिनी है, सभी सद्गुर्यों की आप्त वाणियां उनमें सन्निहित है। समन्वयवाद उनके मौलिक चिन्तन की प्रातिभ शक्ति है जिनको उन्होंने अपने प्रतिपाद्य स्वरुप राम के वर्णन में तथा भागवद् भक्तों की चर्या में अनुस्यूत किया है।

१- रा०मा०- ५।३४।१, ३।१०।७, गीतावली- २।८१।२, वि०६।५, १७२।४

२- ना०भ०सू०-२, - सात्वस्मिन परम प्रेम रुपा"
   रा०मा०- ३।१०।७, विनयपत्रिका- १०२।४

३- शा०भ०सू०-२, " सा परानुरक्तिरीश्वरे "
   रा०मा०- ६।११०, विनयपत्रिका- १६।३

४- ह०भ०रसि०- १।१।११- "अन्याभिलाषिता शून्यं "

५- श्रीमद्भागवत-

६- रा०मा०- १।२१।१ - समुझत सरिस नाम अरु नामी।"

(ख)- भक्ति के प्रकार:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार :-

श्रीमद् भागवत में भागवत धर्मों के माध्यम से भगवान, परमात्मा, ब्रह्म के निर्गुण एवम् सगुण रूपों की विवेचना उपदेशात्मक प्रणाली द्वारा विश्लेषित की गयी है। जिस वैष्णव ग्रंथ की कथा संघटन में भक्ति के नाना विध प्रकारों का उल्लेख मिलता है। डा० कृष्ण दत्त भारद्वाज ने गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित वार्षिक धर्मांक में भागवत धर्मों को ही भक्ति के प्रकार से समादृत किया है। जिन धर्मों के अनुष्ठान से या आचरण से प्रेमाभक्ति रूपी साध्य भक्ति की प्राप्ति होती है वही भक्ति नानाविध प्रकारान्तर भागवत धर्म है।[१]

श्रीमद्भागवत में भक्ति के नाना प्रसंगों में भक्ति के भेद या प्रकारों का विभाजन व्यवहृत किया गया :-

(१)- शुकदेव जी के द्वारा महाराज परीक्षित के प्रति उपदिष्ट त्रिधा भक्ति।[२] इसमें सर्व शक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का श्रवण कीर्तन स्मरण का संकेत प्रस्तुत किया गया है।

१- `धर्मांक` में शीर्षक `भागवतधर्म` -निबंधकार- - डा० कृष्ण दत्त भारद्वाज, वार्षिक अंक- गीताप्रेस- गोरखपुर।

२- श्रीमद्भागवत- २।१।५, २।२।३६

(२)- श्रीसूत जी के द्वारा श्रोताओं के प्रति उपदिष्ट चतुर्धाभक्ति ।[१] इसमें मानव के प्रकृति प्रसूता गुण- सत्व, रज, तम के द्वारा भगवत्तत्त्व या निर्गुण तत्व की प्राप्ति सांकेतित की गयी है।

(३)- श्री श्रुतदेव द्वारा श्रीकृष्ण भगवान के प्रति निवेदित पन्चधाभक्ति,[२] इसमें पुन: भगवान की लीला कथा का श्रवण, कीर्तन, भगवत्प्रति-माओं का अर्चन, वन्दन तथा भगवद्भक्तों का पारस्परिक सत्संग भाव को भी परिगणित किया है ।

(४)- श्रीनलकूबर के द्वारा श्रीभगवान के प्रति निवेदित षोढ़ाभक्ति[३] इसमें वाणी, कान, हाथ, मन, मस्तक, आंख आदि के क्रिया-त्मक धर्म भगवान के नाम, रूप लीला, गुण, धाम इत्यादि के धर्मों में अनुरक्ति समर्पित की है ।

(५)- भगवान कपिल के द्वारा माता देवहूति के प्रति उपदिष्ट सप्तधा भक्ति ।[४] इसमें निष्कामता, स्वधर्म पालन की क्रियाएं, भगवत्कथा के श्रवणादि द्वारा सात्त्विक विकारों का उद्रेक, तत्व साक्षात्कार स्वरुप ज्ञान, प्रबल वैराग्य, व्रत नियमादि का ध्यानाभ्यास। चित्त की एकाग्रता, इत्यादि को परिगणित किया है ।

१- श्रीमद्भागवत- १।२।२४

२- ,, - १०।८६।४६

३- ,, - १०।१०।३८

४- ,, - ३।२७।२१-२३

(६)- श्री प्रह्लाद जी के द्वारा पिताहिरण्यकशिपु को उपदिष्ट नवधा भक्ति।[1] इसमें भगवान के गुण लीला, नाम आदि का श्रवण, उन्ही का कीर्तन, उनके रूप नाम आदि का स्मरण, उनके चरणों की सेवा पूजा अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्म निवेदन, इत्यादि नौ- भेदों का विवेचन किया है। इसी नवधा भक्ति ने भारतीय वांगमय में एवं जन मानस में लोकप्रियता सिद्ध की है। वैष्णव स्मार्त धर्म दर्शन इसी नवधा भक्ति पर आधारित है। साहित्यकार एवम् मनीषियों ने प्रकारान्तर से इसी को नया सर्जनात्मक रूप दिया है, लेकिन इसकी विचार वीथि सभी को उक्त में आच्छादित किए हुये हैं।

[७]- श्री शौनक जी के द्वारा सूत जी के प्रति निवेदित दशधाभक्ति इसमें मानव के ऐन्द्रिक एवम् मानसिक रूप से भागवत्धर्मों के प्रति कर्तव्य भाव या प्रपन्नता का संकेत निर्दिष्ट किया गया है यदि ~~कर्म~~- उक्त मनो व्यापार भगवान के प्रति समर्पित नहीं है, तो इनका जन्म लेना पाशविक वृत्ति के सदृश है। उनके कान बिलों के समान है। जिह्वा मेढ़क के सदृश है। सिर बोझ तुल्य है और हाथ मुर्दे के समान है। आंख मोरों के पांख से बनी हुई निरर्थक है, पैर पेड़ों जैसे जड़ है। संतो के समागम से वन्चित व्यक्ति मुर्दा तुल्य है। तुलसी की सुगन्धि से रहित गन्ध श्वास रहित है, हृदय लोहा है। इत्यादि कर्तव्यों की वैधी पुष्टता को घोषित किया है।

१- श्रीमागवत- ७।५।२३

२-श्री मागवत- २।३।१६-२४

(८)- भक्त अम्बरीष जी महाराज के द्वारा अभ्यस्त एकादशधाभक्ति ।[1]
इसमें अम्बरीष की अभ्यस्त शारीरिक, मानसिक एवम् बौद्धिक उपक्रमों को भगवान में समाहित क्रियात्मक जीवन का दृष्टान्त निवेदित किया गया है ।

(९)- नारद के द्वारा प्रह्लाद जी को उपदिष्ट द्वादशधाभक्ति -[2]
इसमें साधन भक्ति के क्रियात्मक व्यापारों द्वारा भावभक्ति की नैसर्गिकता एवम् प्रेमाभक्ति के उद्रेक के नियमों को विवेचित किया गया है ।

(१०)- श्रीकृष्ण भगवान के द्वारा उद्धव को उपदिष्ट त्रयोदशधा भक्ति-[3]
इसमें भगवान कृष्ण द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का समर्पण, भगवत्सेवा, संतों का आश्रय, एवं ज्ञानी भक्त की सर्वश्रेष्ठता का लक्षण, तथा चराचर जगत् में भगवत्दर्शन की सार्वभौमि दृष्टि, तथा भागवत धर्मों का निरुपण किया गया है ।

(११)- श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव को उपदिष्ट पन्चदशधा भक्ति -[4]
इसमें साधक के लिए सम्पूर्ण शरणागति द्वारा भागवत धर्मों का सम्यक विवेचन उपदेशित किया गया है ।

१- श्रीमद्भागवत- ६।४।१८-२०
२- श्रीमद्भागवत- ७।७।३०-३६
३- श्रीमद्भागवत- ११।२६।८-१६
४- श्रीमद्भागवत- ११।१६।२०-२३

(१२) भगवान कपिल द्वारा माता देवहूति के प्रति अष्टादशधाभक्ति ।[१] इसमें साधक के लिए वैचारिक एवम् भावनात्मक अनुपालनीय नियमों की वैशिष्ट्य स्थितियों की समर्थित यौगांगिक धारणाओं का विवेचन अनुस्यूत किया गया है ।

(१३) परमज्ञानी सनत्कुमार जी के द्वारा महाराज पृथु को उपदिष्ट एकोनविंशधा भक्ति ।[२] इसमें गुरु शास्त्र द्वारा उपदेशित भगवान की नाम रूप गुण एवम् लीलाओं के माध्यम से त्याग, वैराग्य, एवं ज्ञान युक्त शरणागत प्रपन्नता द्वारा भगवद् भक्ति के अनुक्रमों का संकेत किया गया है ।

(१४) भगवान कपिल के द्वारा माता देव हूति को उपदिष्ट विंशतिधा भक्ति ।[3] इसमें कपिल द्वारा माता देवहूति को कायिक, वाचिक एवं मानसिक वृत्तियों से लौकिक एवं आध्यात्मिक भागवत-धर्मों के माध्यम से चित्त शुद्धि के कारणों का संकेत किया गया है । कि उपर्युक्त धर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होकर अनायास भगवान में एकाग्र हो जाता है ।

१- श्रीमद्भागवत- ३।२७।६-११

२- श्रीमद्भागवत- ४।२२।२२-२५

३- श्रीमद्भागवत- ३।२६।१५-१६

(१५)- श्रीकृष्ण भगवान के द्वारा उद्धव को उपदिष्ट चतुर्विंशति-धार्मभक्ति[१]। इसमें भक्ति की नवविधाओं द्वारा भगवान के दिव्य रुप, गुण, नाम, और लौकिकी एवम् अलौकिकी लीलाओं में श्रद्धा, विश्वास और ध्यान की तैलधारावत अविच्छिन्न भाव का उल्लेख कर एवम् सम्पूर्ण कर्मों के समर्पण पर बल दियागया है, इसके साथ साथ भगवत्भक्तों को दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा शुश्रुषा, स्तुति और प्रणाम भाव का भी उपदेश दिया है, वैदिक एवम् तान्त्रिक पद्धतियों के माध्यम से चराचर जगत में समाहित भगवत्सत्ता की समभाविक पूजा अर्चन आदि क्रियाओं से रसानन्द या पराभक्ति का आविर्भाव बताया है। जिसको साधन भक्ति की पराकाष्ठा का नामान्तरण परिपाक की सीमा में फलाभक्ति, साध्याभक्ति तथा प्रेमभक्ति एवं भगवत्कृपा साध्या में परिवर्तित हो जाता है जिसे भगवान की परमगति, परमधाम, परम शान्तिमार्ग कहते है। जिसे योगीजन परमात्मा, ज्ञानीजन परब्रह्म और भक्तजन भगवान इत्यादि की संज्ञा देते हैं।

(१६)- कपिल भगवान के द्वारा मातादेवहूति के प्रति उपदिष्ट पंचविंशतिधा भक्ति।[२] इसमें चित्त शुद्धि के अवयवों द्वारा परमात्मा के मार्ग में प्रवृत्त होने वाले योग, ज्ञान, कर्म एवम् प्रेम तथा भागवत धर्मों की विधाओं का निरुपण किया गया है।

(१७)- श्रीऋषभ देव जी के द्वारा अपने पुत्रों के प्रति उपदिष्ट-

---

१- श्रीमद्भागवत- ११।११।३४-४१

२- श्रीमद्भागवत- ३।२८।२-३

षाडविंशतिधा-भक्ति ।[१] इसमें ऋषभदेव जी के द्वारा संसार सागर से पार होने एवम् परमात्मा में एकाग्र होने तथा मानसिक एवं बौद्धिक योगों द्वारा सांसारिकता से विराग की धारणाओं का विवेचन किया गया है । जिसमें, ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग इत्यादि कारक आ जाना स्वाभाविक है ।

(१८)- श्रीनारद जी द्वारा महाराज युधिष्ठिर के प्रति वर्णित त्रिंशधाभक्ति ।[२] इसमें नारद जी ने तीस प्रकार के धर्मों का आचरण करना सभी मनुष्यों का परमधर्म एवं परम कर्तव्य बताया है । ये धर्मलक्षण शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है यथा- सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित अनुचित का का विचार , मन का संयम, इन्द्रिय संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग , स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी, महात्माओं की सेवा ,सांसारिक भोगों की असारता का अनुभव, मनुष्य के अभिमान पूर्ण प्रयत्नों के फल का त्याग, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों को अन्न आदि का यथायोग्य विभाजन, मानव प्राणी एवम् चराचर सत्ता में आत्म भाव, एवम् नियन्ता ईश्वरत्व भाव, संतों के भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण के नाम, रूप,लीला आदि का श्रवण कीर्तन, स्मरण उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार, उनके प्रति दास्यभाव, सख्य, और आत्मसमर्पण इसमें भगवान कृष्ण की सार्वभौमिकता एवम् सांसारिक विरक्ति तथा भक्त के के अनुपालनीय आचरणों के क्रियाविधानों का विवेचन, निष्काम धर्मों द्वारा अनुस्यूत किया गया है ।

१- श्रीमद्भागवत- ५।५।१०-१३

२- श्रीमद्भागवत- ७।११।८-१२

क्योंकि वेदों ने जिन श्रेयात्मक कर्मों का सर्जन किया है वही धर्म है जो सत्वगुण की वृद्धि के माध्यम बनते हैं जिसे भगवद् भक्ति की प्राप्ति का साधन बताया गया है ।[1] निषेधात्मक कर्मों को ही अधर्म कहागया है, जिनमें राजसी एवम् तामसी गुणों का सन्निवेश रहता है ।[2] जो विशुद्ध परम प्रेम स्वरुपात्मक भक्ति के आविर्भाव होने में विघ्न कहे जाते हैं । इनके मानसिक स्वभाव का क्रियाविधान प्राकृत गुणों के अन्तर्गत माना जाता है । गुणातीत जगत का अनुसंधानात्मक प्रेम अप्राकृत होता है। यही भक्ति का साध्य है, भगवान की कृपा साध्य भक्ति है, श्री वल्लभाचार्य इसे नैसर्गिक अनुग्रह मानते हैं । वास्तव में इन्हीं धर्मों के पालन से अन्तःकरण की शुद्धि और उल्लंघन से नरकादि दुख की प्राप्ति होती है, परन्तु जो भक्त अपने ध्यान की पराकाष्ठा में विदीप ~~सकम्~~ समझकर उक्त कर्मों को त्याग कर भजन में तत्पर रहता है उसे ही परम संत कहागया है ।[3] भगवान श्रीकृष्ण उद्धव को उपदेश करते हुये कहते हैं कि जिन धर्मों से मेरी प्राप्ति हो, वही भक्ति है, जिससे ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हो वही ज्ञान है, जिन कर्मों से वैषयिक असंगता या निर्वेद भाव का अनुभव दृढ़ हो, वही वैराग्य है, और योग सिद्धियों द्वारा जिस कामना की पूर्ति होती है वही मेरा ऐश्वर्य है ।[4]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२७।६-५५

२- श्रीमद्भागवत- ७।१।४०

३- श्रीमद्भागवत- ११।११।३२

४- श्रीमद्भागवत- ११।१६।२७

(१८)- महर्षि प्रबुद्ध द्वारा महाराज विदेहनिमि के प्रति उपदिष्ट-षाटत्रिंशधा भक्ति।[1] इसमें शरीर, सन्तान, मन की अनासक्ति भाव एवम् भगवत्भक्तों में प्रेम, निष्कपटभाव से दया, मैत्री, विनय एवम् प्राणियों में समता का दिग्दर्शन कराने के साथ-साथ इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा निष्काम कर्मों पर भी बलदिया गया है। शास्त्र, गुरु, तथा योगांग भक्ति के अवयव, प्रेम की अवस्थाओं का साधनात्मक अनुष्ठान करते करते तीव्र भक्ति योग के प्रभाव से, कर्ममय जगत, कर्मसंस्कारों का नाश एवं परम प्रेमरूपात्मक भक्ति की प्राप्ति निर्दिष्ट की है। जिसमें विशुद्ध, प्रेमा, भाव, साधन इत्यादि भक्तियों का अन्तर्भाव होगया है। उपर्युक्त प्रसंगों में उपदिष्ट भक्ति की नानाविधाओं में भक्त प्रह्लाद द्वारा पिता हिरण्यकशिपु को निवेदित नवधा-भक्ति ने जनमानस में सर्वाधिक लोकख्याति प्राप्त की है। लेकिन इसके साथ-साथ नवधा भक्ति के अन्तर्गत पन्चमविधा अर्चन भक्ति ने भी भारतीय समाज में अपना विशिष्ट स्थान प्रतिष्ठित किया है। इसी अर्चन भक्ति का उपदेश भगवान कृष्ण ने एकादश स्कन्ध में क्रियायोग नाम से निरूपित किया है। यह उपर्युक्त भक्ति की विधाएं श्रीमद् भागवत के अन्तर्गत भागवत धर्मों में परिगणित की जाती है। भागवत धर्म के परिप्रेक्ष्य में वसुदेव जी के प्रति एकादश स्कन्ध में संकेत किया गया है कि-- भागवत धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसे कानों से सुनने वाणी से उच्चारण करने, चित्त से स्मरण करने, हृदय से स्वीकार करने से ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है। चाहे वह जगत का हिंसक ही क्यों न हो।[2]

१- श्रीमद्भागवत- ११।३।२३-३१

२- श्रीमद्भागवत- ११।२।१२

भक्ति के प्रकारों का वर्गीकरण श्रीमद्भागवत के पूर्ववर्ती आचार्यों में नारद भक्ति सूत्रकार एवम् शाण्डिल्य भक्तिसूत्रकार, और परवर्ती आचार्यों में श्रीरूप गोस्वामी का उज्ज्वल नीलमणि तथा भक्ति रसामृत सिन्धु, श्रीमधुसूदन सरस्वती का भक्ति रसायन इत्यादि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। वैसे वोपदेव ने भी 'मुक्ताफल' तथा नारायण तीर्थ ने शाण्डिल्यभक्ति सूत्र की टीका- भक्ति चन्द्रिका में सांगोपांग निरूपण किया है। जिनमें वैष्णव भक्ति की अक्षुण्ण धारा शाश्वत प्रवाहित हो रही है। डा० मुंशी राम शर्मा ने प्रथम दो आचार्यों को गुप्त साम्राज्य काल की एवं नीलमणि, सिन्धु एवम् भक्तिरसायन को १६वीं शताब्दी की रचनाएं स्वीकार की है।[1] श्रीमद्भागवत में उक्त प्रकार की भक्तियों का समावेश भक्ति के स्वरूप, साधन, साध्य, साधक आदि की दृष्टियों से अनुस्यूत है।

श्रीमद्भागवत के सन्दर्भ में आचार्य वोपदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ मुक्ताफल के सप्तम अध्याय में उन्नीस प्रकार की भक्ति तथा पन्चम अध्याय में १८ प्रकार की विष्णुभक्ति के भेद विभाजित किए हैं।[2]

१- शर्मा, डा० मुंशीराम- भक्ति का विकास,

२- मुक्ताफल, पृष्ठ- ८३ - ६०
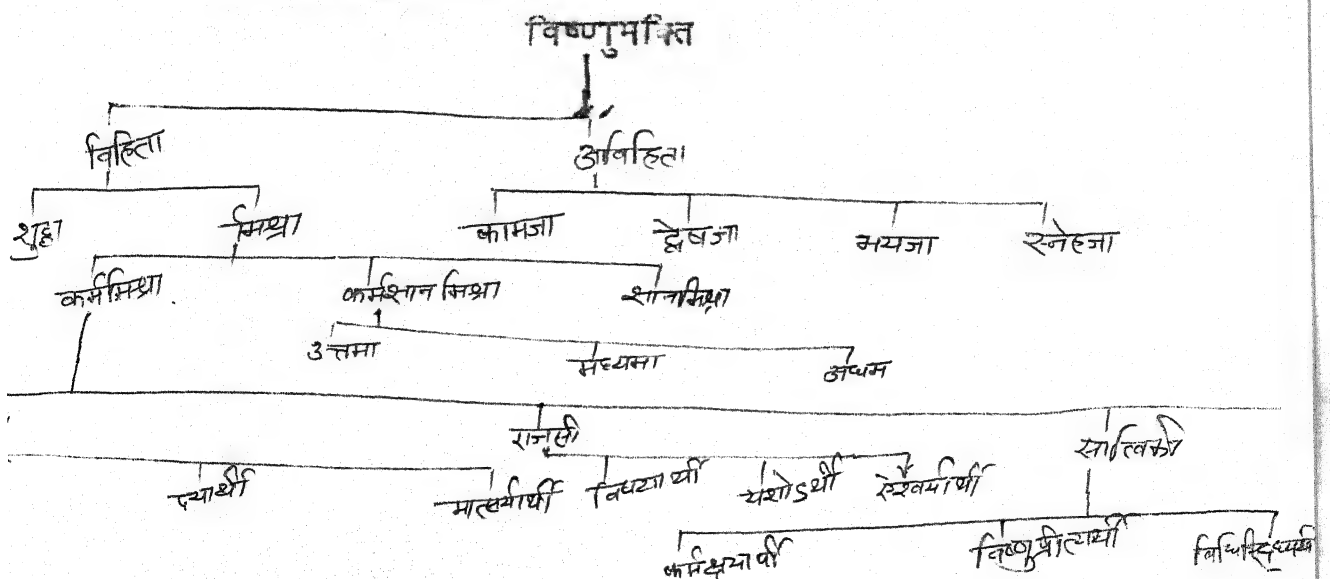
श्रीरूप गोस्वामी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' के पूर्वभाग की अन्तिम (३) लहरियों में भक्ति के १२ भेदों का वर्गीकरण किया है।[1]

शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी:-

१- हरिभक्ति रसामृत सिन्धु- १।२-४
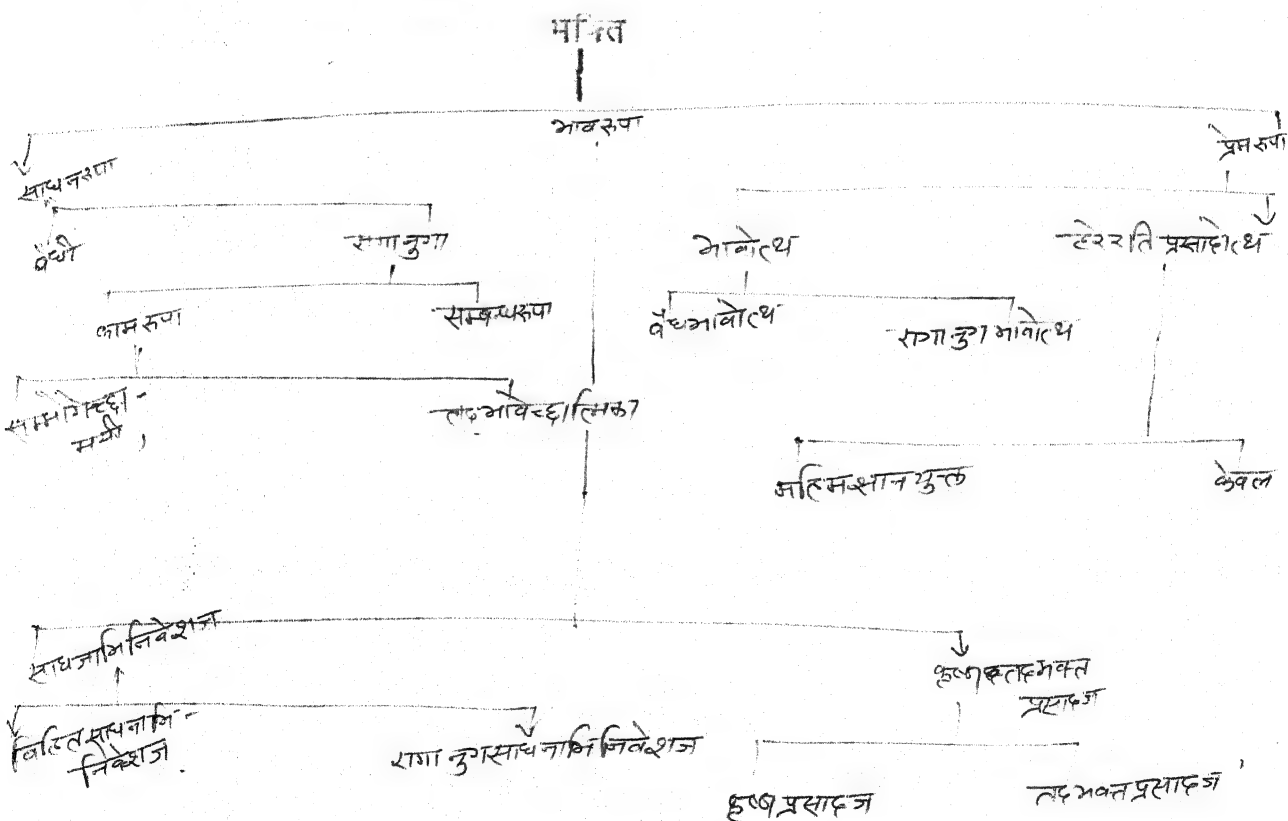
श्रीनारायण तीर्थ ने शाण्डिल्य कृत भक्ति सूत्र का टीका- भक्ति चन्द्रिका ग्रंथ में १७ प्रकार की भक्ति का वर्गीकरण वर्णित किया है ।[1]

नारद भक्ति सूत्रकार ने ११ आसक्तियों का वर्णन करके साध्यरूपा प्रेमाभक्ति को चित्तवृत्ति का माध्यम बताया है ।[2]

१- भक्तिचन्द्रिका- पृष्ठ- १४८-२३

भक्ति

विहिता (श्रवणकीर्तनादिरूपा) — अविहिता (रागानुगा)

अविहिता: कामरूपा, सम्बन्धरूपा

विहिता: कर्ममिश्रा, कर्मज्ञानमिश्रा, ज्ञानमात्रमिश्रा

कर्मज्ञानमिश्रा: उत्तमा, मध्यमा, प्राकृता

प्रपंचसत्यत्वज्ञान सहिता, प्रपंच मिथ्यात्वज्ञान सहिता, प्रपंचज्ञान रहिता

सात्विकी, राजसी, तामसी

सात्विकी: पापनाशार्थी, भागवत्प्रीत्यर्थी, विधिसिद्ध्यर्थी

राजसी: विषयार्थी, यशोऽर्थी, ऐश्वर्यार्थी

तामसी: हिंसार्थी, दम्भार्थी, मात्सर्यार्थी
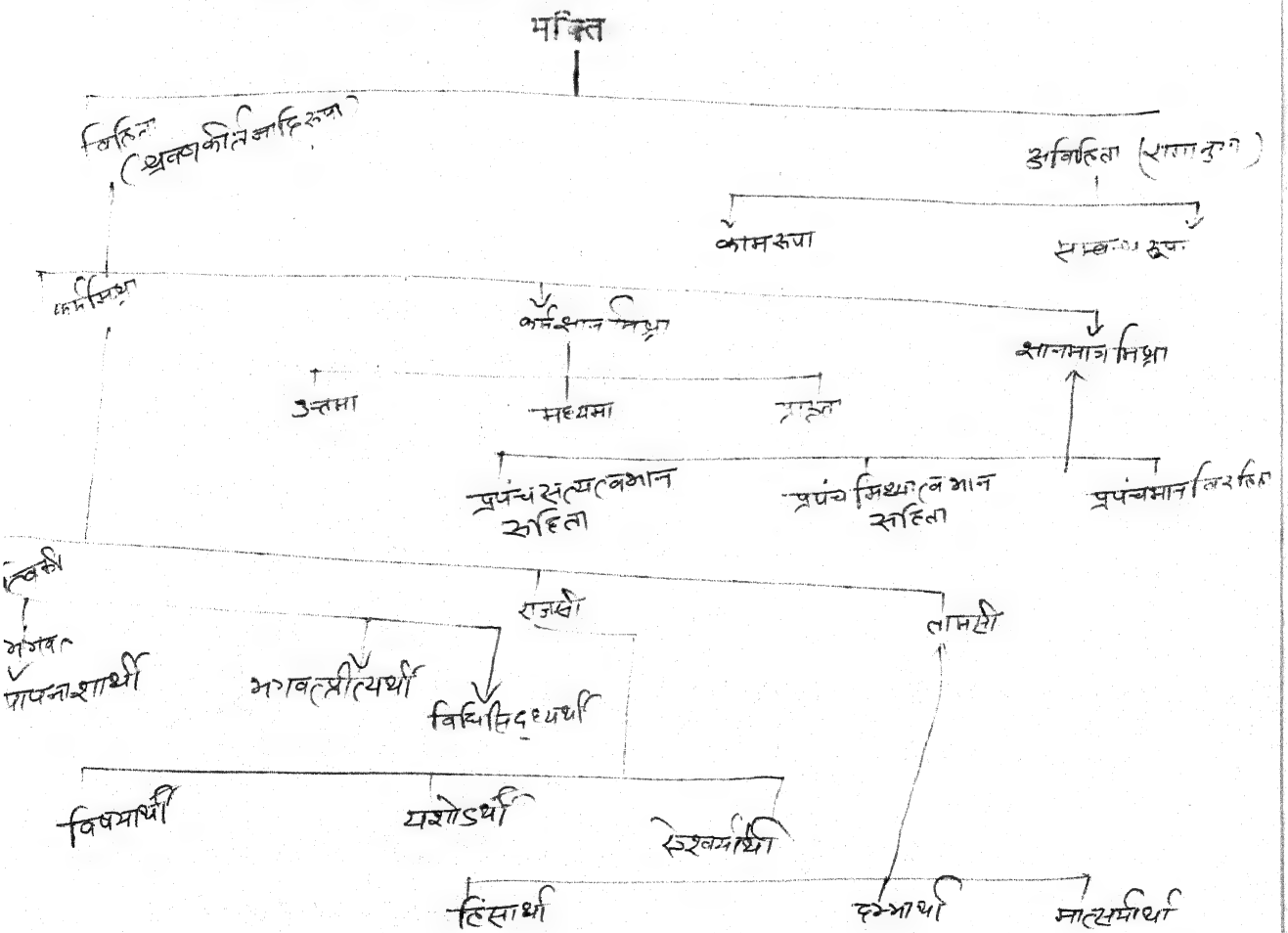
२- नारद भक्ति सूत्र- ८२, परमप्रेमस्वरूपाभक्ति

+

श्री वोपदेव,[1] श्री रामानन्द,[2] अध्यात्मरामायणकार[3] और श्रीमद्भागवतकार[4] की नवधाभक्ति में बहुत साम्य मिलता है। श्रीराम चरित मानस की नवधाभक्ति में कुछ अवयवों में साम्य के साथ-साथ वैषम्य भी परिलक्षित होता है, यह तुलसी की अपनी मौलिक उद्भावना है। इसका विवेचन आगे अध्याय- "भक्ति के साधन" में विस्तार से निरूपित करेंगे।

श्रीमद्भागवत में मुख्यतया भक्ति के दो रूपों के अन्तर्गत भेद किए गये हैं-- प्रथम निर्गुण भक्ति और द्वितीय सगुण भक्ति। उक्त सभी आचार्यों ने निर्गुण एवम् सगुण भक्ति के भेदों को अपनी बहुलता का आधार सिद्ध किया है।

वास्तव में निर्गुण भक्ति गुणातीत पर ब्रह्म का आराधन है, जिसे केवलाद्वैतवादी निराकार ब्रह्म विषयक भक्ति कहते हैं। श्रीमद्-भागवत के तृतीय स्कन्ध में कपिल द्वारा मातादेवहूति को उपदिष्ट निगुर्ण भक्तियोग का वर्णन गुणातीत ब्रह्म का ही प्रवचन है।[5] श्री विष्णु के विविध अवतारों के अवतारण में देव, मानव दैत्य ऋषि मुनियों द्वारा स्तुत्य गायन में निर्गुण भक्ति का ही प्रतिपादन चित्रित किया गया है। इसीही केवला, एवं मुख्याभक्ति कहते हैं।[6] भागवतकार सप्तमस्कन्ध में

१- मुक्ताफल, पृष्ठ- १६४

२- वै०म० भा०गु- १४-१८

३- अध्यात्म रा०- ३।१०।२२

४- श्रीमद्भागवत- ७।५।२३-२४

५- ,, - ३।२६।११ १४

६- ,, - ७।६।२०-२५, १०।२।२५-३५

स्वानुभूति के धरातल पर आत्मा के त्रिविध अद्वैत के साक्षात्कार में जागृत स्वप्न और सुषुप्ति एवम् दृष्टा, दर्शन और दृश्य के भेद का तिरोभाव (३) रूपों में व्यहृत करते हैं। जिनके नाम भावाद्वैत, क्रियाद्वैत, और द्रव्याद्वैत है।[1] जैसे वस्त्र सूत्र का ही उपादान होता है, उसी प्रकार कार्य कारण की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार की अभेदता की एकता का विचार भावाद्वैतकहलाता है। मन, वाणी और शरीर से होने वाले सम्पूर्ण कर्मों का कारक स्वयं परब्रह्म ही है, उसी में अध्यस्त है, इस भाव से समस्त कर्मों का समर्पण ही क्रियाद्वैत है। स्त्री-पुत्रादि, सभी सम्बन्धी एवम् संसार के अन्य लौकिक एवम् पारलौकिक स्वार्थ एवम् भोग की अभेदता तथा अपने पराये की एकता का विचार द्रव्याद्वैत कहलाता है।[2] यह निराकार सगुण भक्ति में साकार भगवान के नाम रूप गुण, लीला और धाम से सम्बन्ध रहा करता है। आचार्य शाण्डिल्य ने भेदविषयक (सगुण) और अभेदविषयक(निर्गुण) दोनों रूपों का प्रतिस्थापन किया है। यह दोनों मत श्रुतियों द्वारा प्रमाणित है। नारायण तीर्थ ने भक्ति चन्द्रिका में निर्गुण भक्ति का पर्यवसान सोऽहम् बुद्धि से बादरायण के अनुसार तथा सगुणभक्ति का पर्यवसान दासोऽहं बुद्धि में काश्यप के मतानुसार निर्दिष्ट किया है।[3]

१- श्रीमदभागवत- ७।१५।६२

२- श्रीमद्भागवत- ७।१५।६३-६५

३- शा० भ० सू- २।१।४- "आत्मैकपदाम बादरायण:"

,, ,,- २।१।३- तामैश्वर्य पदां काश्यप: परत्वात।"

श्रीमद्भागवतकार- और तुलसी दोनों समन्वय वादी है। कविवर तुलसी का निर्गुण सगुण भक्ति समन्वय सम्बन्धी सिद्धान्त यह है कि -`हिय निर्गुन नयनन्हि सगुनरसना राम सुनाम।[1] तुलसी साहित्य के अन्तर्गत भगवान राम की स्तुतियों में उनके सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों का समन्वित गायन किया गया है। `मानस` के द्वितीय अध्याय में राम के दोनों रूपों का व्यापक विवेचन किया गया है। रामचरित मानस के सप्तम सोपान में वर्णित काकभुशुण्डि की जीवन गाथा उसका व्यतिरेकी दृष्टान्त है। उनके अनेक स्थलों पर उन्होंने शुद्ध निर्गुण भक्ति का संकेत किया है। --

रघुपति भाति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सौ जेहि बनि आई।
सकल दृश्य निज उदर मेसि सोवैनिद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैत वियोगी।।
सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देसकाल तहं नाहीं।
तुलसि दास यहि दसा हीन संसय निरमूल न जाहीं।।[2]

भागवतकार स्वम् तुलसी ने निर्गुण भक्ति की अपेक्षा भगवान के साकार या सगुण रूप की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। क्योंकि गीतानुसार उसमें मानसिक क्लेश की अधिकता रहती है और अव्यक्त विषयक गति का साक्षात्कार बहुत कष्ट पूर्वक प्राप्त होता।[3] तुलसी ने

१- दोहावली- ७

२- विनयपत्रिका- १६७।१,४-५

३- गीता- १२।५

ने विनय पत्रिका, कवितावली और रामचरित मानस में सगुण भक्ति की श्रेष्ठता पर बल देते हुए कहा है कि:--

> 'अन्तरजामियहु ते बड़े बाहेर जामि हैं रामु, जे नाम लिए तें
> धावत धेनु पेन्हाइ लवाई ज्यों बालक बोलनि कान किए तें।
> आपनि बूझि कहे तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
> पैज परें पहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिए तें।[१]

'मानस' में सुतीक्ष्ण,[२] अगस्त्य,[३] तथा मानवीकृत वेदों[४] द्वारा और श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा,[५] प्रह्लाद,[६] नारद[७], शिव[८], देवकी,[९] वसुदेव[१०] अक्रूरजी[११], तथा उद्धव,[१२] बलि,[१३] तथा नाना प्रकार के परमसंतों ने भी

१- कवितावली - ७।१२६, अन्यत्र भी देखिए- ७।१२७-२८

२- रा०मा०- ३।११।६

३- रा०मा० ३।१३।६-७

४- रा०मा०- ७।१३।१०-६,

५- श्रीमद्भागवत- १०।१४।२-३५ ,

६- श्रीमद्भागवत- ७।१०।४-१०

७- श्रीमद्भागवत- १०।६६।१७-१८, १०।३७।१०-२४

८- श्रीमद्भागवत- ७।८।४१

९- श्रीमद्भागवत- ~~७।८।४१~~ १०।२।२४-३१

१०- श्रीमद्भागवत- १०।३।१३-२२

११- श्रीमदभागवत- १०।४०।१-३०

१२- श्रीमद्भागवत- ११।२६।३५-४०

१३- श्रीमद्भागवत- ८।२२।४-११

निर्गुण की अपेक्षा सगुण रूप की भक्ति की वरणीयता पर बल अधिक दिया है । मानस में भजनीय राम ने सगुणोपासक को भेद भक्ति माना है।[1] तुलसी तथा भागवतकार ने स्वामी, सेवक भाव के भेद की आवश्यकता पर बल देते हुये निष्काम भाव की अनिवार्यता सिद्ध की है । मानस में शरभङ्ग[2] तथा दशरथ[3] की भेद भक्ति की पृथकता का निरूपण तथा भागवत में भक्त प्रह्लाद के माध्यम से स्वामी सेवक के रूप में भेदभक्ति की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया है ।[4]

श्रीमद्भागवत में साध्य और साधन की दृष्टि से दो प्रकार की भक्ति बतलायी गयी है - प्रथम साध्य रूपा, और द्वितीय साधन रूपा ।[5] श्री रूप गोस्वामी ने साधन ,भाव, प्रेम, को इन्हीं दो भक्तियों में परिगणित किया है । क्योंकि प्रेमाभक्ति की प्रथमावस्था भावभक्ति कही जाती है। जो साधनों का अन्तर्भूत परिणाम् है । जिसकी उत्तरावस्था प्रेमाभक्ति कहलाती है । अन्त:करण की भावद्रुकारता ही साध्यभक्ति का रूप है। जो भक्ति का प्राप्य है । इसी को नारद भावत्परमप्रेम स्वरूपा, बल्लभ प्रेम रूपा तथा शाण्डिल्य ईश्वर परानुरक्ति भी कहते हैं ।इसमें

१- रा०मा०- ५।४८ - सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम।।

२- रा०मा०- ३।६।१ - प्रथमहिं भेद भगति वर लयऊ ।

३- रा०मा०- ६।११२।३- दशरथ भेद भगति मन लावा ।।

४- श्रीमद्भागवत- ७।१०।२-१०

५- श्रीमद्भागवत- ३।२६।११-१४, ३।२६।८-१०, ७।५।२३, ३।२८।२-६
११।११।३४-४१, १०।१०।३८, १०।८६।४६, ११।३।२२-३१,
७।११।८-१२, ३।२७।६-११ ,

साधनों का फल विवक्षित होने के कारण श्रीमधुसूदन सरस्वती `फलरूपा भक्ति` भी कहते हैं। इसी को गीता तथा भागवत में पराभक्ति भी कहागया है। भक्ति विशारदों ने साध्य रूपा भक्ति के दो भेद किए हैं - प्रथम साधन जन्या और द्वितीय कृपा जन्या। साध्य रूपा भक्ति की सिद्धि जब विहित या अविहित साधनों द्वारा सम्पन्न होती है तब यही भक्ति साधन जन्या साध्य भक्ति कहलाती है।[१] हम इसे यों कह सकते है कि विहित साधनों द्वारा निष्पन्न होने के कारण विहिता और अविहिता साधनों द्वारा निष्पन्न होने के कारण अविहिता साधन जन्या साध्य भक्ति कहलाती है।

कृपाजन्या साध्य भक्ति वह है जिसमें बिना किसी संलक्ष्य साधन के भगवत्कृपा का प्रसाद प्राप्त हो जाय। इसी को श्रीनिवास फलभक्ति कहते हैं।[२] अभेद के अनुसार श्रीवल्लभ पराभक्ति के बाद साधन ही अवस्था में भगवद अनुग्रह का आश्रय ही अनुग्रह भक्ति या निरसाधन भक्ति मानते है।[३] श्रीमद्भागवत में पूर्व जन्म से प्राप्त भगवान के गुण लीला के द्वारा भगवद् अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं कि वही भक्ति योग का अधिकारी है। अर्थात् अकस्मात ही भगवत्कृपा होना ही कृपा जन्या साध्य भक्ति है।[४] तुलसी बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता` भाव के द्वारा कृपा साध्याभक्ति का विश्लेषण करते हैं।

१- श्रीमद्भागवत- ३।२६।११-१४, ११।३।२३-३१ , ७।५।२३-२४

२- फलभक्तिस्तु ईश्वर कृपा जन्या।" यतीन्द्र - पृष्ठ- ६७

३- देखिए- अष्ट० पृष्ठ- ५३८, पादटिप्पणी।

४- श्रीमद्भागवत- ११।२०।८ ,

श्रीमधुसूदन सरस्वती चित्तवृत्ति के माध्यम से ही रज एवम् तम से आच्छादित गुणों के समुच्छेद के लिए एवं सत्व वृद्धि के लिए साधनाभ्यास आवश्यक मानते हैं।[1] चित्त शुद्धि के लिए भक्ति का विभाजन सामान्य, एवम् तीव्रा दो रूपों में होता है। संयोगदशा में यह रति सामान्या और वियोग दशा में यह रति तीव्रा कहलाती है।उदाहरणार्थ राम और कृष्ण का लालन पालन करती हुई कौशल्या एवम् यशोदा की वात्सल्य-रति सामान्यारति है।[2] और राम के वनवास में तथा कृष्ण के मथुरागमन पर। तथा गोपियों की भक्ति तीव्रा भक्ति है। इस विरह तीव्रा की तीन कोटियां हैं - (१) मृदुतीव्रा, (२) मध्यतीव्रा, (३) तीव्रतीव्रा।[3] दशरथ, नन्दबाबा, गोपियों की राम और कृष्ण विषयक वात्सल्यरति इन तीनों प्रकार का ज्वलन्त प्रमाण है। विश्वामित्र के साथ यज्ञ सुरक्षार्थ दशरथ की राम वियोग के अवसर पर उनकी रति मृदुतीव्रा, उसी प्रकार कृष्ण के मथुरा जाने पर ब्रज वासियों की रति मृदुतीव्रा है। रामवन गमन के समय मध्य तीव्रा अवधवासियों के मध्य तीव्रा तथा कृष्ण के द्वारका प्रस्थान के समय ब्रज वनिताओं की मध्यतीव्रा तथा उद्धव और सुमन्त के वापिस आ जाने के बाद तीव्रतीव्रा रति हुई।[4]

१- भक्तिरसायन- ४।५६ - 'रजस्तमस्समुच्छेदतारतम्येन गम्यते।
तुल्येऽपि साधनाभ्यासे तारतम्यं रतेरपि ।।'

२- गीतावली- १।८। ३२, २।६४-६५

३- भक्तिरसायन- २।६०-६१

४- रा०मा० - १।२०८।१-५, २।७७।३, २।७८।१,
२।१५५।१-४,

श्रीनारद ने साध्य रूपा परम प्रेमा भक्ति में क्रमिक स्वरूप एकादश आसक्तियों का निर्वचन किया है ।[१]

२- ना० भ० सू० ८२,-(१) गुण माहात्म्यासक्ति-

(I) कवितावली- ७।११-२४

(II) रा०मा०- २।१२८।२-३

(III) विनयपत्रिका- २१४,२१५

(IIII) श्रीमद्भागवत-

(२) रूपासक्ति- रा०मा० १।२१६।१-३, २।१२८।३-४

श्रीमद्भागवत-

(३) पूजासक्ति- I- रा०मा०-२।१२६।१-३, २।३२५

II- श्रीमद्भागवत-

(४) स्मरणासक्ति- I-गीतावली ७।१३, दोहा० ४१

II- श्रीमद्भागवत-

(५) दास्यासक्ति- I- विनयपत्रिका- ११३।२, II-रा०मा०२।१३१।४

III- श्रीमदभागवत-

(६) सख्यासक्ति-I-रा०मा०-१।२२५।१-४, II- श्रीमदभागवत-

(७) कान्तासक्ति-I-कवितावली-२।२३, II- श्रीमद्भागवत-

(८) वात्सल्यासक्ति- (I) रा०मा०१।१५१।३, (II) श्रीमद्भा०-

(९) आत्मनिवेदनात्मकासक्ति- विनयपत्रिका- १८७

श्रीमद्भागवत-

(१०) तन्मयतासक्ति- I- रा०मा०३।१०।६ , श्रीमद्भागवत-

(११) परमविरहासक्ति- विनयपत्रिका- २१८।१-५

श्रीमद्भागवत-

द्वितीय पक्ष साधन रूपा भक्ति का आता है, यह मुख्या भक्ति से गौण होती है। अतः यह गौणा कहलाती है।[1] इस गौणा भक्ति में भक्ति का लाक्षणिक प्रयोग होता है। शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार यह दो प्रकार की होती है (१) वैधी (२) रागानुगा, जिसे विहिता और अविहिता भी कहते हैं।[2] शास्त्रानुकूल अनुशासित होने के कारण वैधी या विहिता कहलाती है। इसे मर्यादा मार्ग भी कहते हैं।[3] इसको रूपगोस्वामी उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठ स्वाभाविक श्रद्धाविशेष के आधार पर विश्लेषित करते हैं।[4] श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में परम भागवत, मध्यम भागवत तथा द्वादश स्कन्ध में श्रोता एवं वक्ता के लक्षण बताकर इसी भक्ति का प्रमाण पुष्ट करते हैं। तुलसी साहित्य में इस क्रमिक अवस्थाओं के दर्शन नहीं होते बल्कि प्रकारान्तर से चातक, मीन, हंस इत्यादि के माध्यम से भक्त के लक्षणों का विवेचन करते हुये दिखाई पड़ती हैं।

द्वितीय साधनरूपा भक्ति को अविहिता भक्ति भी कहते हैं जो भक्ति 'रागानुगा' कहलाती है। परमात्मविषयक स्वाभाविक प्रेम विधान को राग कहते हैं।[5] परमप्रेम स्वरूपाभक्ति में राग विधान द्वारा की गयी भाव वृत्ति रागानुगा भक्ति कहलाती है और यह भक्ति दो प्रकार की मानी गयी है। प्रथम 'कामरूपा' द्वितीय सम्बन्ध रूपा।[6] दाम्पत्य

१- शा० भ० सू- २।२।१

२- ह० र० सि०-१।२।३, भक्ति चन्द्रिका - १४६

३- ह० र० सि- १।२।३-४

४- ह० र० सि० - १।२।६-८

५- ह० र० सि०- १।२।६२

६- ह० र० सि०- १।२।६३

भाव से प्रेरित रति कामरूपा भक्ति कहलाती है। श्रीमद्भागवत में गोपियों ने भगवान कृष्ण के प्रति इसी भक्ति के भाव का अनुकरण किया है तथा तुलसी ने कृष्ण गीतावली में इसी भक्ति का निदर्शन कराया है । द्वितीय सम्बन्ध रुपा भक्ति अन्य प्रकार के रागात्मक सम्बन्धों का अनुप्राणित रुपा है । श्रीमद्भागवत में देवकी वसुदेव , नन्द नन्दबाबा, यशोदा का तथा मानस में दशरथ कौशल्या आदि की भक्ति। यथार्थता में दोनों भक्ति में राग की प्रधानता है । फिर भी कामभाव की स्थिति के आधार पर भक्ति विशारदों ने इसका क्रम वर्गीकरण किया है ।[१]

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के शुद्ध और मिश्रिता दो भेद बतलाए हैं ।[२] परमानन्द भगवान की महिमा के श्रवणादि मात्र में निबद्ध अनुपाधि भक्ति शुद्धा है । श्रीमद्भागवत में नौ योगीश्वरों तथा प्रह्लाद, नारद, तथा दत्तात्रेय , उद्धव , दधीचि , जनक एवम् तुलसी साहित्य में सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, वाल्मीकि तुलसी इसी भक्ति की श्रेणी में परिगणित किये जाते है । शास्त्रों में इसे एक रुपा भक्ति भी कहते हैं ।[३]

१- ह०र०सि०- १।२।६३

२- भक्ति रसायन- २।६३ ,

" शुद्धा व्यामिश्रिता चेति पुनरेषा द्विधा भवेत।"

३- भक्ति रसायन- २।६४ -

" भजनं सगुणानन्त्यादेकरुपैव सोच्यते ।"

मिश्रित भक्ति के (३) भेद हैं -१- कामजा, २- सम्बन्धजा,[1] ३- भयजा। श्रृंगार मिश्रित भक्ति कामजा कहलाती है।[2] श्रीमद्भागवत में ब्रजवनिताओं की तथा तुलसी ने कृष्ण गीतावली में कामजा भक्ति को महारास के समय अपनाया था। पाल्य पालक भाववाली वत्सल रति और सेव्य सेवक भाव वाली प्रेयी रति 'सम्बन्धजा' है। मानस में भरत तथा हनुमान एवम् श्रीमद्भागवत में शंकर ब्रह्मा, प्रह्लाद, गजेन्द्र तथा विभिन्न भक्त गण आदि इसी श्रेणी के भक्त हैं। भयजा भक्ति स्वापराध की भावना से उत्पन्न चित्त की विकलता है। मानस में मारीच आदि भागवत में हिरण्यकशिपु आदि। जिसप्रकार मानवीय स्वभाव त्रिगुण मयी सत्ता का विकार है और उसी प्रकार कर्म भी सत, रज, तम, की क्रियात्मक अन्विति का परिणाम् है। निर्मित कामना के आधार पर कर्म कामना निर्मित, नैष्कर्मनिर्मित और भक्ति निर्मित कहे जाते हैं। उसी प्रकार भक्ति सकाम् कैवल्य काम और भक्ति मात्र काम उक्त (३) प्रकार की कही जाती है।[3] ऐश्वर्यादि सामान्य कामना से उद्भूत भक्ति सकाम भक्ति कहलाती है। कर्मसन्यास पूर्वक ईश्वर कृपा के लिए की गयी योगी की भक्ति कैवल्य काम भक्ति है। फल एवम् आसक्ति त्याग पूर्वक केवल भक्ति के लिए की गयी शुद्ध भक्ति भक्ति मात्र काम भक्ति है।

उपर्युक्त दो भक्तियों की गणना कामना सहित होने के कारण सकाम और तृतीय कामना रहित होने के कारण निष्काम कहा जाती है।

१- भक्ति रसायन- २।६५, काम सम्बन्धभयतस्सोपाधिस्त्रिविधा मता।"

२- भक्ति रसायन- २।६६, श्रृङ्गारमिश्रिता भक्ति: कामजाभक्तिरिष्यते।"

३- देखिए- 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासिफी', जिल्द ४, पृष्ठ- ४२४

निष्काम भक्ति का प्रतिपादन भागवतकार एवं तुलसी दोनों आचार्यों का आदर्श है। यह भक्ति(भक्ति) भगवान के प्रति शुद्ध भाव की एकनिष्ठता पर बल देती है।

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने फल दृष्टि से भक्ति के (३) भेद किए है।(१) दृष्टमात्रफला, (२) अदृष्टमात्रफला, (३) मिश्रिता।[१] वर्तमान देह के द्वारा प्राप्य फल को दृष्ट और भावी शरीर के द्वारा उपयोग फल को 'अदृष्ट' कहते हैं।[२] तुलसी साहित्य में अंकित भरद्वाज, बाल्मीकि, सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमार, शिव, नारद, आदि की भक्ति सात्विकी है। राजसी और तामसी भक्ति अदृष्टमात्रफला होती है। इसमें अरत भाव अन्तर्भूत रहता है। भगवान में तीव्र अनुरक्ति चित्त की धारावाहिकता के सदृश की गयी अखण्डमनोयोग की आनन्द स्वरुपा साधना प्रतिबद्ध होने के कारण सुखाभिव्यक्ति उपलब्ध भूत नहीं हो पाता है।

तुलसी साहित्य और श्रीमद्भागवत में शिशुपाल और कंस तथा रावण और कुम्भकरण, हिरण्यकशिपु और हिरयाक्ष, दन्तवक्र आदि की द्वेषमिश्रित जो क्रमशः रजप्रबल सत्वांश के कारण ईर्ष्याजन्य और तम प्रबल सत्वांश के कारण भयजन्य की आनन्द स्वरुपा नहीं हो सकी। उक्त पात्रों का वर्तमान शरीर इसविषय में प्रतिबन्धक था।[३]

१- भक्ति रसायन- २।४४

२- भक्ति रसायन- २।५०

३-श्रीमद्भागवत- ७।१।४२-४६,२५-२६

उस शरीर के नष्ट होने पर ही शुद्ध भक्ति के आविर्भाव से चित्त की द्रवणता से मुर्त भक्ति रसता प्राप्त हुई थी । तृतीय मिश्रिता दृष्टादृष्टोभाव फला, का परिणाम है जो पुरुष वैदिक आगमिक और पौराणिक शास्त्र विहित कर्म का पालन करते है उनकी सुखानुभूत अहिंसाजन्य होने के कारण व्यक्ति की गंगा स्नान क्रिया की भांति आंशिक होती है । उसका फलभोग अंशतः दृष्ट और अंशतः अदृष्ट रहता है । जनक तथा अवधवासियों की भक्ति का यही रूप है ।

श्रीमद्भागवत में प्राकृत गुणों के आधार पर साधकों की स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार निर्गुणा, सात्विकी राजसी, और तामसी चार प्रकार की भक्ति का निरुपणा किया गया है । जो महामुनिकपिल और माता देवहूति के सम्वाद में उल्लेखणीय है ।[1] गुणातीत स्तर से की गयी सर्वान्तियामी के प्रति गंगा प्रवाह की भांति अविच्छिन्न चित्त वृत्ति की एकतानता निर्गुणा भक्ति कहलाती है । यही निष्काम, निर्हैतुक, एवम् अव्यवहित, साध्यरूपा भक्तियोग के रुप में जानी जाती है ।[2]

तुलसी साहित्य में भरत, हनुमान, शिव, काकभुशुण्डि, याज्ञवल्क्य, नारद तथा श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद, अम्बरीष, ऋषभदेव, भरत, मार्कण्डेय, नौयोगेश्वर, उद्धव आदि इसी श्रेणी के भक्त है ।

सात्विकी, राजसी, तामसी, तीनों भक्तियां प्रकृति के गुणों से उद्भूत होने के कारण सगुण या सकाम भक्ति कहलाती है उसी को नारद गौणी भक्ति कहते हैं । गौणी भक्ति के (३) भेद बताए गये हैं ।[3]

१-श्रीमद्भागवत- ३।२९।८-१४ तक,

२- श्रीमद्भागवत- ३।२९।१४ , ७।७।३०-३६, ११।३।२३-३१ , ७।११।८-१२

३- नारद भक्ति सूत्र- ५६ - "गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा"

जो भागवत की सगुणभक्ति (सात्विकी, राजसी, तामसी) के अनुरुप है। पापक्षय से और कर्तव्यबुद्धि से की गयी भेद भाव युक्त भक्ति सात्विकी है । धर्म और सत्वगुण की प्रधानता के कारण यह सात्विकी कहलाती है ।[१] नित्य सकाम हृदय द्वारा भोग, यश ,तथा ऐश्वर्य की अभिलाषा से भेदबुद्धि द्वारा निष्पन्न भक्ति राजसी है ।[२] सुग्रीव आदि इसी श्रेणी के भक्त है । परपीड़न हिंसा मात्सर्य तथा दम्भार्थी रुप से की गयी भावना तामसी है ।[३] रावण, मेघनाद, खर, दूषण, कुम्भकर्ण, जरासिन्धु, कंस शिशुपाल, दन्तवक्र, हिरण्यकशिपु ,हिरण्याक्ष, इत्यादि द्वारा की गयी भक्ति इसका प्रमाण है । मधुसूदन सरस्वती तीनों भक्तियों को सत्वजा मानते हैं । भेद दृष्टि से अन्य दो गुण सापेक्ष न्यूनाधिक है। राजसी में सत्वजन्य रजोभूत रहता है और तामसी में तमोभिभूता शुद्ध सात्विकी में सत्वगुण की अन्य दो गुणों से अधिकता रहती है । श्री सरस्वती तीनों भक्ति के मेल से निष्पन्न चौथी भक्ति मिश्रिता मानते हैं । जो काम शोकादि जन्य होती है ।[४] भागवत में इसका उदाहरण मानवीय गुणों के आधार पर हुआ है, तुलसी साहित्य में इसका उदाहरण नहीं मिलता ।

१- श्रीमद्भागवत- ३।२६।१०

२- श्रीमद्भागवत- ३।२६।६

श्री मधुसूदन सरस्वती का अभिमत है कि इस भक्ति में रजोगुण का आधिक्य होने के कारण यह भक्ति रागद्वेष से उद्भूत होता है ।

३- श्रीमद्भागवत- ३।२६।८

४- ~~श्रीमद्भागवत-~~
श्रीमद् भक्ति रसायन- २।४१-४२

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने तन्मात्राओं के आधार पर षाड्विध भक्ति का भी वर्गीकरण किया है। जो सगुण रूप की सुखानुभूति में तन्मात्राएं ही माध्यम बना करती हैं। --

(१) स्पर्शजा ,(२) शब्दजा, (३) रूपजा, (४) रसजा, (५) गन्धजा, (६) समुच्चित विषया - ये षाड् प्रकार की उल्लेखनीय है।[१]

१- भगवान के स्पर्श से होने वाली आनन्दानुभूति स्पर्शजा है।[२]

२- आराध्य के सुन्दर वचन, राम-कृष्ण कथा श्रवण करने तथा वातावरणरम्य बनाने से भक्तिभाव की अनुभूति शब्दजा है।[३]

३- राम-कृष्ण के दर्शन से भक्ति द्वारा प्राप्त सुखानुभूति रूपजा है।[४]

१- भक्ति रसायन - २।५८,६२

२- रा०मा०-१।२११।छंद-४-

`सोइ पद पंकज जेहिं पूजत अज ममसिर धरेउ कृपाल हरी।`

३- रा०मा०-१।२२४- तन पुलकहि अति हरष हियं देखि देखि दोउभ्रात।

३- रा०मा०-७।३४।१-` सुनि प्रभु वचन हरषि मुनि चारी।
पुलकित तन अस्तुति अनुसारी ।।

रा०मा०- ७।८८।१- प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊ तन पुलकित मन अति-
-हरषाऊ।

४- रा०मा०-१।१४८।३` चितवहिं सादर रूप अनूपा।
तृप्ति न मानहि मनु सतरूपा ।।

रा०मा०-७।७५३-` निज प्रभु वदन लोचन सुफल करौ उरभारी ।।

४- भगवान के प्रसाद, भगवान को अर्पित किया गया भोजन, उनकी जूंठन आदि के आस्वाद से की गयी भक्तयानुभूति `रसजा` है।[1] `मानस` में काकभुशुण्डि तथा सभी वैष्णवभक्त इसी पद्धति का अनुकरण करते हैं।

५- भगवान को अर्पित पत्र पुष्प व्यन्जन आदि के सुवास से अनुभूति, भगवद्विषयक रति गन्धजा है।[2]

६- एक साथ ही अनेक तन्मात्राओं के सम्बन्ध में अनुभूतभक्ति समुच्चित-विषया है।[3] श्रीमद्भागवत में प्रचेता, अम्बरीष, तथा कृष्ण द्वारा सर्वांग समर्पण की क्रियाएं इसी भांति के अन्तर्गत परिगणित की जायेंगी। मानस में मनुशत रूपा, हनुमान, विभीषण, भरत वाल्मीकि, अगस्त्य, सुतीक्ष्ण आदि इसके उदाहरण हैं।

१- गीतावली- १।३६।५- मन भावतो कलेऊ कीजै।
तुलसिदास कहं जूंठनि दीजै ।।

रा०मा०- ७।७५(क)- लरिकाई जहं जहं फिरहिं तहं तहं संग उड़ाऊं।
जूठनि परइ अजिर महं सो उठाइ करि खाऊं ।।

२- रा०मा०-२।१२६।१- प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुवासा ।सादर जासु -
लहहिं नित नासा ।।

३- गीतावली- ३।१७, रा०मा० ४।१०।१-३

नोट:- श्रीमद्भागवत में उपर्युक्त (६) प्रकार की तन्मात्राओं का निम्नांकित श्लोकों में समाहार हुआ है।देखिए-श्रीमद्भागवत- ८।४।१८-२०,१०।१०।३८, ११।३।२३-३१

श्रीरूप गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत के वर्णनों का वर्गीकरण विश्लेषण, आदि करके स्वप्रणीत ग्रंथ `हरिभक्ति रसामृत सिन्धु` में भक्ति को रस स्वरुप सिद्ध किया है।[१] जबकि संस्कृत के समीदाक आचार्यों ने इसे भाव की श्रेणी में परिगणित किया है।[२] लेकिन भक्त आचार्यों ने इसे `रस` ही माना है और लौकिक शृंगारादि रसों को `रसाभास` कहा है। जबकि भागवत में `रसाभास` अधर्म की (५) शाखाओं में से एक है।[३] स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने अपने लेख में स्पष्ट किया है कि वैसे तो भगवान के साथ जिस सम्बन्धों को लेकर चित्त द्रवित हो जाय, गंगा की धारा जिस प्रकार अखण्ड रूप से समुद्र में गिरती है वैसे ही जब चित्त एक ओर भगवान की ओर प्रवाहित होने लगे तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है। क्योंकि चित्त की द्रवावस्था ही रस है। यदि वह संसार के लिए है तो विषय की दाणिकता के कारण `रसाभास` है और यदि भगवान के लिए है तो उनकी रस रूपता के कारण वह वास्तविक रस है।[४]

१- श्रीमद्भागवत- १।१।३ -

`पिबत भागवतं रसमालयम`

२- साहित्य दर्पण- रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथान्वित -

-भाव: प्रोक्त:

३- श्रीमद्भागवत- ७।१५।१४- यस्त्विच्छयाकृत: पुम्भिराभासो।`

४- भक्तितात्वाङ्क- ५--- ८३२

वैष्णव भक्त आचार्यों ने भक्ति रस के (५) अवान्तर भेद किये है -- १- शान्त, (२) दास्य , (३) सख्य (४) वात्सल्य (५) शृंगार या मधुर - यह पाँचों भक्ति साधना में समान रूप से तल्लीनता कारी होते हैं इसमें बराबर का भेद करना उचित प्रतीत नहीं होता। जबकि चैतन्य सम्प्रदाय के भक्तों ने मधुर भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। उनका कहना है कि अनुभूति की प्रगाढ़ता और व्यकारिता मधुर भक्ति रस में ही अधिक होती है। भागवतकार ने सामान्य रूप से भक्ति को रस कहा है। श्री रूपगोस्वामी ने `उज्ज्वल नीलमणि` ग्रंथ में मधुर भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। इनके अनुयायियों का एक तर्क यह भी है कि -- शान्त, दास्य आदि अपनी प्रगाढ़ अवस्था में दूसरे रस में परिणत हो जाते हैं। शान्तभक्ति प्रगाढ़ अनुभूति की दशामें दास्य भाव में बदल जाती है। दास्य भाव प्रगाढ़ होकर सख्य बन जाता है सख्य की प्रगाढ़ स्थिति वात्सल्य भाव में परिणित हो जाती है। इसी प्रकार वात्सल्य अपनी प्रगाढ़ अवस्था में मधुर भाव अर्थात् शृंगार भक्ति में परिण्णित हो जाता है। मुधुर भाव से प्रगाढ़ , अन्य कोई भाव होता ही नहीं। अतः वह तटस्थ ही रहता है। इसलिए माधुर्य भाव की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

जिसप्रकार काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में लौकिक रसों के स्थायी भाव हास्य, शोक ,क्रोध उत्साह, भय, जुगुप्सा आदि होते है उसी प्रकार भक्त आचार्यों ने उक्त (५) भक्ति रसों के स्थायी भाव को विभिन्न रतियों में समाहृत किया है। जैसे शान्त भक्ति रस का स्थायी भाव वात्सल्यरति , दास्य भक्ति रस का स्थायी भाव प्रीतिरति होते है। इससे भक्ति सामान्य एवम् परम प्रेमरुपा सिद्ध होती है।

श्रीमद्भागवत में (५) प्रकार की भक्तियों की क्रमिक अवस्थाओं का सम्यक विवेचन किया गया है। संक्षिप्त में उनके उद्धरण अवलोकनीय हैं।

शान्त[१], दास्य[२], सख्य[३], वात्सल्य[४], मधुर-भक्तिरस[५] ही श्रीमद्भागवत के अनुसार पंच भावों की उपासना है ।

१- श्रीमद्भागवत- ११।३।२, २।३।५, २।३।३५, २।३।२१।२२

२- ,, - १०।६३।३७, १०।१४।१०, ११।६।४६, १०।८१।३६

३- ,, - १०।१५।१४।, १०।१५।१०-१७

४- ,, - १०।४५।१०, १०।६।१२, १०।६।१८-२६

५- ,, - १०।८३।३, १०।८३।१०,-१६, १०।६०।४५, १०।४७।२३-२४, १०।४७।६१, १०।३३।२७-३१

(ग)- भक्ति के अङ्ग एवं साधन :-

श्रीमद्भागवत एवम् तुलसी साहित्य में -

श्रीमद्भागवत और तुलसी साहित्य के अन्तर्गत संसार के सभी शुभ कर्मों को भक्ति की प्राप्ति के अंग या साधन के रूप में परिगणित किया है[1] अर्थात् जिन-जिन धर्मों के अनुष्ठान से साध्यभक्ति की प्राप्ति हो, वही कर्म वेदों द्वारा प्रतिपादित मूल धर्म है। उनकी प्रतिष्ठा ही भक्ति का स्वरूप है,[2] जिसे भक्ति के अंग या साधन कह सकते हैं। श्रीमद्-भागवत के अन्तर्गत नाना प्रसंगों में भक्ति के अंगों एवम् साधनों का उल्लेख प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कराया गया है।

भक्त प्रह्लाद द्वारा पिता हिरण्यकशिपु को निवेदित संवाद में ३ स्थलों में भक्ति के अंगों या भेदों अथवा साधनों का ही दृष्टान्त देकर विष्णु भक्ति की अनिर्वचनीयता सिद्ध की है। जिसमें विष्णुभक्ति के (६) अंगों तथा ६ भेदों एवम् १० साधनों का उपदेश दर्शनीय है। भक्ति के ६ अंगों में नमस्कार, स्तुति, समस्त कर्मों का समर्पण, सेवा-पूजा,

---

१- रा०मा०- ७।४६।१-४, श्रीमद्भागवत- ७।११।८-१२

जप तपनियम जोग निज धरमा। श्रुति सम्भव नाना सुभ कर्मा।

~~मममम,--निमम--मु~~

ग्यान, दया, दम तीरथ मज्जन। जहं लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन।।

आगम, निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।

तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुन्दर।।

२- श्रीमद्भागवत- ६।१।४०, ११।१६।२७

भगवच्चरणों का चिन्तन और लीला कथाओं का श्रवण आदि के अनुष्ठान से ही विष्णु भक्ति की प्राप्ति निर्दिष्ठ की गयी है।[1] इसी प्रसंग में विष्णु भक्ति के ६ भेदों का उपदेशकर भक्त प्रह्लाद ने शिक्षाध्ययन को उत्तम माना है अर्थात भगवान के गुण लीला नाम आदि का श्रवण, उनके चरणों की सेवा, पूजा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ही मनुष्य जन्म एवम् जीवन शिक्षा के अध्ययन का साफल्य है।[2]

डा० बल्देव प्रसाद मिश्र ने उक्त ६ प्रकार की भक्ति को साधन माना है उनके मतानुसार-" श्रवण कीर्तन और स्मरण ये तीनों तो नाम सम्बन्धी साधन है जो विशेषकर श्रद्धा और विश्वास की वृद्धि के सहायक है। पाद सेवन, अर्चन और वन्दन- ये तीन रुप सम्बन्धी साधन है जो वैधी भक्ति के विशेष अंग है और दास्य सख्य तथा आत्मनिवेदन ये तीन भाव सम्बन्धी साधन है, जो रागात्मिका भक्ति से घनिष्ठता रखते हैं। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो ये साधन परस्पर सम्बन्धित भी जान पड़ेंगे और क्रमशः एक दूसरे के विकसित रुप प्रतीत होकर भक्ति रस की तह तक पहुंचाने वाले नौ साधनों की तरह भी दिखायी पड़ेंगे।[3] भक्त प्रह्लाद ने

१- श्रीमद्भागवत- ७।६।५० तत् तेऽर्हत्तम नमः स्तुति कर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयिविनेति षडङ्गया किं,
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ।।

२- श्रीमद् भागवत- ७।५।२३- "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

३- मिश्र, डा० बल्देवप्रसाद, तुलसी दर्शन, पृष्ठ- २७४

भक्ति वृद्धि या आत्मकल्याण के १० साधनों का उपदेशकर जितेन्द्रिय पुरुषों के लिए मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र श्रवण, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म पालन, युक्तियों द्वारा शास्त्रों की व्याख्या, एकान्त सेवन, जप और समाधि आवश्यक बताये है,[१] यहां समाधि का अर्थ शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक क्रियाओं द्वारा भगवच्चरणों में सम्पूर्ण क्रियाओं का निवेदन विवक्षित किया गया है ।

श्री रूप गोस्वामी ने ६ प्रकार के क्रमिक साधनों द्वारा अनन्य प्रेम रूपा साध्या भक्ति का आविर्भाव बताया है,[२] ये क्रियात्मक क्रमिक साधन निम्न हैं --

१- श्रद्धा , २- संग ,३- भजन , ४- अनर्थ निवृत्ति ,५- निष्ठा , ६- रुचि , ७- आसक्ति , ८- ~~भक्ति-कर-~~ भाव, ६-प्रेम ।उक्त प्रकार की क्रमिक अवस्थाओं से अनन्य प्रेम रूपा भक्ति का आविर्भाव हो जाता है, जिसको भक्त भक्ति की चरम पराकाष्ठा मानता है ।इस अवस्था में भक्त भागवत कहलाता है ।

१- श्रीमद्भागवत- ७।६।४६- मौनं व्रत श्रुततपोऽध्ययन स्वधर्म-
व्याख्यारहो जप समाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां,
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानां ।

२- ह०भ०र० सिन्धु-
'आदौ श्रद्धा ततः सङ्गस्ततोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ।

श्रीमद्भागवत में नारद द्वारा युधिष्ठिर को उपदिष्ट संवाद में ३० प्रकार के धर्मों का वर्णन किया गया है, जिन धर्मों के आचरण से आत्मप्रसाद की उपलब्धि होती है।[1] उक्त धर्मों का अनुष्ठान भक्ति साधना का हेतु एवं प्राणियों का परम धर्म एवम् कर्तव्य बताया गया है। यह (३०) प्रकार के धर्मों को ही भक्ति के विहित एवम् अविहित साधन ही मान सकते हैं - यथा- सत्य, दया, तपस्या, तितिक्षा, विवेक, मन का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी संतों की सेवा, सांसारिक उपरति, अभिमान रहित प्रयत्न, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों में समदृष्टि, मनुष्यों में आत्म दृष्टि नियन्ता ईश्वर का भाव, सन्तों के परमाश्रय भगवान के नाम, गुण, लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इत्यादि धर्मों के पालन से प्रेमाभक्ति रूपी साध्य भक्ति की प्राप्ति हो जाती है, जो मानव शरीर का जन्म एवम् जीवन का शाश्वत उद्देश्य है।[2] उक्त धर्मों का आचरणात्मक क्रिया विधान ही भागवत धर्म है, जिसे कानों से सुनने, वाणी से उच्चारण करने, चित्त से स्मरण करने और हृदय से स्वीकार करने से ही मनुष्य शुद्ध होकर अपने आसुर भाव को त्यागकर दिव्यानुभूति प्राप्त कर लेता है।[3] अर्थात उक्त धर्मों के पालन से सत्वगुण की वृद्धि से मन शान्त होकर आत्मा में तल्लीन हो जाता है। उस तल्लीनता में साधक को धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवम् ऐश्वर्यादि की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।[4]

१- श्रीमद्भागवत- ७।११।७

२- श्रीमद्भागवत- ७।११।८-१२

३- श्रीमद्भागवत- ११।२।१२

४- श्रीमद्भागवत- ११।१६।२५

अत: भक्ति की वृद्धि में सत्संग, सच्चरित्रता, भगवत्कथालाप, भगवत्कथा श्रवण, भूत दया आदि उदाहरण विशेष रूप से आदरणीय है।[1]

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने उपर्युक्त (३) प्रकार के धर्मों का अनुष्ठानात्मक आधार पर भक्ति की ग्यारह भूमियां गिनायी है।[2] जिनमें सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। यह ग्यारह प्रकार की भूमियां या साधन ही अन्त:करण में भगवत्प्रेमोद्रेक के माध्यम होते हैं--

१- महत्सेवा
२- तद्दयापात्रता
३- तद्धर्म में श्रद्धा
४- हरिगुण श्रुति
५- रत्यंकुरोत्पत्ति
६- स्वरूपाधिगति
७- प्रेम वृद्धि
८- परमानन्द स्फूर्ति
९- स्वत: भागवत्धर्मनिष्ठा
१०- तद्गुण शालिता और
११- प्रेम की पराकाष्ठा

१- श्रीमद्भागवत- ५।१६।२४

२- श्रीमद्भक्ति रसायन- प्रथम उल्लास, कारिका- ३२-३४

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता तत: ।
श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरि गुण श्रुति: ।।
ततो रत्यंकुरोत्पत्ति: स्वरुपाधिगतिस्तत: ।
प्रेम वृद्धि: परमानन्दे तस्याथस्फुरणं तत: ।
भगवद्धर्म निष्ठात: स्वस्मिंस्तद्गुण शालिता ।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्ति भूमिका: ।।

श्रीसूक्तिकार ने आठ प्रकार के पुष्पों को भक्ति साधना की प्राप्ति का आधार या हरि के सन्तुष्ट होने की प्रक्रियाएं निर्दिष्ट की है --

अहिंसा, इन्द्रिय संयम, जीव, दया , क्षमा , मन का संयम, ध्यान, ज्ञान और सत्य ही भगवत्प्राप्ति के साधन है ।[१]

तृतीय प्रसंग श्रीमद्भागवत के एकादश अध्याय में भगवान कृष्ण द्वारा भक्त उद्धव को उपदेशित भक्ति प्राप्ति के साधनों का विवेचन भी समादरणीय एवम् ख्याति जन्य है । कहागया है कि- जो मेरी भक्ति प्राप्ति करना चाहता है वह मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा, निरन्तर भगवद् गुण लीलादिनामों का संकीर्तन, पूजा में निष्ठा ,भगवद् स्तोत्रों द्वारा स्तुति, भगवद् पूजा में अनुराग, भगवत्मूर्ति को साष्टांग प्रणाम करना , सन्तों की सेवा सुश्रुषा, समस्त प्राणियों में आत्म स्वरुप दृष्टि, इन्द्रिय वाणी, मन बुद्धि से भगवद् गुणानुवाद एवम् कर्मों का समर्पण कामना त्याग, धन भोग आदि में अनासक्त भाव, यज्ञ, दान, हवन , व्रत, तप आदि का आराध्य में पूर्ण समर्पण आदि से प्रेमाभक्ति की प्राप्ति का संकेत निर्दिष्ट किया गया है ।[२]

१- "सूक्ति सुधाकर," - गीताप्रेस गोरखपुर ।

"अहिंसा प्रथम पुष्पं द्वितीयं करण ग्रहः ।
तृतीयेकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च। ~~समस्तु~~
शमस्तु पन्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषातः ।
सत्य चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः ।
पुष्पान्तराणि सन्त्यैन बाह्यनि नृप सत्तम् ।।

२- श्रीमद्भागवत- ११।१६।२०-२१-२२-२३

चतुर्थ प्रसंग नौयोगीश्वरों में प्रधान प्रबुद्ध जी द्वारा महाराज विदेह निमि के प्रति साधन भक्तिकी क्रमिक अवस्थाओं का निर्वचन किया गया है। जिस साधन भक्ति के अनुष्ठान से प्रेमाभक्ति का आविर्भाव हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रीप्रबुद्ध जी ने भक्ति प्राप्ति के साधनों को प्रारम्भिक सोपान के रूप में समझाया है[१] -- सर्व प्रथम अनासक्त मन से शरीर संतान आदि में तदुपरान्त भगवद्भक्तों में प्रेम, समस्त प्राणियों के प्रति निष्कपट भाव से दया, मैत्री एवम् विनय भाव की शिक्षा अधिग्रहण करें।[२]

मिट्टी जल आदि से बाह्य शरीर की एवम् छल कपट आदि के त्याग से अन्तरंग शुचिता का संपादन करे। अपने श्रेयात्मक कर्तव्य या धर्म का अनुष्ठान, सहन शक्ति ,मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत- उष्ण ऐन्द्रिक सुख -दुखादि द्वन्द्वों के हर्ष विषाद आदि से रहित की शिक्षा अधिग्रहण करे।[३] चराचर जगत में चेतन स्वरूप आत्मा और नियन्ता रूप से ईश्वर का दर्शन एकान्त सेवन, गृह आदि में अनासक्त भाव, वर्णाश्रमानुकूल वैचारिक शुचिता , प्रारब्धानुकूल प्राप्त वस्तु में सन्तोष, भगवत्प्राप्ति के साधनों में श्रद्धा, अन्यत्र शास्त्रों की निंदा आदि से रहित दृष्टि , प्राणायाम से मन का, मौन से वाणी का, वासना हीनता के अभ्यास से कर्मों का संयम करना सत्यभाषण ,इंद्रिय एवम् मन की एकाग्र भाव की शिक्षा अधिग्रहण करे।[४] भगवल्लीलाएं ,

---

१- श्रीमद्भागवत- ११।३।२२

२- श्रीमद्भागवत- ११।३।२३

३- श्रीमद्भागवत- ११।३।२४

४- श्रीमद्भागवत- ११।३।२५-२६

जन्म, कर्म, गुण आदि में दिव्यता एवम् अद्भुत शक्ति समझकर श्रवण कीर्तन और ध्यान का अभ्यास तथा सम्पूर्ण शारीरिक चेष्टाओं को भगवान में समर्पित होने की शिक्षा अधिग्रहण करें ।[१] यज्ञ, दान, तप, अथवा जप, सदाचार पालन, स्त्री, पुत्र घर प्राण, जीवन, तथा मनः प्रिय वस्तु सभी को भगवच्चरणों में निवेदित भाव की शिक्षा अधिग्रहण करे ।[२] जिन-जिन संत पुरुषों ने भगवान कृष्ण का आत्मा और परमात्मा के रूप में दर्शन कर चुके है, उन गुणातीत संतों से प्रेम तथा स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के प्राणियों की सेवा, विशेष करके मानव की मनुष्यों में भी परोपकारी सज्जन पुरुषों की, उनसे भी उच्च भगवत्प्रेमी सन्तों की सेवा भाव की शिक्षा अधिग्रहण करे ।[३]

भगवान के परमपावन यश आदि का परस्पर में बखान करना, मायिक प्रपंचों से निवृत्त रहना, आपस में आध्यात्मिक शक्ति का अनुभव करने की शिक्षा अधिग्रहण करे ।[४] भगवान की सार्वभौमता का स्मरण तथा दूसरे पुरुषों को भी भगवत्ता का स्मरण कराये । इसप्रकार के साधनात्मक भक्ति की धारणा से या अनुष्ठान से परम प्रेमाभक्ति का उदय हो जाता है ।[५] इसी अवस्था को महर्षि नारद परमप्रेम स्वरुपा एवम् अमृत

१- श्रीमद्भागवत- ११।३।२७

२- श्रीमद्भागवत- ११।३।२८

३- श्रीमद्भागवत- ११।३।२९

४- श्रीमद्भागवत- ११।३।३०

५- श्रीमद्भागवत- ११।३।३१

स्वरुपा[१] तथा शाण्डिल्य परानुरक्ति भाव[२] तथा श्रीमधुसूदन सरस्वती-फलभक्ति[३] एवम् तुलसी "साधन सिद्धि राम पग नेहु"[४] कहते हैं। इस अवस्था के प्राप्त होने पर प्रेमोद्रेक के कारण शरीर पुलकित हो जाता है, उसके हृदय की बड़ी विलक्षण स्थिति हो जाती है, यहाँ भागवत-कार रसानन्द या प्रेमानन्द भाव की परम पराकाष्ठा को व्यक्त करते हैं कि भक्त कभी-कभी भगवान के न मिलने पर चिन्तातुर हो जाता है, जिसे नारद व्याकुल एवं अधीर कहते हैं।[५] जोरों से करुण क्रन्दन करने लगता है।[६] कभी भगवान की लीला की स्फूर्ति होने पर खिलखिलाकर हंसने लगता है[७] कभी उनसे प्रेम और दर्शन की अनुभूति से आनन्द मग्न दिखाई देते हैं तो कभी-कभी लोकातीत भाव में स्थित होकर भगवत्वार्ता करने लगते हैं। कभी नाचगायन द्वारा भगवान को सन्तुष्ट करने का रूझान अपनाते हैं।[८] तो कभी-कभी अद्भुत तन्मयता में मस्त होकर अधान्त परम नियन्ता से एक होकर परमशान्ति का अनुभव करने लगते हैं। इसप्रकार वे भागवत धर्मों के अनुष्ठान से भक्त आयिक प्रपन्चों एवं कर्मगत संस्कारों को तथा जन्म-मृत्यु आदि शरीर धर्मों कारणों से उपरत हो जाता है। अर्थात यह अनन्य प्रेममयी भक्ति के आविर्भाव से कर्ममय जगत, हृदय ग्रंथि तथा सम्पूर्ण आसक्तियाँ लकड़ी के ईंधन सदृश भस्मीभूत हो जाते हैं।[९]

१- नारदभक्ति सूत्र- २,३- सा त्वस्मिन परम प्रेमरुपा, अमृत स्वरुपा च"
२- शाण्डिल्य भक्तिसूत्र- २,- सा परानुरक्तिरीश्वरे"
३- श्रीमद्भक्ति रसायन-
४- रा० मा०-
५- ना० भ० सू०- १६, तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति"
६- श्रीमद्भागवत- ११।३।३१
७- श्रीमद्भागवत- ११।३।३२
८- श्रीमद्भागवत- ११।३।३२, ११।१४।२३-२४
९- श्रीमद्भागवत- ११।३।३३

श्रीमद्‌भागवत में भगवत्तत्व या भक्ति की प्राप्ति के (३)मार्ग विशेष रूप से निर्दिष्ट किए गए हैं -- वे हैं- ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग ।[१] वैसे भक्ति स्वयं में एक साधन है और साध्य भी ।[२] क्योंकि नारद स्वयं भक्ति को प्रमाण रूपा मानते है ।[३] अर्थात भक्ति के साधनों का समावेश भी भक्ति में ही अन्तर्हित हो जाता है । तुलसी और भागवतकार ने नाना प्रसंगों में भगवान द्वारा भक्त को अभीष्ट वरों का प्रलोभन देते हुये दिखाया है । और भक्ति के विषय में शान्त। लेकिन मनु- बुद्धिमान मनुष्यका आचरण एवम् चातुर्य इसी बात में है कि वह भगवान को शाश्वत चरणों में प्रार्थित भक्ति भाव की ही आकांक्षा करे, क्योंकि कामना और ऐश्वर्य की प्राप्ति ही ईश्वर की योगमाया है । योग माया को शास्त्रों में ईश्वर की विभूति बताया है, ईश्वर का वास्तविक स्वरूप नहीं, अभीष्ट वरों का लालच जीव का स्वभाव है, आत्मनिष्ठ जीवात्मा का नहीं । जीव में भ्रम, विषाद सन्देह, और आसक्तियां विद्यमान रहा करती है, जिनके कारण जन्म, अस्तित्व की अनुभूति, वृद्धि परिणाम, क्षय, विनाश षाड भाव विकार कामना के कारण ही पाये जाते हैं ।[४] इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि आत्मा नित्य, अविनाशी शुद्ध, एक रस, क्षेत्रज्ञ,आश्रय निर्विकार, स्वयं प्रकाश सबका कारण, व्यापक, असंग तथा आवरण रहित होती है ।[५] भक्ति का धरातल राग, द्वेष और लौकिक सम्बन्धों एवं वैषयिक सत्ता से परे का होता है उस अवस्था में प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्र एक ही रहते है ।

१- श्रीमद्‌भागवत- ११।२१।१,११।२०।६

२- श्रीमद्‌भागवत - ११।१४।२०, ७।७।५१-५२

३- नारद भक्तिसूत्र-

४- श्रीमद्‌भागवत- ७।७।१८

५- श्रीमद्‌भागवत- ७।७।१६

उपर्युक्त तीनों साधनों का पर्यवसान भक्ति में ही बताया गया है। क्योंकि कर्मयोग की सार्थकता विधि निषेध मय कर्मों से उपरत होना ही है अर्थात तब तक कर्म करना चाहिए जब तक कर्ममय जगत और उससे प्राप्त होने वाले सुखों से वैराग्य प्राप्त न हो जाय और भगवान की दिव्य लीला कथाओं में, श्रवण कीर्तन आदि में श्रद्धा उत्पन्न हो जाय।[१] इसीलिए आचार्य शुक्ल श्रद्धा और प्रेम दोनों के योग का नाम भक्ति मानते हैं।[२] द्वितीय ज्ञानयोग भी भक्ति का साधन है - इसमें भी कर्मों एवम् उनके फलों से विरक्ति होना अर्थात त्याग भाव की अनासक्त पराकाष्ठा को ही ज्ञान योग का अधिकारी बताया है।[३] भागवतकार आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को ही ज्ञान कहते हैं।[४] इसके श्रवण, मनन, निदिध्यासन, स्वानुभूति ही ज्ञान के साधन हैं, जो ब्रह्म विचार के हेतु बनकर आत्म-विषयक सन्देहों को नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं।[५] तृतीय भक्ति योग का अधिकारी उसी साधक या भक्त को बताया है जो न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त वरन् प्रारब्धवश या पूर्व जन्मों के संयोग से भगवत्लीला कथाओं में श्रद्धा उत्पन्न होने को ही इसी योग की सफलता निर्दिष्ट की गयी है।[६] यह नितान्त विचारणीय है कि श्रद्धा ही ज्ञान, भक्ति, और कर्म की धुरी है। भक्ति में श्रद्धा लीला कथाओं के श्रवण कीर्तन तथा नाम रूपात्मक अवयवों द्वारा उत्पन्न होती है।[७]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२०।६

२- चिन्तामणि- श्रद्धा और भक्ति : शीर्षक से,

३- श्रीमद्भागवत- ११।२०।७

४- ,, - ११।१६।२७

५- ,, - ११।२८।२३

६- ,, - ११।२०।८

७- श्रीमद्भागवत- ११।१६।२०

ज्ञान में श्रद्धा से परमतत्व की प्राप्ति होती है। गीता में श्रद्धावान लभते ज्ञानम् द्वारा उक्ति की सार्थकता निर्दिष्ट की गयी है। और कर्मयोग में कर्मों एवम् उनके फलों की आसक्ति से विरक्ति भाव के उत्पन्न होने में श्रद्धा का योग सन्निहित रहता है। अर्थात भक्ति में श्रद्धा का पर्यवसान शरणागत प्रपन्नता में, ज्ञान में नि:संकल्प आत्मस्थिति में तथा कर्म में विधि निषेध मय प्रपन्चों से निवृत्ति अर्थात वैराग्य का हेतु बनती है। इसीलिए भागवतकार राग द्वेष से कलुषित चित्त वृत्ति की शुद्धि का उपाय श्रद्धा को ही बताते है।[1] भागवतकार ने प्राकृत गुणों एवम् अप्राकृत गुणों के आधार पर सत, रज, तम, तथा निर्गुण, श्रद्धा का विभाजन मनुष्य के स्वभावानुसार किया है। उन्होंने आत्म ज्ञान विषयक श्रद्धा को सात्विक कर्म विषयक श्रद्धा को राजस और अधर्म से उत्पन्न श्रद्धा को तामस और भगवत्सेवा में निष्णात श्रद्धा को निर्गुण श्रद्धा कहा है।[2]

भागवतकार ने यम नियमों को भी भक्ति के अंग या साधन बतलाए है - यम तथा नियम क्रमश: १२,१२ प्रकार के हैं, जिनके पालन से इच्छानुसार भोग तथा मोक्ष दोनों की प्राप्ति सम्भव होती है। यह सकाम एवम् निष्काम दोनों प्रकार के साधकों के लिए नितान्त उपयोगी है।[3] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न करना), असंगता, लज्जा, असन्चय (आवश्यकता से अधिक धन आदि न जोड़ना) आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन,

---

१- श्रीमद्भागवत- ११।६।६

२- ,, - ११।२५।२७

३- ,, - ११।१६।३५

स्थिरता, क्षमा और अभय यह १२ प्रकार के यमों के अनुष्ठान से अन्त: एवं बाह्य उपरति- हो जाती है ।[1] शौच (बाहरी एवं आन्तरिक - पवित्रता) , जप , तप ,हवन, श्रद्धा ,अतिथि सेवा, भगवत्पूजा, तीर्थ यात्रा , परोपकार की चेष्टा सन्तोष और गुरुसेवा यह १२ नियम है।[2] यह क्रमश: भक्ति साधना में आन्तरिक एवं बाह्य शक्ति के विकारों को नष्ट करने के साधन बनते हैं जिनसे अन्त:करण तथा चित्त स्थिर एवम् शुद्ध रहता है । महर्षि पतन्जलि ने (५) प्रकार के - अहिंसा, सत्य,अस्तेय , ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामों को यम कहा है ।[3]

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या-परिग्रहा यमा: "

१-अहिंसा:- किसी भूत प्राणी को या अपने को भी मन वाणी और शरीर द्वारा कभी किसी प्रकार किन्चित मात्र भी कष्ट न पहुंचाने का नाम अहिंसा है । भागवत में माता देवहूति और कपिल संवाद में इसी तथ्य का पुनर्वचन किया गया है ।[4]

१-श्रीमद्भागवत- ११।१६।३३

२- श्रीमद्भागवत- ११।१६३४

३- योगदर्शन - २।३०

४- श्रीमद्भागवत ३।२६।२८+३४ , गीता -१०।५,१६।२

महाभारत अनु०- ११५।१,

अहिंसा परमो धर्म: "

रा०मा०- ७।१२१।११ - परम धरम श्रुति विदित अहिंसा ।।

रा०मा०- ७।४१।२ - नर सरीर धरि जे पर पीरा ।

करहिं ते सहहिं महाभव भीरा ।।"

२- सत्य:-

अन्त:करण और इन्द्रियों द्वारा जैसा निश्चय किया जा सके, हितकी भावना से, कपट रहित, प्रिय शब्दों में वैसा का वैसा ही प्रकट करने का नाम सत्य है । भागवतकार सर्वत्र सम स्वरूप, सत्यस्वरूप परमात्मा का दर्शन ही सत्य मानते है ।[1]

३- अस्तेय:-

मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी प्रकार के भी किसी के स्वत्व को न चुराना, न लेना और न छीनकर अस्तेय है ।[2]

४- ब्रह्मचर्य :-

मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा प्राप्त होने वाले काम विकार के सर्वथा अभाव का नाम ब्रह्मचर्य है ।[3]

५- अपरिग्रह:-

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोग सामग्री का संग्रह न करना अपरिग्रह है ।

१-श्रीमद्भागवत- ११।१६।३७- "स्वभाव विजय: शौर्यं सत्यं च सम दर्शनम् ।"
  रा०मा०- २।१३०।२ "कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी।
  रा०मा०- २।६५।३- धरमु न दूसर सत्य समाना ।।"
२- रा०मा०- २।१६८।२, २।१३०।३
३- शास्त्रों में अष्ट मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है ।

मौन:-

वाणी का आत्म निष्ठता मौन है। अर्थात मन का शान्त हो जाना ही मौन है। मन नि:संकल्प भाव में स्थिर होने लगे, मौन है।

स्थिरता:-

शरीर, मन, इन्द्रियों के चान्चल्य प्रवाह के निरोध का नाम स्थिरता है। भागवतकार जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने को ही धैर्य कहते हैं।

क्षमा:-

शरीर, मन, वाणी से सामर्थ्य होने पर भी अपराधी को मुक्त कर देना ही क्षमा है।[१]

अभय:-

शरीर, मन, वाणी से सभी प्राणियों को सुहृद समझना तथा किसी को कष्ट न देना अभयता है।

आस्तिकता:-

ईश्वर विषयक आस्था ही आस्तिकता है।

१- दोहावली- ४२६,४२८

उक्त १२ प्रकार के यमों को पालन से क्रमशः अहिंसा की प्रतिष्ठा से वैरी स्वभाव से वैर त्याग कर देता है।[१] सत्य की प्रतिष्ठा से मुख से निकली हुई वाणी सफल हो जाता है।[२] अस्तेय की प्रतिष्ठा से समस्त रत्नों की प्राप्ति हो जाता है।[३] ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से शरीर, मन इन्द्रियों में अत्यन्त सामर्थ्य भाव प्रादुर्भूत हो जाता है।[४] अपरिग्रह की प्रतिष्ठा से मन का संयम हो जाता है।[५] शेष सात — इन्हीं में प्रतिष्ठित है।

महर्षि पतन्जलि ने पवित्रता, सन्तोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान-ये (५) नियम निर्दिष्ट किये है।[६]

१- <u>पवित्रता:-</u>

आन्तरिक एवं बाह्य शौच को ही पवित्रता कहते हैं,, आन्तरिक शुचिता में- अहंता, ममता, राग, द्वेष ईर्ष्या, मन, और काम क्रोधादि आन्तरिक दुर्गुणों के त्याग की आवश्यकता पड़ती है। बाह्य शुचितामें - जल मिट्टी से शरीर को स्वार्थ त्याग से व्यवहार और आचरण को तथा न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त सात्विक पदार्थों के पवित्रता पूर्वक सेवन से, आहार की- आवश्यकता होती है। भागवतकार कर्मों में आसक्त न होनेको ही शौच कहते हैं।[७]

१- योग दर्शन- २।३५- अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।

२- योगदर्शन- २।३६- सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्।

३- योगदर्शन- २।३७- अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

४- योगदर्शन- २।३८- ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

५- योगदर्शन- २।३९- अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म कथन्ता सम्बोधः।

६- योगदर्शन- २।३२

७- श्रीमद्भागवत- ११।१९।३६, रा०मा०-१।२२७।१,१।२३६।४,१।३५८,

२- सन्तोष:-

सुख, दुख, लाभ-हानि, यश- -अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता, प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा सर्वदा सन्तुष्ट प्रसन्न चित्त रहने का नाम सन्तोष है।[१]

३- तप:-

मन और इन्द्रियों के संयम रूप धर्मपालन करने के लिए कष्ट सहने का तितिक्षा एवम् व्रत आदि का नाम तप है। भागवतकार कामनाओं के त्याग को तप तथा -अन्याय के प्राप्त दुख को सहने का नाम तितिक्षा मानते हैं।

४- स्वाध्याय:-

भगवत्प्राप्ति जनित शास्त्रों का अध्ययन और इष्टदेव के नाम का जप तथा स्तोत्रादि पठन पाठन एवम् गुणानुवाद करने का नाम स्वाध्याय है।

५- ईश्वर प्रणिधान:-

शरीर मन इन्द्रियों के सभी क्रियात्मक व्यापारों का ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन भाव ईश्वर प्रणिधान है।

१- श्रीमद्भागवत- ११।१९।३६-३७, गीता- १८ अध्याय में ३ प्रकार का तप बताया गया है।

शेष सात नियम उक्त(५) नियमों में अन्तर्भूत है ।

१-सत्संग:-

भक्ति के साधनों में सत्संग को प्रमुख माना गया है ।[१] सत्संग से जगत की आसक्तियां[२] एवम् वैषयिक तथा कुसंग निवृत्ति सम्भव है ।[३] सत्संग से प्रेमाभक्ति[४] एवं महापुरुषों या संतों का समागम प्राप्त होता है जिनके चरण कमल तीर्थों को भी पवित्र कर देते हैं ।[५] जिनके स्मरण से पवित्रता[६] एवं तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है ।[७] तथा भगवच्चरणों में दृढ़ अनुराग होता है ।[८] अर्थात सत्संग ही मोक्ष का खुला द्वार है ।[९]

१- श्रीमद्भागवत- ११।११।२५ , ११।११।४८

२- ,, - ११।१२।१-६

३- ,, - ४।९।१२, ११।२६।३१, ३।३१।३२-३४

४- ,, - १।२।१८

५- ,, - ३।३०।३७

६- ,, - १।१६।३३

७- ,, - ५।१२।१२

८- ,, - ७।५।३२

९- ,, - ३।२५।२०

जिससे भगवान के दर्शन सहज ही प्राप्त हो जाता है।[१] इसीलिये भक्ति के साधनों में सत्संग सर्वोपरि है।[२] इससे स्पष्ट होता है कि सत्संग से भगवत्प्रेम[३] सन्तों का साक्षात्कार एवम् कृपा,[४] उनके प्रति सेवा भाव[५] तथा साधुता के लक्षण[६] इत्यादि अनायास ही सुलभ हो जाते हैं। सत्संग से ही महापुरुषों के प्रति आस्तिक भाव इत्यादि प्राप्त हो जाता है,[७] जिनके अधीन भगवान वश में रहा करते हैं।[८] अतः भक्ति अंगों में सत्संग प्रमुख साधन है।

१- श्रीमद्भागवत- ११।१२।१-२

२- ,, - ११।१८।१२

३- ,, - १०।५१।५४

४- ,, - ७।५।३२, ११।२।२६, ११।२६।३२

५- ,, - ११।२६।३३

६- ,, - ३।२५।२१-२४, ११।२६।३३

७- ,, - ५।५।२

८- ,, - ९।४।६३-६६-६८, ११।१४।१५-१६

२- <u>नाम भक्ति:-</u>

श्रीमद्भागवत महापुराण में भगवान के नाम, रूप, गुण, लीला धाम आदि का विशेष महत्व है। जिसमें नाम तो भगवत्प्राप्ति का साक्षात् साधन है। भागवतकार का कथन है कि-- जो लोग इस लोक या परलोक की किसी भी वस्तु की इच्छा करते हैं या संसार से विरक्त हो गये हैं या मोक्ष के अभिलाषी हैं। ज्ञानी, योगी एवम् भक्तों के लिए सम्पूर्ण शास्त्रों का निर्णय यही है कि भगवान के नाम का संकीर्तन करें।[१] क्योंकि भगवान के नामों के उच्चारण से जीव जन्म मृत्यु के घोर चक्र से मुक्त हो जाता है।[२] अत: जिस वाणी में जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप लोक प्रिय भगवान राम और कृष्णादि के अवतारों की पावन लीला कथाओं का वर्णन एवं यशोगान नहीं है, वह वाणी वन्ध्या है, बुद्धिमान पुरुष न तो उसका श्रवण करते हैं और न ही उच्चारण।[३]

भगवान के नामोच्चरण में किसी जाति विशेष का प्रतिबन्ध नहीं होता है।[४] माता देवहूति भगवान कपिल से कहती हैं कि वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसकी जिह्वा के अग्रभाग में आपका नाम विराजमान है।[५]

१- श्रीमद्भागवत- २।११।११

२- ,, - १।१।१४

३- ,, - ११।११।२०

४- ,, - ७।७।५४, ५१,५२, ७।६।६

५- ,, - ३।३३।७

भगवान के नामोच्चारण से मनुष्यों की सम्पूर्ण पापराशि नष्ट हो जाती है ।[१] और व्यक्ति ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है ।[२] भगवान के नामोच्चारण में किसी विशेष नियम की आवश्यकता नहीं होती है चाहे सोते, जागते, छींकते, गिरते, प्राण त्याग करते अथवा विवशता से नामोच्चारण करने से मनुष्य तत्काल परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है । और यम यातना का भाजन नहीं बनता ।[३] भागवतकार का कथन है कि जो लोग इस संसारबंधन से मुक्त होना चाहते हैं उनके लिए आपके चरणों के स्पर्श से तीर्थों को भी तीर्थ बनाने वाले भगवान के नामों से बढ़कर और कोई साधन नहीं है । क्योंकि नामाश्रय से मन कर्ममय जगत के बन्धन से मुक्त हो जाता है । अर्थात रजोगुण और तमोगुण भूता अधोगतियां नष्ट हो जाती हैं।[४] इस कलियुग में नाम संकीर्तन के द्वारा मनुष्य संसार की आसक्तियों एवम् कामनाओं को नष्ट करने का संकेत निर्दिष्ट किया गया है ;[५] इस युग में मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा स्वार्थ एवम् परमार्थ यही है कि वह भगवान कृष्ण के नाम संकीर्तन द्वारा अविचल स्मृति स्थापित करले ।[६] अतः श्रीमद्भागवत में सर्वत्र भगवन्नाम महिमा का गुणगान किया गया है ।[७]

१- श्रीमद्भागवत- ५।२५।११, १०।३४।१७, १२।१२।२३,११।६।१६

२- ,, - ३।६।१५

३- ,, - ५।२४।२०, ६।२।७-८, ६।२।१५,-१८,-४५,-१६
१२।१२।४६, ६।२।१३, ११।५।३७

४- ,, - ६।२।४६

५- ,, - ११।५।३६

६- ,, - १२।३।५१,११।६।२४

७- ,, - १२।३।५२, १२।३।४६

३- मानवशरीर:-

भारतीय वांगमय के अन्तर्गत मानव शरीर को ४ प्रकार की योनियों में श्रेष्ठ बताया गया है ।[१]

श्रीमद्भागवत और तुलसी साहित्य के अन्तर्गत मानव शरीर को भगवत्प्राप्ति का साधन माना है । श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण उद्धव को उपदेश देते हुये कहते हैं कि-- हे उद्धव ! यह मनुष्य शरीर ही मेरे स्वरुप ज्ञान प्राप्ति का तथा मेरी प्राप्ति का मुख्य साधन है । इसे पाकर मनुष्य को सत्य निष्ठा से मेरी भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिये इस प्रकार जो सच्चे प्रेम से मेरी भक्ति करता है मैं प्रसन्न होकर अन्तःकरण में स्थित आनन्द स्वरुप परमात्म का दर्शन करा देता हूं ।[२] गोस्वामी तुलसी दास-`रामचरित मानस`में ` साधन धाम मोक्ष, कर दुआरा` तथा बड़े भाग्य मनुष तन पावा` कहकर मानव शरीर की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं ।[३]

भागवतकार मनुष्य जन्म का सबसे बड़ा कर्तव्य या परमधर्म यही बतलाते हैं कि मनुष्य तीव्र भक्ति योग के द्वारा अपने चित्त को भगवान में एकाग्र कर दे ।[४] यही मनुष्य योनि के जन्म की सार्थकता है ।[५] क्योंकि

१- श्रीमद्भागवत-
२- ,, - ११।२९।१
३- रा०मा० -
४- श्रीमद्भागवत- ३।२५।४४
५- ,, - ६।३।२२, ७।७।२५

यही मानव शरीर भोग और मोक्ष के वास्तविक रहस्य का निर्णायक है। विद्या और अविद्या के वास्तविक रहस्य का उद्घाटक एवम् विचारक हैं। अतः मनुष्य शरीर से सम्पूर्ण आचरण संहिताएं क्रियाशील होती है।

४- नवधाभक्ति:-

श्रीमद्भागवत की नवधा भक्ति को भक्ति के साधनों में परिगणित किया जा सकता है। वैसे भागवतकार ने ६ प्रकार के भेदों में निरूपित किया है।[१] लेकिन डा० बल्देव प्रसाद मिश्र इन्हें साधन ही मानते है।[२] इस नौ प्रकार की भक्ति में सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत के धर्मविधान एवम् अनुष्ठानित साधन क्रियाएं अनुस्यूत की जा सकती है। डा० उदयभानु सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध में ६ प्रकार की भक्ति के साधनों का वर्गीकरण रूपों में विन्यस्त किया है। प्रथम श्रवण, कीर्तन, स्मरण को नाम सम्बन्धी, द्वितीय पाद सेवनम्, अर्चन, वन्दन को रूप सम्बन्धी तथा दास्य सख्य और आत्मनिवेदन को आराधक के भाव सम्बन्धी श्रेणी में आबद्ध किया है।[३]

अब हम भक्ति के नवविध साधनों का विवेचन करेंगे :-

१- श्रवण:-

श्रवण का शाब्दिक अर्थ होता है- सुनना। भगवान के सगुण या निर्गुण (ब्रह्म) के प्रतिपादक शब्द का श्रोतेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करना

१- श्रीमद्भागवत- ७।५।२३+२४

२- तुलसीदर्शन - पृष्ठ-

३- तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ- २६६

श्रवण कहलाता है। अर्थात भगवान का दिव्य नाम रूपात्मक लीला कथाओं का श्रवण करके उसमें तन्मय रहना- श्रवण भक्ति का स्वरूप है। ज्ञान के साधन में श्रवण का अर्थ बौद्धिक है तथा भक्ति के क्षेत्र में श्रवण का अर्थ भगवान प्रधान या मनोसंवेद्या है।

श्रीमद्भागवत में शौनक जी के द्वारा सूत जी के प्रति निवेदित भक्ति में श्रवणभक्ति की महिमा तथा मानव अंगों की सार्थकता तभी सम्भव बतायी है जब मनुष्य के सम्पूर्ण क्रियात्मक कर्म भगवान के प्रति समर्पित हों अन्यथा इनका जन्म लेना पाशविक वृत्ति के सदृश है, उनके कान बिलों के समान है, जिह्वा मेंढक के सदृश है सिरबोझ तुल्य है और हाथ मुर्दे के सामान है। और आंखें मोरों के पांख से बना हुआ निरर्थक हैं और पैर पेड़ों जैसे जड़ हैं। सन्तों के समागम से वन्चित व्यक्ति मृततुल्य है।[१] महात्मा तुलसी ने भी मानस में श्रवण भक्ति का यत्र-तत्र पंक्तियां उद्धृत की हैं। यथा--

१- जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना।
श्रवन रन्ध्र अहि भवन समाना ।।[२]

२- सुनिअ तहां हरि कथा सुहाई।[३]

३- जीवन मुक्त महामुनि जेऊ
हरि- गुन सुनहिं निरन्तर तेऊ ।।[४]

१- श्रीमद्भागवत- २।३।१९-२४
२- रा०मा० - १।११३।२
३- रा०मा० - ७।६१।५ (पू०)
४- रा०मा० - ७।५३।२

श्रीमद्भागवत में नौ योगीश्वरों एवं विदेह निमि के सम्वाद में, प्रह्लाद द्वारा, असुर बालकों को उपदेश में तथा माता देवहूति को कपिल के उपदेश में तथा भगवान कृष्ण द्वारा भक्त उद्धव को उपदेश करते समय श्रवण भक्ति की महिमा का निरूपण किया गया है। मानस में बाल्मीकि और राम संवाद में तथा राम द्वारा लक्ष्मण को एवं शबरी को उपदेश देते समय एवम् राम राज्य के अवसर पर अयोध्या वासियों को प्रवचन करते समय श्रवण भक्ति पर बल दिया है। साथ-साथ यह भी राम और कृष्ण कथा की प्रामाणिकता सिद्ध की है कि जो इन कथाओं से तृप्त हो चुके हैं, वह वास्तव में रस विशेषज्ञ नहीं, क्योंकि भगवान की कथाएं अमोघ एवम् रसानन्ददायी एवम् आनन्द रूपा है।

२- कीर्तन:-

कीर्तन का शाब्दिक अर्थ होता है- उच्चारित ध्वनि प्रवाह। निर्गुण या सगुण भगवान के बोधक शब्द का उच्चारण कीर्तन है। कीर्तन वाणी का वैखरी रूप है। एक लयात्मक क्रिया है, संचरणात्मक मनोसंवेग है। इसप्रकार भगवान के नाम गुण रूप प्रभाव चरित्र, तत्व एवम् रहस्यात्मकता का श्रद्धा और प्रेम के साथ उच्चारण करते करते शरीर में रोमांच, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदय की प्रफुल्लता, मुग्धता आदि का होना कीर्तन भक्ति का स्वरूप है।

श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण के नाम संकीर्तन के प्रभाव से ब्राह्मण पितृ, गौ, मातृ हन्ता पापी, चाण्डाल तथा म्लेच्छ जाति भी पवित्र हो जाती है।[1] भगवान के नाम संकीर्तन से भगवान हृदय के पाप उसीप्रकार

१- श्रीमद्भागवत- ६।१३।८

नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को, प्रचण्ड वायु बादल को छिन्न-भिन्न कर देता है।[1] कलियुग में भगवान कृष्ण के नाम संकीर्तन से सारी आसक्तियां नष्ट हो जाती हैं।[2]

श्रीमद्भागवत में सर्वत्र कीर्तन भक्ति की महिमा का गायन किया गया है।[3]

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत मानस में कीर्तन भक्ति की महिमा का गायन सर्वत्र हुआ है। यथा--

१- कलि जुग केवल हरिगुन गाहा।
गावत नर पावहिं भव थाहा।।
कलि जुगजोग - जग्य न ग्याना।
एक अधार राम गुन गाना।।[4]

२- गावत गुन गन राम के केहि का मिटा भवभार।[5]

३- नाम सप्रेम जपत अनयासा।
भगत होहिं मुद मंगल वासा।
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू।
भगत सिरोमनि भे प्रह्लादू।
सुमिरि पवन सुत पावन नामू।
अपने वश कर राखे रामू।

१- श्रीमद्भागवत- १२।१२।४७
२- ,, - २।३।५१
३- ,, - ३।३३।७, ११।३१।२८, १।१।१४
४- रा०मा० - ७।१०३।५-६
५- विनयपत्रिका- पद- १६३, पंक्ति- १६

चहुं जुग तीनि काल तिहुं लोका ।
भए नाम जपि जीव विसोका ।
कहौं कहां लगिनाम बड़ाई ।
राम न सकहिं नाम गुन गाई ।।[१]

श्रीमद्भागवत में युग विशेष की आराधना के विषय में कहागया है कि-- सत्ययुग में भगवान का ध्यान करने से, त्रेता में बड़े- बड़े यज्ञों के द्वारा उनकी आराधना करने से और द्वापर में विधिपूर्वक उनकी पूजा सेवा से जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुग में केवल भगवन्नाम का संकीर्तन करने सेही प्राप्त हो जाता है ।[२]

२- स्मरण:-

भगवान के नाम रूप गुण और लीलादि की स्मृति ही स्मरण भक्ति है ।[३] स्मरण के पर्यायों में चिन्तन, ध्यान, धारणा, ध्रुवानुस्मृति और समाधि को भी परिगणित किया जाता है । श्रीरामानन्द का कथन है कि आराध्य का चिन्तन ही वैष्णवों का ध्यान है ।[४] श्री जीव गोस्वामी ने स्मरण के (५) रूप माने हैं-- स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति और समाधि ।[५] भगवद्विषयक किया गया ह अनुसंधान स्मरण है ।[६]

१- रा०मा०   - १।
२- श्रीमद्भागवत -१२।३।५२
३- भक्तिसन्दर्भ, पृष्ठ- ५४१, ६२२, भक्तिचन्द्रिका -पृष्ठ- १४८
४- वै०म०भा०गु०- ५४
५- भक्ति सन्दर्भ- पृ०- ६२२,
६- रा०मा०   - २।१६०

चित्त को सांसारिक विषयों से हटाकर भगवन्नमुखी रखना -धारणा है।[1] भगवान् के रूपविशेष का चिन्तन ध्यान है।[2] भगवान के रूपादि का धारावाहिक अविच्छिन्न ध्यान ध्रुवानुस्मृति है।[3] स्मरण की वह दशा जिसमें ध्येय मात्र का स्मरण हो समाधि है।[4]

श्रीमद्भागवत में भगवान् कृष्ण के चरण कमलों की अविचल स्मृति से पाप क्षय, अन्तःकरण की शुद्धि एवं ज्ञान विज्ञान सम्पन्न परमात्मा में प्रगाढ़ भक्ति एवम् परम शान्ति का विस्तार बताया है।[5] जिसप्रकार मन विषय चिन्तन से विषयों में आसक्त रहता है उसी प्रकार भगवान् के स्मरण से मन भगवन्नमुखी हो जाता है।[6] इसी लिए भगवान के नाम और रूपादि का श्रवण कीर्तन और स्मरण करते-करते साधक का मन भगवच्चरणानुरागी हो जाता है, फिर वह संसार चक्र से मुक्त हो जाता है।[7]

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत स्मरण भक्ति के स्रोतों को उद्धृत करना यहाँ प्रासंगिक समझेंगे :-

---

१- रा०मा०- १।१२५।२

२- रा०मा०- ७।११३।४

३- रा०मा०- १।१११

४- रा०मा०- १।१०।८-६

५- श्रीमद्भागवत- १२।१२।५४

६- श्रीमद्भागवत- ११।१४।२७

७- श्रीमद्भागवत- १०।२।३७

१- पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम ।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम ।।[१]

२- सुमिरत श्री रघुबीर की बाहैं ।
होत सुगम भव उदधि अगम अति,
कोउ लांघत, कोउ उतरत थाहैं ।[२]

३- जिन्ह हरि भगति हृदयं नहि आनी ।
जीवत सब समान तेइ प्रानी ।।[३]

४- हिय फाटहुं फूटहुं नयन जरउ सो तन केहि काम ।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकहिं नहिं तुलसी सुमिरत राम ।।[४]

५- सो परम प्रिय अति पातक जिन्ह कबहुं प्रभु सुमिरन करयौ ।
ते आजु मैं निज नयन देखौं पूरि पुलकित हिय भरयौ ।।
ते पद सरोज जोग मुनि करि ध्यान कबहुंक पावहीं ।
ते राम श्री रघुवंश मनि प्रभु प्रेम तें सुख पावहीं ।।

-+++- --+++- --+++-

मुनि मन माझ अचल होइ बैसा। पुलक शरीर पनस फल जैसा ।।
६- सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव वारिधि गोपद इव तरहीं ।।[५]
७- पापिहु जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भव सागर तरहीं।[६]

१- दोहावली- ५७०
२- गीतावली- ७।१३।१
३- रा०मा० - १।११३।३
४- दोहावली- ४१
५- रा०मा० - १।११९।४
६- रा०मा० - ४।२९।४

श्रीमद्भागवत में श्रवण कीर्तन और स्मरण का एक साथ वर्णन किया गया है,[१] क्योंकि यह प्राय: मानसिक वृत्ति की क्रिया होने के कारण एक साथ ही चला करते हैं। तुलसी ने भी अनेकों स्थलों में एक साथ ही तीनों भक्तियों का निरूपण किया है।[२] राम कथा की महिमा में श्रवण कीर्तन औरस्मरण तीनों भाव का अन्तर्भाव विद्यमान है।[३] श्रीमद् भागवत में भी ध्यान, धारणा, स्मरण और चिन्तन आदि पर विस्तार से चर्चा की गयी है।[४]

१- श्रीमद्भागवत - २।८।४, २।६, ८।१२।४६, ११।१०।२६

२- रा०मा० - १।१५।५-६, १।३६१, २।४६ क, ५।६०, ७।१२६।३

३- (क) कवितावली- ७।३७

श्रुति राम कथा, मुख राम को नामु,
हिए पुनि रामहिं को थलु है ।।

(ख) जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावहीं ।
रा०मा०- ४।३०६

४- श्रीमद्भागवत- ३।२२।३५ , १०।४७।६६-६७ , १०।६६।४५,
१०।७०।४३, ७।१।२७-२६ , ११।१४।३८।४१

गीता - ६।३०, ८।७-८, ८।१४, ६।२२, १२।६-८
१८।५७-५८,

४- पादसेवन:-

यह नवधा भक्ति के अन्तर्गत चौथा लक्षण है । श्रीमद्‌भागवत के दिव्य मंगल मय स्वरुप की धातु आदि की मूर्ति चित्रपट अथवा मानस मूर्ति के मनोहर चरणों का श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते करते भगवत्प्रेम में तन्मय हो जाना ही पादसेवन कहलाता है । श्री जीव - गोस्वामी ने षाट्सन्दर्भ नामक पुस्तक में भगवान के प्रति आदर एवं सेवा के निमित्त क्रिया रुप में अर्थ योजित किया है । भगवान की प्रतिमा, मूर्ति का दर्शन, स्पर्श परिक्रमा मन्दिर- गमन, तीर्थ यात्रा, तीर्थस्नान आदि भी पाद सेवा के अन्तर्गत मान्य है ।[१] श्रीनारायण तीर्थ ने भगवद्प्रतिमा से सम्बन्धी गृह लेपन तथा परमेश्वर तुल्य भक्त या गुरु का सेवन पाद सेवन माना है ।[२] श्री हेमाद्रि ने नमस्कार को भी पाद सेवन की संज्ञा में अर्थ- वाची बताया है ।[३] श्री बल्लभाचार्य ने ३ प्रकार की सेवा बताया है - जो तनुजा, वित्तजा एवम् मानसी कही जाती है । जो तीनों प्रकार की भगवान के प्रति आत्मनिवेदन में इसप्रकार है ।

१- षाटसन्दर्भ- पृष्ठ- ६२३-२४

२- भक्ति चन्द्रिका-पृष्ठ- १८८

पाद सेवनम् परिचर्या विष्णु प्रतिमा पाद सम्बन्धिगृहलेपनादिरुपा ।
गुरोरपि ~~सर्वे~~ परमेश्वर रुपत्वात्स्य भगवद्भक्तस्य वा पाद संवाहन रुपा च।।

३- (I)- मुक्ताफल - ७।८८ पर कैवल्य दीपिका

"पाद सेवनं पादयो: सेवनम् नमनमित्यर्थ: ।

(II)- श्रीमद्‌भागवत में सेवा के (६) अंग बताए गये है-

नमस्कार, स्तुति, समस्तकर्मों का समर्पण, सेवा-पूजा, चरणकमलों का चिन्तन और लीला कथा का श्रवण- इनके सेवन से भगवद्‌भक्ति का उद्रेक हो जाता है ।--

श्रीमद्‌भागवत- ७।६।५०

प्रथम तनुजा में भक्त भगवान को अपना शरीर समर्पित करके उन्हींकी प्रसन्नता के लिए कार्य सम्पादित करता है। वित्तजा में परिवार गृह, धन जो कुछ भी भक्त के पास वैभव है। वह भगवान और भगवद्भक्त की सेवा में अर्पित करता है। तृतीय मानसी सेवा मेंभक्त मन से सम्पूर्ण मनोभाव भगवान के प्रति आत्म समर्पण कर देता है।[१] श्री बल्लभाचार्य यहाँ पाद सेवनके रुप में आत्मनिवेदन की अभिव्यक्ति सेवा रुप में व्यक्त करते है। स्मृति में जिस सेवा को श्ववृत्ति कहा गया है।[२] वह सेवा प्राकृत मानव के अनुरुप है केवल यथार्थता में ईश्वर ही सेव्य है।[३] श्रीमद्भागवत में भागवतकार कहते हैं कि हे प्रभो! जब तक लोग तुम्हारे अभय चरण कमलों का सच्चे हृदय से आश्रय नहीं लेते, तभी तक धन घर, मित्र आदि के निमित्त से भय, शोक, स्पृहा, पराजय एवम् महान लोभ ये सब होते हैंऔर तभी तक सम्पूर्ण दुखों का मूल 'यह मेरा है' ऐसी झूठी धारणा रहती है। अर्थात भगवान के चरण कमलों में जाने पर यह सब नष्ट हो जाते है।[४] भगवान कपिल माता देवहूति को उपदेश देते हुये कहते है कि-- जो वज्र अंकुश, ध्वज एवं कमल आदि चिन्हों से युक्त है जिनके शोभा युक्त, रक्तवर्ण, उन्नत नख मण्डल की प्रभा भक्तों के हृदय के महान अन्धकार को पूर्ण: नष्ट कर देती है, श्रीभगवान के उन चरण कमलों का बड़े प्रेम से चिन्तन करना चाहिए।[५] श्रीमद्भागवत में भक्तों की सेवा, भगवान की सेवा के उपदेश सम्पूर्ण स्कन्धों में प्रचुर मात्रा मेंउपलब्ध में है।[६]

१- अष्ट० पृष्ठ- ५२२,

२- मनु० ४।६- सेवाश्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत।'

३- वेदार्थ संग्रह- पृष्ठ- ३५२,

'सेवाश्ववृत्तिराख्याता, इत्यत्रापि असेव्य सेवा...सेव्य: पुरुषोत्तम एक एव।' गीता- १४।२६

४- श्रीमद्भागवत- ३।९।६, ५- ३।२८।२१-(श्रीमद्भागवत)

६- श्रीमद्भागवत -३।२८।२२, १०।१४।५८,१०।१६।३७,१०।२।३०

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत मानस में कविवर तुलसी ने भगवती सीता के माध्यम से गणेश तथा गिरजा की सेवा[1] तथा महर्षि बाल्मीकि के मुख से राम के प्रति पादसेवा की महिमा का गायन किया है।[2] श्री बाल्मीकि ने तीर्थ यात्राओं राममक्ति का साधन स्वीकार किया है।[3] भगवान राम ने गुरु विश्वामित्र[4] का तथा भ्राता लक्ष्मण ने भगवान राम की पादसेवा की मर्यादा व्यहृत की है,[5] यह आदर भाव श्रद्धा विशेष की उदात्त सेवा की अभिव्यक्ति है जहाँ निःस्वार्थ स्वम् निष्काम प्रेम इस सेवा को फलीभूत करता है। यह भक्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने का उपासनात्मक साधन है। मानस में राम के प्रति इष्ट विषयक सन्देह या भ्रम जब सती को व्याप्ता है तब, भगवान राम के पाद प्रक्षालन में सेवा निरत शिव, ब्रह्मा, विष्णु, योगीश तथा अगनित सिद्ध जन परिलक्षित होते हैं।[6] तुलसीदास साहित्य के अन्तर्गत कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जारही हैं-

१- पद पखारि जलु पान करि...... ।[7]

२- बड़भागी अंगद हनुमाना ।
चरन कमल चांपत बिधिनाना ।।[8]

१- रा०मा०- १।२३५।२, गीतावली- १।७२

२- रा०मा०- २।१२६।४

३- रा०मा०- १।२।४, १।३।१, २।१२८।३

४- रा०मा०- १।२२६।२-४

५- रा०मा०- १।२२६।४

६- रा०मा०- १।५४।३-४

७- रा०मा०- २।१०१(पू०)

८-अ०रा०मा०- ६।११।७

३- छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी ।
रहिहउं मुदित दिवस जिमि कोकी ।।
मोहि मग चलत न होइहिं हारी ।
छिनु छिनु चरन सरोज निहारी ।।
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं ।
करिहउं बाउ मुदित मन माहीं ।
श्रम महि तृन तरु पल्लव डासी ।
पाय पलोटहिं सब निसि दासी ।।

४- नित पूजत प्रभु पांवरी,
प्रीति न हृदय समाति ।
मांगि मांगि आयसु करत
राज काज बहुंभांति ।।

अरथ न धरम न काम रुचि
गति न चहउं निरबान ।
जनम जनम रति राम पद
येह बरदान न आनु ।। ८ स

८-(ब)- राoमाo - २।१२६ -
सबु करि मागहिं एक फलु , राम चरण रति होउ ।
तिन्ह कै मन मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ ।।
८-(स) राoमाo- २।२०४

५- अर्चन भक्ति:-

नवधाभक्ति का पाँचवा लक्षण अर्चन है। यह भगवत्प्रेम और सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है।[१] श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि भगवान के चरणों का अर्चन पूजन करना जीवों के स्वर्ग और मोक्ष का एवं मर्त्यलोक और पाताललोक में रहने वाली समस्त सम्पत्तियों का और सम्पूर्ण सिद्धियों का भी मूल है।[२] श्री जीव गोस्वामी ने विधि विहित पूजा को अर्चन माना है।[३] 'प्रतिमा पूजन' शब्द अर्चन का सारांश है। भगवान की प्रतिमा आदि पर पत्र पुष्प फल फूल नैवेद्य आदि अर्पित करने के व्यापार को अर्चन कहते हैं, यह भगवत्प्रीति का एक माध्यम होता है।[४] श्रीमद्भागवत में महाराज अम्बरीष की दिनचर्या[५] तथा कृष्ण द्वारा उद्धव को दिया गया एकादश स्कन्ध में क्रियायोग का दृष्टान्त इसका ज्वलन्त प्रमाण है।[६] तुलसी साहित्य के अन्तर्गत मानस में कौशल्या द्वारा भगवान की पूजा इत्यादि करना इसका वैशिष्ट्य है।[७] तुलसी ने भगवान राम की आरती, पूजन, इत्यादि को भक्ति का साधन बताया है।[८] मानस में

१- गीता- ८।२६, १८।४६

२- श्रीमद्भागवत- १०।८१।१६

३- षटसन्दर्भ -पृष्ठ- ५४१ -

अर्चनं विध्युक्त पूजा।

४- भक्ति चन्द्रिका- पृ० १४१- अर्चनम श्रवणादिभिन्नो विष्णु प्राप्ति हेतु: - व्यापार:

प्रतिमादौ गन्ध पुष्पाद्य अर्पण रूप:।

५- श्रीमद्भागवत - ६।४।१८-२१

६- श्रीमद्भागवत- ११।२७।१६-२३

७- रा०मा०- १।२०१।१-२

८- रा०मा०- २।१२६।३, विनयपत्रिका- ४८

राम द्वारा शिव पूजा अर्थात रामेश्वर का स्थापना[1] तथा भगवती सीता द्वारा गिरजा और गंगा पूजन अर्चन भक्ति के प्रमाण है ।[2] तुलसी ने भगवान को भोजन , वस्त्र, भूषण, माला चढ़ाकर गृहण करने की पद्धति को मर्यादित एवम् धर्मानुकूल माना है ।[3] भगवान ने देशकाल, स्थान विशे-ष की प्रतिष्ठा हेतु अर्चावतार गृहण कर अर्चन भक्ति की प्रभुता को अक्षुण्य किया है । इस भक्ति ने जन मानस विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है ।

६- बन्दन भक्ति:-

वन्दन नवधा भक्ति का छटवां भेद है।- वन्दन का शाब्दिक अर्थ नमस्कार एवम् प्रणाम भी है ।[3] श्रद्धेय महापुरुषों, गुरुओं अथवा परमात्म तुल्य संतों या भगवान के प्रति भक्त के द्वारा किया गया 'प्रणाम' वन्दन है ।[4] श्री नारायण तीर्थ ने पूजा के वहिर्भूत नमस्कार को वन्दन कहा है ।[5] इसमें गुरु, शालग्राम, प्रतिमा, भगवान और भगवद् भक्तों को भी अनुस्यूत कियागया है । श्रीमद्भागवत में श्रीहरि के सभी वैष्णव अवतारों को वन्दना, नमस्कार, एवम् प्रणाम्म चराचर सृष्टि के विशिष्ट प्राणियों द्वारा दर्शनीय है ।[6] वैसे श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण की ही महिमा

१- रा०मा०- २।१०३।१, ६।१।६,६।२

२- गीतावली- १।७२।१, रा०मा० १।२२८।३, - रा०मा०-६।१२४।४

३- पाट सन्दर्भ- पृ०- ५४१, 'वन्दनं नमस्कार: '

४- गीता- १०।४०

५- भक्तिचन्द्रिका- पृ० १४८- वन्दनम् पूजावहिर्भूत नमस्कारो गुरु शालग्राम प्रतिमा भगवद् भक्तानाम् ।'

६- श्रीमद्भागवत- ८।२२।१७,३।२१।२१

का प्रतिपादन है। उन्हीं की वन्दना स्वम् नवविधान भक्ति का योजन है।[१] भागवतकार का कथन है कि- " हे पुरुषोत्तम ! हे प्रभो ! आप सर्वदा ध्यान में अनुकरणीय है तिरस्कार को नष्ट करने वाले तथा मनोरथ सिद्धिदाता एवं तीर्थों के आधार हैं, जो शिव और ब्रह्मा से वन्दनीय है तथा शरणागतों की रक्षा में प्रवीण, सेवकों की विपत्ति के नाशक, नमस्कार करने वालों के संरक्षक, संसार सागर के जहाज, प्रभु मैं उन चरणन कमलों की वन्दना करता हूं।[२]

श्रीमद्भागवत के प्रत्येक स्कन्ध में भक्त रक्षक भगवान की सर्वत्र वन्दना की गयी है।[३] तुलसी साहित्य के अन्तर्गत " रामचरित मानस " और " विनय पत्रिका " में गुंथित विभिन्न देवों की वन्दना अनुस्यूत है।[३] " मानस " के प्रत्येक काण्ड के मंगलाचरण स्वम् प्रस्तावना में सरस्वती, गणेश शिव पार्वती, आदि देवताओं, तथा भगवान राम के लीला परिकरके पात्रों की स्वम् गुरु, ब्राह्मणों, सन्तो स्वम् खलों तक की वन्दना की गयी है।[४] असद् पुरुषों की वन्दना में व्याज निन्दा है, उसे भक्ति का अंग नहीं कहा जा सकता है।[५] " मुक्ताफल " ग्रंथ में वन्दन का अर्थ स्तुति भी ग्राह्य है।[६]

१- श्रीमद्भागवत- १२।१२।४६, १०।३८।३४, १०।१४।१
२- ,, ११।५।३३, ११।२।४१
३- ,, ८।३।८-१८,२६-२७,८, ८।३।२१ , ४।२०।२३-३१, ३।२१।१३।२०
४- ~~रा~~०मा०- ~~बालकाण्ड~~ १।१-७ श्लोक १।४ तक
५- रा०मा०- १।१-५
६- मुक्ताफल- पृष्ठ-७।८८ ~~मुक्ताफल~~-१।२-३-४।३

वंदनं स्तुति :

७- दास्य भक्ति:-

स्वामी सेवक भाव की निष्काम अनन्यता दास्यभक्ति है ।[१] श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण की वन्दना करते हुए श्री ब्रह्मा जी स्तुति में इसी भक्ति को साकार करते हुये कहते है कि - हे भगवान ! मुझे इस जन्म मे, दूसरे जन्म में अथवा किसी पशु पक्षी आदि के जन्म में भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो, मैं आपके दासों में से कोई एक दास हो जाऊं और फिर आपके चरण कमलों की सेवाकरुं ।[२]

श्री प्रह्लाद द्वारा भगवान के प्रति निवेदित स्तुति में[३] तथा श्री ब्रह्मा के द्वारा भगवान वामन की स्तुति में[४] एवम् गजेन्द्र की आर्त प्रार्थना में[५] तथा महाराज अम्बरीष की[६] दिनचर्या में दास्य भक्ति की अनिर्वचनीयता प्रतिपादित की गया है । वैसे श्रीमद्भागवत की संरचना का उद्देश्य आश्रय तत्व भगवान कृष्ण की ही प्रभुता का व्यक्तीकरण है । उसमें सभी प्रकार के योनि वद्ध जीवों की शरणता के एक मात्र आश्रयदाता भगवान ही है ।[७] इसीलिए दास्य भक्ति की शुद्ध पराकाष्ठा में स्वामी स्वरुप परमात्मा को अपने से विशिष्ट एवम् अपने को उनका दास मानना स्वामी सेवक भाव की मर्यादा एवं गरिमा है । भक्ति चन्द्रिका में दास्य

१- षाट सन्दर्भ- पृष्ठ- ६४४ -' तत्व श्री विष्णोर्दासम्मन्यत्वम् ।'

२- श्रीमद्भागवत- १०।१४।३०

३- श्रीमद्भागवत- ७।१०।२-१०

४- श्रीमद्भागवत- ८।२२।२३

५- श्रीमद्भागवत- ८।३।२-२१

६- श्रीमद्भागवत- ६।४।१८-२१

७- श्रीमद्भागवत- ८।१७।२५-२८

भक्ति का लक्षण इस प्रकार किया गया है - भक्तको दास की भांति 'सकल कर्मों का अर्पण परमेश्वर प्रीत्यर्थ धारणा दास्य भक्ति है ।'[1] तुलसी साहित्य के अन्तर्गत श्रीराम चरित मानस में भक्तराज हनुमान अपने अनन्य भक्ति की दासता को व्यक्त करते हुए भगवान राम से कहते हैं कि -

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त ।'
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ।।'[1]

दास्य भक्ति में स्वामी की प्रातिम शक्ति का भी भक्त को अभिमान रहा करता है, वह अभिमान स्वयं की लघुता का श्रेयात्मक भाव है - ~~अस-अभिमान~~ भक्त सुतीक्ष्ण भगवान राम से वर में यही आकांक्षा करते हैं--

असि अभिमान जाइ जनि मोरे ।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।।[2]

दास्य भक्ति में भगवत्~~नैष्कर्म्य~~ अनन्यभाव, दैन्य, निस्वार्थता आदि ~~~~ का होना नितान्त आवश्यक है ।[3] नहीं तो दास्य भक्ति की शुद्ध पराकाष्ठा असम्भव है । श्रीमद्भागवत में श्री प्रह्लाद कामना की पूर्ति चाहने वाले स्वार्थी भक्त को वनिया कहते हैं ।[4] दास्य भाव वाले भक्त को मन, वचन एवम् कर्म से सरल , पवित्र एवम् सब का सुहृद तुलसी के अनुसार राम का भक्त और भागवत के अनुसार

१- रा०मा०- ४।२

२- रा०मा०- ३।११।११

३- रा०मा०- २।२०६।१, ७।२।५, दोहावली- २७७, विनयपत्रिका- १०१।१
विनयपत्रिका- १६०।१ , रा०मा०- २।३०१।२

४- श्रीमद्भागवत- ७।१०।४-५

कृष्ण का भक्त होना चाहिये ।[1] तुलसी के काव्य का लक्ष्य एवम् भागवत-कार के पुराण संरचना का उद्देश्य दास्य भाव का प्रतिष्ठा करना ही उनकी मति का सफल सर्जन है। क्योंकि भागवतकार के आश्रय तत्व भगवान कृष्ण ही है और अपने जीवों के साथ रमना उनकी लीला चर्या है ।[2] रामचरित मानस में भक्त हनुमान,[3]

१- रा०मा०- २।१०।१, ७।८६,
  श्रीमद्भागवत- ६।४।१८-२१
२- श्रीमद्भागवत- २।२६।२२-३५,
  रा०मा०- १।११५।२, १।११६

३- रा०मा०- ४।२-

तब माया वश फिरौं भुलाना ।
तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना ।
एक मंद मैं मोह वश कुटिल हृदय अज्ञान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीन बन्धु भगवान ।
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें ।
सेवक प्रभुहिं परै जनि भोरें ।।

भरत,[1] लक्ष्मण[2], राम के सखा,[3] जटायु,[4] सुतीक्ष्ण,[5] अयोध्यावासी[6]

१- रा०मा०- २।२३४।१, मोरे सरन राम की पनहीं ।
रामु सुस्वामि दोसु सब धन हीं ।।

रा०मा०- ७।२।८--कहु कपि कबहुं कृपाल गुसाईं ।
सुमिरहिं मोहि दास की नाईं ।।

२- रा०मा०- ३।१४।३-४, सुर नर मुनि सचराचर साईं ।
मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं ।।
मोहि समुझाई कहहु सोइ देवा।
सब तजि करौं चरन रज सेवा ।।

३- रा०मा०- २।२४।२, जेहिं जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं।
तहं तहं ईसु देउ येह हमहीं ।।
सेवक हम स्वामी सिय नाहू ।
होउ नात येहु ओर निबाहु ।।

४- गीतावली- ३।१३।४- तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लेहौं ।
जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुम्हहिं कहां पुनि पैहौं।।

५- रा०मा०- ३।१०।१- मुनि अगस्त्य कर सिष्य सुजाना ।
नाम सुतीछन रति भगवाना ।।
मन क्रम वचन राम पद सेवक ।
सपनेहुं आन भरोस न देवक ।।

६- गीतावली- २।७१।१-२-" जानत हौं सब ही के मन की ।
तदपि कृपालु ! करौं विनती सोइ सादर सुनहुं दीन हित जन की
ये सेवक संतत अनन्य अति ज्यौं चातकहिं एक गति घन की ।
यह विचारि गवनहु पुनीत पुर हरहुं दुसह आरति परि जन की ।।

भगवान शिव,[1] मनुशतरूपा,[2] आदि भी भगवान राम के दास भक्त हैं। अत: तुलसी का सैद्धांतिक मत है कि जब तक भक्त भगवान राम का भक्त नहीं हो जाता तब तक वह क्लेशों से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता ।[3] अत: उनके मत का निर्णय दास्य भक्ति का प्रतिपाद्य है ।[4]

१- रा०मा० - ७।१४(क)

वार-बार वर मागौं हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायिनी भगति सदा सतसंग ।।

२- रा०मा०- १।१५०-

जे निज भगत नाथ तव अहहीं ।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ।।

३- विनयपत्रिका- ११३।२ -

जब लगि मैं न दीन दयालु ,मैं न दास, तैं स्वामी ।
तब लगि जो दुख सहेऊं कहेऊं नहि जद्यपि अन्तर जामी ।।

४.- रा०मा०-७।११९ (क)

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।+
भजहुं राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि ।।

दास्य भक्ति में भगवान ही भक्त के रक्षक, माता, पिता और गुरु हो जाते हैं भक्त भगवान की गोद में निश्चिन्त होकर पुत्र बतौर शान्ति का और निश्चिन्तता का अनुभव करता है।[1] इसीलिए भक्ति विशारदों ने दास्य भक्ति को श्रेष्ठ एवम् अद्वितीय बताया है, तुलसी का अभिमत भी दास्य भक्ति को प्रमाणित करता है।[2]

८- सख्य भक्ति:-

भगवान के प्रति बंधु भाव से किया गया निष्काम प्रेम `सख्यभक्ति` है। मुक्ताफलकार ने सख्य भक्ति में इन बातों को आवश्यक बताया है। प्रथम मित्र (भक्त) को अहित कर्म से रोकना, द्वितीय शुभकर्म के लिए प्रेरित करना, तथा तृतीय दुर्दिन में साथ देना, उक्त सखि धर्मों से युक्त किया गया भगवान का भावन `सख्य` है।[3] यह भक्ति `रागानुगा` प्रधान होती है इसमें विश्वास की दृढ़ निष्ठा ही इसके चरम उत्कर्ष का हेतु है।

१- रा०मा०- ४।३।२- सेवक सुत पति मातु भरोसे।
रहै असोच बनइ प्रभु पोसें।।

कवितावली- ७।६६- प्रीति राम नाम सों, प्रतीति राम नामु की,
प्रसाद राम नाम कैं पसारि पाय सूति हौं।।

२- रा०मा०- २।२०४ - विनयपत्रिका- ७६।४, हनुमान बाहुक- ३६

३- मुक्ताफल- पृष्ठ- १२१

सख्यम् प्रतिषेधश्च हिते चैव प्रवर्तनम्।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधम् सखि लक्षणम्।।
इत्यत्रोक्तस्य सखि धर्मस्य भगवत्वेन भावनम्।।

श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण की स्तुति में ब्रह्मा कहते हैं कि --

" ब्रज में रहने वाले नन्दगोपादि के भाग्य धन्य है, जिनके यहां पर आनन्द स्वरुप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म जो सम्बन्धी एवम् सखा रुप में विद्यमान है।[१] सख्य भक्ति के उदाहरण श्री विभीषण, सुग्रीव, उद्धव अर्जुन सुदामा, श्रीदामा, ब्रज सखा, अयोध्यावासी ~~अर्नद-ह-~~ निषादराज, आदि है। सखा उद्धव से भगवान कृष्ण अपने अन्तरंग उद्गार व्यक्त करते हुये कहते हैं कि-- भैया उद्धव ! तुम जैसे प्रेमी मुझे जितने प्रिय लगते हैं, उतने तुलना में ब्रह्मा, शंकर, संकर्षण, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है।[२] भगवान कृष्ण सखा उद्धव को ही गोपियों के सान्त्वनार्थ सर्वोत्तम् पात्र चुनकर भेजते हैं:- उस वर्णन में सखा भाव मुखरित हुआ है --

यथा-" बृहस्पति शिष्य यदुवंशियों के श्रेष्ठ मंत्री बुद्धिमान उद्धव से शरणागत का दुख निवृत्ति करने वाले भगवान कृष्ण हाथ पकड़ कर कहते हैं कि प्यारे उद्धव तुम ब्रज में जाकर मेरी माता, पिता को प्रसन्न कर विरह विधुरा गोपियों को संदेश द्वारा वियोग के रोग -- से मुक्त करो।[३] गीता में भी भक्तोऽसि मे सखा चेति[४] अर्थात हे अर्जुन तुम मेरे भक्त और सखा हो तथा इष्टोऽसि मे दृढ़मिति"[५] तुम मेरे परम प्रियहो, इस प्रकार सख्य भाव को द्योतित किया है। सख्य भाव की भक्ति में भगवान भक्त के वशीभूत हो जाते हैं भक्त दुख को अपना दुख मानकर मित्र धर्म का सैद्धान्तिक निर्वाह करते है- सखा सुदामा की दीन दशा देखकर भगवान कितने द्रवीभूत होते हैं, यह प्रसंग बड़ा ही मनोरम् एवम् जिज्ञासा पूर्ण है--

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।१४।३२

२- ,, - ११।१४।१५

३- ,, --१०।४६।१-३

४- गीता - ४।३

५- गीता - १८।६४

कमल नयन भगवान श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा ब्रह्मर्षि सुदामा के अंग स्पर्श से अत्यन्त हर्षित हुए एवं उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। इसके बाद उन्हें शय्या पर बैठाकर स्वयं भगवान ने अपने हाथों उनके चरणों का प्रक्षालन किया और पूजा की। लोक पावन ने उनका चरणोदक अपने सिर पर रखा और उनके शरीर पर दिव्य गंध चंदन, अगुरु और कुंकुम आदि लगाया।[1] तुलसी साहित्य के अन्तर्गत 'रामचरितमानस' में भगवान राम ने सखा सुग्रीव को मित्र और अमित्र के लक्षण द्वारा सख्य धर्म को प्रत्यक्ष किया है।[2] वह प्रतिज्ञा करते हुये कहते हैं कि--

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें।[3]

हरिभक्ति रसामृत सिन्धुकार ने मित्र वृत्ति और विश्वास को सख्य भाव की स्थिरता में जोड़ा है।[4] तुलसी का सख्यभाव मर्यादा को लिए हुए है और श्रीमद्भागवतकार ने भागवत में सखा भाव का प्रतिपादन सहजता में किया है, क्योंकि भगवान राम का अवतरण शुद्ध मर्यादा की प्रतिष्ठा में है, भागवतकार ने भगवान कृष्ण का वात्सल्य वर्णन तुलसी की मार्मिकता से हटकर किया है। भागवतकार सहजता में सख्य की प्रतिष्ठा करते हुए दीखते हैं, तुलसी विशिष्ट। यह अन्तर दोनों के अवतरण के उद्देश्य के वैषम्य के अनुकूल है।

१- श्रीमद्भागवत- १०।८०।१६-२१

२- रा०मा०- ४।७।१-३

३- रा०मा०- ४।७।५

४- हरिभक्ति रसामृत सिन्धु १।२।३६

शा० भ० सू० - २।२।७

श्री जाव गोस्वामी ने सख्य को दास्य भक्ति से श्रेष्ठ माना है क्योंकि इसमें परमसेवानुकूल, प्रेम विस्रम्भावान और विशेष भावनामय का ~~निक~~ आधिक्य रहता है ।[1] तुलसी साहित्य के अन्तर्गत मित्रवृत्ति की सख्य भक्ति के दर्शन मानस में कम परिलक्षित होते हैं, क्योंकि उनमें मर्यादा का दासत्व है, जबकि भागवतकार ने इसका अतिक्रमण किया है । क्योंकि इनके जन्म उद्देश्य में अन्तर है, चर्या में विभिन्नता है । दूसरा लक्षण विश्वास है , इसमें भक्त भगवान को खरी खोटी लताड़ फटकार सब कुछ कर सकता है, तुलसी ने 'मानस' में इसकी प्रतिष्ठा नहीं की बल्कि विनय पत्रिका गीतावली में प्रयोग मिलता है । दृष्टव्य है:-

१- कहेहु सत्य सब सखा सुजाना ।
मोहि दीन्ह पितु आयसु आना ।।[2]

२- ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।[3]

३- परम पुनीत संत कोमल चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई ।
तौकत विप्र व्याध गनिकहि तारेहु कछु रही सगाई ।।[4]

४- महाराज राम दरयो धन्य सोई ।

१- षट सन्दर्भ- पृ०- ६४५
सख्यन्तु परम सेवानुकूलमित्यु पादीयत इति।
प्रेम-विस्रम्भवत् भावनामयत्वेन दास्यादप्युत्तमत्वापेक्षया ।

२- रा०मा०- २।८८।८

३- रा०मा०- ७।८।७(पू०)

४- विनयपत्रिका- ११२।२

गरुड़, गुनराशि, सरबग्य, सुकृती, सूर, सीलनिधि, साधु - तेहि सम न कोई ।।

उपल, केवट, कीस, भालु, निसिचर, सबरि गीध सम दम दया दान हीने
नाम लिये राम किये परम पावन सकल, नर तरत तिनके गुन गान कीन्हे
व्याध अपराध की साध राखी कहा, पिंगलै कौन मति भक्ति भेई ।।[1]

५- राखिए नीकी सुधारि, नीच को डारिए मारि ।
दुहुं ओर की विचारि, अब न निहारिहौं ।।
तुलसी कहौं है साची रेख बार बार खांची ।
ढील किए नाम महिमा की नाव बोरिहौं ।। [2]

उपर्युक्त कृमांक- ३,४,५ में विश्वास सहित भाव व्यक्त किया गया है । गीतावली और मानस में मित्रवृति का किन्चित निदर्शन हुआ है ।[3]

६- आत्मनिवेदन:-

भक्त द्वारा भगवान (भजनीय) के प्रति शारीरिक ऐन्द्रिक, मानसिक एवम् बौद्धिक सर्वतो भावेन निवेदन आत्मसमर्पण भक्ति है । इसी को आत्म निवेदन, प्रपत्ति, शरणागति तथा न्यास भी कहते हैं। पान्चरात्र आगम में शरणागति की स्थिति में भक्त अपने को अपराधी दोषी तथा दीन हीन मानकर अपनी दैन्यता व्यक्त करता है। [4]

१- विनयपत्रिका- १०६।३

२- ,, :- २५८।४, २४१।५

३-(क)गीतावली- १।३६, रा०मा०- १।२२५।३

(ख)रा०मा०- १।२२४।४

४- अहि०सं०- ३७।३०।३१

आत्मनिवेदन भक्ति की नौ अंगों में लदय का अन्तिम विधा है, इसी विधा में भक्त को तन्मयता प्राप्त होती है। सर्वतोभावेन स्थिति में अकिन्चन एवम् भगवान आश्रय भूता एवम् स्वामी होता है। निष्काम भाव से किया गया भगवान के प्रति सम्पूर्ण मनो व्यापारों का समर्पण आत्म निवेदन कहलाता है।

श्रीमद्भागवत में महाराज अम्बरीष की दिन चर्या में,[१] प्रह्लाद द्वारा भगवान की स्तुति में,[२] अक्रूर जी द्वारा भगवान की स्तुति में[३] ब्रह्मा जी द्वारा भगवान कृष्ण की स्तुति में[४] तथा उद्धव द्वारा कृष्ण के प्रति निवेदन भाव में,[५] माता देवहूति के प्रति भगवान कपिल के उद्गार[६] तथा भक्त गजेन्द्र द्वारा श्री हरि की स्तुति में[७] आत्म निवेदन भाव का चरम निदर्शन हुआ है।

श्रीनिवास दास ने न्यास विधा को प्रपत्ति कहा है।[८]

१- श्रीमद्भागवत- ९।४।१८-२१

२- ,, - ७।९।१६,१८,२२,३०,३१

३- ,, - १०।४०।२८-३०

४- ,, -१०।१४।१ -४-८

५- ,, -११।२९।३४(कृष्ण का कथन),११।२९।३७-३८-४०, - (उद्धव का कथन)।

६- ,, - ३।२५।३, ३।३३।२२-२६

७- ,, - ८।३।२-२९

८- न्यास विद्या प्रपत्ति: - यतीन्द्र, पृष्ठ -६६

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत शरणागति एवं आत्म निवेदन भक्ति का अनेकत्र स्थलों पर प्रयोग किया गया है। कवितावली में कविवर तुलसी कहते हैं कि:--

> को करि सोचु मरै तुलसी हम जानकी नाथ के हाथ बिकाने।[1]
> जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की।।[2]

अहिर्बुध्न्य संहिता में शरणागति और प्रपत्ति और न्यास को समानार्थक बताया है।[3] यह सभी नाम श्रीमद्भागवत एवम् तुलसी के भक्ति-योग में समाहित है। भक्त भगवान से अपनी दैन्यता इसलिए व्यक्त करता है कि भगवान का अनुग्रह एवं कृपा प्रसाद से भक्ति जीवत्व से मुक्ति प्राप्त कर ले इसलिए आत्मसमर्पण या प्रपत्ति में भक्त अपने को खराखोटा, नराधम, असुर प्रकृति वाला बताने का प्रायश्चित होता है।[4] अहिर्बुध्न्य संहिताकार ने ६ प्रकार की शरणागति बतलायी है, जिसमें भक्त अपने भावों में दैन्य भावना प्रकटकर भगवान को प्रसन्न करता है- प्रथम- आनुकूल्यस्य संकल्प द्वितीय-प्राति-कूलस्य वर्जनं, तृतीय रक्षिष्य तीति विश्वास: चतुर्थ गोप्तृत्वे वरणम् पंचम- आत्मनि: क्षेप: छटा-कार्पण्यम् षड विध निरूपित की गयी है।[5]

१- कवितावली- ७।१०५

२- कवितावली- ७।२७

३- अहि०बु०संहिता- ३७।३१,३३,३६

४- गीता- ७।१५

५- अहि० संहि०- ३७।२७-२६ -

> षोढा हि वेद विदुषो वदन्त्येन महामुने।
> आनुकूल्यस्य संकल्प: प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागति:।

१- आनुकूल्यस्य संकल्प:

भक्त द्वारा भगवान के प्रति पूर्ण निवेदित भाव को निश्चयात्मक अनुकूलता की स्थायी धारणा आनुकूल्यस्य संकल्प है। यह भक्त का भगवान के प्रति मानसिक चरम पराकाष्ठा है। भक्त की ऐसी मानसिक दृढ़ निष्ठा को समष्टि निष्ठा या सर्वभूतानुकूल भाव की चरम परिणति भी कहते हैं। भक्त अपने भजनीय आराध्य को सत्ता जगत के सभी स्थावर- जंगम पदार्थों में सिय राम का स्वरूप मानकर उनकी वंदना करने लगता है --

'सिय राम मय सब जग जानी ।
करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

तुलसी साहित्य एवं भागवत में इनके अनेकत्र उदाहरण उपलब्ध हैं--

'मुनि कह मैं वर कबहुं न जांचा ।
समुझि न परै झूठ का सांचा ।।
तुम्हहिं नीक लागै रघुराई ।
सो मोहि देहु दास सुखदाई ।।[१]

१- रा०मा०- ३।११।१२-१३ -
सहज सनेह स्वामि सेवकाई ।
स्वारथ छल फल चारि विहाई
आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा ।
सो प्रसादु जनु पावइ देवा ।।

२- प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्:-

भगवान के प्रति प्रतिकूल भावों का त्याग भक्त का प्रतिकूल त्याग है। यह भक्ति की शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक एवं बौद्धिक वृत्ति व्यापारों का परिणाम् है।[१] यह शरणागति की दूसरी विधा है। तुलसी तथा भागवतकार ने अपने अपने आराध्य के प्रति पूर्ण अनुकूलता का परिचय ग्रंथ के उपक्रम से लेकर उपसंहार तक प्रस्तुत किया है। दोनों मनीषियों का उद्देश्य है कि प्रकृति की त्रिगुणात्मक सत्ता भले ही परिवर्तित हो जाय लेकिन भक्त भगवान के प्रति प्रतिकूल स्वप्न में भी नहीं हो सकता यदि वह चाहे सुहृद और आत्मीय होते हुये भगवान का निन्दक है तो वह शत्रु के सदृश त्याज्य है --

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहिं कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।[२]

आदर्श भक्त भरत की ग्लानि प्रतिकूल वर्जन का प्रायश्चित है-

'राम विरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह विधि मोहि।
मो समान को पातकी वादि कहौ कछुतोहि।।[३]

कवितावली में भगवान राम के निन्दक का जीवन ही निरर्थक एवम् व्यर्थ बताया है।[४] कौशल्या के भरत विषयक उदगार इसका

१- श्रीमद्भागवत-

२- विनयपत्रिका- १७४।१,

३- रा०मा०- २।१६२

४- कवितावली- ७।४०।-४५

प्रमाण है,[१] नाना प्रसंगों में शरणागति का प्रयोग दृष्टव्य है + भागवत में भी भगवान कृष्ण द्वारा उद्धव को गुण दोष व्यवस्था में दृष्टव्य है ।[२] तथा श्री ब्रह्मा , देवर्षि नारद , कपिल, गजेन्द्र, प्रह्लाद भक्त महापुरुषों में इस शरणागति का प्रचुर मात्रा में दृष्टान्त मिलते है ।[३]

३- रक्षिष्यतीति विश्वास: -

भक्त के हृदयमें इस प्रकार का पूर्ण विश्वास कि भगवान समस्त जीवों के रक्षक एवम् मेरे भी शरणदाता है इस प्रकार का पूर्ण निष्ठा रक्षिष्यतीति विश्वास है ।

१- रा०मा०- २।१६६।१-२

विधु विष बमइ स्रवइ हिमु आगी ।
होइ वारिचर वारि विरागी ।
भए ज्ञानु वरु मिटइ न मोहू ।
तुम्ह रामहि प्रति कूल न होहू ।
मत तुम्हार येहु जो जग कहहीं ।
सो सपनेहुं सुख सुगति न लहहीं ।।

२- रा०मा०- २।१६७।३, २।१६८।४,

`तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषन बंधु भरत मह तारी ।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज वनितन्हि भए मुदमंगल कारी ।।

३-श्रीमद्भागवत-

तुलसी तथा भागवतकार ने अपने-अपने ग्रंथों में आराध्य राम और कृष्ण की भाववत्ता का पूर्ण उपस्थापन किया है- कतिपय पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं --

(क) सुमिरत श्री रघुबीर की बाहैं ।....
कलपतरु ताहु की कलपलतावर, काम दुहहु की काम दुहाहैं ।।
सरनागत आरत-प्रन तानि को दे दे अभय पद और निबाहैं ।+
करि आई करि है, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं।।[1]

(ख) आरत के हित नाथु अनाथ के रामु सहाय सही दिन गाढ़ें ।[2]

(ग) पापतें, सापतें ताप तिहुं तें सदा तुलसी कहुं सो रखवारो ।।[3]

१- गीतावली- ७।१३।१,८-६

२- कवितावली- ७।५४

३-(I)- हनुमान बाहुक- १६

(II)- विनय-पत्रिका में- १७१।६-७

स्वामी को सेवक हितता सब, कछु निज साईं दोहाई ।
मैं मति तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरु आई ।
तेहु पर हित करत नाथ मेरो करि आये, अरु करिहैं ।+
तुलसी अपनो और जानियत प्रभुहि कनौड़ो भरिहैं ।।

और भी दृष्टान्त अवलोकनीय है- रा०मा० २।१८३,४।३।२
विनयपत्रिका- १७०, गीतावली-२।६५, हनुमानबाहुक- ६२

श्रीमद्भागवत में देवहूति गजेन्द्र एवं प्रह्लाद तथा ब्रह्माजी की स्तुति में इस शरणागति का उपस्थापन किया गया है। गजेन्द्र भगवान श्रीहरि की स्तुति में कहते हैं कि प्रभो! आपकी तीन शक्तियां सत्व, रज और तम के रागादि वेग असह्य हैं। समस्त इन्द्रियों और मन के विषयों के रूप में भी आप ही प्रतीत हो रहे हैं। इसलिए जिनकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं वे तो आपकी प्राप्ति का मार्ग भी नहीं पा सकते। अतः आपकी शक्ति अनन्त है। आप शरणागत वत्सल हैं, अतः मेरा बार-बार नमस्कार है।[1] देवहूति कहती है प्रभो! आप भक्तों के संसार रूप वृक्ष के लिए कुठार के समान हैं। मैं प्रकृति और पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आप शरणागत वत्सल की शरण में आयी हूं। अतः मेरी रक्षा कीजिये।[2]

४- गोप्तृत्वे वरणम्:-

सर्वसमर्थ गोप्ता भगवान की शरण को वरण करना गोप्तृत्वे वरणम् है। भक्त के मन में भगवान की संरक्षकता का पूर्ण भरोसा एवं विश्वास रहता है अतः इसी क्रिया के विस्तार की संयोजना गोप्तृत्वे वरणम् है। तुलसी तथा भागवतकार ने अपने ग्रंथों में इस चतुर्थ शरणागति भक्ति का पूर्ण परिपाक किया है। विनयपत्रिका में भक्त भगवान से अपनी दैन्यता तथा भगवान की कृपालुता का विस्थापन करता हुआ कहता है कि--

---

१- श्रीमद्भागवत- ८।३।२८

२- श्रीमद्भागवत- ३।२५।११

(क) ताहि तें आयो सरन सबेरें ।....
तुम सम दीन कृपालु करम हित पुनि न पाइहौं हेरें ।
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें ।[1]

(ख) नाहिन नाथ । अवलम्ब मोहि आनको ।
करम मन बचन पन सत्य करुनानिधे, एक गति राम -
भवदीय पदत्रान को ।[2]

(ग) हृषिकेश सुनि नाउं जाउं बलि, अति भरोस जिय मोरे ।
तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख हरे बनिहिं प्रभु तोरे ।।[3]

श्रीमद्भागवत में गजेन्द्र स्तुति में, नौयोगीश्वरों के संवाद में तथा महाराज अम्बरीष की चर्या में एवम् अक्रूरजी की स्तुति में उक्त शरणागति का उपस्थापन किया है ।

१- विनय पत्रिका- १८७।१-४
२- विनयपत्रिका - २०६।१
३- विनयपत्रिका- ११६।५

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत अन्य ग्रन्थों में जैसे हनुमान बाहुक-२१
कवितावली- ७।१०,१०८,
गीतावली - २।७४।३
विनयपत्रिका-१०१, १४५।६-७, १७६,२३२,२५३,२७३

५- आत्मनिक्षेप: -

मन, वचन और कर्म द्वारा जब भक्त अपने आत्म निष्ठ व्यापारों को भगवान के चरणों में न्यस्त कर देता है, उसकी यह दशा आत्मनिक्षेप कहलाती है। आत्म का पूर्ण समर्पण आत्मनिक्षेप है। आत्मनिक्षेप में दैन्यता का इस विधा का वैशिष्ट्य है।

तुलसीसाहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस, हनुमान वाहुक विनयपत्रिका एवम् कवितावली में उक्त शरणागति की बड़ी मौलिक एवम् मार्मिक अभिव्यन्जना की गयी है। कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं --

(क) मन को बचन को करम को तिहुं प्रकार
तुलसी तिहारों तुम साहेब सुजान हौं ।[1]

(ख) श्रीरघुवीर निवारिये पीर रहौं दरबार परो लटि लूलो ।।[2]

(ग) नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहों ।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहों ।।[3]

(घ) जेहिं गुन तें बस होहु रीझि सो मोहि सब बिसरयो ।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन परयो ।।[4]

(ङ.) मातु मते महुं मोहि जो कछु करहिं सो थो ।
अघ अवगुन छमि आदराहिं समुझि आपनी ओर ।।

१- हनुमान वाहुक - १४

२- हनुमान वाहुक- ३६

३- विनयपत्रिका - १०४।४

४- विनयपत्रिका - ६१।५

जौं परिहरहिं मलिन मनु जाना। जौं सनमानहिं सेवकु माना।।
मोरे सरन राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोसु सब जनहीं।।[1]

श्रीमद्भागवत में भक्तों की, देवों की स्तुतियों में उक्त शरणागति का चरम निदर्शन हुआ है।[2]

६- कार्पण्यम्:-

भक्त की भगवान के प्रति चरम दैन्य समर्पण की विनयावनत पराकाष्ठा का नाम ही कार्पण्यम् है। इसमें भक्त भगवान के प्रति अपनी लघुता, दीनता, असमर्थता एवं कृपणता का भाव निवेदित करता है श्रीमद्भागवत और तुलसी साहित्य में इसका सफल निर्वाह पदे पदे दृष्टव्य है:-

डा० उदयभानु सिंह ने तुलसी की विनयपत्रिका को कार्पण्य शरणागति की पुस्तिका घोषित किया है। उनके मतानुसार- विनय पत्रिका तो उनके काव्य का ही निदर्शन है। काव्य की जो रमणीयता भक्ति रस का जो प्रवाह, कला की जो मर्मस्पर्शिता, तुलसी की कार्पण्य निरूपक पंक्तियों में है वह इस महामहिम भक्त कवि की उत्तमोत्तमता का ज्वलंत प्रमाण है। इस दैन्य निवेदन में कहीं तो तुलसी ने भक्त की हीनता, असमर्थता, पाप आदि पर विशेष बल दिया है और कहीं भक्त विषयक दीनता की तुलना में भगवान की महिमा का भी समान रूप से अतिरंजित स्थापन किया है।[3]

१- रा०मा०- २,२३३, २।२३४।१

२- श्रीमद्भागवत.......

३- सिंह, डा० उदयभानु- तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ- ३१४

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत ग्रथित कतिपय पंक्तियां अवलोकनीय हैं:--

(क)- तऊ न मेरे अघ-अवगुन गनि हैं ।
जौ जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनि हैं ।।
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहैं ।
देखि खलल अधिकार प्रभू सौं मरि मलाई गनिहैं।
हंसि करिहैं परतीति भगत की भगत सिरोमनि मनिहैं।।
ज्यौं ज्यौं तुलसिदास कौसल पति अपनायेहि पर बनिहैं ।।[1]

(ख) माधव! मो समान जग माहीं ।
सब विधि हीन मलीन दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं ।।
तुम सम हेतु रहित कृपालु आरत हित ईस न त्यागी ।
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ विचार जिय मोरे ।
तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला, छुटिहिं तुम्हारे छोरे ।[2]

(ग) तुलसी के ग्रंथो में 'सरन, सरनागत' शब्द का प्रयोग
भक्ति के अंगों में ही परिगणित किया है। जो शरणागति
भक्ति की ओर संकेत करता है ।[3]

१- विनयपत्रिका- ६५

२- विनयपत्रिका- ११४।१-५, अन्यत्र देखिए- वि०-२४२।१-४, वि०२४३।५
वि०- ६६।२,१०६, ११४।२,१५६।१-४,२५२।५,
कवितावली- ७।८८

३- रा०मा०- २।१३०।२,४।१७।१,५।२२,६।११०।६,७।१८।२, वि०७६।४
वि०- ११७।१८७।१, रा०मा०-२।२६८।२,४।६,५।४३।४,
वि०- १४८।२, १५०।६,१५४।१

श्रीमद्भागवत में भी भक्त और भगवान के पारस्परिक संवादों में संतों के व्याख्यान में तथा देवों एवम् राजाओं के चरित्रांशों में शरणागति भक्ति का निदर्शन किया गया है ।[1]

साधन सप्तक:-

आचार्य रामानुजाचार्य ने वेदान्त सूत्रों के वृत्तिकार एवम् वाक्यकार भगवान बौधायन के मतानुसार सप्तभूमिका या सप्तसाधन निर्दिष्ट किये हैं--

तल्लब्धिर्विवेक विमोकाभ्यास क्रिया कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्य: ।[2]
अर्थात् चेतन को उस विशेष भगवत्कृपा या भक्ति तत्व की प्राप्ति विवेक, विमोक अभ्यास, क्रिया, कल्याण अनवसाद और अनुद्धर्ष सात साधनों से होता है ।

१- विवेक:-

विवेक का अर्थ आहार शुद्धि । विवेक का लक्षण स्पष्ट करते हुए लिखा है --

'जात्याश्रयनिमित्त दुष्टादन्नात काय शुद्धि विवेक: ।'
अर्थात् जाति, आश्रय और निमित्त के अनुसार अशुद्ध अन्न से बचकर शरीर को शुद्ध रखना विवेक है । जाति आश्रय और निमित्त इन दोषोंसे अन्न दूषित (अपवित्र) होता है । लहसुन, गृन्जन(गाजर)पलाण्डु(प्याज) आदि पदार्थ जाति से अपवित्र है । पतित का अन्न आश्रय ह से दुष्ट है कारण

१- श्रीमद्भागवत -
२- सर्व दर्शन- संग्रह- ४१।४७

कि --"यावद् वित्तं तावदात्मा" इस श्रौत विज्ञान के अनुसार पापात्मा के अन्न आदि सब पदार्थों में पाप भी संक्रान्त रहते हैं अत: पापी का अन्न संक्रान्त से अपवित्र है। उच्छिष्ट, केश, कीट आदि पदार्थों से दूषित अन्न निमित्त दुष्ट है अर्थात अपवित्र है। अपवित्र अन्न के सेवन से शरीर मन एवम् बुद्धि अशुद्ध हो जाते हैं। अत: दूषित आहार के परित्याग और पवित्र आहार के सेवन से अपने शरीर आदि को शुद्ध रखना विवेक है। अत: छान्दोग्य उपनिषद में आहार शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है-- बताया गया है कि आहार शुद्धि से अन्त:करण की शुद्धि सम्भव है, शुद्ध अंत: करण में ध्रुवानुस्मृति रूपा उपासना की प्रतिष्ठा सम्भव है, जिससे जड़ चेतन की सब ग्रन्थियां नष्ट हो जाती है, इस प्रकार साधक ब्रह्मतत्व की प्राप्ति कर लेता है।[1] तुलसी[2] एवम् भागवतन्थेउल्लेख किया है। अर्थात शारीरिक शौच ही तुलसी के अनुसार विवेक साधन है।[3] जिसमें भक्ष्याभक्ष्य पर निर्णयात्मक विचार किया जाता है।

२- विमोक:-

हृदय से काम का परित्याग होना ही विमोक है-

विमोक कामानभिष्वङ्ग:[4]

१- छान्दोग्य उपनिषद- ७।२६।२

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि: सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति: स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्था- नां विप्रमोक्षा:।

२- रा०मा०- ७।६।(क)

३- श्रीमद्भागवत-

४- सर्व दर्शन संग्रह- ४।८७

श्रीभाष्य के व्याख्याता श्री वेंकटनाथ (श्रीवेदान्त देशिक) के मत में 'काम' शब्द द्वारा अभिष्वंग(तीव्र संग) से उत्पन्न 'काम' विवक्षित है। यहाँ 'काम' शब्द काम, क्रोध, लोभ मोहादि ~~कम्म~~, ~~इन~~ समस्त हेय वर्ग का उपलक्षण है। अतः पारिभाषिक स्तर पर काम, क्रोध लोभ आदि त्याज्य वर्ग से हृदय विमुक्त रहना विमोक है। सुबालोपनिषद में स्पष्ट किया गया है कि:--

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्ये - वात्मानं पश्यति।'[1] अर्थात शान्त(जितेन्द्रिय), दान्त (मनोनिग्रह युक्त) उपरत(रागरहित), तितिक्षु (सहनशील) और समाहित(एकाग्र) एकाग्र-होकर साधक आत्मा में ही आत्मा (परमात्मा) का दर्शन करता है। तुलसी साहित्य और श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर निष्काम भाव से भक्ति की प्राप्ति पर बल दिया गया है।[2]

३- अभ्यास:-

चित्त वृत्ति द्वारा बार-बार भगवान का अनुस्मरण की क्रिया ही अभ्यास है। जिसमें भगवान का बार-बार संशीलन साधक के चित्त व्यापार का आयाम होता है सर्वदर्शन संग्रह में पुनः पुनः संशीलन भावन को अभ्यास कहागया है --

पुनः पुनः संशीलनम अभ्यासः।[3]

१- सुबालोपनिषद- ६

२- तुलसी साहित्य- रा०मा०- २।१३०।१ ,२।१३१, ३।१६,
वि०प० - २०३।७

श्रीमद्भागवत-

३- सर्वदर्शन संग्रह - ४।४७

तुलसी साहित्य[1] में तथा श्रीमद्भागवत[2] में आलम्बन भगवान राम तथा कृष्ण के परब्रह्मत्व के दिव्य गुणों का बार:बार बखान किया गया है। आलम्बन भगवान का चरित्र, लीलाओं एवम् नामरूपात्मक दिव्य गुणों का बार-बार स्मृति जन्य संशीलन ही इस साधन की उपस्थापना है।

४- क्रिया:-

"क्रिया" शब्द का अर्थ पन्चमहायज्ञादि का अनुष्ठान ही यहां अभिप्रेत है। सर्व दर्शन संग्रहकार का कथन है कि श्रौत स्मृति कर्मानुष्ठानं शक्तित: क्रिया।[3] यहां पंचमहायज्ञों के अनुष्ठान का फल विश्व संतर्पण और रक्षा निहित है। लोकहितार्थ कर्मों का आचरण ही इसका प्रयोजन है। तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस में भगवान राम द्वारा देवर्षि नारद के प्रति तथा सार्वजनिक जनता के प्रति लोक धर्म युक्त संत असंत के लक्षणों की उपस्थापना की है उनमें सन्तों के लक्षण इसके प्रकरण है।[4] षष्ठम् अध्याय में कर्मानुष्ठान भी इसके ज्वलन्त प्रमाण है। श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण ने उद्धव को क्रिया योग का जो उपदेश किया है वह इसी साधन का उपस्थान है।[5]

१- तुलसी साहित्य -

२- भागवत-

३- सर्वदर्शन संग्रह- ४।४७

४- रा०मा० -

५- श्रीमद्भागवत-

५- कल्याण:-

सत्यदया, दान, अहिंसा, आर्जव आदि को कल्याण कहते है। सा स्कार ब्रह्मनन्दी का कथन है कि--

"सत्यार्जव दया दान दीनि कल्याणानि "[1]

इसमें भूतहित और यथार्थ वाक्य के उदबोधन को सत्य बताया गया है। मन वचन और क्रिया की एक रुपता ही आर्जव है। स्वार्थ निरपेक्ष पर दुख निवारण की इच्छा ही दया है। प्राणियों के प्रतिकूल आचरण न करना अहिंसा है। लोभ का परित्याग दान है। श्रीमद्भागवत में उद्धव को भगवान कृष्ण ने उक्त लक्षणों का उपदेश तथा सप्तम स्कन्ध में युधिष्ठिर को धर्म के ३० लक्षणों मे इन लक्षणों की स्थापना की है। तुलसी साहित्य में रामचरित मानस में सर्वत्र इसका उपस्थापन कियागया है।[2]

६- अनवसाद:-

देश काल की विगुणता नष्ट वस्तु के शोक का आगामी भय से मन में जो संकोच (दैन्य) उत्पन्न होता है वह अवसाद है। देशकाल आदि की वैगुण्य रहने पर भी मन में दैन्य भाव का उदय न होना अनवसाद है।

" सर्वदर्शन संग्रहकार इसका लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैंकि:--

" दैन्यविपर्ययोऽनव साद: ।"[3]

१- सर्व दर्शन संग्रह- ४।४७

२- श्रीमद्भागवत- ११।१६।३७, रा०मा०-२।१३०।२,२।६५।३
रा०मा०-७।११२।५, धर्म कि दया सरसि हरि जाना।
रा०मा०७।१०३ख, दोहावली- ५६१-
प्रगट चारि पद धर्म के कलि मु महुं एक प्रधान।
जैन कैन विधि दीन्हें दान करइ कल्यान।।

३- सर्वदर्शन संग्रह- ४।४७

कठोपनिषद में कहा गया है कि मनोबलहीन मानव भक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता है--

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।।'[1]

तुलसी साहित्य एवम् श्रीमद्भागवत में योगांगों के यम नियमों द्वारा अतुलनीय शक्ति का सामर्थ्य अर्जित करने का संकेत निर्दिष्ट किया गया है।

७- अनुत्कर्ष:-

भगवान के स्मरण में सन्तोष- तुष्टि न रखना सदा अतृप्त रहना अनुत्कर्ष है। सर्वदर्शनसंग्रहकार कहते है कि - अहिंषार्यंवजा तुष्टिरनुत्कर्ष।[2]

श्रीमद् भागवत एवम् तुलसी साहित्य के अन्तर्गत भगवत्कथा एवम् रामकथा से तृप्ति होने वाले भक्त को वास्तव में कथा रस का पान करने वाला रस तृप्ति का गोताखोर नहीं बताया अर्थात भगवत्विषयक कथा रस तो वह है, जिसमें भक्त की चाह उत्कण्ठित ही रहती है।

१- कठोपनिषद:- १।२।२३

२- सर्वदर्शन संग्रह :- ४।४५

(ग)- भक्ति के अंग एवम् साधन:-

तुलसी साहित्य में -

तुलसी पूर्व एवम् तुलसी साहित्य के अन्तर्गत जितने भी विशुद्ध धर्म, ज्ञान, कर्म एवम् योग तथा सदाचार से सम्बन्धित अनुष्ठानमयी नियमों का संकेत है, वह सब भक्ति के अंग या साधन कहे जा सकते हैं। जैसे शम,[1] दम [2], तितिक्षा [3], त्याग [4], तप[5], ब्रह्मचर्य [6], शौच [7], संतोष[8],

---

१- विवेक चूड़ामणि- २२,२३ , अपरोक्षानुभूति- ६, गीता- १०।४

२- रा०मा०- ७।११७।८

३- विनयपत्रिका- २०३।११, श्रीमद्भागवत-

४- गीता- १८। वैराग्यशतक- श्लोक- ७ ,

५- रा०मा०- १।७३।२-३ , गीता- १०।५ , १०।४२ ,१२।१ ,
योगसूत्र- २।३२ ,

६- गीता- १७।१४। योगसूत्र- २।३०

७-

८- रामाज्ञा प्रश्न - ७।४।६ ,
रा०मा०- ४।१६।२, ७।८०।१
योगसूत्र- २।४२ ,

स्वाध्याय[1], ईश्वर प्रणिधान[2], अहिंसा,[3] परोपकार[4], सत्य[5] क्रोध[6] दया[7], क्षमा[8], दान[9], यम[10] अस्तेय[11], सत्संग[12], वैराग्य[13],

---

१- योग सूत्र - २।१, ३२, रा० -७।२६।१

२- योगसूत्र- २।१ , रा०मा०- ३।२१।४

३- गीता- १०।५,१६।२, रा०मा०- ७।१२१।११ , रा०मा०- ७।४१।१

४- रा०मा०- १।८४।१, रा०मा०- ७।१२१।७, रा०मा०- ७।४१।१, विоप०- २०२।१, रा०मा०- ३।३१।५, ७।१२२।१ ,

५- रा०मा०- २।१३०।२, रा०मा०- २।६५।३, २।६५।३

६- रा०मा०- ४।२१।२-३ , महाभारत वन पर्व- २६।६।१६-१८ ,

७- रा०मा०- १।२११, रा०मा०- १।४४।१, रा०मा०- २।१५३।४, रा०मा०- २।३१६।१, रा०मा०- ३।३।५, रा०मा०- ५।२२।४, रा०मा०- ७।१२२।५, रा०मा०- ७।४६।१, ७।१०२ छन्द- ५, रा०मा०- ७।१२६।३ ,

८- गीता - १०।४, १६।३

९- गीता- १०।५, १७।२०-२२ , रा०मा०- ७।१०३।क, दोहावली- ५६१

१०- ~~मनल~~ रा०मा०- ७।१०३।१, रा०मा०- ३।८।४, ७।१२६।३, विनयपत्रिका- १६४।३, २११।३

११- रा०मा०- २।१६८।२ , रा०मा०- २।१३०।३

१२- रा०मा०-२।१६८।३, ७।१२१।७, रा०मा०- ५।४, रा०मा०-१।२।६, रा०मा०- १।३।३, ५।४२।१, २।२३।१४, कवितावली- ७।२६, रा०मा०- ७।६१।२, ७।४५।३,१।३।४, दोहावली- १३२ ,

१३- रा०मा०- २।३२४।४, ३।१६।१,३+४ , ७।८६क, ७।११७।८, ३।१५।४, ७।११७,२।१७८।२ ,गीता- १३।८,रा०मा०- १।४४, ३।१०।३, रा०मा०-७।१२२।५, विоप०- १४१।३, १८७।१,वैराग्यसं०- १३,३०,३२, रा०मा०- १।३क, ७।१४।छन्द ७-८ , विоप०- २२१।२ ,

भगवत्कृपा [1] श्रद्धा ,[2] धर्म,[3] विवेक [4], आदि। वेद, पुराण आगम स्मृति एवं उपनिषद एवम् इतिहास इत्यादि शास्त्रों के स्वाध्याय का लक्ष्य भगवान राम के चरणों में अविचल प्रेम की स्थापना है।[5] वही सर्वज्ञ ,गुणी, पण्डित एवं ज्ञान विज्ञान का विशारद है, अनेक जन्मों के जन्म लेने की सार्थकता है।[6]

१- रा०मा०- २।१२७।२ , वि०प०- ११५।५, ११४।३
   रा०मा०- ७।४४।३, ७।४४।४ , ७।८६।२,

२- गीता - १८।२०,२२,६।३७, १७।१७, अपरोक्षानुभूति- ८,
   रा०मा०- १।१।श्लोक- २, गीता १७।२-३ , १८।५
   वि०चूड़ामणि- ११, रा०मा०- २।१५७, दोहावली- ६५,४६६,

३- गीता- १८।३३, रा०मा०- ५।५।४, ३।१।श्लोक-१, ७।४५

४- रा०मा०- ७।११८।२-३ ,
   योग सूत्र- २।२६

५- रा०मा०- ७।४६

६- रा०मा०- ७।४६, -

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पण्डित ।
सोइ गुन गृह बिग्यान अखण्डित ।
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई ।
जाके पद सरोज रति होई ।।

तुलसी ने रामचरित मानस, विनयपत्रिका एवं कवितावली में भक्ति के साधनों का विस्तृत विवेचन किया है। सर्व प्रथम हम रामचरित मानस में वर्णित प्रसंगों पर विहंगम दृष्टिपात करेंगे-- भक्ति साधन का प्रथम स्थल अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत महर्षि वाल्मीकि एवं राम प्रसंग में मिलता है । श्रीराम के द्वारा निवास पूछे जाने के प्रसंग में महर्षि वाल्मीकि ने १४ स्थलों में निवास की ओर प्रेरित करते हैं - वह साक्षात् भक्ति के साधन हैं ।[१] विद्वानों ने चौदह के अनेक अर्थों में निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं ।[२] परन्तु डा० उदय भानु सिंह ने उक्त वर्गीकरण को तर्कसंगत नहीं माना

१- रा०मा०- २।१२८।२, २।१३१ -

तुलसीदर्शन, पृष्ठ- २८२ - मा०पी०, अयोध्या काण्ड के आरम्भ लिखित निबन्ध - अयोध्या काण्ड का मूल्यांकन, पृष्ठ- ३५, रामचरित मानस की भूमिका, पांचवा खण्ड पृष्ठ-१०३-४ " अधिक प्रत्यायक अनुमान यह है कि चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर भगवान ने जब १४ वर्ष तक वन में निवास करना अंगीकार किया। तब उनके पूछने पर वाल्मीकि ने १४ स्थल गिना दिये । भुवन १४ है, धर्म के स्थल १४ माने गये हैं तथा विद्याओं की संख्या १४ मानी गयी है- इसलिए १४ स्थलों की गिनती की ।"

२- मा०पी० बालकाण्ड के आरम्भ में दी गयी विषय सूची, पृ०२४

मा०पी- २।१२८।३ और २।१३२।१ ,

है ।[१] परन्तु मेरी राय यह है कि भावन्मुखी प्रेरक तत्व कहीं न कहीं है साधन में परिगणित किए जाए तो अनुचित नहीं होगी क्योंकि उपर्युक्त संवाद विषयी जनों के लिए पथप्रदर्शक है । अन्तर्मुखी प्रसाधन है, उक्त बाह्य साधनों की क्रिया का ही यही फल है ।

मानस में भक्ति साधनों का द्वितीय महत्व पूर्ण स्थल श्री लक्ष्मण के पूछने पर भगवान राम ने श्रीमुख से भक्ति प्राप्ति के साधनों को अभिव्यक्त किया है ।[२] उनका विभाजन निम्न प्रकार से हो सकता है :--

१- विप्रों के चरणों में प्रेम

२- श्रुति के अनुसार स्वधर्म पालन

३- सन्तों के चरणकमलों में प्रेम

४- भगवत्भजन में दृढ़ प्रेम

५- अपना समस्त सांसारिक संबंध भगवान में ही समझना ।

६- गद गद कण्ठ से भगवान का गुण कीर्तन

७- कामादि, मद, दम्भ एवं दम्भ न रखना

८- सर्वथा निष्काम भाव से भगवान का शरणागत होकर भजनकरना।

१- " प्रेमा भक्ति के चौदह भेद, भक्ति के १४ प्रकार, भक्त के १४प्रकार, भक्त के १४ लक्षण, भक्ति के १४ साधन, उपासना की १४ विधियां आदि। उन्हें साधनों के १४ वर्ग मानना तर्क संगत नहीं है, क्योंकि कहींकहीं एक ही स्थान में अनेक भक्ति साधन गिनाये गये है, जैसे चौथे में अर्चन, वन्दन तथा पाद-सेवन, दूसरी ओर- अनन्यता, शरणागति, आदि विशेषताओं का अनेक बार उल्लेख हुआ है। अत: भक्ति या भक्तों के वर्गीकरण की न्याय निष्ठता का अभाव है ।" देखिए-तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ-२८२ ।

२- रामचरित मानस- ३।१६।२, ३ ।१६

श्रीकान्त शरण जी ने कृपासाध्य, साधन साध्य और पराभक्तियां मानी है। उन्होंने `भाति तात अनुपम..... अनुकूला` इस पंक्ति में कृपा साध्य भक्ति माना है। भाति के साधन कहौं .... जाने दृढ़ सेवा ` तक अर्थात द्वितीय से सप्तम् पंक्ति तक साधनसाध्य भक्ति बतलायी है। तथा मम गुन गावत पुलक शरीरा .... विश्राम तक पराभक्ति निर्दिष्ट की है।[१] श्रीविजयानन्द त्रिपाठी और स्वामी प्रज्ञानंद के मत का उल्लेख करके स्पष्ट किया गया है कि जैसे `मानस` में रुचिर सप्त सोपान है, वैसे ही इस भक्ति प्रासाद के सात सोपान है - सातों भक्ति मंत्र है - विप्रभक्ति, स्वकर्म भक्ति, भागवतधर्म भक्ति, श्रवणादिभक्ति, भगवत लीला भक्ति, गुरुसंत भक्ति और रसस्वरूपा भक्ति।[२] डा० बलदेव प्रसाद के मतानुसार- लक्ष्मण भक्ति योग में निर्दिष्ट ये समग्र साधन भक्ति सरोवर की तह तक पहुंचाने वाले सप्त सोपान या सप्त भूमिकाएं भी है। ब्रह्म सेवा, श्रवणादि नवधा भक्ति, सन्तसेवा, वासुदेव, सर्वमितिभाव, सात्विक प्रेमोन्माद, द्वंद्वातीत अवस्था और अनन्यासक्तचित्तता।[३] मानस पीयूष और तुलसी दर्शन में यह भी उपपादित किया गया है कि यहां पर अध्यात्म रामायण की नवधाभक्ति का पूर्ण चित्रण है और साथ ही भागवत की नवधा भक्ति की भी चर्चा की गयी है। दोनों ही प्रकार की नवधा भक्तियों का आधार स्तम्भ ज्ञान वैराग्य है और इन दोनों का मूलाधार सत्संग है।[४] डा०उदयभानु सिंह ने विविध ग्रंथों को प्रभाव बतलाने के साथ-साथ भक्ति के व्यापकत्व का भी उल्लेख किया है - उनके मतानुसार -`हमारी मान्यता यह है कि इसमें

१- रा०मा०- ३।१६ पर सि०ति०

२- मा०पी०- अरण्यकाण्ड, पृष्ठ- १४६,१५६

३- तुलसी दर्शन- पृष्ठ- २७८-७९

४- मा०पी०, अरण्य काण्ड, पृष्ठ- १५५,तुलसी दर्शन,पृष्ठ- २७७-७८

न तो सात सोपानों को ही व्यवस्थित योजना है और न तो अध्यात्म रामायण में प्रतिपादित सभी साधनों का ही अविकल वर्णन है ।यहां पर भक्ति का व्यापक निरूपण किया गया है । अध्यात्म रामायण भागवतपुराण पद्मपुराण, शिवपुराण आदि पुराण ब्रह्म वैवर्तपुराण आदि की मुख्य भक्ति विधाएं परिगणित है । भक्ति साधनों के तीन वर्ग है- कृपासाधन, विहित साधन और अविहित साधन। यहां पर तीनों ही प्रकार के साधनों का भी निवेश है । पहली पंक्ति में कृपासाधन की व्यञ्जना हुयी है । बाकी चार पंक्तियों में विहित साधनों का उल्लेख है । छठीं और आठवीं पंक्तियों में भक्ति भाव की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है । सातवीं में भक्ति के रागानुग(अविहित) साधन का कथन है । शेष पंक्तियों में भक्ति की रसं निष्ठ सामान्य साधन तथा भक्ति के स्वरूप का निरूपण है ।"[1]

भक्ति -साधनों की तीसरी सूची का चित्रण भगवान राम द्वारा शबरी को दिए गए भक्तियोग के उपदेश में सन्निहित है:-

" नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं ।
सावधान सुनु धरु मन माहीं ।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा ।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ।।

१- तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ- २८४

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ।
　　पंचम भजनु सो बेद प्रकासा ।
छठ दम सील बिरति बहुकर्मा ।
　　निरत निरंतर सज्जन धर्मा ।+
सातव सम मोहिमय जग देखा ।
　　मो ते संत अधिक करि लेखा ।।
आठव जथा लाभ संतोषा ।
　　सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा ।।
नवम सरल सब सन छल होना ।
　　मम भरोस हियं हरष न दीना ।।
नव महुं एको जिन्ह के होई ।
　　नारि पुरुष सचराचर कोई ।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें ।
　　सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ।।[1]

इसी नवधा भक्ति मे तुलसी का लोक ख्याति को प्रख्यापित किया है । कुछ अनुसंधान विशेषज्ञों ने भागवत की नवधा भक्ति तथा अध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति का प्रभाव माना है ।

डा०बदरीनारायण श्रीवास्तव ने रामचरित मानस के शबरी भक्तियोग में प्रतिपादित नवधा भक्ति को तुलसीदास की मौलिक कल्पना माना है ।`भागवत` प्रतिपादित नवधा भक्ति का उल्लेख करते हुये उन्होंने कहा है--` वस्तुत: इस नवधा भक्ति का प्रचार मध्य युग में उत्तर भारत के सभी भक्ति संप्रदायों में सामान्य रुप से हो गया था और तुलसीदास

१- रा०मा०- ३।३५।४, ३।३६।४

का इससे प्रभावित होना नितान्त ही स्वाभाविक था। यह अवश्य है कि तुलसीदास ने उपर्युक्त नवधा भक्ति के चर्चा करने के साथ ही अपने ढंग पर भी नव नए विभाग किए है । उनके राम ने शबरी से इस नवधा भक्ति की चर्चा इस प्रकार की है.... ।[१] मानस में भक्ति साधनों की चौथी अवेक्षणीय सूची राजा राम द्वारा दिए गये सार्वजनिक प्रजा के प्रवचन में समाविष्ट है ।[२] इसमें कविवर तुलसी ने मानव शरीर एवम् शंकर भजन की साधना पर विशेष बल दिया है।

कवितावली में कवि ने कलियुग वर्णन के प्रकरण में तुलसी ने नका-रात्मक रूप से भक्ति साधनों की व्यापक चर्चा की है। उनमें विहित साधनों की पर्याप्त गरिमा व्यक्त की गयी है ।[३] विनय पत्रिका के पांच पदों में भक्ति के निर्गुण एवम् सगुण साधनों पर विशेष बल दिया गया है ।[४]

गोस्वामी जी ने भगवत्कृपा को भी भक्ति साधन का अंग माना है , लेकिन वह कृपा ईश्वरानुकूल है । कृपा और क्रिया का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध में डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने स्पष्ट किया है कि वास्तव में क्रिया के फल की सिद्धि भी नहीं हो सकती बीज और वृक्ष की भांति कृपा और क्रिया अन्योश्रित है ।.....कर्मचक्र भगवान का न्याय है और निर्हेतुक कृपा ही उनकी दया ।...... इसलिए गोस्वामी जी ने अपने मानस में दोनों का सुन्दर सामन्जस्य करके बड़गल, तिंगल आदि सभी सम्प्रदाय वालों को संतोष

१- रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव -
पृष्ठ- ४०५,६

२- रा०मा०- ७।४३।३, ७।४६

३- कवितावली- ७।८४-८८

४- विनयपत्रिका- १२६,१३६।१०-१२,१७२,२०३,२०५

लिया है । भक्ति के लिए भगवान की कृपा अनिवार्य साधन है ही । परन्तु वह साधन तो ईश्वराधीन है । इसलिए भक्तों के साधनों की चर्चा में जीवा-धीन साधनों अर्थात् क्रियाओं ही का विशेष उल्लेख होता है ।[1] डा०उदय भानुसिंह ने कृपा साधनों को (६) वर्गों में विभाजित किया है -- वे हैं:- रामकृपा ,पुरुषकार कृपा, गुरुकृपा , संतकृपा, देवकृपा और द्विज कृपा आदि ।[2]

१- रामकृपा:-

भक्ति के कृपासाधनों में यह भक्ति प्राप्ति का प्रमुख साधन है । यह साधन रामकृपा पर आधारित है ।[3] कृपा के बिना उसकी प्राप्ति असम्भव है ।[4] रामकृपा के बिना राम के ऐश्वर्य का ज्ञान असम्भव है । ज्ञान के बिना प्रतीति और प्रतीति के बिना प्रीति सम्भव नहीं । बिना प्रीति के भक्ति में दृढ़ता असम्भव है । इस प्रकार दृढ़ भक्ति के लिए रामकृपा आवश्यक है ।[5] माया संसार ,काम आदि विघ्नों की हानि[6] एवम्

१- तुलसीदर्शन - पृष्ठ- २६०-६२

२- तुलसीदर्शन मीमांसा - पृष्ठ- २८६

३- रा०मा०- ७।१२६।४- "सोइ रघुनाथ भगति,श्रुति गाई ।
राम कृपा काहूं एक पाई ।।

४- रा०मा०- ७।१२०।६" सो मनि जदपि प्रगट जग अहई ।
राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ।।

५- रा०मा०-७।८६।३-४-
"राम कृपा बिनु सुनु खगराई । जानि न जाइ राम प्रभुताई ।
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीति ।।
प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई । जिमि खगपति जल कै चिकनाई ।।

६- विनयपत्रिका- ११६।१, १२०।१,१२३।१,
रा०मा०- १।३६।३, ३।३६।२, ४।२१।२, ७।७१

सत्संग, ज्ञान आदि के लाभ[1] के लिए राम कृपा आवश्यक है। रामकृपा से ही मानव तन प्राप्त होता है इसीलिए उसे साधन धाम और मोक्ष द्वार कहागया है।[2] रामकृपा से ही मानस रोग नष्ट हो जाते हैं।

राम कृपा नासहिं सब रोगा।
जौ एहिं भाँति बनइ संजोगा ।।[3]

२- पुरुषकार कृपा:-

पुरुषकार का मूल अर्थ है पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न।[4] भक्ति सम्प्रदाय में पुरुषकार का अर्थ मध्यस्थ को भी कहा गया जो भगवान तक पहुंचा दे।[5] पुरुषकार सीता, हनुमान आदि राम की तुलना में रामकृपा के लिए अनेक देवी देवताओं, गुरु संत माता पिता आदि की वंदना की है।[6] तथापि उनकी दृष्टि में सीता हनुमान लक्ष्मण भरत मुख्य पुरुषकार हैं।

१- रा०मा०- ५।७।२, ७।६६।४, ७।१२५, वि०-१५५।५, ११६।५, १३६।१०,

२- रा०मा०- ७।४३।४- "बड़े भाग्य मानस तन पावा।...
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा ।।
वि०प०-२०२।१- साधन धाम विबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों।"

३- रा०मा०- ७।१२२।३

४- या०ज्ञ०- १३४६

५- वि०प०-४२।१- कबहुं समय सुधि धाइवी मेरी मातु जानकी।
वि०प०-४१।१- कबहुंक अम्ब अवसर पाई।
मेरिऔ सुधि धाइबी कछु करुन कथा चलाई।।

६-वि०प०-३६।३-४- मातु पिता गुरु गनपति सारद
सिवा समेत संभु सुक नारद।
चरन बंदि बिनवौं सब काहू।
देहु राम पद नेह निबाहू ।।

३- गुरु कृपा :-

तुलसी ने मानस के बाल काण्ड में गुरु की बन्दना की है बताया है कि गुरु शंकर रुप है तथा हरि — नर रुप हैं, यह राम से बढ़कर हैं।[१] गुरु कृपा से ही भक्ति की प्राप्ति सम्भव है। गुरु के चरण कमलों का पराग मंगल मूल है।[२] उनके स्मरण से सूक्ष्म दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।[3] गुरु कृपा से ही तुलसी को विमल विवेक की प्राप्त हुई जिससे उन्होंने 'भवमोचन' रामचरित मानस की रचना में सफलता प्राप्त की।[४]

४- द्विज कृपा :-

ब्राह्मण कृपा को द्विज कृपा कहते हैं। ब्राह्मण की चरण बन्दना मोहजन्य संशय को दूर करता है।[५] द्विज सेवा धर्म की जनयित्री है।[६] उससे देवता आदि वशीभूत हो जाते हैं।[७] वह हरितोषण का सुन्दर उपाय है।[८] द्विज पद प्रेमी जन राम को प्राण के समान प्रिय हैं।[९] इस लिये राम ने लक्ष्मण को भक्तियोग के उपदेश में विप्रचरण पद की वन्दना को नितान्त आवश्यक बताया है।[१०] अतः यह भक्ति का साधन है:--

---

१- रा०मा०- १।१।श्लोक-३, रा०मा०- १।१।सो०-५, रा०मा०२।१२६।४

२- दोहावली-२७- 'सकल सुमंगल मूल जग गुरु पद पंकज रेनु।'

३- रा०मा०- १।१।३,- श्री गुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।'

४- रा०मा०-१।२।१- तेहि करि विमल विवेक बिलोचन।
बरनों राम चरित भव मोचन।।

५- रा०मा ०- १।२।२

६- रा०मा० - ७।३८।३

७- रा०मा०- ३।३३

८- रा०मा०- ७।१०६।६

९- रा०मा०- ५।४८

१०-रा०मा०- ३।१६।३

५- सन्तकृपा :-

कृपासाधनों में सन्तकृपा भी महत्वशाली है । तुलसी ने संतों के मिलन को जीव के पुण्योदय का फल कहा है संत कृपा में भी रामकृपा अनिवार्य है ।[१] राज्जनों की कृपालुता के उत्कर्ष प्रकाशन के लिए यह भी कहा गया है कि सन्तों की कृपा का कारण जीव की दुखस्था मात्र है - उसकी उपासना आदि नहीं ।[२] सन्त और भगवान में कोई अन्तर नहीं ।[३] वे राम के विशेष अभिन्न पात्र हैं ।[४] राम उन्हें अपने से भी अधिक मानते हैं।[५] इसलिए सन्तों की अनुकूलता भक्ति प्राप्त का साधन है ।

१- रा०मा० - ७।४५।२, ७।५६।४, ७।१२५ क,

२- भाट सन्दर्भ पृ० ५५८ -

'सतां कृपा च दुखस्था दर्शन मात्रोद्भवा न तु स्वोपासनापेक्षा ।

३- विनयपत्रिका- ५७।६-

'संतभगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी।'

४- रा०मा०- ५।४८।४- तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे
धरौं देह नहिं आन निहोरें ।

५- रा०मा०- ३।३६।२- 'सातव सम मोहि मय जग देखा ।
मो तें संत अधिक करि लेखा ।।

८- देवकृपा :-

तुलसीदास स्मार्त वैष्णव भक्त है इन्होंने राम की पर-ब्रह्मता स्वीकार करने के साथ-साथ गणेश, सूर्य, शिव भवानी की भी स्तुति की है तथा उनसे राम भक्ति की भी याचना की है ।[१] शिव को सभी देवताओं में श्रेष्ठ मानते हुए उन्हें राम के स्वामी, सेवक, सखा: और भक्ति दाता कहा है । भगवान राम स्वयं कहते है कि मेरी भक्ति की प्राप्ति का आशय शिव आराधना है ।[२] तुलसी भी शिव से रामभक्ति का वरदान मांगते है ।[३]

नामभक्ति:-

तुलसी साहित्य में रामनाम महिमा एवम् नाम भजन को विशेष गौरव प्राप्त हुआ है । इस नाम भक्ति का सम्बन्ध भगवान के नाम, रूप लीला तथा धाम से रहता है, यह मंत्र जाप की एक बाह्य एवम् आंतरिक क्रिया है । ईश्वर की दो उपाधियों में से यह एक है नाम और दूसरा है रूप। "नाम रूप दुइ ईश उपाधि ।" तुलसी ने रामचरित मानस, कवितावली एवम् विनयपत्रिका आदि ग्रन्थों की प्रस्तावना में राम नाम महिमा का विस्तार से निरूपण किया ।[४] गया है वैसे ईश्वर के विभिन्न नाम है लेकिन तुलसी

१- विनयपत्रिका- १।४, २।५, ३।४, १५।५,

२- रा०मा०- १।१५।२, ६।३।२, ६।२।४,७।३४ ,१।१०४।३

३- दोहावली- ८६, विनयपत्रिका- ७।५, ६।५,१०।६

४- रा०मा०- १।१६।१, १।२८।१, कवितावली- ७।७३-६३,
वि०प०- ६८,७०, १२६-३०, २५४-५५ ,

की दृष्टि में सबसे महत्तम नाम राम का है।[1] राम नाम के प्रभाव को सभी आप्त ग्रंथों ने स्वीकार किया है।[2] ~~राम-नाम-के-प्रभाव-को-सम-~~ शिव भी राम नाम का जापन करते हैं[3] और उनके बल से जीवों को शुभगति प्रदान करते हैं।[4] नाम के प्रभाव से ही कालकूट उनके लिए अमृत होगया था।[5]

१- रा०मा०-३।४१ क- जदपि प्रभु के नाम अनेका।
श्रुति कह अधिक एक तें एका।
राम सकल नामन्ह ते अधिका।
होउ नाथ अघ खग गन बधिका।
राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन विमल बसहुं भगत उर व्योम।।"

२- विनयपत्रिका-६७।४, २५५।३,
रा०मा०- १।४६।१- "राम नाम कर अमित प्रभावा
संत पुरान उपनिषद गावा।।"

३- कविता० ७।७६- ताकी महिमा क्यों कही है जाति आमै।
रा०मा०-१।२६।४- रामु न सकहिं नाम गुन गाई।।

३- रा०मा०- १।४६।२- संतत जपत संभु अविनाशी।
सिव भगवान ज्ञान गुन रासी।।"

४- रा०मा०- १।११९।१, ४।१०।२ -
जासु नाम बल संकर कासी।
देत सबहिं सम गति अविनासी।।

५- रा०मा०- १।१९।४- नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमी को।।"

उनकी महिमा भवानी[1] गणेश[2] वाल्मीकि हनुमान सनकादि नारद प्रह्लाद ध्रुव द्रौपदी अजामिल पिंगला गज आदि के अनुभव भी नाम महनीय प्रताप प्रमाणित करते है ।[3] तुलसी नाम को सगुण तथा निर्गुण से श्रेष्ठ मानते है ।[4] नाम जप से भी समाधि अवस्था मे ब्रह्मसुख का भी अनुभव प्राप्त हो जाता है ।[5] अतः नाम भी भक्ति का महत्वपूर्ण साधन है ।

१- रा०मा०-१।१९।३-४- सादर नाम सम सुनि सिव बानी ।
जपि जेई पिय संग भवानी ।।

२- रा०मा०- १।१९।२- महिमा जासु जान गन राऊ ।
प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ।।

३- रा०मा०-१।१९।३, १।२६।१-४

कवितावली- ७।८६-

'राम बिहाय'मरा'जपते बिगरी सुधरी कवि कोकिलहू की ।
नामहिं तें गज की, गनिका की, अजामिल की चलि गै चल चूकी ।।
नाम प्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पाण्डु बधू की ।
ताको भलो अजहूं तुलसी जेहिं प्रीति प्रतीति है आखर दू की ।।'

४- रा०मा०-१।२३।१- अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ।
अकथ अगाध अनादि अनूपा ।
मोरे मत बड़ नामु दुहुं ते ।
किए जेहि जुग निज बस निज बूतें ।।

५- रा०मा०१।२२।१-२- 'नाम जीहं जपि जागहि जोगी ।
बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा ।
अकथ अनामय नाम न रूपा ।।
जानी चहहिं गूढ़ गति जेऊ
होहिं सिद्ध अनमादिक पाएं ।।

वि०प०- २२८।५- राम तें अधिक नाम करतब जेहिं किए नगर गत गामी ।'

भक्ति साधनों में श्रीराम द्वारा शबरी को दिए गए भक्ति योग प्रवचन में उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।[१] प्रथम साधन सत्संग है -- सत्संग को तुलसी ने भक्ति के साधनों में आकने के साथ-साथ स्वतंत्र भक्ति के रुप में भी निरुपित किया है इसकी चर्चा कृपा साधन प्रकरण में की जा चुकी है।

दूसरा-साधन राम कथा में रति है:-

कवि ने रति शब्द का अर्थ दो रुपों में अभिव्यन्जित किया है- प्रथम श्रद्धा, और द्वितीय राम के नाम रुप, गुण लीला धाम आदि का श्रवण। रति इत्यादि शब्द प्रेम अनुराग एवम् प्रीति का व्यन्जक है, जिसमें अनेपायित एवम् निष्कामता आवश्यक है।

तृतीय-साधन गुरु सेवा है:-

गुरु सेवा की महिमा कृपासाधन में अभिव्यक्त कर चुके है, सत्संग विषय विराग और राम कथा अनुराग होने पर व्यक्ति गुरु की शरण में जाकर वैष्णव धर्म की दीक्षा एवम् राममंत्र ग्रहण करता है।

चतुर्थ साधन -कपट त्यागकर राम का गुण गान करना :-

श्रीमद्भागवत में भगवान के नाम रुप, लीला धाम इत्यादि के गुण कथन को नवधा भक्ति के अनुसार कीर्तन कहागया है। तुलसी ने निष्कपट भाव पर विशेष बल दिया है। दोनों कवियों ने युग के आधार पर कलियुग में भव संतरण का उपाय नाम संकीर्तन विवेचित किया है।

पाँचवा साधन:-

वेद विहित राम मंत्र का दृढ़ विश्वास पूर्वक जप कहागया है। तुलसी श्रुति सम्मत भक्ति पथ के अनुकरणीय कवि है, वेद पुराण आगम, उपनिषाद का उनके साहित्य में व्यापक प्रभाव है। उन्हीं के आधार पर उन्होंने राम के मंत्र जाप पद्धति पर निष्ठात्मक बल दिया है।

छठा साधन:-

इन्द्रिय दमन, बहु कर्मों से विरति और सज्जन धर्म का निरंतर पालन करना है:-- इन्द्रियों को दमन करने से ही विषयी संसार की आसक्ति का क्षय सम्भव है अन्यथा विषय संसार का कारण एवम् भक्ति पथ की बाधा है। सज्जन धर्म में आशय वर्णाश्रम धर्म एवम् भागवत धर्म तथा संत के लक्षणों से लक्षित है।

७-सातवां समस्त जगत को राम मय देखना:-

रामोपासक की साधना का लक्ष्य अव्यक्त रूप से व्याप्त निर्गुण राम को साकार रूप में समष्टिगत देखना। क्योंकि राम ही विराट पुरुष है उनसे विरोध प्राणी की अल्पज्ञता है।[१]

१- रा०मा०- १।८।२, ७।११२- ख,

आठवां साधन-

यथा लाभ सन्तोष और परदोष को न देखना-[1] कामनाएं ही आसक्ति एवम् विषय का उदभवात्मक कारण है सन्तोष के बिना उनका नाश असम्भव है[2]- अर्थात साधक से यह अनुभव करना चाहिए कि संसार का सम्पूर्ण कार्य ईश्वराधीन है इस प्रकार की निश्चिन्तता सन्तोष है। परदोष दर्शन दुर्जनों का स्वभाव है, सज्जन दुर्जन में भी सत्य का दर्शन करते है।

नवां साधन:- सरलता, निश्छलता, राम का भरोसा और हर्ष दैन्य राहित्य-

राम का निवास निष्कपट और अमायिक हृदय में बताया गया है।[3] तुलसी ने चातक, मीन के रुपकों से भक्त की भगवत विषयक अखण्डता प्रतिपादित की है। शरणागति भी भक्त की अनन्यता का द्योतक है। हर्ष- दैन्य भाव रजोगुण प्रकृति के लक्षण है। अत: सात्विक वृत्ति के उद्रेक के लिए भगवत्समर्पण भाव नितान्त आवश्यक है।

१- रा०मा०- ७।४६।१

२- रा०मा०- ७।६०।१

३- रा०मा०- २।१३०।१

(घ)- भक्ति पथ की बाधाएं:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

१- कुसङ्ग:-

भक्ति पथ की बाधाओं के सन्दर्भ में जब हम आदि कालीन भक्ति ग्रन्थों पर विहंगम् दृष्पात करते है तो शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, एवं नारद भक्ति सूत्र को प्रामाणिक आधार ग्रन्थ मानकर उसमें कुसंगति को भक्ति पथ की प्रमुख बाधा के रूप में स्वीकार करते है। नारदभक्ति सूत्र के अनुसार- कुसंग का सर्व रूप त्याग ही भक्ति पथ पर चलना है।[1] क्योंकि यह दु:संग (कुसंग) काम, क्रोध, मोह, स्मृति, भ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाश का कारण बनता है।[2]

श्रीमद्भागवत में भक्त प्रह्लाद द्वारा असुर बालकों को उपदेश देते समय कुसंग को त्यागने पर विशेष बल दिया गया है -- भाइयों! तुम लोग विषयासक्त दैत्यों का संग दूर से ही छोड़ दो, क्योंकि यह संग कल्याण मार्ग या भक्ति मार्ग का बाधक है।[3] भगवान कपिल अपनी मां को उपदेश देते हुए कहते हैं कि कुसंग से सत्य, शौच, (बाहर-भीतर की पवित्रता) दया वाणी का संयम, बुद्धि, धन, सम्पत्ति, लज्जा,

---

१- ना० भ० सू०- ४३- दु: संग सर्वथैव त्याज्य: ।

२- ना० भ० सू०- ४४-

काम क्रोध मोह, स्मृति भ्रंश बुद्धि नाश सर्व नाश कारणत्वात्।

३- श्रीमद्भागवत- ७।६।१८

यश, क्षमा, मन और इन्द्रियों का संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। इसलिए अत्यन्त शोचनीय स्त्रियों के क्रीड़ामृग अशान्त, मूढ़ देहात्मदर्शी असत्पुरुषों का संग कभी नहीं करना चाहिए।[1] भगवान कृष्ण ने उद्धव को उदर पोषण एवम् विषयों के सेवन में रत रहने वाले कुसंगियों से दूर रहने पर बल दिया है।[2] 'अजामिल उपाख्यान' में भगवान यमराज अपने दूतों को आदेश देते हैं कि उन्हीं कुसंगियों को मेरे पास दण्ड स्वरूप लाया करो जो भगवद् सेवा विमुख हैं[3] तथा जिनका मन: धारणा शिथिल रखा संगी कामियों के संग में रत है।[4] उनके लिए ही यह नरक द्वार है। जिनकी इन्द्रियों में प्रधान जिह्वा भगवान के गुणों का उच्चारण नहीं करता, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दों का सेवन नहीं करता और जिनका सिर एकबार भी भगवान कृष्ण के चरणों में नहीं झुकता उन भगवत्सेवाविमुख पापियों को मेरे पास लाया करो।[5]

तुलसीसाहित्य के अन्तर्गत प्रमुख आधार ग्रंथ श्रीरामचरित मानस में सुन्दर काण्ड के अन्तर्गत विभीषण और राम मिलन संवाद में दुष्टों के संग से बेहतर नरक में रहना अच्छा कहा है कि विधाता दुष्टों का संग कभी न दे।[6] कुसंग से सर्वथा हानि ही होती है और सत्संगति से लाभ सिद्धि होती है। यह लोकमत और शास्त्र मत की पुष्टि है।[7] उदाहरण

१- श्रीमद्भागवत- ३।३१।३३-३४

२- श्रीमद्भागवत- ११।२६।३

३- श्रीमद्भागवत- ६।१।१८

४- श्रीमद्भागवत- ५।५।२

५- श्रीमद्भागवत- ६।३।२६

६- रा०मा०- ५।४५।४-

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता।

७- रा०मा०- १।६।४

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुं वेद विदित सब काहू।

द्वारा पुष्टि करते हुए कविवर तुलसी कहते हैं कि-- कुसंग के कारण धुंआ कालिख कहलाता है वही धुंआ (कुसंग) सुन्दर स्याही होकर पुराण रचना के काम आता है और वही धुआं जल, अग्नि, पवन के संग से बादल होकर जगत को जीवन देने वाला बन जाता है।[1]

दोहावली में कविवर तुलसी कहते हैं कि कुसंगति में स्थित रहने से अच्छे भी बुरे हो जाते हैं। हरि शंकर आदि भगवान के नाम परम कल्याणकारी हैं। परन्तु वही नाम कंजूस और दुष्ट पुरुषों के रख दिये जाते हैं तो लोग उन नामों को कहते सुनते सकुचाते हैं।[2]

कुसंगति में निवास करके जो सज्जनता की आशा करता है, उसकी आशा निराशा मात्र है। मगध के पास बसने से पवित्र विष्णुपद तीर्थ का नाम भी 'गया' (गया-बीता) पड़ गया।[3] घोर कुसंग ही भयानक बुरा रास्ता है इन कुसंगियों के वचन ही बाघ सिंह और सांप हैं। घर के के काम काज और गृहस्थी की भांति भांति के जंजाल अत्यन्त दुर्गम बड़े बड़े पहाड़ हैं।[4] मोह मद मान ही बहुत से बीहड़ वन हैं और नाना प्रकार के कुतर्क ही

1- रा०मा०- १।६।६

कुम कुसंगति कारिख होई।
लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई।
सोइ जल अनल अनिल संघाता।
होइ जलद जग जीवन दाता।।

2- दोहावली- ३६१

3- दोहावली ३६२

4- रा०मा०- १।३७।४

भयानक नदियां हैं।[१] ~~बहुत से~~ जिनके पास श्रद्धा रूपी राह खर्च नहीं है और संतों का साथ नहीं है उनको श्री रघुनाथ जी अभीष्ट नहीं है। ऐसे व्यक्तियों का संग त्याज्यनीय है।[२]

मानस के उत्तरकाण्ड में भगवान राम भरत को असंत अर्थात दुष्टों के स्वभाव एवम् आचरण को बताते हुये कहते हैं कि -- दुष्टों का संगति कभी भी भूलकर नहीं करना चाहिये। क्योंकि उनका साथ सदा ही दुखदायी होता है। जैसे हरि-घाई गाय कपिला गाय को अपने संग से नष्ट कर डालती है।[३] दुष्टों के हृदय में संताप का आधिक्य रहता है वे पराया संपत्ति देखकर जलते रहते हैं, दूसरों की निन्दा सुनना उनका स्वभाव होता है।[४] वे काम क्रोध, लोभ मद के परायण तथा निर्दयी कपटी कुटिल और पापों के आगार होते हैं। अकारण वैर ठानना उनका स्वभाव होता है। भलाई करने पर वे बुराई ही करते है।[५] मिथ्या भाषण ही उनका लेन देन एवं भोजन तथा चबेना होता है। सभी से द्रोह, परस्त्री तथा परायाधन एवम् पराया निन्दा में आसक्त रहना उनका जन्म जात गुण होता है। अर्थात उनकी राक्षसी या तामसी वृत्ति होती है।[६] लोभ ही उनका ओढ़न एवम् बिछावन होता है। पशुओं के समान आहार मैथुन के परायण रहते हैं दूसरे की विपदा में प्रसन्न रहना, स्वार्थ परायण काम और लोभ के कारण लम्पट और अत्यंत क्रोधी होते हैं।[७] वे माता-पिता गुरु ब्राह्मण तथा शास्त्र आदि के निन्दक और

१- रा०मा०- १।३७।५

२- रा०मा०- १।३७

३- रा०मा०- ७।३८।१

४- रा०मा०- ७।३८।२

५- रा०मा०- ७।३८।३

६- रा०मा०-७।३८।४

७- रा०मा०- ७।३९

मोह वश सभी से द्रोह करने वाले एवं हरि कथा रस विमुख होते है। दम्भ कपट ही उनका जीवन होता है। अर्थात आसुरी प्रवृत्तियों को पूर्णता धारण किये रहते है।[1]

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते है कि कुसंग या असत्पुरुषों में तामसी प्रवृत्तियों का आधिक्य रहता है विषयों के प्रति मोहान्ध भाव एवं देहात्मदर्शी धारणा वाले पुरुष या स्त्री भक्ति मार्ग के बाधक होते हैं। इनका संग जन्म मृत्यु का कारण बनता है। ज्ञान तथा बन्धन एवम् मोक्ष को जानने का इनका यथार्थ बुद्धि नहीं होता है। ऐन्द्रिक आसक्ति एवम् मोह में रत रहना इनकी मानसिकता होती है।

कुसंग के साथ-साथ उन पुरुषों को भी बैरी मानते है या त्यागने योग्य बताते हैं जो ईश्वर के प्रति प्रेम में सहायक नहीं बनते। चाहे माता, पिता, सुहृद बन्धु एवम् परिवार क्यों न हो।[2] जो भी हरि विमुख हो उनका साथ छोड़ना ही श्रेयस्कर एवं कल्याणदायी है। क्योंकि उनमें आसुर भाव एवम् राक्षसी प्रवृत्तियों का आधिक्य रहता है और ये मन का अहंकार भाव बास करता है। रा०मा० में हरि हर की निन्दा सुनने वाले को गौघात के समान बताया गया है।[3]

१- रा०मा० -७।३६।१-४

२- रा०मा०-२।१८५- जरउ सो सम्पति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

३- रा०मा०- ६।३१।१।२ -

हरि हर निन्दा सुनइ जो काना।
होइ पाप गोघात समाना॥

श्रीमद्भागवत- १०।७४।४०

भक्त तुलसीदास जी विनयपत्रिका में कहते हैं कि-- भगवान राम और सीता के अप्रिय चाहने वाले स्नेही क्यों न हों वह भी वैरी के समान ही समझने योग्य है उसका संग सर्वथा त्याज्यनीय है।[1] भक्त तुलसीदास जी कहते हैं कि दुष्टों को कितना भी सद्भाव दो वे अपनी कुटिलता नहीं छोड़ते।[2] भक्त सूरदास सर्प, काग, खर, गज, और पाहन का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि हे मन! हरि विमुखों का संग छोड़ दो।[3]

दुर्जनों में भक्ति का बोध नहीं होता उनका साथ भक्ति के भाव को क्षीण करता है कितना भी परिश्रम दुर्जनों के साथ करो, वह अपने ही स्वभाव के अनुरूप कार्य व्यापारों में संलग्न करेंगे।

१- विनयपत्रिका- जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि वैरी सम जदपि परम सनेही।

२- रा०मा०- बायस पलिअहि अति अनुरागा।
होहिं निरामिष कबहुं कि कागा।।

३- सू०सा०- तजौ मन हरि विमुखनि को संग।
जिनकै संग कुमति उपजत है परत भजन में भंग।
कहा होत पय पान कराए विष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान नहाए गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग।
गज को कहा सरित अन्हवाए बहुरि धरै वह ढंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
सूरदास कारी कामरि पै चढ़त न दूजो रंग।

भक्तिमती मीरा दुर्जनों को अपशब्द कहती हुई कहती है कि दुर्जन। भक्त की शान्ति के मार्ग में बाधा डालते है ।[1]

श्रीमद्भागवतकार कहते है कि - धन, कुलीनता, रूप तप, विद्या, ओज, तेज प्रभाव, बल, पौरुष बुद्धि और योग ये सभी बारह गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान कमल नाभ के चरण कमलों से विमुख है, तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान के चरणों में समर्पित कर रखे है । क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुल तक को पवित्र कर देता है और बड़प्पन का मिथ्या अभिमान रखने वाला वह ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता ।[2] अर्थात गुण सम्पन्न ब्राह्मण भी यदि हरि विमुख है तो वह भी कुत्ते के समान त्यागने योग्य है । श्रीमद्भगवद गीता में आसुरी पुरुषों के लक्षण अध्याय १६ में विस्तृत करके यही बताये गये है ।[3]

१- मीरा- ३२, सतसंगति का ग्यान गुणी छी,
दुर्जन लोगां ने दीठी ।
मीरां री प्रभु गिरधर नागर,
दुर्जन गनो जा अंगीठी ।।

२- श्रीमद्भागवत- ७।७।९-१०

३- श्रीमद्भगवद्गीता- १६।४-

हेपार्थ। पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान भी यह सब आसुरी सम्पदा वाले पुरुषों के लक्षण है ।

इस विधाता की सृष्टि में भगवत्कृपा बिना सम्यक ज्ञान का सूर्योदय हो ही नहीं सकता। परमेश्वर की गुण दोष व्यवस्था, पुरुष प्रकृति विवेक तथा काल कर्म का सम्यक ज्ञान एवम् भक्ति के प्रति दृढ़ निष्ठा तथा तत्वविचार की धारणा का यथार्थ बोध तभी सम्भव है, जब भगवत्कृपा, संत कृपा, शास्त्र कृपा, द्वारा सत्व बुद्धि की सूक्ष्म रवीना तत्व ज्ञान प्राप्त कर सकें। जिसके कारण भक्त साधना पथ पर अभीष्ट की प्राप्ति में असफल हो जाता है--

दुर्जनों के संग से असद एवम् अधार्मिक तथा आसुरी प्रवृत्तियों का उद्रेक होता है अर्थात उनके दुःसंग से अधोगति में ले जाने वाले संस्कारों का उदय होता है और स्मृति विस्मृति में बदल जाती है मै और मिथ्या पन का अभिमान देह गेह में आसक्त होकर जीवत्व के संसार भाव को पुष्ट करता है। जन्म मरण की हृदयात्मक ग्रन्थि को दृढ़ करता है। श्रीमद्भागवत में योगीश्वर ऋषि जी का यह उपदेश विदेहराज निमि के प्रति अवेक्षणीय है --

" ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृति से ही मैं देवता हूं, मैं मनुष्य हू- इस प्रकार का भ्रम विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तु में अभिनिवेश तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, रोग आदि अनेकों भय होते हैं।[१] इसलिये दुःसंग से छुटकारा पाने के लिए आत्म ज्ञानी गुरुदेव, सद्शास्त्रों का सेवन, एवम् भगवत्कथाएं तथा चरित्र से मन को एकाग्र करना चाहिये।

१- श्रीमद्भागवत- ११।२।३७

मन की एकाग्रता के साथ- साथ सात्त्विकी बुद्धि द्वारा माया निर्मित गुणों और कर्मों का संग क्रमशः त्यागते हुये मेरे सुदृढ़ भक्तियोग के द्वारा मन का रजोगुण रूप मल को नष्ट करना चाहिये।[1] क्योंकि मन के रजोगुण रूप मल के रहने से मन की वासनायें और कर्मों के संस्कार नहीं मिटते है जो स्त्री पुत्र आदि में आसक्त रहने से बार-बार कुत्ते योगी की तरह वेधता है और योग भ्रष्ट कर देता है।[2] इसलिये वृत्तियों के आश्रय रूप जगत तथा विषयमार्ग स्वम् चित्त में स्थित त्रिगुणी अवस्थाये तथा मन और इन्द्रियों से विषयोंका चिन्तन अर्थात मन की ~~बहिर्मुख~~ बहिर्मुखता आदि सभी गुणों की श्रेणी में आते हैं इनका संग वर्जित तथा स्व अन्तर्यामी परमेश्वर की शरण सुखं कहागया है। जिससे वहां पर भाव से स्व का अस्तित्व मिट जाता है और आत्मा में एकाकार होने पर वह उपाधिशून्य और एक रस हो जाता है भक्त और भगवान में जो स्वामी और शिष्यत्व की प्रतीति पराकाष्ठा है वह भी एकाकार हो जाती है जीवनकी मुक्तिअवस्था का उदय साम्य की उपलब्धि में एकरूपता है। यही सारी वृत्तियों को परमेश्वर में तन्मय करना सारी योग साधना का इतना ही सार है।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२८।२७

२- श्रीमद्भागवत- ११।२८।२८

३- श्रीमद्भागवत- ११।२३।६१

२- कर्मकाण्ड:-

वह कर्म भक्ति मार्ग का बाधक है जो कर्माभिमान से सम्पूर्ण चराचर भूतों में एक रस भगवान को सम स्वरूप नहीं देखता, वह कर्म निन्दनीय है जिसमें अपनी श्रेष्ठता और दूसरों की हीनता से देखा जाय। भागवत में उस वैदिक कर्म की भी निन्दा की गयी जो भगवान से नाता जोड़ने के लिए शास्त्र विधि नियत करना कर्तव्य भाव की सम्बद्ध न करो हुये मन कल्पित कर्म हिंसा के प्रयोजनार्थ सिद्धि के सिलसिले में शुरू किए जाते हैं, क्योंकि एक तो वे प्रवृत्तिपरक कर्म जो वृत्तियों को उनके विषयों की और ले जाते हैं और दूसरे वे निवृत्तिपरक कर्म जो वृत्तियों को उनको विषयों की ओर से लौटाकर शान्त एवं आत्म साक्षात्कार के योग्य बना देते हैं। प्रवृत्ति परक कर्ममार्ग से बार-बार जन्म मृत्यु की प्राप्ति होती है क्योंकि उसमें आसक्ति और फल की कामना निहित होती है इसलिए सकाम है और दूसरा निवृत्ति परक भक्तिमार्ग या ज्ञान मार्ग निष्काम होने के कारण परमात्मा की प्राप्ति का सहायक बनता है, इसलिए श्रेष्ठ है।[1] गीता में भी शास्त्र विपरीत कर्म का आचरण करने वाले पुरुष को इन्द्रियों के सुख को भोगने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ में जीने वाले के सदृश बताया गया है।[2] और कर्म करने का यह उपदेश किया गया है कि कर्मासक्त अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान भी लोक शिक्षा को चाहता हुआ कर्म का संपादन करे।[3] क्योंकि अनासक्त कर्म से ही भगवत्प्राप्ति सम्भव है।[4] क्योंकि ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय यह

१- श्रीमद्भागवत- ७।१५।४७

२- गीता-३।१६

३- ,, -३।२५

४- ,, -३।१६

तीनों ही कर्म के प्रेरक है अर्थात इन तीनों के संयोग से ही कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है और कर्ता, करण और क्रिया, यह तीनों ही कर्म के संग्रह है अर्थात इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है।[1] सांख्य पद्धति के अनुसार सात्विक, राजस, तामस, इन तीन प्रकार से किया गया है। सात्विक कर्म- भक्तिलाभ का सहायक होने से भक्ति की आधार भूमि का निर्माण करता है इस लिए अनुकरणीय है, वैसे इसमें भी ज्ञानाभिमान का भाव निहित रहता है अर्थात श्रेष्ठता की योग्यता का अभिमान अंकित रहता है, यह सात्विकी वृत्ति का परिणाम है क्योंकि सत्वगुण की वृत्तियां- शम, (मनः संयम), दम (इन्द्रियनिग्रह) तितिक्षा (सहिष्णुता) विवेक, तप, सत्य दया, स्मृति सन्तोष, त्याग, विषयों के प्रति अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा(पाप करने में स्वाभाविक संकोच) आत्मरति दान, विनय और सरलता आदि श्रीमद्भागवत में अभिव्यक्त की गयी है।[2]

गीता में सात्विक कर्म का सुख ज्ञान वैराग्य आदि निर्मल फल बताया गया है।[3] श्रीमद्भागवत में अनासक्त भाव से कर्म करने वाले पुरुषको सात्विक कर्ता कहागया है।[4] गीता में आसक्ति त्याग तथा कर्मफल त्यागी पुरुष को श्रेष्ठ कर्म करने वाला सात्विकी कर्ता बताया गया है।[5] राजस तथा तामस कर्म को निषेध किया गया है क्योंकि इसमें फल की कामना और मोह अज्ञानादि फल कहागया है, यही वृत्तियां अपने पराये के पार्थक्य भाव को दृढ़ करती है। श्रीमद्भागवत में रजः सत्त्वम् तमः प्रधान वृत्तियों से ही जन्म मृत्यु के कारण को

१- गीता - १८।१२

२- श्रीमद्भागवत- ११।२५।२

३- गीता - १४।१६

४- श्रीमद्भागवत- ११।२५।२६

५- गीता - १८।६

निर्दिष्ट किया गया है , उसमें रजोगुण की प्रमुख वृत्तियां संकेतित की है - इच्छा , प्रयत्न, घमण्ड ,तृष्णा(असन्तोष) ऐंठ या अकड़, देवताओं से धन आदि की याचना, भेद बुद्धि, विषयभोग, युद्धादि के लिए मद जनित उत्साह, प्रेम का स्व वशी देखना, हास्य पराक्रम और हठ पूर्वक उद्योग करना आदि।[1] यह रजोगुण ही भेद बुद्धि का कारण होने के कारण आसक्ति और प्रवृत्ति का माध्यम बनता है, जिससे परिणाम में पुरुष को दुख, कर्म यश और लक्ष्मी आदि की प्राप्ति होती है ।[2] अर्थात इस वृत्ति से जीव का चित्त सांसारिक कामना और आसक्ति में ही चिन्तारूढ़ रहता है ।[3] जिसे मायिक क्षणिक तथा अज्ञान कल्पित बताया गया है । इस वृत्ति से भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं क्योंकि भक्ति में निष्काम कर्म को ही हेतु माना गया है । इसी प्रकार तमोगुण की वृत्तियां निम्न निर्दिष्ट की गयी हैं -- क्रोध असहिष्णुता) लोभ, मिथ्या भाषण , हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम कलह , शोक, मोह विषाद , दीनता, निद्रा आशा , भय और अकर्मण्यता आदि ।[4] उक्त प्रवृत्ति वाले पुरुष आसुरी कर्म अर्थात् निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त होते है । अज्ञान, आलस्य बुद्धि की मूढ़ता ही निषिद्ध कर्मों का फल कहागया है ।[5] इसमें मोह का आधिक्य होने के कारण तामस-त्व बल प्राप्त होता है,[6] मोह को तुलसी सकल व्याधियों की जड़ मानते है,

---

१- श्रीमद्भागवत- ११।२५।२

२- श्रीमद्भागवत- ११।२५।१४

३- श्रीमद्भागवत- ११।२५।११

४- श्रीमद्भागवत- ११।२५।४

५- श्रीमद्भागवत- ११।२५।१५

६- श्रीमद्भागवत- ११।२५।१६

मोह सकल व्याधिन कर मूला ।' ऐसा तामस या निषिद्ध कर्म को भागवतकार हिंसा प्रधान होने के कारण शूकर, कूकर आदि मूढ़ योनियों में परिवर्तन मानते है ।[1]

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत कर्मकाण्ड की कई कथाएं संयोजित की गयी है, जिनका लक्ष्य शास्त्र के पण्डिताई पन में ही लगे रहना अर्थात लोक व्यवहार में भी समत्व दृष्टि को विस्मृत करने से रोकना। करनी और कथनी या परउपदेश कुशल बहु तेरे जैसा स्वांग रचना आदि कर्मकाण्ड भक्ति पथ के बाधक बतलाये गये है । जैसे श्रीकृष्ण द्वारा क्षुधाकुल गोपों को क्षुधानिवृत्यार्थ भेजना और उन्हें याज्ञिक ब्राह्मणों द्वारा निराशा का उत्तर देना[2] गोवर्धन पूजा के अवसर पर इन्द्र का प्रकोप[3] तथा एकादश स्कन्ध के पांचवे अध्याय में भक्तों की निन्दा का प्रकरण उसमें भी इन कर्मकाण्डियों को भक्तिहीन बताया गया हैं । कतिपय पंक्तियां दृष्टव्य हैं—

'कुछ लोग ऐसे है जो हरि कथा और हरिकीर्तन से दूर रहते हैं । वे स्त्री हो या शूद्र भक्तों की दया के विषय है, क्रोध के नहीं । वेद-वादी लोग या उत्तम कुल में जन्में लोग अपने ज्ञान और कुल के अभिमान में भूले रहते हैं । ऐसे लोग कर्म के रहस्य को नहीं जानते पर उसका अभिमान उनमें रहता है, स्वयं को सबसे बड़ा पण्डित मानते हैं । ये लोग मीठी-मीठी बातों से लोगों की चाटुकारी करते रहते हैं। रजोगुणी ऐसे लोग कामी, अहंकारी, और दम्भी होते है- यह लोग भक्तों की हंसी उड़ाते हैं। स्त्रियों के सेवक ऐसे लोग आपस में एक दूसरे की प्रशंसा करते है । और कुछ

१- गीता- १४।
२- श्रीमद्भागवत- १०।२३।३६-४०
३- श्रीमद्भागवत- १०।२७।७

अपने स्वाद के लिए यज्ञों में पशुओं का बलि देते हैं । धन वैभव कुल विद्या, त्याग अथवा बल का इन्हें अभिमान रहता है ऐसे लोग अज्ञानी और आत्मघाती होते हैं, वे कभी कृतकृत्य नहीं होंगे और दुखी रहेंगे ।[1]

उपर्युक्त प्रकरणों में कर्मकाण्ड और उससे उत्पन्न हुये मिथ्याभिमान को भक्ति का बाधक तत्व बताया गया है ।

३- मन और मन के विकार:-

वेद दर्शन तथा पुराणों[2] में मन को तत्वों के अन्तर्गत माना है कि मन के द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार या भक्ति की प्राप्ति सम्भव है । मन ही संकल्प[3] विकल्प का कारण बनता है, इस मन के द्वारा ही कामनाओं की सृष्टि होती है, क्योंकि इसकी चन्चलता[4] ही भक्ति में विघ्न स्वरुपा है । गीता में शरीर से परे शक्तिमान इन्द्रियां तथा इन्द्रियों से बलवान मन को बतलाया गया है ।[5]मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया से ज्ञान, भक्ति तथा योगादि साधन एवम् साध्य सम्भव है । श्रीमद्भागवत में सात्विक अहंकार से १० इन्द्रियों के देवता तथा एक मन की उत्पत्ति निर्दिष्ट की गयी है ।[6]अन्यत्र यह भी संकेत उपलब्ध है कि वैकारिक अहंकार के विकृत होने पर मन की उत्पत्ति और

१- श्रीमद्भागवत- ११।५।१-१८

२- श्रीमद्भागवत- ११।

३- शिवसूक्त- तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु:

४- गीता - ६।

५- गीता- ३।

६- श्रीमद्भागवत- ११।२४।८

जिसके संकल्प विकल्पों से कामनाओं की सृष्टि होती है[1]। मन की एकाग्रता भगवत्शास्त्रों के श्रवण एवम् महापुरुषों की सेवा तथा वृत्ति निरोध का अभ्यास गीता में अन्तर्निहित है।[2]

मन के द्वारा ही विषय, उनके कारण गुणागुण एवम् उनसे सम्बन्ध रखने वाली वृत्तियाँ तथा त्रिगुणात्मक कर्म की सृष्टि निर्दिष्ट की है। जिन कर्मों से जीव की विभिन्न प्रकार की गतियां सम्पन्न होती है, उसका कारण मन ही बतलाया गया है।[3] श्रीमद्भागवत में दान, स्वधर्म-पालन, यम, नियम, वेदाध्ययन सत्कर्म और ब्रह्मचर्य आदि श्रेयस्कर कर्मों का लक्ष्य मन को एकाग्र करना कहागया है। क्योंकि मन के एकाग्र हो जाने से भगवत्चिन्तन में तल्लीनता का भाव उद्भूत होता है। तल्लीनता आने से मन: कल्पित संसार शून्य हो जाता है। और भगवत्परायण मन नि:संकल्प होकर तदाकार हो जाता है। इस मन के समाहित हो जाने को ही परमयोग बताया गया है।[4] अत: स्पष्ट है कि सम्पूर्ण अनुष्ठानों का लक्ष्य मन का समाहित होना है।[5] मन का वशी होना ही जितेन्द्रियता है।[6] क्योंकि क मन ही इन्द्रियों का अधिष्ठातृ देवता है।[7] मन के द्वारा ही द्वैत भ्रम प्रतीत नष्ट होता है।[8] भगवान कृष्ण उद्धव को उपदेश करते है कि जागृत स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं मन ही की होती है, इन अवस्थाओं के कारण क गुण सत्व, रज, तम और जगत के तीन भेद अध्यात्म(इन्द्रियां) अधिभूत(पृथिव्यादि) और अधिदैव(कर्ता) जाने जाते हैं।[9] मन ही समस्त चेष्टाओं का कारक है। मन की ज्ञान शक्ति

१- गीता-
२- श्रीमद्भागवत- ~~१११२३१४४~~ ३।२६।२७
३- ,, - ११।२३।४४
४- ,, - ११।२३।४६
५- ,, - ११।२३।४७
६- ,, - ११।२३।४८
७- गीता - १०।-
८- श्रीमद्भागवत- ६।१२।२६
९- ,, - ११।२८।२०

प्रधान कहा गया है। तथा मन जीव का सनातन अंश है। वह अलुप्त ज्ञान से सब कुछ देखता है मन के द्वारा ही दृष्टि एवम् विषयों का अभिव्यक्ति होता है और वही भोक्ता रूप में कर्मों की आसक्ति से शरीर रूप में बंधता है।[1] वैकारिक मन से ही काम की उत्पत्ति एवम् संकल्प विकल्प से कामना की उत्पत्ति निर्दिष्ट की गयी है क्योंकि मन में विकार इंद्रियों एवम् विषयों के संयोग का परिणाम है।[2] इसलिए काम रूपा नारी का चिन्तन वह विषयों के संग से ही उदित होता है[3] ~~इसलिए~~ अत: नारी इत्यादि मायात्मक दाम्पत्य भाव की हृदयात्मक सूक्ष्म ग्रन्थि का कारण यह मन ही है, जो अपने, पराये, मैं, तूं, भाव के अहंभाव को उद्भूत करता है। कहा गया है कि जिस समय यह मन मैं और मेरे पन के कारण होने वाले काम क्रोध आदि विकारों से मुक्त एवम् शुद्ध हो जाता है। उस समय वह सुख दुख से छूटकर यह सम अवस्था में आ जाता है।[4] यह मन ही जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जब यह मन विषयों में आसक्त होता है तो यही बन्धन का हेतु बनता है। और यही मन जब परमात्मा में अनुरक्त हो जाता है तो वही मोक्ष का कारण बनता है।[5] श्रीमद्भागवत में मन को अनिरुद्ध कहा गया है, कि योगी जन शीतकालीन के नील कमल के समान श्याम वर्ण वाले इन्हीं अनिरुद्ध की मन को वशीभूत करने में आराधना करते हैं।[6]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२२।४५

२- ,, - ११।२६।२२

३- ,, - ३।२५।१६

४- ,, - ३।२५।१५

५- ,, - ३।२६।२८

६- ,, - ५।६।१५

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भय आदि शत्रुओं का तथा कर्म बंधन का मूल तो मनही बताया गया है।[1] इसलिए मन को विषयों से अलग कराने का अभ्यास योगारुढ़ होने की प्रक्रिया गीता में कहा गया है।[2] मन ही कर्म वासना-ओं के कारण से शरीरादि देह-गेह में बन्धन स्वरुप हो जाता है और वह जीव आत्म तत्व से वन्चित हो जाता है। तितिक्षु ब्राह्मण का उपदेश अवेक्षणीय है --

" मेरे सुख अथवा दुख का कारण न ये मनुष्य है, न देवता, न शरीर है न गृह, कर्म एवम् काल आदि ही है। श्रुतियां तथा महात्मा जन मन को ही इसका कारण बताते हैं यह मन ही सारे संसार चक्र का संचालक है।[3] प्रह्लाद जी नृसिंह भगवान से दीन मन की व्यथा बतलाते हुए कहते हैं कि -" वैकुण्ठ नाथ! मेरे मन की बड़ी दुर्दशा है, वह पाप वासनाओं से तो कलुषित है ही। दुष्ट भी अत्यन्त बलवान है। यह प्रायः ही कामनाओं के कारण आतुर रहता है और हर्ष शोक भय एवं लोक पर-लोक धन, पत्नी, पुत्र आदि की चिन्ताओं से व्याप्त रहता है। इसे आपकी लीला कथाओं से तो रस नहीं मिलता। इसके मारे मैं दीन हो रहा हूं। ऐसे मन से मैं आपके स्वरुप का चिन्तन कैसे करुं।[4]

अतः स्पष्ट है कि इस जगत में जो मन से चिन्तन किया जाता है, वाणी से बोला जाता है, नेत्रों से देखा जाता है, श्रवणादि इंद्रियों से अनुभव किया जाता है यह सबका सब मन का ही विलास है।[5] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मन ही सम्पूर्ण सृष्टि का कारण मात्र है।

१- गीता- ६।....

२- श्रीमद्भागवत- ५।५।६

३- ,, - ११।२३।४३

४- ,, - ७।९।३९,

५- ,, - ११।७।७

इसका नि:संकल्प हो जाना ही जीव का मोक्ष है। अद्वैत की अभेदता है। और जीव का साधनात्मक अभीष्ट है। अत: यह मुक्ति पथ का सबसे दुर्भेद्य अवरोधक है। इसकी असंयता से शरीर के कर्म जन्म मरण संसार चक्र की गति आदि सम्भव है। अत: भक्त, साधक, योगी और ज्ञानी को मन: संयम का अभ्यास भावत आराधना, अष्टांग, योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि के द्वारा मन को संयमित करना चाहिए।

स्त्री :-

भक्ति मार्ग के अन्तर्गत आनेवाली बाधाओं में स्त्री भी है। वेद शास्त्र एवम् पुराणों में स्त्री त्याग पर ही बल दिया गया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार- "जिसका चित्त स्त्री का चिन्तन करता है, उसकी विद्या व्यर्थ है, तपस्या त्याग शास्त्राभ्यास एवम् एकान्त सेवन और मौन आदि सभी साधन निष्फल है।[1] षडविकारों में काम का वास स्थान नारी में ही निर्दिष्ट किया गया है।[2] इसलिए विवेकी पुरुषों को स्त्रियाँ एवम् स्त्री लम्पट पुरुषों से संसर्ग त्याजनीय है। क्योंकि विषय और इंद्रियों के संयोग से ही "मन" में विकार उद्भूत होता है, अन्यथा विकार का और कोई अवसर नहीं होता।[3] शास्त्रों ने महापुरुषों की सेवा को मुक्ति का द्वार और स्त्री संगी कामियों के संग को नरक का द्वार कहा है।[4] भोग्य की दृष्टि से स्त्री को स्वीकार किए जाने का प्रयोजन मृत्यु को आमंत्रण देना है।[5] सचमुच स्त्री देवताओं की वह माया है जिससे जीव भगवान या मोक्ष की प्राप्ति से वंचित रह जाता है।[6] अतः वाणी कान और मन आदि इन्द्रियों से स्त्रियों और स्त्री लम्पटों का संग त्यागने योग्य है।[7] भागवतकार इसका रहस्यात्मक कारण हृदय की ग्रंथि से अभिव्यक्त करते है--"स्त्री और पुरुष के परस्पर का जो दाम्पत्य भाव है इसी को पण्डित जन उनके हृदय की दूसरी स्थूल एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि कहते हैं। देहाभिमान रूपी एक-एक सूक्ष्म ग्रंथि

१- श्रीमद्भागवत- ११।२६।१२

२- रा०मा०- ३।४३-४४, रा०म०- ३,३८-ख

३- श्रीमद्भागवत- ११।२६।२२

४- श्रीमद्भागवत- ५।५।२

५- श्रीमद्भागवत- ११।८।४

६- श्रीमद्भागवत- ११।८।७

७- श्रीमद्भागवत- ११।२६।२४

तो उसकी अलग अलग पूर्व से विद्यमान है, इसी के कारण जीव को देह इन्द्रियादि के अतिरिक्त घर खेत पुत्र स्वजन और धन आदि में भी मैं और मेरेपन का मोह हो जाता है।[1] जिस समय कर्म वासनाओं के कारण पड़ी हुई इसकी यह दृढ़ हृदय ग्रंथि ढीली हो जाती है उसी समय यह दाम्पत्य भाव से निवृत्त हो जाता है और संसार के हेतु भूत अहंकार को त्याग कर सब प्रकार के बन्धन से मुक्त हो परम पद प्राप्त कर लेता है।[2] अतः मुमुक्षुओं एवम् जिज्ञासुओं को नारी का संसर्ग निषेधात्मक है।

घर :-

श्रीमद्भागवत के अनुसार- [3] जब मनुष्य धर्म अर्थ काम में संलग्न रहता है तब उसे सत्वगुण से श्रद्धा, रजोगुण से रति और तमोगुण से धन की प्राप्ति होती है। यह तीनों गुणों के सम्मिश्रण का ही परिणाम है।[3] धन की उत्पत्ति का आधार त्रिगुणात्मक वृत्ति के मिश्रण का ही परिणाम है। लेकिन तमोवृत्ति प्रमुख है। तमोगुण अविवेक एवम् मोह का प्रतिरूप है। शास्त्रों में धन के प्रति लालसा एवम् आसक्ति को हेय दृष्टि से विवेचित किया गया है, धन मद का कारण भी है जो विषय वासना की ओर प्रेरित करता है। धन के लालच में प्राणी अर्थ अनर्थ की वास्तविकता को नहीं समझ पाते - भागवतकार का कथन है कि चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ काम क्रोध गर्व, अहंकार भेद बुद्धि बैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ और शराब ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्यों को 'धन' के कारण ही निर्दिष्ट किए गए हैं।[4] इसलिए कल्याण कामी पुरुष को स्वार्थ

१- श्रीमद्भागवत- ५।५।८

२- श्रीमद्भागवत- ५।५।९

३- श्रीमद्भागवत- ११।२५।७

४- श्रीमद्भागवत- ११।२३।१८

स्वयं परमार्थ के विरोधी अर्थनामधारी अनर्थ को दूर से ही त्याग देना चाहिये।[1] धन के कारण ही शत्रुता के संस्कारों का उद्रेक होता है भाई बन्धु, स्त्री, पुत्र, माता-पिता सगे सम्बन्धी आपस में धन के कारण शत्रुवत हो जाते हैं।[2] इसलिए यह मनुष्य शरीर जो मोक्ष और स्वर्ग का द्वार कहा गया है इसे पाकर कौन बुद्धिमान पुरुष अनर्थों के कारण धन के चक्कर में फंसा रहे।[3] शास्त्रों में धन का दान, पुण्य या सुकृत का संपादन हेतु बताया गया है। कहागया है कि जो मनुष्य देवता, ऋषि पितर प्राणी जाति भाई कुटुम्बी और धन के दूसरे भागीदारों को उनका भागदेकर संतुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है वह यक्ष के समान धन का रखवाला करने वाला कृपण तो अवश्य ही अधोगति को प्राप्त होता है।[4] शुक्राचार्य का कथन है कि-- जो मनुष्य अपने धन को पांच भागों में बांट देता है- कुछ धर्म के लिए, कुछ यश के लिए, कुछ धन की अभिवृद्धि के लिये, कुछ भोगों के लिए और कुछ अपने स्वजनों के लिए वही इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख पाता है।[5] इसलिए बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि जिसके कारण शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता, और श्रम आदि का शिकार होना पड़ता है उस धन और जीवन की स्पृहा का त्याग कर दे।[6]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२३।१६
२- ,, - ११।२३।२०
३- ,, - ११।२३।२२
४- ,, - ११।२३।२४
५- ,, - ८।१६।३७
६- ,, - ७।१२।२२

लौकिक एवम् पारलौकिक सुख के प्रति स्पृहा:-

भक्ति मार्ग में आने वाली बाधाएं गृह, परिवार ऐश्वर्य तथा भोग भी मुख्य है जिसके कारण जीव का चित्त इन्हें वास्तविक सत्य समझकर भगवद् विमुख कर्म करता है । श्री प्रह्लाद जी सांसारिक सुख को असार समझ कर भगवान से दासत्व की याचना करते है:-

" मैं ब्रह्मलोक तक की आयु लक्ष्मी ऐश्वर्य और वे इन्द्रिय भोग जिन्हें संसार के प्राणी चाहा करते है, नहीं चाहता क्योंकि मैं जानता हूं कि अत्यन्त शक्तिशाली काल रूप धारण करके आप ग्रस लेते हैं । इसलिए मुझे आप दासों की सन्निधि में ले चलिए ।[1] भगवान कृष्ण उद्धव को उपदेश देते हैं कि-" लौकिक सुख के समान पारलौकिक सुख भी दोषयुक्त है क्योंकि वहां भी बराबरी वालों से होड़ चलती है। अधिसुख भोगने वालों के प्रति असूया होती है, उनके गुणों में दोष निकाला जाता है और छोटों से घृणा होती है । प्रतिदिन पुण्य ~~और~~ क्षीण होने के साथ ही वहां के सुख भी क्षय के निकट पहुंचते रहते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते है। वहां की कामना पूर्ण होने से भी यजमान, ऋत्विज और कर्म आदि की त्रुटियों के कारण बड़े बड़े विघ्नों की सम्भावना रहती है । जैसे हरी भरी खेती भी अति वृष्टि- अनावृष्टि आदि के कारण नष्ट हो जाती है। वैसे ही स्वर्ग की प्राप्ति होते होते विघ्नों के कारण नहीं मिल पाता ।[2]

श्रीमद्भागवत में सांसारिक सुख एवम् दैविकसुख के सिलसिले में कई प्रसंगों में विस्तृत विवेचन की गयी है ।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ७।९।२४

२- ,, -११।१०।२१

३- श्रीमद्भागवत- ७।९।४५, ११।१९।२७, ११।७।७२, ८।१९।२५, ११।१९।२६ ११।२५।१-३, ११।१९।४२, ११।१९।१८, ११।२५।२८-३०, ११।१९।४१ ,

कामना और आसक्ति:-

गीता एवम् भागवत के अनुसार इसकी उत्पत्ति राग रूप रजोगुण से प्रादुर्भूत है। जो जीवात्मा को कर्मों एवम् उसके फल की आसक्ति से बांधता है।[1] यह रजोवृत्ति से उद्भूत होने के कारण इसका कार्य कर्म विषयक है। यह गुण सत्वगुण एवम् तमोगुण को दबाकर अपनी वृद्धि करता है।[2] जिसके कारण लोभ प्रवृत्ति सांसारिक चेष्टाएं तथा सब प्रकार से स्वार्थ बुद्धि का विस्तार अशान्ति और मन की चन्चलता तथा विषय भोगों की लालसा उत्पन्न करता है।[3] जिसका परिणाम अनित्य एवम् दुखकारी बताया गया है।[4] इसी से लोभ की उत्पत्ति निर्दिष्ट की गयी है।[5] काम क्रोध लोभ आत्मनाश के प्रसाधन है।[6] अतः यह आसक्ति और कामना ही भक्तिमार्ग की बाधा है। क्योंकि इसके द्वारा परमात्मा का चिन्तन न होने से यह मन इन्द्रियों के संसर्ग से विषयों का चिन्तन करने लगता है। विषयों के चिन्तन करने से इसकी उस विषय में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से उन विषयों को प्राप्त करने की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।[8] क्रोध से अविवेक या मूढ़ भाव उद्भूत होता है। जिसके कारण स्मृति (बुद्धि) भ्रमित हो जाती है। बुद्धि के भ्रमित हो जाने से पुरुष अपने श्रेय साधन से गिर जाता है।[9] अतः स्पष्ट है कि इस

१- गीता - १४।७- श्रीमद्भागवत- ११।२५।६-१४
२- गीता - १४।१६ ,, - ११।२५।२३-२७
३- ,, - १४।१० ,, - ११।२५।१४
४- ,, - १४।१२ ,, -११।२५।३, ३।२६।६
५- ,, - १४।१६
६- ,, - १४।१७
७- ,, - १६।१८
८- ,, - २।६२ ,, - ११।२१।१९
९ ,, - २।६३ ,, - ११।२१।२०/२१, २२-२६

रजोगुण से ही काम की उत्पत्ति चरितार्थ की गयी है।[१] यह काम ही क्रोध है जो अग्नि सदृश भोगों से न तृप्त होने वाला बड़ा ही अनर्थ कारक है।[२] इस काम के द्वारा ही ज्ञान का आच्छादन होता है। इन्द्रिय मन बुद्धि इस काम के वास स्थान है। जो ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।[३] इसलिए मनुष्य को इन्द्रियों के भोगों में स्थित राग, द्वेष, के वशीभूत कभी नहीं होना चाहिए। क्योंकि यह दोनों ही भक्ति मार्ग के महान शत्रु है।[४] अतः मन के द्वारा इन्द्रियों पर नियंत्रण करके ज्ञान विज्ञान को आच्छादित करने वाले अनर्थ रूपधारी काम पर विजय प्राप्त करना चाहिए।[५] इस लम्बे प्रसंग का विवेचनात्मक अनुक्रम में कामना और आसक्ति के पूर्वार्द्ध एवम् उत्तरार्द्ध का विश्लेषण है। इसी को आधार लेकर भक्त प्रह्लाद भगवान से याचना करते है कि--

"ब हृदय में किसी भी कामना के उत्पन्न होते ही इन्द्रिय मन प्राण देह धर्म बुद्धि, लज्जा, तेज, स्मृति और सत्य ये सब के सब नष्ट हो जाते हैं।[६] वरदान शिरोमणि स्वामी। यदि आप मुझे मुंह मांगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिए कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित ही न हो।[७] आपसे जो सेवक अपनी कामनाएं पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन देन करने वाला निरा बनिया है।[८]

१- गीता- ३।३६

२- ,, - ३।३७

३- ,, - ३।४०

४- ,, - ३।३४

५- ,, - ३।४१।४३

६- श्रीमद्भागवत- ७।१०।८

७- श्रीमद्भागवत- ७।१०।७

८- श्रीमद्भागवत- ७।१०।४

जो स्वामी से अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहता है वह सेवक नहीं और जो सेवक से सेवा कराने के लिए उसका स्वामी बनने के लिए उसकी कामनाएं पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं है ।[1] हे कमल नयन ! जिस समय मनुष्य अपने मन में रहने वाली कामनाओं का परित्याग कर देता है उसी समय वह भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।[2]

अतः कामना त्याग ही भक्ति मार्ग की बाधा से मुक्ति का उपाय है ।

अहंकार:-

भक्ति पथ की बाधा है । श्रीमद्भागवत में भगवान कपिल द्वारा माता देवहूति को तथा भगवान कृष्ण द्वारा भक्त उद्धव को सांख्य पद्धति के आधार पर सृष्टि उत्पत्ति परंपरा का उपदेश किया गया है --जिसमें तत्वों की संख्या निर्दिष्ट की गयी है - कहा गया है कि ब्रह्म से पुरुष और प्रकृति का प्रादुर्भाव हुआ ।[3] एक ज्ञान शून्य होने के कारण जड़प्रकृति कहलाया और एक चेतन मय होने के कारण पुरुष कहलाया ।[4] यह कार्य कारणात्मक जगत प्रकृति का विवर्तन है और चेतन जीव ज्ञान मय होने के कारण पुरुष है । प्रकृति को क्षुब्ध करके इन गुणों का उद्भव हुआ तत्पश्चात महत्तत्व उत्पन्न हुआ । इसके विकार से अहंकार की उत्पत्ति निर्दिष्ट की गयी है । यह अहंकार ही त्रिगुणात्मक भेद से - सात्विक,

---

१- श्रीमद्भागवत- ७।१०।६

२- ,, -७।१०।९

३- ,, -११।२४।२,३,- ३।२६।२७, ३।२६।२२-२४

४- ,, -११।२४।४

५- ,, -११।२४।५

राजस तामस कहलाया जिससे क्रमश: इन्द्रियों के ग्यारह अधिष्ठातृ देवता इन्द्रियाँ, तथा पंचतन्मात्राएं एवं पंच महाभूतों की संरचना हुई।[1] यह अहंकार ही जीव को मोह में डालने वाला है।[2]

अतैव विचारणीय है कि त्रिगुणात्मक अहंकार का ही यै सम्पूर्ण विश्व या जगत् परिणाम है। यही शोक भय हर्ष क्रोध मोह स्पृहा और आवागमन का शिकार जीव को बनाता है।[3] मन वाणी प्राण शरीर अहंकार के ही कार्य हैं। यह निर्मुल होता हुआ भी देवता, मनुष्य आदि अनेक रुपों में प्रतीत हो रहा है। मनः शील पुरुष उपासना की शानपर ज्ञान की तलवार को अत्यन्त तीखी बनाकर देहाभिमानी अहंकार का मूलोच्छेदन करके निर्द्वन्द्व विचरता है। इसमें किसी प्रकार की फिर आशा, तृष्णा का विकार नहीं रहता।[4] अतः शरीर मन, इंद्रिय एवम् बुद्धि को भगवच्चरणों में समर्पित न करने से यह जीव को मैं मेरे के दुराग्रह तथा मायिक गुणों में आबद्ध कर आत्मा में अनेकता का प्रतिपादन कराता है, जिसके कारण जीव कर्म और काल के अधीन रहकर संसार की विभिन्न योनियों में भ्रमता है।[5]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२४।८

२- ,, -११।२४।६

३- ,, -११।२८।१५

४- ,, -११।२८।१७

५- ,, -११।१६।३२, ११।२८।२६

मन और मन के विकार:-

मन ही आत्मा साक्षात्कार का साधन है। गीता में मन को शरीर एवम् इन्द्रियों से श्रेष्ठ एवं बलवान कहा है।[1] मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया से ही ज्ञान, भक्ति एवम् योगादि साधन एवं साध्य सम्भव है। श्रीमद्भागवत में सात्विक अहंकार से एकादश अधिष्ठातृ देवता एवम् मन की उत्पत्ति निर्दिष्ट की गया है।[2] मन की एकाग्रता, भावत्शास्त्रों के श्रवण एवं महापुरुषों की सेवा तथा वृत्तियों के निरोधात्मक अभ्यास से सम्वलित की गयी है।[3] मन के द्वारा ही विषयों उनके कारण गुणों एवम् उनसे सम्बन्ध रखने वाली वृत्तियों, त्रिगुणात्मक प्रकृति गुणों की सृष्टिनीतित की गया है। जिन कर्मों से जीव को विविध प्रकार की गतियां प्राप्त होती है।[4] जितने भी धार्मिक अनुष्ठान है उनका उदय मन को एकाग्र करना है। मन की एकाग्रता को ही भागवतकार परम योग कहते हैं।[5] जगत का कार्य कारणात्मक प्रपन्च एवम् क्रियाये मन का ही कार्य है।[6] भागवतकार का कथन है कि जिस समय यह मन "मैं" और मेरे पन का दुराग्रह से तथा काम-क्रोधादि विकारों से मुक्त एवम् शुद्ध हो जाता है उस समय मन दुख-सुख से छूटकर सम अवस्था में आ जाता है।[7] यह मन ही जीव बन्धन एवम् मोक्ष का कारण है। जब यह मन विषयों में आसक्त होता है तो यही मन

१- गीता - ३।४२

२- श्रीमद्भागवत- ११।२४।८

३- गीता - ६।२६-,२५,३५

४- श्रीमद्भागवत- ११।२२।४४

५- ,, - ११।२३।४६

६- ,, - ११।२८।२०, ११।७।७

७- ,, - ३।२५।१६

बन्धन का हेतु बनता है और यही मन जब परमात्मा में अनुरक्त हो जाता है तब वही मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।[1] काम क्रोध लोभ मोह मद आदि शत्रुओं का तथा कर्म बन्धन का मूल यही मन है।[2] तितिक्षु ब्राह्मण का कथन है कि मेरे सुख अथवा दुख का कारण न ये मनुष्य है, न देवता, न शरीर न ग्रह, न कर्म एवम् काल है। श्रुतियां एवं महात्मा जन मन को ही इसका कारण बताते हैं। यह मन ही सारे संसार चक्र का संचालक है।[3] भक्तवर प्रह्लाद जी भगवान नृसिंह से विषयों में आसक्त मन की दीनता बतलाते हुए कहते हैं कि वैकुण्ठ नाथ! मेरे मन की बड़ी दुर्दशा है, वह पाप वासनाओं ~~से आरम्भ आतुर रहता~~ से कलुषित हो तो है ही दुष्ट एवं अत्यन्त बलवान भी है। वह प्रायः कामनाओं के कारण आतुर रहता है। हर्ष, शोक, भय, क्रोध लोक एवम् परलोक धन पत्नी पुत्र आदि सभी की चिन्ताओं से व्याप्त रहता है। इसे आपकी लीला कथाओं से तो रस ही नहीं मिलता इसके बारे में मैं दीन हो रहा हूं। ऐसे कलुषित मन से मैं आपके स्वरूप का चिन्तन कैसे करूं।[4] मन के प्रसंग में श्रीमद्भागवत में कई स्थलों पर विस्तार से चर्चा की गयी है।[5]

विषयवासना:-

संस्कृत वांगमय से लेकर हिन्दी भक्ति काव्य की सभी धाराओं के अन्तर्गत इन्द्रियों और मन की आसक्ति एवं कामना जन्य भोग-व्यापारों को तथा देह के नव द्वारों को अनेक प्रकार के रूपकों एवम् प्रतीकों के माध्यम से

१- श्रीमद्भागवत- ३।२५।१५

२- ,, -५।६।५

३- ,, -११।२३।४३

४- ,, -७।९।३९

५- ,, -७।१५।४१-४२, ६।१२।२६

प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है कि इन्द्रियां किस प्रकार मनुष्य को घोर अन्धकार में ले जाकर संसार कूप में गिरा देती है।[1] प्रह्लाद जी असंयमित इन्द्रियों की पराधीन मन के विषय में अपनी दीनता व्यक्त करते हुये कहते है कि हे अच्युत। यह कभी न अघाने वाली जिह्वा मुझे स्वादिष्ट रसों की ओर खींच ले जाती है। त्वचा, पेट तथा कान क्रमश: सुकोमल स्पर्श, भोजन, मधुर संगीत की ओर खींच ले जाते हैं। नेत्र सौन्दर्य की ओर मुझे बलात खींचते हैं। इसके सिवा कर्मेन्द्रियां भी अपने अपने विषयों की ओर ले जाने को जोर लगाती रहती है। मेरी तो यह दशा हो रही है जैसे किसी पुरुष की बहुत सी पत्नियां उसे अपने अपने शयन गृह में ले जाने के लिए चारों ओर से घसीट रही हों।[2] अत: स्पष्ट है कि जीव के मन की पराधीनता इन्द्रियों का कार्य है। इस लिए सज्जनों को विषयों का ~~सम्~~ संग्रह कदापि नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके चिन्तन से भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं।[3] अत: स्पष्ट है कि असंयमितता से पुरुष के अन्त:करण में आस्तिक भाव का उद्रेक नहीं हो पाता और बिना आस्तिक भाव वाले पुरुषों को शान्ति कैसे मिल सकती, बिना शान्ति के सुख भी असम्भव है। सुख की अनुभूति अनासक्त, कर्मयोग का उदय है। निष्कामिता ही भगवत्प्राप्ति का आधार है।[4] गीता में योगेश्वर कृष्ण अर्जुन के प्रति उपदेश देते हैं कि " जल में वायु नाव को जैसे हर लेता है वैसे ही विषयों में विचरती हुयी इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय अयुक्त पुरुष की बुद्धि का हरण कर लेती है।[5] इस लिये

१- श्रीमद् भागवत- ७।१५, ६।१।५१, सूरसागर- १।५९

२- ,, - ७।९।४०, ७।९।२७

३- ,, -७।७।

४- गीता - २।६६

५- गीता - २।६७

जिस पुरुष की इन्द्रियां सब प्रकार से इन्द्रियों के विषयों से वश में की हुयी होती है, उसी का बुद्धि स्थिर बताया गया है।[1] और यदि जो पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगों को मन से चिन्तन करता है, उसी का बुद्धि मूढ, मिथ्याचारी एवम् दम्भी कही गयी है।[2] जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ। कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है उसे ही बुधजन श्रेष्ठ कहते हैं।[3] इसलिए शास्त्रों में जितने भी नियम सम्बन्धी आदेश है उनसब का एक मात्र तात्पर्य काम, क्रोध, लोभ- मोह, मद और मत्सर इन ६ शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अर्थात पांचों ज्ञानेन्द्रियां और एक मन ये छः वशीभूत हो जाए। यदि प्रयास के बावजूद असंयमित हो रहता है तो उसका श्रम व्यर्थ ही कहा गया है।[4] क्योंकि तत्वानुसंधान में शरीर से श्रेष्ठ इन्द्रियां, फिर मन, तदनन्तर बुद्धि और सबसे बलवान आत्मा बताया गया है।[5] जो निर्विकार एवम् सर्वशक्तिमान है, क्योंकि वह सनातन अंश से प्रादुर्भूत है।[6] श्रीमद्भागवत में विषय वासनाओं को प्रेरित करने वाले कई प्रसाधन गिनाएं हैं जिन्हें हम रजोगुण एवम् तमोगुण के अन्तर्गत परिगणित कर सकते हैं- जैसे- राग, द्वेष, शोक मोह, मद मान, अपमान, अन्यत्र दोषानुदर्शन छल, हिंसा, दूसरे की प्रभुता को देखकर अकारण ईर्ष्याभाव, तृष्णा, प्रमाद, भूख, नींद ये सब जीवों के प्रबल शत्रु हैं।[7] मानस में भी विज्ञान दीपक प्रकरण में तथा श्रीमद्भागवत के पुरन्जनो आख्यान[8] में विषयवासनाओं की और ही संकेत किया गया है। अतः यह भक्ति मार्ग की अवरोधक गतियां हैं।

१- गीता- २।६८,
२- गीता- ३।६
३- गीता- ३।७
४-श्रीमद्भागवत- ७।१५।२८
५- गीता- ३।४२
६- गीता-२।४३, १५।७
७- श्रीमद्भागवत- ७।१५।४३-४४
८- रा०मा०- ७।११८ का२-७

आशा :-

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत आशा को दुख का कारण और निराशा को सुख का हेतु कहा गया है।[1] जब जीव के मन में विषयों के प्रति आसक्ति होती है तभी आशा का जन्म होता है। जब मन में विवेक की जागृति होती है तभी मनुष्यों को विषयों से अरुचि और वैराग्य होता है। आशा विषयों के चाह की एक तारतम्य श्रृंखला है, स्थिर भाव की ऐन्द्रिक भूमि है। आशा का विच्छेदन करने वाला यदि कोई वस्तु है तो वैराग्य।[2] विषयों के प्रति जब मानव मन का वैराग्य दृढ़ होजाता है तभी आशा से निवृत्ति होती जाती है। क्योंकि आशा इन्द्रियों के विषयों का भाव होने के कारण यह पन्चतन्मात्राओं के विषय मार्ग की ही स्वरूप की संरचना करती है। यह रजोगुण की प्रकृति है। अत: यह भक्ति मार्ग का बाधक मनोविकार है।

तृष्णा :-

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत तृष्णा का उदय ऐन्द्रिक मनोविकारों की आसक्ति का परिणाम बताया गया है जिसका सम्बन्ध भोग वृत्ति से है। तृष्णा सांसारिक या ऐन्द्रिक कर्मयोग की आधार भूमि है। और जीव के बन्धन का कारण तथा जन्म-मृत्यु धर्मा योनियों में भटकाने का भी परिणाम है।[3] तृष्णा का सम्बन्ध चाह के साथ-साथ धन और आसक्ति से भी है। अत: इसका मन से त्याग अवश्य करना चाहिये। यह रजोप्रधान वृत्ति का कारण है।

१- श्रीमद्भागवत- ११।८।४४
२- ,, - ११।८।२८
३- ,, - ७।१३।२२

प्रमाद:-

यह तमोगुण प्रधान वृत्ति का कारण है, प्रमाद के कारण व्यक्ति लोक एवं वैदिक आचरण के प्रतिकूल कर्म करता है जिसे कुकर्म या दुष्कर्म कहते हैं। इस वृत्ति के कर्म का मूल स्रोत इन्द्रियों को ही तृप्त करने के लिए ही होता है। इसी के द्वारा असत् मार्ग एवम् दुखदायक शरीर की प्राप्ति होती है।[१] अत: इसका त्याग नितान्त प्रयोजनीय है।

आलस्य:-

यह तमोगुण प्रधान वृत्ति है। किसी भी कार्य को न करने का भाव और भाग्यवश कर्म से सफलता मिलती है इस वृत्ति से समय व्यतीत करना आलस्य का लक्षण है। यह भक्ति में विघ्न स्वरूप है। इसका आचरण श्रद्धा, उत्साह और विश्वास के प्रतिकूल होता है। यह जीव की मोहिनी तामसी वृत्तियों में से एक है। गीता में आलस्य, प्रमाद, निद्रा को तमोगुणी वृत्ति के रूप में कहा है,[२] यह निष्क्रिय रूप से ऐन्द्रिक विलासिता एवम् देहादि जड़ शरीर को ही आत्मा मानने वाला मिथ्या भाव विकार है। महात्मा सूरदास लिखते हैं — कहा करते थे आगे राम जपेंगे, बीच में काल आ गया, वश नहीं रह गया। हरिनाम लिए बिना हरि को भुला कर जीवन यों ही व्यतीत कर दिया।[१]

अत: निरन्तर भाव की एक-रूपता में बाधा डालने वाला आलस्य एक भाव विकार है जो तारतम्य को तोड़ देता है।

१- सूरसागर- १।२७
२- ना०भक्तिसूत्र- ७७

माया:-

माया को भक्ति पथ की सबसे बड़ी बाधा कहा जाता है। क्योंकि नेत्रोन्द्रियों द्वारा जो जगत् देखा जा रहा है वह माया का ही परिणाम है। माया मनुष्य को किस प्रकार नचाती है इसका वर्णन वेद, शास्त्र एवम् पुराणों से छिपा नहीं। महापुरुषों- अमहर्षियों ने शास्त्रों में माया का निरूपण दो रूपों में वर्णन किया है।

१- माया भगवान की है अर्थात भगवान माया पति है।
२- माया चराचर जगत् की सृष्टि स्वरूपा है। जड़ और अचित तत्व का विलास मायानुकूल है।

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भगवान कपिल अपनी माता देवहूति को माया के परिप्रेक्ष्य में कहते हैं कि--

" मेरी स्त्रीस्वरूपिणी माया की शक्ति को देखो कि वह बड़े- बड़े दिग्विजयी वीरों को भी केवल भ्रुकुटि भंग से(चलाकर) अपने पैरों में लुटा लेती है।[१] भगवान कृष्ण ने मां यशोदा के ऊपर इसी योग माया से विश्व रूप का दिग्दर्शन कराया था।[२] मां यशोदा का भगवान कृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव(पुत्र स्नेह) यह भगवान की माया के कारण ही हुआ। अतः पुत्र भाव को मां यशोदा जानती हुई- भगवान कृष्ण की शरण को ही अन्तिम् मुक्ति की शरण मानती हैं।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ३।३१
२- श्रीमद्भागवत- १०।८।४३
३- श्रीमद्भागवत- १०।८।४२

भगवान अपनी माया के द्वारा विश्व को विमोहित करते हैं,[1] भगवान अपनी माया के द्वारा विश्व को चमत्कृत करते हैं। क्योंकि यह माया दुस्तर है जो उनकी शरण लेता है वही इसे पार कर पाता है।[2]

माता देवहूति अपने पुत्र भगवान कपिल से कहती हैं कि प्रभो मैं इन्द्रियों की विषय लालसा से ऊब गयी हूं। इनकी इच्छा पूरी करते करते और अधिक अज्ञानांधकार में पड़ गयी हूं। -+++- -+++- -+++- आप सम्पूर्ण जीवों के स्वामी आदि पुरुष हैं। अज्ञानांधकार से घिरे हुए पुरुषों के लिए आप सूर्य की भांति उदित हुए हैं। इन देह गेह आदि में जो मैं मेरे पन का दुराग्रह होता है वह भी आपका ही कराया हुआ है। अतः आप मेरे इस महामोह को दूर कीजिये क्योंकि यह सब आपकी माया का ही परिणाम है।[1] यहां मोह और अज्ञान को सामूहिक रूप से "माया" कहा गया है। माया से विद्या और अविद्या दोनों की ही सृष्टि होती है। ये दोनों भगवान के ही शरीर ही हैं। विद्या से मुक्ति और अविद्या से बन्धन होता है।[2]

भगवान कपिल ने त्रिगुणात्मक प्रकृति स्वरूपा माया का निराकरण सांख्य में अनासक्ति का उपदेश देते हुए विवेचित किया है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति स्वरूपा माया के द्वारा ही अज्ञान और मोह का प्रादुर्भाव होता है। जब व्यक्ति का मन सत्व, रजस, आदि गुणों में यदि आसक्त होता है तो वह बद्ध है। इसके विपरीत यदि मन भगवान में अनुरक्त हो गया है तो वही मुक्त है। गुणेषुसक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि-
- मुक्तये।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ३।२५।७-१०
२- श्रीमद्भागवत- ११।११।३-४
३- श्रीमद्भागवत- ३।२५।१५

ईश्वर स्वयं योगमाया को अंगीकार करके अपने अवतार का कारण बनते हैं। लेकिन असंग रहते है क्योंकि वह मायापति है।[1] भगवान इसी योगमाया से लीला का विस्तार करते हैं।[2] माया से परे[3] होने के कारण साधारण मनुष्य का सा स्वरूप धारण करते हुये पृथ्वी, धेनु, ब्राह्मण और देवता तथा सन्तों की रक्षा तथा असुरों के उद्धार के लिए लौकिक चरित्र विधान का सम्पादन कर मनुष्यों के लिए उनके बताये हुये उपदेशों से शान्ति के मार्ग का निष्पादन करते है। लेकिन जो लीलाचरित्र और क्रियायें उदित की जाती है वह सब माया में ही अवस्थित है। अर्थात माया के बोध की क्रियायें स्वयम् मार्ग है। यह भी उनकी ही कृपा है। कृपा रूप में विद्या माया द्वारा ही मुक्ति की स्थिति प्राप्त होती है। भगवान मैत्रेय विदुर जी से कहते हैं कि माया निराकार भी है क्योंकि उस निराकार माया से काल की प्रेरणा द्वारा महत्तत्व हुआ और तमोगुण का नाश करने वाले विज्ञान आत्मा ने जीव के शरीर में स्थित होकर संसार को प्रकाशित किया।[4] इस माया शक्ति के कारण ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होते है, ईश्वर स्वयं इस माया से नितान्त असंपृष्ट है।[5] माया के ही कारण मैं और मेरा का बोध होता है।[6] माया अविद्यास्वरूपिणी पिशाचिनी के सदृश होने के कारण मनुष्य को मोहती है।[7]

१- भागवत- १।११।३८

२- भागवत- ३।५

३- भागवत- १।७।२३, २।१०।३४

४- भागवत- ३।२७

५- भागवत- ८।१

६- भागवत- २।६।२

७- भागवत- ६।६२

माया परदे के सदृश आंखों के सामने संकेत रहता है जिससे तत्व दर्शन सुलभ नहीं हो पाता ।[1] स्वयं ब्रह्मा, विष्णु और महेश इस माया से अछूते नहीं रहे अर्थात सभी को माया ने विमोहित कर रखा है।[2]

अत: भक्ति मार्ग में आने वाली सबसे बड़ी बाधा माया ही है क्योंकि योगीजनों को भी ऋद्धि और सिद्धि स्वरूपिणी माया ही आकृष्ट करके योगभ्रष्ट कर देती है । त्रिगुणात्मक प्रकृति का विस्तृत विश्व रूप यह माया का ही खेल है । मानव मन के चित्त विधान की सम्पूर्ण क्रियायें एवम् चेष्टा माया से निवृत्त होने के लिए ही किए जाते हैं ।अहंकार ,बुद्धि, मन इन्द्रियां तथा अधिष्ठातृ देवता और शरीर पांच महाभूत एवम् चेतन प्रकृति जीव यह सब माया ही है । इनको ईश्वराभिमुख करना ही माया कृत साधन है । द्वैत तक की अवस्थाएं माया कृत ही है । अत: इसका दुस्त्यज्य अत्यन्त दु:साध्य है ।

1- भागवत- 1।8।19

2- भागवत- 3।31।37

(घ)- भक्ति पथ की बाधाएं :-

तुलसी साहित्य में -

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत भक्तिमार्ग में आने वाली बाधाओं में कुसंगति माया, सांसारिक सुख, ऐश्वर्य, भोग, नारी, सन्तान अर्थात गृहासक्ति तथा काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर दम्भ, अज्ञान भ्रम संशय इत्यादि को प्रमुख रूप में स्वीकार किया है। इन्हीं के कारण जीव अधोगति को नाना योनियों में भ्रमित रहता है।[1] महर्षि नारद ने भक्तिसूत्र में इसीलिए कुसंग के सर्व रूप त्याज्य पर बल दिया है।[2] क्योंकि इस कुसंग से कुण्ठाग्रस्तता, विषय लोलुपता, अपवित्रता, असहिष्णुता, अविवेकता, निर्दयता, हिंसा, क्रोध मान दम्भ अभिमान अशान्ति इत्यादि नाना प्रकार के दुर्गुण उद्भूत हो जाते हैं, जिसके कारण मनुष्य गीता के अनुसार असंत जैसे दुराचारी लक्षणों के परायण रहकर पथभ्रष्ट कारक निषिद्ध कर्म करता रहता है, जिससे व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है।[3] इसी कुसंग के कारण व्यक्ति मनोविकार युक्त एवम् विपरीत बुद्धि को प्राप्त कर अपना सर्वनाश कर लेता है।[4] तुलसी साहित्य में रामचरित मानस के बालकाण्ड में तुलसी ~~साहित्य में~~ द्वारा वर्णित पुरुषों की वन्दना[5] तथा अरण्यकाण्ड

१- गीता- १६।१६

२- नारद भक्ति सूत्र- ४३,- दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः।

३- गीता- १६।१६, २०, १६।४-१५,

४- नारद भक्तिसूत्र- ४४, कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाश-कारणत्वात।
गीता- २।६३

५- रा०मा०- १।५।१-४, १।४।१-६
बहुरि बंदि खल गन सति भाएं। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएं।
परहित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें।।

में भगवान राम के श्रीमुख से नारद को नारी एवम् मोहविकार की रहस्यात्मकता[1] तथा राम द्वारा सार्वजनिक प्रवचन में दुष्टों (असंत) के लक्षणों को मुखरित किया गया है ।[2] अत: संक्षेप में, कुसंग की संसार की विविध योनियों में मन को पतित करने का अन्त: एवम् बाह्य संसर्गात्मक प्रसाधन है । यही रजोगुणी एवम् तमोगुणी विचारों को दृढ़ एवं फलीभूत करता है, जिसके कारण सत्व गुणी भावों का उद्रेक नहीं हो पाता है, जिसे शास्त्रों में भक्ति के आविर्भाव का हेतु माना है ।

तुलसी साहित्य में मोहविकारों एवं नारी के सम्बन्ध में बड़ा ही रहस्यात्मक विशद विवेचन हुआ है । शास्त्रों में काम, क्रोध, लोभ को नरक का द्वार निर्दिष्ट किया गया है ।[3] तुलसी के अनुसार काम क्रोध लोभ दम्भ परायण पुरुष के चिन्तन का आधार नारी, परुष वचन, इच्छा अवलंब इत्यादि है जिनको मुनियों ने प्रामाणिक बताया है ।[4] तुलसी ने

१- रा०मा०- ३।३४, ३।४४।१-४

२- रा०मा०- ७।३६।१-४,
७।४०।१-४,

३- गीता- १६।२१ - "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन:
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।
रा०मा०- ५।३८- काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत ।।

४- रा०मा०- ३।३८(ख),
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि ।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर करहिं बिचारि ।।

विषय वासना एवं षडविकारों के आश्रय से समन्वित रूप में ही नारी की निन्दा की है, क्योंकि नारी ही काम का स्वरूप है।[१] इसलिए काम के चिन्तन में सांसारिक ऐषणाएं एवम् कामनाएं प्रादुर्भूत होती हैं। गीतानुसार काम के द्वारा ही ज्ञान एवम् आत्म स्वरूप आवृत है।[२] काम नियंत्रण ही अविद्या का नाश है तथा षडविकारों से निवृत्ति है। काम के जितेन्द्रिय का आशय नारी के वासना रूप को जीतना है।[३]

१- रा०मा०- ३।४६(ख)-

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहिं राम तजि काम मद करहिं सदा सत संग।।

रा०मा०-३।४३।१-६- पुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता।
मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।
जप तप नेम जलाश्रय झारी।
होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।।

काम क्रोध मद मत्सर भेका।
इन्हहिं हरष प्रद बरषा एका।
दुर्बासना कुमुद समुदाई।
तिन्ह कहं सरद सदा सुखदाई।
धर्म सकल सरसी रुह बृन्दा।
होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा।
पुनि ममता जवास बहुताई।
पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई।।

रा०मा०- ३।४३।८- पाप उलूक निकर सुखकारी।
नारि निबिड़ रजनी अंधियारी।
बुधि बल सील सत्य सब मीना।
बन सी सम त्रिय कहहिं प्रबीना।।

४- गीता- ३।३९- आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
काम रूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन।।

५- गीता- ३।४१-४३।

तुलसी ने उत्तरकाण्ड में माया एवम् मानस दोनों में इन्हीं विकारों का संयोग माना है।[१] विनयपत्रिका में निश्छल मन द्वारा तुलसी का आत्म संवेदना विनयावनत है जिसमें संसारी मन की दीन हीनता एवम् अज्ञानता का मूढ़ भाव विद्यमान है। इन बाधाओं से मुक्ति पाने के लिए तुलसी आत्म व्यथा की प्रति रूपिका विनयपत्रिका को लेकर भगवान राम के लिए माता जानकी की सिफारिश संपुष्ट करवाते हैं, कि इस कलियुगी मन में ही सम्पूर्ण कुप्रवृत्तियों का आगार है, जो ज्ञान, बल, बुद्धि, तेज तथा स्मृति को आच्छादित किये हुये है, जिसके कारण अनपायिनी भक्ति का संसर्ग नहीं हो पाता है।[२] भक्ति संसर्ग का आशय सम्पूर्ण खेद, संशय एवं त्रिताप तथा मानस रोगों से मुक्ति पाना है। भक्ति ही आवरण माया के बाधाकार स्वरूप से छुड़ाने की निर्विकारात्मक शक्ति है। अतः स्पष्ट है कि तुलसी की दृष्टि षडविकार युक्ता नारी पर विशेष तौर पर गया क्योंकि वही धर्म ज्ञान, जप तप तथा नाना प्रकार के शुभ आचरणों की विरोधिनी हैं। कई समालोचक कितने इसी तथ्य के आधार पर नारी के धर्म विरोधी भाव के पक्ष को अभिव्यक्त करने में नहीं चूके हैं- डा०बल्देव प्रसाद मिश्र के अनुसार -"विषयों में सबसे प्रबल है कामोपभोग और पुरुषों के लिए इसका प्रधान साधन है - प्रमदा अथवा नारी। इसलिए विषय वासना की निंदा को अपना प्रधान लक्ष्य बनाने वाले गोस्वामी जी ने कोई कसर नहीं रख छोड़ी है।[३]

१- रा०मा०- ७।१२०(ख) ।५-१६,

२- वि०प०- ८२, १६७, १७५, १३६, ८३

३- तुलसी (साहित्य) दर्शन- पृष्ठ- ८०

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार:-

"तुलसी दास ने नारी जाति के लिए बहुत आदरभाव प्रकट किया है। पार्वती, अनुसुया, कौशल्या, सीता, ग्रामवधु आदि की चरित्र रेखा पवित्र और धर्म पूर्ण विचारों से निर्मित हुई है। कुछ आलोचकों का कथन है कि तुलसीदास ने नारी जाति की निन्दा की और उन्हें ढोर गवांर की कोटि में रखा। परन्तु यदि मानस पर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाय तो विदित होगा कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए जबकि नारी ने धर्म विरोधी आचरण किये।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार:-

" युग व्यापक विराग और तप की भावना के कारण तुलसी ने नारी के उस रूप का विरोध किया है जो तप और निवृत्ति में बाधक है।[2] ईश्वर माया और अपने स्वरूप को न जानना ही अविद्या, मोह या अज्ञान है इसी को अविवेक भी कहते हैं।

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - पृष्ठ- ३६४

२- तुलसी - संपा० उदयभानु सिंह, नारी भावना निबन्ध में संकलित, पृष्ठ- १५२

अविवेक:-

नित्यानित्य का बोध न होना अविवेक है । तुलसी ने मायाकृत गुण दोष को यथार्थ न देखने वाले को ही अविवेकी कहा है ।[१] इसी अविवेक के आश्रय से व्यक्ति कुकृत्य एवं निषेधात्मक कर्म करता है । जिसके कारण वह श्रेय साधनों से च्युत हो जाता है ।[२] गीता में भगवत्स्वरूप के विरोधी ज्ञान को अज्ञान कहा है,[३] अतः अज्ञान भी भक्ति पथ की बाधा है । भ्रम को भी अज्ञान का प्रतिरूप ही बताया है । असत्य वस्तु को सत्य समझना भ्रम है ।[४]

१- रा०मा०- ७।४१-

"सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अविवेक ।।

२- रा०मा०-७।३३- संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ ।

रा०मा०- ७।३३क- काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुख रूप ।

रा०मा०- ७।४३।२- ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप ।

३- गीता- १३।११

४- रा०मा०- ३।४४।३- जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी ।
ज्ञान रंक नर मंद अभागी ।।

विनयपत्रिका- ११६, १२०, १२१,

दोहावली- ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४४६ ,

तुलसी ने मोह को भी भक्ति पथ का बाधक कहा है, यह दुष्प्रवृत्ति का कारक है, अज्ञान, मूढ़ता, तथा प्रमाद इसके स्वाभाविक अवगुण है। तुलसी ने अपने साहित्य में माया को ही भक्ति विरोधिनी कहा है। यह अतिशय दुष्ट रूपा है जो जीव को बलात् भवबन्धन में फांस देती है जिसके कारण जीव नाना प्रकार की योनियों में भ्रमता है।[1] काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर, अज्ञान इत्यादि माया का परिवार है।[2] अतः जीव इन्हीं परिवारों के क्षणिक एवम् वैषयिक सुख को परम सुख मानकर नाना क्लेश भोगता रहता है। इसकी अभिव्यक्ति सभी शास्त्रों में तुलसी ने की है। यही जीव को ईश्वर से विमुख रखती है।[3] यह प्रपन्च युक्ता, नश्वर एवम् असत रूपा है[4], अतः भक्ति मार्ग की व्यवधान स्वरूपा है।

१- रा०मा०- ३।१४।२- एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा।।

विनयपत्रिका-११६,
रा०मा०- ७।४३।४-५ -फिरत सदा माया कर प्रेरा,
योनि भ्रमत यह जिव अविनासी।

२- दोहावली-२६३, व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड।।

३- दोहावली-२५३,२५४,

मोह लोभ तथा श्रीमद् के उदाहरण- सोई सेंवर सुवा सेवत सदा वसंत।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत।।
दोहा० २५६ (मोह)

रा०मा०-७।७०
(क) लोभ- केहि के लोभ विडम्बना कीन्ह न येहिं संसार।- दो०२६१

रा०मा०-७।७०- श्रीमद्-
(ख)- श्रीमद् बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृग लोचनि के नैन सर को अस लागि न जाहि।।- दो० २६२

४- रा०मा०- ७।७१ (ख)

(ङ.)- बाधाओं से मुक्ति के उपाय:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार :-

भक्ति पथ में आने वाली बाधाओं का निरूपण इसी अध्याय के (घ) प्रखण्ड में विस्तार से विश्लेषित कर चुके हैं। अब हम भक्ति पथ में आने वाली बाधाओं से साधक या भक्त को कैसे मुक्ति मिलती है, उन साधनों का चित्रण यहां पर द्योतित करेंगे :--

१- सत्संग:-

सत्संग का शाब्दिक अर्थ होता है - सत का संग। सत शब्द का विश्लेषण श्रीमद्भागवत गीता में निम्न प्रकार से किया गया है कि - परमात्म सत्ता का उत्तम कर्म से अनुष्ठेय ही 'सत' है। जिसका यज्ञ, दान, तप, आदि श्रेष्ठ साधन कर्म द्वारा परमात्मा को समर्पण करना सत शब्द की मीमांसा है।[1] भागवत में समस्वरूप परमात्मा का दर्शन ही 'सत्य' कहा गया है।[2] इस प्रकार परमात्म तत्व से नाता जोड़ने वाले बाह्य एवम् अन्त: साधनों के सम्मिलन योग को सत्संग कहते हैं।

भक्ति की ~~बाधकने~~ बाधाओं को दूर करने में सत्संग नितान्त अपेक्षणीय है। भगवान कृष्ण उद्धव को सत्संग की महिमा का गान करते हुए उपदेश देते हैं कि -- जिस प्रकार मुझे सत्संग वश में कर लेता है उस

१- गीता - १७।२६-२७

२- श्रीमद्भागवत-११।१९।३७

प्रकार न योग कर सकता है न सांख्य, न धर्मानुष्ठान और न स्वाध्याय तपस्या, त्याग, इष्टपूर्त (मन्दिर आदि का निर्माण) और यज्ञादि के अनुष्ठान से भी मैं वशीभूत नहीं होता। दैत्य राक्षस पशु-पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग सिद्ध, चारण, गुह्यक जैसे साधारण जीव सत्संग के बलपर भगवद्भक्त बन गये। वृत्रासुर, प्रह्लाद, बालि, बाणासुर, सुग्रीव, हनुमान, जटायु एवम् गोपियां आदि ने सत्संग से ही भगवत्प्राप्ति की। इन लोगों ने न वेदशास्त्र का अध्ययन किया था, न महापुरुषों की उपासना की थी न तप किया था। केवल सत्संग किया था। उन्हीं के बल पर इन्हें भगवत्प्राप्ति हुयी।[१] शौनकादि ऋषियों का कथन है कि सत्संग से किसी साधन या भोग ऐश्वर्य की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि वह देवत्व धाम स्वर्ग एवं भगवद्धाम मोक्ष स्वरूपा है।[२] सूत जी का कथन है कि सत्संग के द्वारा ही आत्म ज्ञानी सत्पुरुषों का संग मिलता है। जिनके निरन्तर सेवन से मन की अशुभ वासनात्मक संस्कार नष्ट हो जाते हैं।[३] क्योंकि सद् पुरुषों के सदुपदेशों से मन की आसक्ति एवम् कामनाएं नष्ट हो जाती है।[४] जो भक्ति पथ की बाधाएं हैं। और इनके नष्ट होते ही प्रेमाभक्ति का उद्रेक होने लगता है। ईश्वर में नित्य निरन्वर तैलधारावत निष्ठा एकाग्र होती हुई भाव शून्य हो जाती है। इस लिये एक क्षण का भी सत्पुरुषों का संग मोक्षदायी बताया गया है।[५] सत्संग से ही भगवान के प्रेम का आविर्भाव होता है। जब

१- भागवत- ११।१२।१-७

२- ,, - १।१८।१३

३- ,, - १।२।१८

४- ,, - ११।२६।२६

५- ,, - १।१८

जीव अनादिकाल से जन्म मरण के घोर अन्धकार में गति शील रहता है जब उस चक्कर से छूटने का उपाय सोचता है जिस क्षण भगवदोन्मुख होता है उस समय सत्संग ही प्राप्त होता है और उसकी बुद्धि दृढ़ता के साथ अन्तर्मुखी होकर भगवद् भजन करने लगती है ।[1] यही तप मुचुकुन्द जी भगवान से प्रार्थना करते हुए कहते हैं । सत्संग से ही सांसारिक विषय निवृत्त होते हैं । अन्यथा और कोई विकल्प नहीं - ध्रुव जी कहते है कि--जिनका चित्त आपके चरण कमल की सुगन्ध से लुभाया हुआ है उन महानुभावों का जो लोग संग करते हैं वे ही अत्यन्त प्रिय शरीर एवम् सके संबंधी पुत्र, मित्र, गृह स्त्री आदि की सुध नहीं करते[2] क्योंकि वे समझते हैं कि यह प्रपन्च नश्वर एवम् क्षणिक तथा अज्ञान कल्पित है । इसीलिये भागवत में ऋषभदेव जी कहते हैं कि --

महापुरुषों की सेवा करना ही खुला मुक्ति का द्वार प्राप्त करना है और स्त्रीसंगी कामियों का संग नरक का द्वार प्राप्त होना सम्पूर्ण शास्त्रों का निचोड़ बताया है ।[3] इस लिये मनाधीन जो जगत की आसक्तियां है । उसे सत्संग ही क नष्ट करता है ।[4] क्योंकि अनासंग भाव ही भक्ति लाभ का हेतु बताया गया है -अर्थात निष्काम परायण होना ही भक्ति की प्राप्तव्य स्थिति है ।[5] सत्संग सारे अनर्थों को हर लेता है ।

१- भागवत- १०।५१।५८

२- भागवत- ४। ।१२

३- भागवत- ५।५।२

४- भागवत- ११।१२।१-२

५- भागवत- १।२।६

मनुष्य के भीत की कुतर्क वासनाएं स्वंम् वाह्य आश्रय भूता मन की चान्चल्य स्थिति भक्तों के चरित्र सुनने तथा जपने से स्थिर स्वंम् नष्ट हो जाती है ।[1] और भक्ति भाव पुष्ट हो जाता है ।[2] अर्थात सत्संग सारे अनर्थों को हर लेता है ।

महापुरुषों के संग से या भक्त तथा साधू सन्तों के सुसंग से भगवान के चरित्र लीला, और प्रताप का ज्ञान या विवेक जागृत होता है।[3] सत्संग से ही ज्ञान का उदय होता है जिससे अज्ञान रुपी मोह को नष्ट किया जाता है ।[4] भागवत में भक्तों के संग को परम पुरुषार्थ की सिद्धि लाभ कहा है ।[5] जिससे भक्तियोग की प्राप्ति होती है । सत्संग से ही प्रभु या भगवान का साक्षात्कार सम्भव होता है ।[6]

जिसप्रकार सत्संग सत्पुरुषों या साधु जनों का हृदय है उसी प्रकार साधू जनों का हृदय भगवद् हृदय है ।[7] इसीलिये साधुजनों का संग श्रेयस्कर एवं कल्याणदायी है ।

नारदभक्ति सूत्र के प्रणेता नारद देवर्षि कहते हैं कि भक्त और भगवान के कुछ भी भेद नहीं । दोनों एक है ।[8] क्योंकि आदि ब्रह्म

१- भागवत- ५।१३।२५

२- भागवत- ३।१३।४

३- भागवत- ५।१८।११

४- भागवत- ५।१२।१६

५- भागवत- २।३।११

६- भागवत- ११।११।४८

७- भागवत- ९।४।६८

८- ना० भ० सू०- ४१

ने जो गुणदोषमयी सृष्टि की संरचना करते हुये सृष्टि का विभाजन किया है। भक्त की समत्व दृष्टि एवं चेष्टा सृष्टि बद्ध नहीं होती बल्कि सृष्टानुमुख होती है भक्त का तादात्म्य भगवद् परायण होता है। यह तभी सम्भव होता है जब भक्त के पुण्योदय विविध साधनों द्वारा पुन्जीभूत किये जाते है। पुण्योदय से ही सत्संग की प्राप्ति होती है। यह सत्संग भगवत्कृपा के अधीन होता है। सन्त कृपा तभी करते हैं जब भगवद् कृपा होती है - इन्हीं कृपा से भक्ति रूपी फल की प्राप्ति होती है।[1]

सत्संग से ही विषय, मन के संकल्प विकल्प तथा कामनाएं एवम् वासनाएं और जगत की आसक्तियां जो मायिक हैं नष्ट हो जाती है। जिसे अन्त:करण की शुद्धि का हेतु कहा गया है, बाह्य इन्द्रियां अन्तर्मुखी होकर भगवान के लीला चरित्र, ध्यान और स्मृति द्वारा के द्वैतात्मक संसारी जगत नष्ट कर देता है। और अद्वैत की पराकाष्ठा में निद्वन्द्व विचरण करने लगता है। ऐसे परमहंसों का संग साक्षात मोक्ष एवम् भगवतत्प्राप्ति स्वरूपा है।

... :-

सत्संग, गुरुकृपा, शास्त्र कृपा, आचार्य कृपा, तथा भगवद्कृपा इत्यादि पर आधारित होता है जिन सद्ग्रन्थों में गुणातीत भगवान् की लीला कथाएं, अलौकिक चरित्र की गाथाएं संकलित होती है वही ग्रंथ अपौरुषेय शास्त्र है। जिन शास्त्रों से समत्व बुद्धि की समता की धारणा स्थिति सम्पन्न हो वही सद्ग्रन्थ है। वही संसार सागर से तारने की पारलौकिक नौकाएं हैं।

१- ना० भ० सू०- ३८

२- गुरु :-

आदि सृष्टि का आविर्भाव त्रिगुणात्मक प्रकृति एवम् पुरुष के प्रवर्तनात्मक संयोग से, नियन्ता द्वारा क्रियाशील हुआ ।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत इहलोक एवम् परलोक के मार्गों का जीवन विधान गुरु शिष्य पद्धति पर आधारित है । जिसमें पशुत्व से मानवता तथा मनुष्यता से देवत्व और देवत्व से ईश्वरत्व एवं ईश्वरत्व से ब्रह्मत्व तक का अनुशीलन इनकी वाणी द्वारा उपदेशित सृजित शास्त्र एवं ग्रन्थों में अनुस्यूत है । जिसमें जगत्कारण मीमांसा तथा मानव जीवन से लेकर आत्मा तक का ज्ञान ।परमात्मा में एकाकार होने की विविध अनुसंधानात्मक प्रक्रियायें- महापुरुषों, सन्त एवम् गुरुओं के आचरित सिद्धान्तों के पटल संगुम्फित किये गये है । जिनमें साधना की विभिन्न साधन क्रियायें - ज्ञान, भक्ति, कर्म एवं योग अनुस्यूत है । जिनका लक्ष्य ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुसंधान है । अर्थात भक्त और भगवान की अभेदता का क्रियायोग का समर्पण के तथ्य का निरुपण मुखरित किया गया है ।

साधक के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने का प्रथम पाद 'गुरु' कृपा पर आधारित है । गुरु का शाब्दिक अर्थ होता है हृदय में मायिक अज्ञान से निवृत्त कराकर ज्ञान का जागरण कर दे । गुरु शब्द का वाच्यार्थ है ।

हिन्दू धर्म की साधना प्रणाली में कई गुरुओं के आश्रय का विधान विवर्दित किया गया है । बाल्यकाल में धर्म शिक्षा के संस्कार को व्यवस्थित रुपरेखा देने के लिए 'दीक्षा गुरु' का भी उल्लेख है ।

इसके पश्चात शैक्षिक जगत में "शिक्षा गुरु" तथा धर्म एवं अध्यात्म जगत के अनुष्ठान में "परम गुरु" का भी वर्णन अवलोकनीय है। वैसे गुरु शब्द का प्रयोग पुरोहित तथा माता, पिता, आचार्य, सन्त, साधु, महापुरुष और भगवान, ईश्वर के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

जगत की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करने वाली शक्तिवान सत्ता के साथ भी गुरु शब्द का प्रयोग ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में ~~प्रकृतिस्वरूप की जो सत्ता प्राणवान है~~ दृष्टव्य है।[1] संसार की विभिन्न योनियों में प्राणियों की जो सत्ता प्राणवान है, उनको भी महापुरुषों ने "गुरु" रूप में स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत महामुनि दत्तात्रेय ने (२४) गुरुओं को अपनी बोध दृष्टि का आधार बना कर परमहंस ज्ञान का विस्तार किया।[2] तन्त्रवचनाकार का मंतव्य है --

"मधु का लोभी भ्रमर जिस प्रकार एक फूल से दूसरे फूल पर चला जाता है - उसी प्रकार ज्ञान लुब्ध शिष्य अनेकों गुरुओं का आश्रय ग्रहण कर सकता है। अतः सभी लोग कुलगुरु से धर्मानुष्ठान के वृती हो जाने का विधान विवक्षित है।[3]

१- सूक्तिसुधाकर- गुरु-ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुसाक्षात परब्रह्म तस्मै श्री देवाय नमः॥

२- श्रीमद्भागवत- ११।....

३- "मधु लुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत।
ज्ञान लुब्धस्तथा शिष्यो गुरो गुर्वन्तरम् व्रजेत।
तन्त्र वचन।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गुरु शब्द का प्रयोग दैवीय गुणों के साथ-साथ मानव जाति से लेकर विविध योनियों तक के प्राणियों जीव ,जन्तुओं , तथा अगोचर वस्तुओं तक को गुरु शब्द से संयोजित किया गया है । अर्थात शरीर, इन्द्रिय, तथा मन और बुद्धि एवं अहंकार तक के जो क्रियात्मक विस्तार हैं -- इनसे वास्तविक सत्ता का बोध हो जाए गुरु शब्द का भावार्थ है । परब्रह्म भी गुरु शब्द के अन्तर्गत आते हैं ।

गुरु शिष्य परम्परा में गुरु का अपना एक विशिष्ट स्थान है। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत गुरु, साधू , या सन्त के ये विशिष्ट लक्षण बताए गए हैं-- जिन पुरुषों में यह श्रेष्ठ लक्षण विद्यमान हैं- वह गुरु श्रेणी में आते हैं लौकिक एवम् पारलौकिक जगत में वही प्रशंसनीय एवम् इतिहास जन्य आदरणीय है ,यथा--

गुरु या सन्त वह है जो निष्काम एवं संयमी तथा भगवत्परायण होता है । जिनका मन भगवान की लीला कथाओं में अनुरक्त रहता है ।[1] जो सबका दयालु, सहनशील एवम् क्षमावान तथा परोपकारी एवं सुहृद है । दूसरों के अपकार करने पर वैरभाव से रहित, क्रोध हीन,[2] व्रतदेता, और परमशान्त होता है । जिनका चित्त आत्मचिन्तन में लीन [3]अमानी, समदृष्टि स्वरुपा होता है । उनकी धारणा ममता एवम् स्पृहा रहित अहंकार शून्य, बौद्धिक मानसिक, शारीरिक आदि अवस्थाओं में जिनकी प्रवृत्ति संग्रह परिग्रह से रहित होती है ।[4] जो सत्पुरुषों के सम्मानक[5]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२६।२८

२- ,, - ३।२५।२१

३- ,, - ११।११।३०

४- ,, - ११।२६।२७

५- ,, - ३।२५।२३

←-------------------- :स्वल्पाहारी, भूख, प्यास , शोक, मोह और जन्म- मृत्यु का जयी[1] तथा लौकिक एवम् पारलौकिक कर्मों का आसक्ति एवं फल का त्यागी,[2] राग द्वेष ,सर्दी- गर्मी ,सुख- दुख आदि द्वन्द्वों में एक रस, समस्त देह धारियोंका अकारण हेतु ये लक्षण साधू , गुरुओं एवं सन्तों में विद्यमान होते है । ~~प्रकृति-और~~ जिनके चरणकमलों की पूजा बड़े बड़े योगेश्वर किया करते है । प्रकृति और पुरुष के अधीश्वर स्वयं भगवान ही गुरु देव के रुप में प्रगट होते हैं जिन्हें लोग भ्रम से साधारण मनुष्य मानते हैं । [3] जो साक्षात् वेद स्वरुप है ।[4] जिनके पास भगवान की साक्षात् गुप्त रहस्यमयी लीला कथाएं होती है । जो अपने शिष्य को छिपाते नहीं वरन् उदारता पूर्वक लीला कथाओं के द्वारा भगवत्साक्षात्कार करा देते है ।[5] आत्मज्ञानी गुरुदेव ही शिष्य के अन्तःकरण में व्याप्त भ्रम एवं सन्देहों को छिन्नभिन्न कर देते हैं । [6] इनकी सेवा से अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त होती है ।[7] क्योंकि यह अनुग्रह शील देवता के रुप में सबके सुहृद एवं हितैषी होते हैं जो भगवान को देखने के लिए शिष्य को अन्त-र्दृष्टि देते हैं ।[8] यह संसार सागर से पार जाने के लिए दृढ़ नौका के समान आश्रय होते है । [9] गुरुदेव ही भयभीत मनुष्यों के लिए परम आश्रय स्वरुप है ।[10] यह भगवान के परम प्रियतम होते है ।[11] जिनकी सेवा को साक्षात्

१- भागवत- ११।११।३१
२- ,, - ७।८७।१६
३- ,, - ७।१५।२७
४- ,, - ६।७।२६
५- ,, - १०।१३।३
६- ,, - ११।२८।२३
७- ,, - ७।७।३०
८- ,, - ११।२६।३५
९- ,, - ११।२६।३२
१०- भागवत- ११।२६।३३
११- ,, - ११।१४।१५

मुक्ति का द्वार बताया गया है ।[1] और इनके आगमन से श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास होता है ।[2] और इनके प्रसन्न होने से योगि दुर्लभ नित्य वैकुण्ठ धाम भी सुलभ हो जाता है ।[3] श्री गुरुदेव की कृपा से इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के सभी दोषों पर मनुष्य विजय प्राप्त कर लेता है ।[4] और गुरु मुख द्वारा श्रवण से मनुष्य के मन और कर्म की शुद्धि होती है ।[5] क्योंकि इनके प्रसन्न रहने से व्यक्ति का कभी भी अमंगल नहीं होता है ।[6] श्रीगुरुदेव की चरण सेवा एवम् पूजा से ज्ञान लाभ होता है, जो परमात्मा के साक्षात्कार का माध्यम बनता है । क्योंकि इसी ज्ञान दृष्टि से अज्ञान रूपी काम क्रोध लोभ, मोह-मद, मत्सर आदि मायिक षड विकारों का नाश होता है ।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि भक्ति[7] साधना में आने वाले विघ्नों से मुक्ति पाने के लिए गुरु की शरण लेना ही साधक का परम कर्तव्य है । क्योंकि गुरु की वाणी ही शास्त्रकृपा का रूप लेती है । इसलिये बाह्य जगत से अन्तर्जगत में प्रविष्ट होने के लिए श्रीगुरुदेव की नितान्त आवश्यकता पड़ती है । क्योंकि इन्द्रियों द्वारा जो जगत जाना जाता है वह इन्द्रियों की स्फूर्ति एवम् परणति का परिणाम् मात्र है । यह वाह्य दर्शन का भेद ज्ञान गुरु कृपा पर ही सम्भव है । जिस अतीन्द्रिय सत्ता अर्थात मन द्वारा जो अन्तर्जगत का

१- भागवत- ५।५।२

२- ,, - ३।१५।२५

३- ,, - १।१।८

४- ,, - ७।१५।२५

५- ,, - ११।२१।१५

६- ,, - ६।७।२४

७- ,, - ७।१५।४५

दर्शनात्मक कारण है। उसका बोध कराना आत्मज्ञानी गुरुदेव पर ही सम्भव है। और तृतीय बुद्धि द्वारा ग्राह्य जो अतीन्द्रिय जगत है जिसे अध्यात्म जगत कहते है- उसके साक्षात्कार के लिए श्री गुरुदेव ही विवेक दृष्टि द्वारा हृदय सूक्ष्म ग्रन्थि की भेदता को मिटाते हैं - जहां से प्रेम का उदय होता है, करुणा संवेदनशील होती है चित्त द्रवीभूत होकर परमानन्द मय होना चाहता है, जहां से रसानन्द के भावों की स्थिति का उन्मेष होता है, जहां से ज्ञान शून्य भक्ति का विकास होता है। आत्मा और अनात्मा का भेद मिटने के लिए विवेक दृष्टि निष्ठावान होना चाहती है। और क्षणभंगुर जगत की नश्वरता का बोध कराकर जीव को जीवत्व भाव से अहंकार शून्य करके आत्म स्वरुप, अनन्त, अखिलात्म निराकार सत्ता का प्रतिपादन करती है। जिसे अद्वैत, तुरीय, कैवल्य, पर ब्रह्म और भगवान तथा नि: संकल्प एवम् पुरुष और प्रकृति का संयोग कहते हैं। इसलिए भक्ति, ज्ञान और योग मार्ग में आने वाली बाधाओं से मुक्ति पाने के लिए श्री गुरुदेव का आश्रय परमआवश्यक है।

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस में भी कविवर तुलसी ने भी गुरु के चरणकमलों की वन्दना करते हुए कहते हैं कि जो कृपा सिन्धु नर रुप में श्री हरि हैं तथा जिनके वचन महामोह रुपी घन अन्धकार के निवारण हेतु सूर्य के समान हैं। उनगुरु के मैं चरण कमलों की बन्दना करता हूं।[१] क्योंकि आगम शास्त्रों में गुरु को नर रुप में भगवान कहागया है।[२]

१- रा०मा०- १।१।सो०-५

२- तन्त्रालोक- २।३।५

गुरु ही ईश्वर ,ब्रह्म, और शिव स्वरुप ज्ञान और मोक्ष के साधन का प्रदाता है ।[1] उनका स्वरुप ईश्वर से भी वृहत् है ।[2] अतः गुरु बाधाओं के निवारक है ।

३- ज्ञान :- श्रीमद्भागवत के अनुसार -

भक्ति पक्ष की बाधाओं से मुक्ति पाने के लिए 'ज्ञान' का होना नितान्त आवश्यक है । ज्ञान से ही विद्या औरअविद्या का बोध होता है वेद, शास्त्र, पुराणों एवम् आगम साहित्य में ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, तुरीय तथा भगवत्प्राप्ति बताया गया है । भागवत के अनुसार-

अन्तःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियों का विवेक हो जाना ही ज्ञान है ।[3] अर्थात अन्तःकरण में जो गुण विशेष की सत्ता से सत्य सा भासने वाले असत्य ज्ञान का यथार्थ बोध हो जाने को ही ज्ञान कहागया है। वह ज्ञान जो ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार सम्पादित करा सके, ज्ञान कहलाता है ।[4] इसमें आत्मा और माया निर्मित गुणों एवं उनके कार्यों तथा व्यापारों की ओर संकेत कियागया है । जो निराकार ब्रह्म द्वारा यह विस्तारित जगत है और आत्मा का जो तत्व विधान है उसका बोध या जिज्ञासा ही ज्ञान से अभिहित कियागया है।

१- रा०मा०- ४।१७, ७।६३।३

२- रा०मा०- २।१२६।८

३- श्रीमद्भा०-११।१६।५

४- ,, -११।१६।२७

तृतीय परिभाषा- आत्मा और अनात्मा के स्वरुप का यथार्थ बोध हो जाना ही ज्ञान है ।[१] मनीषियों ने ज्ञान के दो रुप किए है - प्रथम परोक्षज्ञान और द्वितीय -अपरोक्षज्ञान --

जिस ज्ञान से - प्रकृति पुरुष, महत्तत्व ,अहंकार, पन्चतन्मात्राएं पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, पांच महाभूत और तीन गुण इन अट्ठाईस तत्वों में एक रस परमात्मा को अनुगत देखकर उनके द्वारा कार्यान्वित जगत के स्वरुप का संचालन देखकर एवम् परमात्मा को यथार्थ देखने के साध्य विधान को परोक्षज्ञान कहते है ।[२] गुणातीत ज्ञान निर्गुण ज्ञान कहागया है ।[३]

जिसमें स्थूल शरीर की उत्पत्ति, स्थिति एवम् प्रलय के बोध के साथ-साथ परम तत्व ब्रह्म की ही अनुगत सत्ता के स्वरुप के अधिष्ठान को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं ।[४]

<u>गीता के अनुसार :-</u>

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अर्थात विकार सहित प्रकृति और पुरुष का तत्वानुसंधान ही ज्ञान है ।[५]

१- भागवत- ११।२८।१८

२- ,, - ११।१६।१४

३- ,, - ११।२५।२४

४- ,, - ११।१६।१५

५- गीता- १३।२

गीता में प्रकृति या स्वभाव विशेष के आधार पर ज्ञान का विभाजन ३ रूपों में माना गया है। प्रथम सात्विक ज्ञान वह है जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक पृथक सबभूतों में एक अविनाशी परमात्मा भाव को विभाग रहित सम भाव से स्थित देखता है। उसको सत्वगुण से अभिहित माना गया है।[1] इस ज्ञान को सुधीजन सात्विक ज्ञान कहते है- यही ज्ञान मुक्ति लाभ का हेतु बनता है। क्योंकि इसी की धारणा से विवेक का उदय होता है जो नित्य अनित्य वस्तु का ज्ञान कराता है।[2] इसकी धारणा से विषयों में अनासंग भाव का उदय होता है जिसे वैराग्य का हेतु कहा गया है।[3] राजस ज्ञान वह है जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों को न्यारा न्यारा करके जानता है। उस ज्ञान को ही राजस ज्ञान कहते हैं।[4] अर्थात द्वैत भाव का अभिज्ञान राजस ज्ञान है। तामस ज्ञान वह है जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है। अर्थात जिस विपरीत ज्ञान के द्वारा मनुष्य एक क्षणभंगुर नाशवान शरीर को ही आत्मा मानकर उसमें सर्वस्व की भांति आसक्त रहता है तथा जो बिना युक्ति वाला तत्व अर्थ से रहित और तुच्छ है। यह ज्ञान शास्त्रानुसार तामस कहागया है।[5]

गीता के ज्ञान मय यज्ञ को अन्य द्रव्य मय यज्ञ से श्रेष्ठ माना है क्योंकि इस ज्ञानमय यज्ञ से सम्पूर्ण कर्मों की समाप्ति का आधार बनता है। अर्थात ज्ञानमय यज्ञ सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का अधिष्ठान है।[6]

१- गीता- १८।२०   २- नित्यानित्य वस्तु विवेक--

३- भागवत- ११।१६।२७

४- गीता- १८।२१

५- गीता- १८।२२

६- गीता- ४।३३

इस संसार के ज्ञान के समान पवित्र करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। क्योंकि इस ज्ञान की साधना में इन्द्रियों का संयम नितान्त आवश्यक बताया है।[1] श्रद्धावान पुरुष को ज्ञान लाभ का हेतु माना जाता है। अर्थात ज्ञान प्राप्ति में श्रद्धा का होना नितांत आवश्यक है।[2] गुरु, वेदान्त शास्त्रों के वाक्यों में विश्वास करने का नाम को श्रद्धा कहते हैं।[3] इस श्रद्धा के सहयोग से ही ज्ञान सुदृढ़ एवं फलवती होता है। स्वाध्याय और तपस्या से मन और कर्मों की शुद्धि होती है और ज्ञान से मुक्ति-लाभ होता है जो मुमुक्षुजनों का अभीष्ट है।[4] यह ज्ञान रूप अग्नि सभी कर्मों को भष्म करने में सक्षम होता है। क्योंकि कर्म राजस अहंकार का ही कार्य है जो कर्ता को कर्मों की ओर प्रेरित करता है इसमें मन बुद्धि चित्त और इन्द्रियां इस अहंकार के ही कार्य से क्रियाशील होते हैं। अहंकार ही मैं भाव तथा देहात्मक भाव की दृढ़ता को पुष्ट करता है, इसके मूलोच्छेदन में आत्मतत्व ज्ञान या अध्यात्म ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए महाभारतकार 'बहिर्मुखी मन, बुद्धि विषाय और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर सर्वव्यापी परमात्मभाव में संयुक्त करने के अन्तर्मुखी प्रयास को ही 'ज्ञान' कहते है।[5]

१- गीता- ४।३८

२- गीता- ४।३६

३- गुरु वेदान्त वाक्येषु विश्वास:

४- मनुसंहिता- १२।१०४

५- एकत्वं बुद्धि मनसोरिन्द्रयाणान्च सर्वश: ।
आत्मनो व्यापिनस्त्वात् ज्ञानमेतदनुत्तमाम्
- महाभारत मोक्ष धर्म

भगवान शङ्कराचार्य मणिरत्नमाला नामक ग्रन्थ में ज्ञान को मुक्ति स्वरूपा मानते हैं। कहा है --

बोधो हि को ? यस्तु विमुक्ति हेतुः

अर्थात ज्ञान क्या है ? वही जो मुक्ति का कारण है।

पशोः पशुः को ? न करोति धर्मम्।

प्राचीन शास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।

पशु से अधिक पशु कौन ? जो शास्त्राध्ययन करके भी धर्माचरण और आत्मज्ञान लाभ न करें।

योगवाशिष्ठकार कहते है कि--

संसार के प्रत्येक स्थान में अनन्तकाल से परमात्मा वर्तमान है और यह जगत भी परमात्मा का आभास रूप है। इस प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान को ही विद्वज्जन सम्यक ज्ञान कहते है--

"अनाद्यन्ताव भासात्मा परमात्मेह विद्यते।

इत्येह निश्चयं स्फारं सम्यक ज्ञानं विदुर्बुधा।

"योगवाशिष्ठ"

गीता में ४- प्रकार के साधनारत भक्तों में ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ माना है वैसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी सभी भक्त समय देने वाले है लेकिन आत्म ज्ञानी तो मेरा साक्षातस्वरूप है।[१]

कुलार्णव तन्त्रकार आत्मज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् साधन मानते है और कहते है कि यही साधन गुणातीत भगवान में एकाकार की अद्वैतात्मक, असम्प्रज्ञातत्मक समाधि की चरम पराकाष्ठा है--

---

१- गीता- ७।१६-१७

आत्म ज्ञानमिदं देवि परम मोक्षैक साधनम् ।
सुकृती मनिवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ।।
कुलार्णव तन्त्र ।

इस प्रकार ज्ञान के द्वारा ही साधक भगवत्प्राप्ति में बाधक-अज्ञान, संशय , भ्रान्ति तथा सन्देह, और भ्रम आदि की निवृत्ति करता है क्योंकि ज्ञान बौद्धिक जगत की तथ्यात्मक परीक्षण की तत्वविधि है । इसके सोपान को आत्म ज्ञान कहा जाता है । जो साधक कर्मयोग के अधिष्ठान द्वारा चित्त शुद्धि लाभ करके निर्मल चित्त स्वम् शम दमादि चतुर्विध साधनों में दक्षता प्राप्त करके आत्मानुसंधान करता है उस सद्गुण शाली व्यक्ति को ज्ञान योग का अधिकारी माना गया है ।[१]

श्रीमद्भागवत के अनुसार-

कर्म तथा उनके फलों से विरक्त होने वाले अनासक्त पुरुषों को ज्ञान योग का अधिकारी कहागया है ।[२] अर्थात जिनकी कर्मों से तथा उनके फलों से स्पृहा दूर हो चुकी हो और कामना तथा आसक्ति से विरक्ति हो गयी हो वही ज्ञान योग की साधना का अधिकारी है ।

महर्षिवशिष्ठ देव ने पूर्ण ज्ञान तक पहुंचने के लिए ज्ञान की ७ भूमिका को आधार माना है --

---

१- 'ज्ञानी गुरु' -

२- भागवत- ११।२०।७

ज्ञान भूमि: शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा ।।
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्ति नामिका ।
परार्थ भाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ।।

- योगवाशिष्ठ

प्रथम शुभेच्छा, द्वितीया विचारणा, तृतीया तनुमानसा, चतुर्थी सत्वापत्ति, पन्चमी असंसक्ति षष्ठी- परार्थ भाविनी एवम् सप्तमी तुर्यगा भूमिकाएं कहलाती है । इन्हीं सातों के एक दूसरे से आबद्ध होने पर ज्ञान के एक-एक स्तर की प्राप्ति होती है ।

१- शुभेच्छा-

शम दमादि साधन पूर्वक विवेक और वैराग्य उपस्थित होने पर मुक्ति लाभ की कामना उत्पन्न करने का नाम शुभेच्छा है । श्रीमद्भागवत के अनुसार- परमात्मा में बुद्धि का लग जाना या एकाग्र होना शम है।[1] इंद्रियों के संयम का नाम दम कहागया है।[2] तथा वैराग्य उसे बताया गया है जिसकी रुचि विषयों में न हो या विषयों से अनासंग या निर्लेप होगया हो वही सच्चा वैरागी है।[3] ~~शम~~ एवम् विवेक का अर्थ स्वधर्माचरण में आचार शुद्धि और सत्येन्द्रिय जगत में अर्थात बौद्धिक जगत में नित्यानित्य वस्तु का यथार्थ बोध को ही विवेक कहागया है ।

१- भागवत- ११।१६।३६
२- भागवत- ११।१६।३६
३- भागवत- ११।१६।२७

२- विचारणा:-

यह ज्ञान की द्वितीय भूमिका है। श्रवण मनन निदिध्यासन आदि द्वारा विचार शक्ति उत्पन्न होने का नाम ही विचारणा है। इस स्तर में पहुंचने पर ज्ञात होने लगता है कि जो कुछ जानना था उसे हमने जान लिया है। अब मन में किसी प्रकार का असन्तोष न होना, अर्थात मन: सन्तोष भाव ज्ञान की विचारणा भूमिका है।- श्रवण का का अर्थ होता है सुनना। लेकिन आत्मज्ञान के प्रसंग में श्रवण का आशय वेदान्तसार के अनुसार -- षट प्रकार लिङ्ग द्वारा ब्रह्म में समस्त वेदांत के तात्पर्य का अवधारणा करने का नाम श्रवण है[१]--

(१) षड्विधिलिङ्ग छः प्रकार है-

(१) उपक्रमोपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल (५) अर्थवाद (६) उपपत्ति।

(१)- उपक्रमोपसंहार:-

प्रतिपाद्य वस्तु के आदि और अन्त में उसी वस्तु के प्रतिपादन करने का नाम उपक्रमोपसंहार है।

(२)- अभ्यास:-

जो वस्तु जिस प्रकरण में प्रतिपादित होती है उसी प्रकरण में उस वस्तु का पुन: पुन: प्रतिपादन करना ही अभ्यास है।

१- "षड्विधलिङ्गैरशेष- वेदान्तानामद्वितीयवस्तुनि तात्पर्यविधारणम्
- वेदान्त सार, १४

(३)- <u>अपूर्वता:-</u>

प्रतिपाद्य वस्तुको प्रमाण के अतिरिक्त प्रमाण के अविषय रूप में उस वस्तु को प्रतिपादन करने का नाम ही अपूर्वता है ।

(४)- <u>फल:-</u>

प्रतिपाद्य वस्तु के प्रयोजन को सुनाना ही फल है ।

(५)- <u>अर्थवाद:-</u>

प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा सुनने का नाम अर्थवाद है ।

(६)- <u>उपपत्ति:-</u>

प्रतिपाद्य वस्तु के प्रतिपादन की युक्ति का नाम उपपत्ति है ।

इन छह प्रकार के लिंगों के द्वारा एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म के ही तात्पर्य निरूपण करने का नाम "श्रवण" है ।

<u>मनन का अर्थ</u> :- मन द्वारा विचार करना मनन है । लेकिन वेदान्त की शब्दावली में ज्ञानार्थ अविरोध युक्तियों के द्वारा सर्वदा सुनी जाने वाली अद्वितीय ब्रह्म वस्तु के चिन्तन का नाम ही मनन है ।

<u>निदिध्यासन:-</u> तत्व ज्ञानविरोधी देहादि जड़ पदार्थों के ज्ञान परिहार पूर्वक अद्वितीय ब्रह्म वस्तु के अविरोधी ज्ञान प्रवाह को निदिध्यासन कहते हैं ।

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत यही आत्मज्ञान या ब्रह्मविचार के साधन बताये गये हैं । कहा है कि हे उद्धव ! श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति ही ब्रह्म विचार के साधन हैं। इनमें सहायक-आत्मज्ञानी

गुरुदेव । इनके द्वारा विचार करके देहादि अनात्म पदार्थों का निषेध करके आत्मविषयक संदेहों को छिन्न भिन्न करके, विषय वासनाओं से उपरत होकर आनन्द स्वरूप आत्मा में मग्न होना चाहिये ।[१]

३- तनुमानसा:-

विषय वासना परित्याग करके निदिध्यासन द्वारा स्वस्वरूप में अवस्थित होने का नाम ही तनुमानसा है । इस स्तर में पहुंच जाने पर यह प्रतीत होता है कि जो कुछ सत्य है वह बाहर नहीं है । अबतक दूसरों के पास सत्य का अनुसंधान करने के लिए भटकता रहा। यह व्यर्थ प्रयास करता रहा । सत्य तो मेरे अन्दर ही है । उस समय साधक अवश्य ही सत्यलाभ करके कृतार्थ हो जाता है ।

४- असंसक्ति:-

"मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने को असंसक्ति कहते हैं । इस भूमिका में उपस्थित होने पर साधक सर्वज्ञ हो जाता है ।

५- सत्वापत्ति:-

किसी विषय में वासना न रहना अर्थात सभी विषयों में अनासक्त हो जाने का नाम सत्वापत्ति है । इस स्तर से चित्त में विमुक्ति अवस्था उत्पन्न हो जाती है । उस समय चित्त को अन्य दिशाओं में भटकने का स्वभाव नहीं रहता ।

१- श्रीमद्भागवत- ११।२८।२३

६- <u>परार्थ भाविनी:-</u>

केवल परब्रह्म में चित्त को लय करना अर्थात पर ब्रह्म के अतिरिक्त भावना न होने का नाम परार्थ भाविनी है। इस स्तर में साधक का चित्त स्वकारण में लीन हो जाता है।

७- <u>तुर्यगा :-</u>

स्वत: किम्वा, परत: किसी भी रूप में चित्त में चन्चलता उत्पन्न न होने का नाम ही तुर्यगा है। इस अन्तिम स्तर में साधक पूर्ण ज्ञानावस्था में पहुंचता है। इस अवस्था में पहुंचने पर साधक शान्त सदानन्द और जीवन मुक्त हो जाता है।

योगशास्त्र के अनुसार जो अष्टांग योग साधन है तथा वेदान्त के मतानुसार जो साधन चतुष्ट्य है एवं दर्शन शास्त्र के मतानुसार -श्रवण, मनन , निदिध्यासन और तन्त्रशास्त्र के अनुसार जो तत्व साधन है तथा भक्ति साधना के अनुसार- जो तैलधारावत् अविच्छिन्न एकात्म अनन्य प्रेम योग है , यह सब उक्त ज्ञान की ७ अवस्थाओं में या भूमिकाओं में निमज्जित है। इस ज्ञान की साधना से साधक या भक्त अथवा योगी को निश्चित ही पूर्णत्व की प्राप्ति होती है।

वैसे ज्ञान के विषय में आत्मा क्या है , ईश्वर क्या है ? तथा संसार क्या है ? इन सबको जान लेना ही परमज्ञान है उसका मोक्ष इस परम ज्ञान की चर्या का परम लक्ष्य है। इसीलिए इसके मनोयोग को पढ़ने के लिए दर्शनशास्त्र जो ज्ञान शाखा है इनके आश्रय से ही इनको जाना जा सकता है। दर्शन (६) है - यथा --

"गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतन्जले: ।
व्यासस्य जैमिनेश्चापि दर्शनानि षडेव हि ।।"

(१) गौतम का न्याय (२) कणाद का वैशेषिक (३) कपिल का सांख्य, (४) पतन्जलि का योग(५) व्यास का वेदान्त (६) जैमिनी का मीमांसा दर्शन । यह छहों आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान के साक्षात्कार की प्रशाखाएं है । इनमें जगत तथा सत्ता के आदि और अन्त पर विचार किया गया है ।

इसके विभाग है- आत्मा ज्ञान, प्रकृति ज्ञान, पुरुषज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान। इन प्रकार के ज्ञान को सामूहिक रुप से तत्वज्ञान कहते हैं । श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भगवान कृष्ण ने उद्धवको जो ज्ञान दीपक का उपदेश दिया है वह सब तत्व ज्ञान के अन्तर्गत ही आता है । भगवान कपिल ने माता देवहूति को जो महदादि तत्वों का उपदेश किया है वह सब तत्व ज्ञानाधीन ही है ।

यह ज्ञान साधना आत्म ज्ञानी गुरु देव तथा सद्ग्रन्थों द्वारा ही सम्भव होती है । वैसे योग मार्ग में जो बाधाएं आती है वह ज्ञानी के चित्त मार्ग का ही क्षुब्ध योग है ।

अत: भक्ति साधना में आने वाली बाधाओं से मुक्ति पाने का ज्ञान ही परमाश्रय है ।

४- स्वाध्याय या शास्त्राश्रय:-

भक्ति पथ में बाधाओं से मुक्ति पाने के लिए स्वाध्याय, या धर्मानुष्ठान शास्त्रानुकूल व्यवस्थित किये गये है । शास्त्रों के अनुशीलन से ही वैधी या मर्यादा मार्ग तथा अगोचर मार्ग को तय किया जाता है । वेद, पुराण ,इतिहास तथा विभिन्न युगों की संस्कृतियां

ही मानव जाति की सभ्यता और संस्कृति का बोध कराती हैं। फिर भक्ति, ज्ञान, कर्म और धर्म साधना क्षेत्र में शास्त्रों में वर्णित महापुरुषों, के उपदेश, सन्तों के लोकोत्तर आचरण तथा गुरुओं की साधनाएं स्वम् राजाओं की नीतियों का परिज्ञान शास्त्रों द्वारा ही सम्भव हो सकता है। वैसे शास्त्र का अर्थ है जो लौकिक प्रमाणों से अगोचर है, उसे जानने या उसका ज्ञान प्राप्त कराने का नाम ही शास्त्र है--

"अज्ञात् ज्ञापकं हि शास्त्रम्"

मानव जाति को कर्म करने का अधिकार शास्त्र सम्मत ही व्यवस्थित किया गया है -- आचार्य रामानन्द का कथन है कि--
"मानव को सदा वह कर्म करना चाहिए जो परम पवित्र तथा बहुशास्त्र सम्मत, कल्याण प्रदायक और प्रभु को सन्तुष्ट करने वाला हो।[1]

शास्त्रानुकूल आचारण न करने से मनुष्य को न इहलोक में सुख मिलता है और न परलोक में शान्ति। क्योंकि गीता के अनुसार कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है।[2]

नारद भक्तिसूत्रकार का कथन है कि-- "लौकिक और वैदिक प्रणाली में जो कर्म भगवद्भक्ति के अनुकूल हैं, उन्हें ही करना और जो प्रतिकूल है, उनसे उदासीन रहना। दृढ़ निश्चय होने के पश्चात भी शास्त्र मर्यादा का संरक्षण (करते रहना चाहिये) अन्यथा पतित होने की सम्भावना है।

१- वै०म०भा०- ८०

२- श्रीमद्भगवद्गीता- १६।२३-२४

लोक वेदेषु तदानुकूलाचारणं तद्विरोधिषूदासीनता ।
भवतु निश्चय दाढ़र्ष्यादूर्ध्वं शास्त्र रक्षणम् ।
अन्यथा पातित्या शङ्कया ।[1]

भक्ति शास्त्रों का ही मनन, चिन्तन एवम् प्रेम भक्ति वर्धक कर्मों का ही आचरण शास्त्रोपदेश है ।[2]

भक्ति शास्त्राणि मननी यानि तदुद्बोधक कर्माण्यपि
करणीयानि ।[2]

जो देवर्षि नारद द्वारा कथित और भगवान शिव द्वारा अनुशासित इन उपदेश में विश्वास करता है । श्रद्धा रखता है । वह निश्चय ही प्रियतम प्रभु को पा लेता है ।[3]

प्रत्येक ~~मनुष्य~~ प्राणी को विधि निषेध कर्म की पद्धतियां एवम् विधान शास्त्रों द्वारा ही जानना सम्भव होते हैं, क्योंकि महापुरुष जैसा- जैसा आचरण करते है वैसा- वैसा आचार्यगण शास्त्रों में सृजित करते हैं । इसलिए वेदान्त सूत्रानुसार --

(१) शास्त्रयोनित्वात - ब्रह्मसूत्र- १।१।३

(२) कर्ता शास्त्रार्थत्वात । ब्रह्मसूत्र- २।३।३३

इसलिये मनुस्मृतिकार का कथन है कि-- वेदों और स्मृतियों में कहे गये धर्म का अनुष्ठान (पालन) करता हुआ मनुष्य इस संसार में यश पाता है और धर्मानुष्ठान जन्य उत्तम स्वाभाविक उत्तम सुख को पाता है ।

१- नारद भक्तिसूत्र- ११।८३

२- ना० भ० सू०- ७६

३- ना० भक्तिसूत्र- ८४

वेदों को श्रुति धर्मशास्त्रों को स्मृति जानना चाहिये वे सभी विषयों में प्रतिकूल तर्क योग्य नहीं है । उनके किसी विषय में प्रतिकूल तर्क नहीं करना चाहिये ।क्योंकि उन दोनों से ही धर्म प्रादुर्भूत होता है:-

'श्रुति स्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठ न हि मानव: ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति ,
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।'[1]

मनुस्मृति-

शास्त्र ही धर्म की शिक्षा प्रत्येक प्राणियों को सिखाते हैं- कहा है कि-'अर्थ और काम में अनासक्त पुरुषों के लिए धर्म का उपदेश किया जाता है, धर्म के जिज्ञासुओं के लिए वेद ही प्रमाण है--
'अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते ।
धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति: ।'[2]

श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि --'शास्त्रों द्वारा प्राप्त तत्वज्ञान के साथ अपने कर्मों से युक्त, भक्ति निष्ठा से साध्य, अवधि रहित, अत्यन्त प्रिय, अत्यन्त शुद्ध ,प्रत्यक्ष होने वाला अनुसंधान रूपा पराभक्ति ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय है। भक्ति शब्द प्रीति विशेष में प्रयुक्त होता है और प्रीति एक प्रकार का ज्ञान ही है । जो शास्त्र का स्वरुपात्मक संदेश है ।

'ब्रह्म पाप्त्युपायश्च शास्त्राधिगत तत्वानुगृहीत भक्तिनिष्ठा साध्यानवधिकातिशय प्रिय विशदतम् प्रत्यक्षता पन्नानुध्यान रूप पराभक्तिरेवेत्युक्तम। भक्ति शब्दश्च प्रीति विशेषे वर्तते । प्रीतिश्च ज्ञान विशेष एव ।

१- मनुस्मृति - २।९।१०
२- मनुस्मृति - २।१३

अतः स्पष्ट है कि शास्त्र कृपा से ही ज्ञान का उदय होता है बुद्धि का संशय रूपी अज्ञान नष्ट होता है। शास्त्र कृपा से ही भक्ति और सुख की प्राप्ति होती है। रामचरित मानसकार का कथन है कि--

१- श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ।।[१]

२- आगमनिगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ।
तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुन्दर।।[२]

इस कलियुग में भागवत कथा (शास्त्र) भवरोग की रामबाण औषध है ।[३]

आगे भागवतकार कहते हैं कि यह भागवतपुराण की संरचना में भगवान के निष्काम प्रेम का निरूपण कियागया है जो सत्पुरुषों के लिए कल्याणदायी है । जिसके श्रवण से त्रिताप की शान्ति होती है। और ईश्वर की प्राप्ति होती है ।[४]

३- श्रीशुकदेव जी द्वारा प्रवचित कियागया यह भागवत शास्त्र कलियुग के अंधकारान्ध में गिरने वाले जीवों के लिए नौका है जो सहज ही संसार सागर से पार हो जाता है ।[५] यह शास्त्र का निर्माण मन की शुद्धि के लिए तथा भगवत्प्राप्ति के लिए निर्मित कियागया। अनेक जन्मों के पुण्यों के उदय होने पर ही भागवत शास्त्र की प्राप्ति बतायी गयी है।[६]

अतः इससे स्पष्ट है कि बिना शास्त्रों के आश्रय से कभी भी पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण महापुरुषों एवं सन्त,मुनियों के उपदेशों का वैखरी रूप शास्त्र ही होते हैं जो मानव जाति को पशुता से हटाकर मानवता की शिक्षा देते है तथा धर्म जगत में परलोक के मार्ग का सम्पादन एवं अन्तर्दृष्टि देते हैं। जीव का कल्याण करने वाले शास्त्र, ही कल्याण दायी होते हैं। जिनके संरक्षण से अगोचर वस्तु का भी दर्शन सुलभ हो जाता है। और अज्ञान, भ्रम, सन्देह, संशय तथा जन्म मृत्यु का ज्ञान कराने वाली भगवल्लीला कथाएं एव महापुरुषों के चरितांश होते है जिनके स्मरण से ही मानव संसार सागर से पार हो जाता है। अतः शास्त्राश्रय मुक्ति का ही साक्षातद्वार है।

१-रा०मा०-७।१२१।७ , २-रा०मा०-७।४८।२, ३-श्री०भा०१।६।३७
४-भागवत- १।६।८१, ५-भागवत- १।१।११ ,६- भागवत-१।१।१२

५- कर्म :-

भक्तिपथ की बाधाओं में निषिद्ध कर्म को भी व्यवधान स्वरुप माना गया है कर्म का शाब्दिक अर्थ होता है काय, मन, वचन द्वारा जो कुछ किया जाय उसी का नाम कर्म है।

गीता के अनुसार :- कर्ता, करण और क्रिया के संयोग का नाम ही कर्म है।[१]

इस संसार में चार प्रकार के भक्त जन कर्म करते हैं -- अर्थार्थी आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी।[२] अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु पुरुष सकाम कर्म का अभिलाषी होने के कारण इनका फल क्षणिक होता है। अर्थात उनका फल काल की अवधि में सीमित होता है। क्योंकि इनकी धारणा सकाम कर्म से अनुप्राणित होती है। जबकि भक्ति साधना में निष्काम कर्म को ही श्रेष्ठ माना है। उसके फल में प्रीति रखने वाले को नहीं।[३] यही सकाम कर्म वृत्तियों को विषयों की ओर ले जाते हैं, जिनके कारण जन्म मृत्यु की प्राप्ति होती है - संसार की विभिन्न योनियों में भटकना पड़ता है। यही सकाम कर्म प्रवृत्ति परक कर्म कहलाते हैं। और दूसरे ज्ञानी भक्तजन को शास्त्रकार श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि उनकी साधना निष्काममय होती है। इसी लिए ज्ञानी को साक्षात् ईश्वर का स्वरुप बताया गया है।[४] निष्काम कर्म को निवृत्ति परक कर्म भी बतलाया गया है जो वृत्तियों को उनके

१- गीता- १८।१८

२- ,, - ७।-

३- ,, - २।४७

४- ,, - ७।-

विषयों की ओर से लौटाकर शान्त एवं आत्म साक्षात्कार के योग्य बना देता है जिससे परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है यही भागवत के अनुसार वैदिक दो प्रकार के प्रवृत्ति परक और निवृत्ति परक कर्म कहलाते हैं।[1] अतः गीता का सन्देश है कि - भगवद् आराधनार्थ कर्म के अतिरिक्त जो कर्म किए जाते हैं वे बन्धन के कारण है अतः हे अर्जुन! तुम आसक्ति त्यागकर भगवान के प्रीत्यर्थ निष्काम कर्म करो।[2] क्योंकि आसक्ति शून्य कर्म ही मुक्ति का साधन है। जनकादि ज्ञानी जन भक्त ने आसक्ति शून्य कर्म के द्वारा ही सिद्धि लाभ की अर्थात भगवत्प्राप्ति की। इसीलिए लोक-शिक्षा को देखते हुये अनासक्त भाव से कर्म करना ही कर्मों में चतुरता है।[3] श्रीमद्भागवत में अनासक्त भाव से कर्म करने वाले को सात्त्विकी बताया है।[4] अतः अपने कर्म फल को ईश्वर के प्रति अर्पण करते हुये अनासक्त चित्त से कर्म करने का नाम ही कर्मयोग कहागया है। इसीलिए भागवत कार का कथन है कि --"यदि ब्रह्म में मन को निश्चल करना असम्भव जान पड़ता हो तो निरपेक्ष होकर (फलादि की कामना न करके) सब कर्मों को मुझमें ही समर्पण कर दो।[5] श्री योगवाशिष्ठकार न भी ईश्वर अर्पण कर्म की ओर संकेत करते हुये कहते हैं कि --

"मोक्ष के साधन रुप ईश्वरीय ज्ञान में जिनकी रुचि नहीं है, वे ईश्वर में चित्त लगाकर निष्काम कर्म का अनुष्ठान करें।[6]

१- भागवत- ७।१५।४७

२- गीता -१३।६

३- गीता - ३।१५।२०

४- भागवत- ११।२५।२३

५- भागवत- ११।११।२२

६- योगवाशिष्ठ- "यस्मै न रोचते ज्ञानमध्यात्मं मोक्ष साधनम्।
"अर्पितेन मनसा भजे निष्काम कर्मणा।

गीतानुसार कर्म की उत्पत्ति गुणों के कारण मानते हैं-- क्योंकि पुरुष की इच्छा न होने पर भी प्राकृतिक गुण समूह उसको कर्म में नियुक्त कर देते हैं।[१] इसीलिए इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा होती है- शुद्ध चेताओं के लिए ज्ञानमार्ग की और कर्मयोगियों के लिए निष्काम कर्मयोग की।[२] अतः निषिद्ध कर्म को करना शास्त्र स्वधर्माचरण के प्रतिकूल मानता है। गीता कहती है कि --

" जो मूढ़ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगोंको मन से चिन्तन करता है वह मिथ्याचारी अर्थात दम्भी कहा जाता है।[३] क्योंकि इन्द्रियों के भोगों में स्थित जो राग और द्वेष है वह दोनों कल्याण मार्ग के प्रबल शत्रु हैं।[४] इसलिए इन्हें अनासक्त भाव से जीतकर ही स्वधर्म का पालन सम्भव हो जाता है।[५] भागवतकार का मंतव्य है कि विधि निषेध मय कर्म तभी तक करना चाहिये जब तक कर्ममय जगत और उनसे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय अर्थात भगवत्लीला, कथाओं के द्वारा श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय।[६] अर्थात जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुख बुद्धि नहीं हुई है वे सकाम व्यक्ति ही कर्मयोग के अधिकारी है।[७] कर्तव्य कर्म को करने को ही कर्मयोग कहागया है।[८] मन्द कर्म कर्मयोग के अन्तर्गत मान्य नहीं होता।

१- गीता- ३।५

२- ,, - ३।३

३- ,, - ३।६

४- ,, - ३।३४

५- ,, - ३।३५

६-भागवत- ११।२०।६

७- भागवत-११।२०।७

८- गीता - ६।१

अतः भक्ति पथ में सकाम कर्म को भगवद् विरोधी बताया गया है, इससे भगवत्तत्व की प्राप्ति नहीं होती बल्कि संसारी जगत के कर्माशय का माध्यम बनता है। अतः भक्ति परायण वाले भक्त को निष्काम कर्म से स्वधर्माचरण करना चाहिये, वही सच्चा कर्मयोगी है, वही कर्म के तत्व का अध्येता है।

चित्त और मन के विकार:-

श्रीमद्भागवत में भक्ति पथ में आने वाली बाधाओं में चन्चल चित्त को ही व्यवधान स्वरुप माना गया है। क्योंकि चित्त के शांत रहने से संसार नहीं जाना जा सकता है और चित्त के चन्चल होने से संसार के विषयों में भटकना होता है। क्योंकि चित्त को ही माया के त्रिगुणात्मक वृत्ति या पदार्थों का अधिष्ठान कारण बताया है।[१] जिसमें सात्विक[२] राजस[३] तामस[४] वृत्तियों द्वारा विषयों के सेवन का व्यापार अनादि काल से चल रहा है। इससे मुक्ति पाने के लिए अनासक्त भाव से सत्व गुण के सेवन से रजोगुण और तमोगुण पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। तदनन्तर निष्काम कर्मयोग द्वारा इन्द्रियों को वश में करता हुआ भगवत्स्वरुप का भजन करे।[५] योग युक्ति से चित्त

१- श्रीमद्भागवत- ११।२५।१२- सत्व, रज, तम, - इन तीनों गुणों का कारण जीवका चित्त है। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। इन्हीं गुणों के द्वारा जीव शरीर अथवा धन आदि में आसक्त होकर बन्धन में पड़ जाता है।

२- श्रीमद्भागवत- ११।२५।२ - सत्वगुण की वृत्तियां है- शम, (मन: संयम), दम (इंद्रियनिग्रह) तितिक्षा, (सहिष्णुता) विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, विषयों के प्रति अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा (पाप करने में स्वाभाविक संकोच), आत्मरति, दान, विनय, और सरलताओं

शेष अगले पृष्ठ पर देखिए---

वृत्तियों को शान्त करके निरपेक्षता (कामना फलादि का त्याग) के द्वारा सत्व गुण पर भी विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार त्रिगुणात्मक भावों से मुक्त होकर जीव अपने जीवत्वभाव को छोड़ देता है और भगवत्स्वरूप हो जाता है।[1] और जीव लिंग शरीर रूप अपनी उपाधि जीवत्व से तथा अन्त:करण में उदय होने वाली सत्वादि गुणों की वृत्तियों से मुक्त होकर परब्रह्म की अनुभूति से एकत्व दर्शन में पूर्ण हो जाता है। और वह फिर बाह्य तथा आन्तरिक किसी भी विषय में नहीं फंसता।[2] यही प्रक्रिया जन्म- मृत्यु के चक्र से छूटने का उपाय है।

देखें- पिछले पृष्ठ की शेष पादटिप्पणी:-

३- भागवत: ११।२५।३ -
रजोगुण की वृत्तियां है- इच्छा, प्रयत्न, घमण्ड, तृष्णा (असन्तोष) ऐंठ या मद देवताओं से धन आदि की याचना, भेद बुद्धि, विषयभोग, युद्धादि के लिए मद जनित उत्साह, अपने वश में प्रेम, हास्य, पराक्रम और हठ पूर्वक उद्योग करना।

४- भागवत- ११।२५।४- तमोगुण की वृत्तियां- क्रोध (असहिष्णुता), लोभ, मिथ्या भाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अकर्मण्यता आदि।

५- श्रीमद्भागवत- ११।२५।३४

१- भागवत- ११।२५।३५

२- भागवत- ११।२५।३६

इसीलिए मुमुक्षुजन निरन्तर भगवच्चरणों का अनुसंधान करते रहते हैं। इस प्रकार स्वधर्मानुष्ठान से जब चित्त पवित्र हो जाता है, तभी चित्त को श्रीपुरुषोत्तम भगवान में एकाग्र निमज्जित करके भगवत्चिन्तन करता है। क्योंकि आत्मा का अनुसंधान ही जिज्ञासु का परम धन होता है, उसकी दृष्टि स्त्री-पुत्र-घर, खेत स्वजन और धन आदि सम्पूर्ण पदार्थों में एक सम रहती है। उदासीनता का भाव रहने के कारण ममता रहित भावानुष्ठान क्रियायें चलती है।[2] इसीलिये इन्द्रिय मन बुद्धि को काम के वास स्थान गीतानुसार ज्ञान को आच्छादन करने वाले बताए गये है।[3] जिनसे विषयों में आसक्ति और कामना का उदय होता है। उसके चिन्तन से कामना पूर्ति न होने से असह्य क्रोध की उत्पत्ति तथा स्मृति भ्रंश बताया गया है। तथा अज्ञान द्वारा सम्पूर्ण भ्रमित तथा असत क्रियायें चला करती है। [4]उन्हें संकल्पों के परित्याग से काम पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। अर्थात निः संकल्प चेष्टा रहित होकर काम को जीता जा सकता है और निष्काम से अर्थात कामना त्याग से क्रोध को जीत लेना चाहिये। तमोगुण से उत्पन्न धन को जिसे संसारी लोग अर्थ कहते है उसे अनर्थ समझकर लोभ पर विजय प्राप्त करे और ज्ञानतत्व से भय को जीतना चाहिये।[5] भगवान कृष्ण उद्धव से कहते है कि--

"काम क्रोधादि विघ्नों को मेरे चिन्तन और नाम के संकीर्तन द्वारा नष्ट करना चाहिये। और पतन की ओर ले जाने वाले दम्भ मद आदि विघ्नों को धीरे धीरे महापुरुषों की सेवा से नष्ट करना चाहिए।[6]

१- भागवत- ४।८।२२

२- भागवत- ११।१०।७

३- गीता - ३।३६-४०

४- भागवत- ११।२१।१६-२२ तक तथा गीता में -२।६२-६३

५- भागवत- ७।१५।२२

६- भागवत- ११।२८।४०

तदुपरान्त आध्यात्मिक विद्या से जो मुक्ति स्वरूपा कही गई है उससे शोक और मोह पर विजय प्राप्त करनी चाहिए तथा संतों की उपासना से दम्भ पर विजय प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात मौन के द्वारा योग के विघ्नों पर और शरीर प्राण आदि को निश्चेष्ट करके हिंसा पर विजय प्राप्त करना चाहिये।[1] तदनन्तर आधिभौतिक दुख को दया के द्वारा आधिदैविक वेदनाओं को समाधि के द्वारा और आध्यात्मिक दुख को योग बल से तथा निद्रा को सात्विक भोजन, स्थान, संग आदि के सेवन से जीत लेना चाहिए।[2] भागवतानुसार उन स्थान का भी त्याग करना चाहिए जिनके संग से प्रेमाभक्ति का उदय नहीं होता -महाराज परीक्षित और कलियुग वेशधारी पुरुष के प्रसंग में यही संकेत किया गया है कि ५ स्थानों का आत्मकल्याण वाले पुरुष को, धार्मिक राजा को, प्रजावर्ग के लौकिक नेता और धर्मोपदेश गुरुओं को- द्यूत, मद्यपान, स्त्रीसंग और हिंसा तथा सुवर्ण (धन) वाले स्थान का पूर्ण त्याग करना चाहिए क्योंकि यह स्थान अधर्म युक्त होते है। जिनमें झूठ, मद, काम और वैर तथा रजोगुण का वास होता है। इन्हीं पांच स्थानों पर अधर्म का मूल कारण कलि का वास होता है। अत: पूर्ण त्याज्यनीय है।[3] यही बाधाओं से मुक्ति के उपाय है। वैसे आत्मविषयक सन्देहों को छिन्न-भिन्न करने के लिए भागवतकार ने श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति को ब्रह्मविचार के साधन माने है। जिनमें आत्म ज्ञानी गुरुदेव के आश्रय से साधक देहादि अनात्म पदार्थों का निषेध करके जीवन्मुक्त हो जाता है अर्थात जगत की आसक्तियों में और विषय वासनाओं में नहीं फंसता है।[4] और साधक सुदृढ़ भक्ति योग के द्वारा मन के रजोगुण रूपफल को एकदम नष्ट

१- भागवत- ७।१५।२३

२- भागवत- ७।१५।२४

३- भागवत- १।१७।३८-४१

४- भागवत- ११।२८।२३

कर देता है।[1] क्योंकि यह मन का रजोगुण रूप मल ही अविद्या का ही परिणाम है। अस्तु तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं जो पुरुष अज्ञान के कारण ही माया के निर्मित गुणों एवं संग को ही आत्मवत देखता है वह यथार्थ नहीं देखता- उसका देखा जाना त्रिगुणात्मक माया का ही परिणाम है- विकारी मन जगत का कर्तिन्द्रिय दृष्टि है। इसी अविद्या के कारण ही हृदय ग्रन्थि रूप बन्धन को जीव को प्राप्ति होती है। जो स्त्री और पुरुष दोनों के परस्पर दाम्पत्य भाव के उत्पत्ति का कारण है। इसी को पण्डित जन उनके हृदय की दूसरी स्थूल एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि कहते हैं। देहाभिमान रूपी एक एक सूक्ष्म ग्रन्थि तो उनके अलग अलग पहले से ही होता है। इसीके कारण जीव को देहेन्द्रियादि के अतिरिक्त घर, खेत, पुत्र, और धनादि में भी मैं, और मेरे पन का मोह हो जाता है।[2] यही हृदय ग्रंथि ही कर्मसंस्कारों के रहने का स्थान है।[3] इसीलिये भगवान कृष्ण उद्धव से कहते हैं कि ज्यों-ज्यों साधक का मन मेरी परम पावन लीला कथाओं के श्रवण कीर्तन में लगने लगता है, वैसे वैसे ही साधक के चित्त का मैल धुलता जाता है। त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म वस्तु में वास्तविक सत्य के दर्शन होने लगते हैं। जैसे अन्जन के द्वारा नेत्र का दोष मिटने पर उनमें वस्तुओं को देखने की शक्ति आने लगती है।[4] ठीक उसी प्रकार भगवान की लीलाकथाओं में समाहित चित्त के भावोद्रेक से हृदय ग्रंथि गल जाती है। और जिसप्रकार विमल ज्ञान को कामाश्रयी मन, बुद्धि, इन्द्रियां इत्यादि विषय मार्ग आच्छादित किए रहते हैं। उसी प्रकार भगवान की लीला कथाओं का पावन स्मृति को यह विषयी चित्त आच्छादित किये रहता है। जिससे प्रेमा भक्ति का उदय नहीं हो पाता। अतः महापुरुषों का संग, व सदशास्त्र, एवं स्वधर्मानुष्ठान उपर्युक्त बाधाओं से मुक्ति के उपाय है। यही भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग द्वारा प्राप्त होने योग्य मार्ग है।[5]

१- भागवत- ११।२८।२७
२- ,, - ५।५।८
३- ,, - ५।५।१४
४- ,, - ११।१४।२६
५- ,, - ११।२२।१

४-भक्ति:- श्रीमद्भागवत के अनुसार -

"धधकती हुई अग्नि लकड़ियों के ढेर को जलाकर जैसे राख कर देती है, उसी प्रकार भगवद् भक्ति मनुष्य के हृदय में कलुषित पापराशि को भस्म कर देती है।[१] क्योंकि भक्त के द्वारा मनुष्य में अभयता तथा ईश्वर के प्रति दृढ़ अनुराग का भाव जाग्रत होता है। जो मानव जीवन के अन्तर्गत आने वाले कामक्रोधादि षट् खल विकारों से मुक्ति का उपाय है। क्योंकि यही काम क्रोध लोभ गीतानुसार आत्मा को अधोगति में ले जाने वाले प्रबल शत्रु है।[२] जो पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान तथा क्रोध, कठोर वाणी एवम् अज्ञान आदि के आसुर भावों द्वारा सम्पूर्ण भूत प्राणियों से द्वेष एवम् वैर के कारण बनते हैं।[३] भक्ति के आश्रय से ही मनुष्य में दैवीय वृत्तियों का उदय होता है।[४] जो जीवात्मा के मुक्ति का साधन है।[५] और आसुरी वृत्ति अर्थात षड् विकारों के आश्रय से शरीर बंधन की प्राप्ति होती है और जीवात्मा को निम्न योनियों में चक्कर काटना पड़ता है जो मानव जन्म के उद्देश्य का प्रतिकूल लक्ष्य है।[६] इसलिए भागवत के अनुसार भक्ति प्राप्ति का साधन अनन्य श्रद्धा और अनन्य प्रेम ही है। यह भक्ति -- योग, साधन, ज्ञान, विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप, पाठ, तप इत्यादि से उतनी आविर्भूता नहीं बनती। जितनी दिनोदिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेम से पुन्जीभूत होती है।[७] इसीलिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भक्ति

१- श्रीमद्भागवत- ११।१४।१६

२- श्रीमद्भागवद गीता- १६।

३- भगवद्गीता- १६।१८-४

४- गीता - १६।१-३

५- गीता- १६।५, श्रीमद्भागवत- ११।२५।१६

६- गीता- १६।५

७- भागवत- ११।१४।२०

को श्रद्धा , और प्रेम का प्रयोग मानते है ।[1] भक्ति पथ में आने वाली बाधाओं के अन्तर्गत रागद्वेष ही कल्याण मार्ग के बाधक है।[2] क्योंकि इनका स्थान सभी इन्द्रियों के भोगाधिष्ठान में होता है । जो मनुष्य के चित्त को रागान्ध करके विषयों की ओर प्रेरित करते हैं । उनसे छुटकारा पाने के लिए श्रद्धा को भागवतकार भक्ति पथ की आधार भूमि मानते हुये कहते हैं कि--"जिन पुरुषों की चित्त वृत्ति रागद्वेषादि से कलुषित है उनकी शुद्धि उपासना, वेदाध्ययन, दान, तपस्या और यज्ञादि कर्म से वैसी नहीं हो पाती, जैसी आपके कीर्तिमान लीलाकथाओं के श्रवण से महापुरुषों के संसर्ग से दिनोंदिन बढ़ने वाली श्रद्धा से अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि होती है ।[3] क्योंकि अन्तःकरण ही वृत्तियों का अधिष्ठान होता है, उसी को चित्त भी कहते हैं । योगदर्शनकार चित्त की वृत्ति के निरोधको योग की प्राप्ति मानते है ।[4] इसलिए श्रद्धावन पुरुष को गीतानुसार ज्ञान लाभ होता है[5] जो आत्मज्ञान का साधन इसलिये वेदान्तकार- श्रद्धा का अर्थ - गुरु वेदान्त वाक्येषु विश्वास :- आचार्य (गुरु) और शास्त्र के वचनों में पूर्ण निष्ठा(विश्वास) को ही श्रद्धा मानते हैं । अर्थात सद्शास्त्रों के प्रति पूर्ण निष्ठा ही श्रद्धा है । क्योंकि श्रद्धा की उत्पत्ति को भागवतकार सत्व गुण की वृत्ति मानते हैं ।[6] जो भगवत्प्राप्ति का साधन है ।[7] गीता के अनुसार - स्वभाव से

१- चिन्तामणि- श्रद्धा भक्ति - शीर्षक से

२- गीता - ३।४

३- भागवत- ११।६।६

४- पातन्जल योगदर्शन- योग चित्त वृत्ति निरोधः

५- गीता - श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

७- श्रीमद्भागवत- ११।२५।२

उत्पन्न हुई श्रद्धा अन्त:करण के अनुरूप ही ३ प्रकार की होती है। जिसे सात्त्विक राजस, तामस, कहते हैं। जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वभाव एवम् अन्त:करण जन्य स्वरूप है।[१] सात्त्विकी श्रद्धामय पुरुष देवों का आराधन करते है। राजसी श्रद्धामय पुरुष यक्ष तथा राक्षसों का पूजन करते हैं। और तामस श्रद्धामय पुरुष प्रेत तथा भूतगणों का पूजन करते हैं।[२]

श्रीमद्भागवत के अनुसार- आत्म ज्ञान विषयक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है, कर्म विषयक श्रद्धा राजस है। और अकर्म से उत्पन्न हुये श्रद्धा तामस है तथा भावत्सेवा में जो श्रद्धा होती है वह निर्गुण श्रद्धा है।[३]

इस प्रकार श्रद्धा से ही ज्ञान लाभ तथा कर्म और कर्मफल से विरक्ति तथा सुख वैराग्यादि निर्मल फल प्राप्य होता है। जो नित्यानित्य विवेक का माध्यम है।

श्री रूप गोस्वामी ने अनन्य प्रेम तक पहुंचने में श्रद्धा को प्रथम कारण माना है -- यथा --

" आदौ श्रद्धा, फिर सङ्ग, तदुपरान्त भजन, उससे अनर्थनिवृत्ति (निषेध कर्मत्याग) इसके पश्चात निष्ठा, तदनन्तर रुचि,, रुचि से आसक्ति तत्पश्चात भाव, इसके बाद प्रेम का प्रादुर्भाव होता है।[४]

१- श्रीमद्भागवद-गीता- १७।२-३

२- गीता- १७।४

३- श्रीमद्भागवत- ११।२५।२७

४- श्री रूप गोस्वामिन:....

प्रेम के सिलसिले में भागवतकार का कथन है कि--" जो प्रेम करने पर प्रेम करते है, उनका तो यह सारा उद्योग स्वार्थ को लेकर चलता है। लेन देन मात्र है। न तो उनमें सौहार्द होता है और न ही धर्म। उनका यह प्रेम तो केवल स्वार्थ मात्र है।[१]

अर्थात ईश्वर के प्रति प्रेम का तत्व निष्काम एवम् निष्प्रयोजनार्थ ही होना चाहिये।

भगवान कृष्ण गोपियों से प्रेम के तत्व का दिग्दर्शन कराते हुये कहते है कि सुन्दरियों! जो लोग प्रेम न करने वाले से भी प्रेम करते है। इस श्रेणी में वही करुणाशील सज्जन एवं माता-पिता आते है जिनका हृदय सौहार्द एवं हितैषिता से भरा रहता है। वास्तव में उनके व्यवहार में ही निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म होता है।[२] कुछ लोग ऐसे भी होते है जो प्रेम करने वाले से भी प्रेम नहीं करते और न प्रेम करने वाले का तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं होता ऐसे प्रेमी भक्तों का विभाजन चार प्रकार से माना जाता है। प्रथम तो वे जो अपने स्वरुप में ही मस्त रहते हैं जिनकी दृष्टि में कभी द्वैत भासता ही नहीं। द्वितीय वे है जिन्हें द्वैत भासता है परन्तु जो कृत कृत्य हो चुके हैं, उनका किसी से कोई प्रयोजन नहीं। तीसरे वे है जो जानते भी नहीं, हमसे कौन प्रेम करता है और चौथे वे हैं जो जान बूझकर अपना हित करने वाले परोपकारी, हितैषिता गुरुतुल्य लोगों से भी द्रोह करते हैं, उनको सताना चाहते हैं।[3] गोपियों! मैं तो प्रेम करने वालों से भी प्रेम का वैसा व्यवहार नहीं करता जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा केवल इसीलिए करता हूं कि उनकी चित्त वृत्ति और भी मुझसे लगे। निरन्तर लगी रहे।[४]

१- श्रीमद्भागवत- १०।३२।१७
२- श्रीमद्भागवत- १०।३२।१८
३- भागवत- १०।३२।१६
४- भागवत- १०।३२।२०

कहने का आशय यह है कि भक्ति साधना में अनन्य प्रेम अनन्य धारणा के साथ ईश्वर के प्रति निष्प्रयोजनार्थ एवम् निष्कामप्रेम होना चाहिये। प्रेम में एकाग्रता और अनन्यता होने से अविनाशी ईश्वर के भजन से प्रेमी साधक बाह्य एवं आन्तरिक आसक्तियों से उपरत हो जाता है। जो सकाम एवं बाह्य विषयों में चित्त को बांधने के कारण होते हैं। यह श्रद्धा और प्रेम के संयोग से ही भक्ति का उदय होता है। भागवतकार श्रद्धा और प्रेम को ही चित्त शुद्धि का साधन मानते हैं कि यह दोनों तत्व ही बाह्य जगत अर्थात इन्द्रिय जगत, मनोमय जगत या अतीन्द्रिय जगत तथा बौद्धिक अत्यैन्द्रिय जगत अर्थात अध्यात्म जगत इत्यादि की आसक्तियों का परिहार करने में समर्थ है, जो संसार मोह, राग तथा द्वेष अज्ञान से भासित होने वाले त्रिगुणात्मक माया की ही विकृति है, क्षण भंगुर विषयों का ऐन्द्रिक विलास है। पन्चभूतों का ही विस्तार है। इसका आत्मा या भगवान से कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि आत्मा निर्विकार और एक रस अधिष्ठान है। इसलिए भागवतकार कहते हैं कि जिन लोगों का चित्त निरन्तर विषय भोगों की कामना से आतुर हो रहा है, उनके लिए भगवान की लीला कथाओं का कीर्तन संसार सागर से पार जाने का जहाज है।[1] क्योंकि मैं सन्तों का प्रिय आत्मा होने पर भी अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्ति से वशीभूत होता हूं। मुझे प्राप्त करने का यह एक ही उपाय है। यह मेरी अनन्य भक्ति ही जाति दोष तथा चान्डाल को भी पवित्र करने में सक्षम एवम् समर्थ है।[2]

१- श्रीमद्भागवत- १।६।३५

२- श्रीमद्भागवत- ११।१४।२१

दो प्रकार की भक्तियों में निर्गुण भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि प्रथम सगुण भक्ति में माया के गुणों की पराकाष्ठा होने से काल एवम् अवधि क्रम में उसका फल सीमित होता है और निर्गुण भक्ति की निष्काम साधना फल रहित होने के कारण निष्प्रयोजनवती होती है। उसमें आसक्ति और फल का त्याग निहित होता है। इसलिये उसको भागवतकार श्रेष्ठ मानते है।[1] यहां तक की उनको सार्ष्टि, सामीप्य, सारुप्य एवं एकत्व (सायुज्य) मुक्ति का चाह नहीं होता जो भी भक्त भावत्सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। इस प्रकार की भक्ति को ही आत्यन्तिक भक्ति योग कहागया है।[2] इससे बढ़कर कोई परम पुरुषार्थ नहीं होता। मानव त्रैगुण्य त्यागकरके ब्रह्म प्राप्ति रुप परमैश्वर्य को प्राप्त करता है। यही भक्ति साधना का अभीष्ट है।

इस भक्ति की साधना को राग मार्ग कहते हैं जिसके हृदय में भगवान के प्रति जितना ही अनुराग होता है वह भगवान को उसी रुप से हृदय में धारण करता है और मनो नुकूल विधि से भगवान में तन्मयता प्राप्त करता है। इस अवस्था में विधि निषेध शास्त्र उपदेश आदि सब छूट जाते है। इस भक्ति की साधना के क्रम से प्रेम भक्ति का उदय होता है उस समय साधक भक्त शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य कान्ता और मधुर प्रभृति प्रेम की उच्च श्रेणियों की माधुरी लीला में विभोर हो जाता है। साधक सर्वत्र ही भगवान के अस्तित्व का दर्शन करता है। इसी रागमार्ग की साधना को वल्लभाचार्य पुष्टि मार्ग कहते है इसका एक अर्थ अनुग्रह भी होता है गोस्वामी हरिराय के शब्दों में --

---

१- श्रीमद्भागवत- ३।२६।११

२- श्रीमद्भागवत- ३।२६।१२

जिस मार्ग में भगवद् अनुग्रह से ही लौकिकी एवम् वैदिकी सिद्धि प्राप्त होती है। किसी यत्न से नहीं उसे ही पुष्टि मार्ग कहते है।[1] यह बिना ईश्वर कृपा के सम्भव नहीं होती।[2] कहा है कि—

भक्ति मार्गे कृपा मात्रं कारणं परमुच्यते।
तैनेव मार्गे सकलं सिद्धिर्नेति न संशयः।[3]

अर्थात- भक्ति मार्ग को कृपामात्र उत्तम कारण है इस कृपा से ही सकल सिद्धियां प्राप्त होता है। इसमें संशय नहीं।

वल्लभाचार्य का कथन है कि - पुष्टि भक्ति एकमेव अनुग्रह या कृपा के द्वारा ही साध्य है। इसकी सिद्धियां अन्य मार्गों से सम्भव नहीं। इसलिए यह प्रमाण मर्यादा मार्ग से विलक्षण है—

पुष्टि मार्गे कृतिक साध्यः प्रमाण मार्गादि विलक्षणः।[4]

प्रमेय रत्नार्णव कार कहते हैं कि- जिस मार्ग में भक्त स्वगृ विषयों को सर्वथा त्यागकर अपनी देह वासना, कामना, आदि सब कुछ भगवान में समर्पित कर देता है वह ही पुष्टि मार्ग है।

१- प्रमेयरत्नार्णव - ४।२- अनुग्रहेणैव सिद्धि लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गे सः कथ्यते।।

२- ' बड़े शिक्षा पत्र '- गोस्वामी हरिराय कृत-
कृपा विना सर्वं साधनानां
न चोद भवः।'

३- शिक्षा पत्र - २४।१

४- अणुभाष्य- ४।४।६

'समस्त विषय: त्याग: सर्वभावेन यत्रहि ।
समर्पणं च देहादे: पुष्टि मार्ग: स० कथ्यते ।।'[1]

इस प्रकार सिद्ध होता है- कि संसार से मुक्ति पाने के लिए भगवद् लीला कथाओं का श्रवण कीर्तन, मनन, द्वारा हृदय में श्रद्धा और प्रीति का उन्मेष करना, सम्पूर्ण भावों एवं कर्मों को भगवत्परायण करना, अनासक्ति भाव से चित्त का भगवदाकार करना ही भक्ति की अवस्था को प्रकट करने वाले साधन है जिनसे ईश्वर कृपा की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार की तन्मयता को ही श्री रूप गोस्वामी रागात्मिका भक्ति कहते हैं, कि-- रागात्मिका भक्ति वह है जो अपने प्रिय में स्वाभाविक प्रेम पूर्ण आवेश स्वरूप स्वम् तन्मयता से युक्त हो।'

श्रीमद्भागवतकार प्रेमा भक्ति के आविर्भाव के सिलसिले में कहते हैं कि सारा शरीर पुलकित नहीं होता, चित्तपिघल कर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्द के आँसू आँखों से छलकने नहीं लगते, अन्तरंग और बहिरंग भक्ति की बाढ़ से चित्त डूबने उतराने नहीं लगता तब तक इसके शुद्ध होने की कोई सम्भावना नहीं।[2] अर्थात भक्ति का प्रदुर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि भक्ति रसानन्द की साधना है। और चित्त के शुद्ध एवं शान्त न होने से समष्टि करुणा का उदय नहीं हो पाता तबतक भेद ज्ञान दृष्टि अस्तव्यस्त बनी ही रहती है अत: समष्टि करुणा का उदय ही परदु:ख निवृत्ति का कारण है। इसी को प्रेमयोग कहते हैं। सहृदयता या समष्टि करुणा मनोयोग की प्रेम जन्य साधना है। इसी लिए भागवतकार कहते हैं कि--

---

1- प्रमेय रत्नार्णव - १।१६
2- श्रीमद्भागवत- ११।१४।२३

जिसकी वाणी प्रेम में गद गद हो रही हो, चितपिघल कर एक ओर बहता रहता हो, एक क्षण के लिए भी रुदन का तांता नहीं टूटता हो, कभी कभी हास्य की तरंग में खिलखिलाकर हंसता हो, कभी वह लाज लज्जा छोड़कर ऊंचे स्वर से गाने लगता है, कभी नाचने लगता है ऐसा भक्त ही सारे संसार को पवित्र करने वाला होता है।[1]

प्रेमाभक्ति के उदय होते ही काम, क्रोध, लोभ मोह ,मद मत्सर तथा देहात्मधारणा एवम् अविवेक का नाश हो जाता है और भक्त उक्त बाधाओं को पार करता हुआ अपने अभीष्ट गन्तव्य की सिद्धि कर लेता है। उसकी दृष्टि समत्व स्वरूपा हो जाती है। सर्वत्र भगवान का ही स्वरूप दिखायी देता है भक्त और भगवान में कुछ भी भेद नहीं रहता। इस प्रकार के भक्त को भागवतानुसार उत्तम भक्त कहते है।[2]

१- श्रीमद्भागवत - ११।१४।२४

२- श्रीमद्भागवत- ११।२।४५

(ढ.)- बाधाओं से मुक्ति के उपाय:-

तुलसी साहित्य में -

तुलसी साहित्य में कविवर तुलसी ने भक्ति मार्ग की बाधाओं से मुक्ति पाने के लिए राम कृपा,[1] भक्ति[2], ज्ञान[3], कर्म[4], तथा सत्संग[5] को ही प्रमुखता दी है। वैसे उपासना[6], पूजा[7], विवेक,[8] विज्ञान[9], ध्यान[10], योग[11], वैराग्य[12], शम दम यम नियम जप तप व्रत[13], तथा तीर्थाटन, यज्ञ, दया दान धर्मक्रम द्विजदेव गुरु-संत सेवा, निगमागम पुराण स्वाध्याय[14], इत्यादि को भी बाधाओं से मुक्ति का बाह्य एवं

१- रा०मा०- ३।३८ख, १।३८।६, ७।१२१ख।३(पू०), ७।७१ख, ४।११।१-२,
२- रा०मा०- ३।१६।१, वि०११९।५, रा०मा०-२।१३१,२।२०४,७।४६।३,
३- रा०मा०- ३।१६।१, वि० १६।५
४- वि०प०-८८।३,११६।४, रा०मा० ३।३६।६०,श्रीमद्भागवत ६।१।११,
रा०मा०- १।२।५- बिधि निषेध मय कलिमल हरनी।
करम कथा रवि नंदिनि बरनी।।
५- रा०मा०- ७।६१।२,७।४५।३, ७।१२०।६, ७।१२०क, २।१६८।३,
कवि०- ७।२६, वि०-२०३।२०रा०मा०- ७।३३, दो० ३५८-६४,३६६,
रा०मा०- ७।४१।४, ७।३३,४
६- वि०- १८४।२ , कविता० - ७।८४
७- रा०मा०- ७।१०३।२ , ७।१३०।३
८- वि०- ११५।५, रा०मा०- ७।१२६।३
९- रा०मा०- ७।६५।३, वि०- २११।३
१०- रा०मा०- ७।१०३।१, ७।११३।४
११- वि०प०- १६७।४, १८४।३
१२- वि०- १८४।३
१३- रा०मा०- ७।६५।३,७।११७।५
१४- रा०मा०- ७।४६।१-२, ७।१२५।३

आन्तरित साधन बताया है। तुलसी ने स्वप्रणीत ग्रन्थों में साधन,उपाय डगर,पथ,पंथ,मग मार्ग इत्यादि कहकर मुक्ति के स्वरुप का ही निरुपण किया है।[१]

१- रामकृपा:-

भक्ति मार्ग में आने वाले कण्टकों से मुक्ति पाने के लिए राम-कृपा को ही तुलसी महत्तम कृपा बतलाते हैं। रामकृपा या भगवत्कृपा एक ही समशील अर्थवाची है। राम कृपा से ही सत्संग की प्राप्ति होती है,[२] सन्तों का दर्शन इन्हीं की प्रेरणा है।[३]राम कृपा से ही व्यक्ति के षडविकार युक्त मानस रोग नष्ट हो जाते हैं।[४] राम कृपा से ही नर्तकी अविद्या माया नारी के प्रपन्च जाल से छुटकारा मिल जाता है।[५] इनकी कृपा ही काम क्रोध लोभ मद माया इत्यादि -------------------

---

१- रा०मा०- ७।१०३।२, वि० १७३।५, ७।४६।१,
वि०प० - १७३।१, रा०मा०- ३।१६।३, वि०प०- १६४।३, रा०मा० ७।४५।१,

२- रा०मा०बा० १।३क।४- बिनु सत्संग विवेकन होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।

३- रा०मा०- ५।७।२- अब मोहि भा भरोस हनुमंता।
बिनु हरि कृपा मिलहिं नहि संता।।

४- रा०मा०- ७।१२१ख।३- राम कृपा नासहिं सब रोगा।
जौ एहिं भांति बनै संयोगा।।

५- रा०मा०- ७।११६ख।२-३- माया खलु नर्तकी बिचारी।
तातें तेहि डर पति अति माया।।

से निवृत्त कर देता है।[1] अत: राम कृपा , क्रिया का ही परिणाम है जिससे आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रितापों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है।[2] और साधक परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

१- रा०मा०- ३।३८ख-

(I) क्रोध मनोज लोभ मद माया ।
छूटहिं सकल राम की दाया ।

रा०मा०-७।७१ख-

(II)- सो दासी रघुवीर कै समुझें मिथ्या सोपि ।
छूटि न राम कृपा बिनु नाथ कहउं पद रोपि ।।

रा०मा०-४।२१।१-३-

(III)- अतिसय प्रबल देव तव माया ।
न छूटइ राम करहु जो दाया ।।
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पावंर पशु कपि अति कामी ।।
नारि नयन सर जाहि न लागा ।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।
लोभ पास जेहिं गर न बंधाया ।
सो नर तुम्ह समान रघुराया ।
यह गुन साधन ते नहिं होई ।
तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई ।।

२- रा०मा०- १।३८।६- सकल बिघ्न व्यापहिं नहि तेही ।
राम सुकृपा बिलोकहि जेहीं ।।
सो सादर सोइ मजनु करई ।
महा घोर त्रय ताप न जरई ।।

अत: स्पष्ट है कि । उन्हीं की महिमा का गायन किया है । उन्हीं में शक्तिशील, सत्य, सौन्दर्य एवम् अनन्त गुणों का अन्त: दर्शन किया है, उन्हीं की कृपा से सभी श्रेयात्मक साध्य एवम् साधन सुलभ हो जाते हैं क्योंकि वह ही दोनों रूप है ।[१]

२- सत्संग:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत भक्तियोग की साधना का केन्द्र-बिन्दु, सत्संग है । सत्संग के परिप्रेक्ष्य में श्रीमद्भागवत में विस्तार से निरूपण कर चुके हैं । सत्संग की महिमा, प्रभाव एवम् फल को तुलसी भी नहीं नकार सके । सत्संग ही विवेक का साधन है ।[२] सत्संग से अल्पज्ञ, मूढ़ प्राणी भी कुसंगता का त्याग कर देते है। सत्संग की महिमा अवर्णनीय है जिसके प्रभाव से काक भी कोयल और बगुले भी हंस हो जाते हैं ।[३] कहने का आशय यह है

१- दोहावली- ३६३, रा०मा०- ७।४६।३, ५।५।२,
विo- ५२।२, रा०मा०- २।२४३।१, वि०- ५५।३, रा०मा०-१।२६क, ३।३१, रा०मा०-२।६७।३, वि० ५५।४, ४४।३,५५।५, रा०मा०-१।२०८ सो०, वि०- ५५।२, रा०मा०- २।१०३।१, वि०- ४४।६, ५३।५, रा०मा०- ७।२४।१ रा०मा०-५।५६।१, वि० ६१।६,५३।२, रा०मा०-५।१श्लोक-१, वि०प०- ४३।२, रा०मा०-२।६।२,

२- रा०मा०- १।३क।४, बिनु सत्संग विवेक न होई

३- रा०मा०-१।३क।१, मज्जन फल पेखिअ तत्काला ।
काक होहिं पिक बकउ मराला ।।
सुनि आचरज करै जन कोई ।
सत्संगति महिमा नहि गोई ।।

कि सत्संग की महिमा से अल्पज्ञता गुरुता में तदाकार हो जाती है ।तुलसी साहित्य में भगवान राम के श्रीमुख से सार्वजनिक प्रजा के प्रति प्रवचन इसी सत्संग का उपदेश है । संतों की महिमा का स्वरूप ही सत्संग है । सात्विक वृत्तियों के जितने भी आधार है वह सब सत्संग रूपा ही हैं । अत: स्पष्ट है कि सत्संग से भलाई ,गुरुता आदि सद्गुणों का आविर्भाव एवम् कुसंगति से बुराई लघुता आदि अवगुणों का आविर्भाव होता है ।[1] सत्संग श्रेयस्कर एवं कुसंग हानिकर है - यह पुष्टि लोक वेद द्वारा प्रमाणित है ।[2] मानव तिर्यक जीव एवं जड़ चेतन पदार्थ भी संगति के अनुसार गुण दोषों को ग्रहण करते हैं, अत: सत्संग को मुक्ति का द्वार बताया गया है।[3] यह संसृति का नाश करने वाला प्रसाधन है ।[4] संशयभंग एवं भ्रमनिवारण के लिए सत्संग नितान्त प्रयोजनीय है । यह पुष्टि गरुड़ एवं काकभुशुण्डि संवाद तथा शिव पार्वती प्रसंग में चरितार्थ हुई है । अत: सत्संग संसार सागर की तरणिका है।[5] सत्संग के बिना विवेक जाग्रत नहीं होता और बिना विवेक के संसार को

१- दोहावली- ३५८,६४,३६६

२- रा०मा०- १।३।२-५

३- रा०मा०- १।७।२ दोहा-क,
   रा०मा०- ७।४१।४, ७।३३
   वि०पत्र०- २०३।२०

४- रा०मा०- ७।३३।४- बड़े भाग पाइअ सत संगा ।
   बिनहि प्रयास होइ भव भंगा ।।

५- रा०मा०- ७।४५।३- सत संगति संसृति कर अंता ।

असारता का परिज्ञान असम्भव है अत: संसार सागर से पार जाना असम्भव है। बिना ज्ञान के हरि कथा में अनुराग प्रादुर्भूत नहीं होता। हरिकथा श्रवण के बिना मोह की निवृत्ति असम्भव है, उसके बिना हरिभक्ति में एकाग्रता नहीं आ सकती है और बिना हरि भक्ति के भवक्लेश से छुटकारा पूर्वता असम्भव है।[१] अत: सन्त जन ~~सत्सङ्ग~~ साधना के स्तम्भ है।[२] सत्संग मोक्ष का अभीष्ट फलसिद्धि है और अन्य प्रसाधन फूल है।[३] अभागों को सत्संग से वञ्चित रहना स्वाभाविक है, उन्हें परमार्थ मार्ग दुर्लभ है।[४] सन्त मिलन ही परमार्थ के साथ-साथ व्यावहारिक सुख की चरम पराकाष्ठा है।[५] क्षणिक सत्संग का सम्मेलन भी स्वर्ग, अपवर्ग के सुख से महत्तम है।[६] संत समाज ही सर्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक सद्य:फलदायक, मोदमंगल दाता, जंगम एवं अलौकिक तीरथ राज है, यह चतुर्वर्ग फलदाता है अभ्युदय एवं नि:श्रेयस की सिद्धि प्रदाता है।[७] इसलिए तुलसी जयघोष करते है कि मन लगाकर सत्संग करो, असत कुप्रवृत्तियों वाले व्यक्ति के संसर्ग से मुक्त रहो।[८] अत: स्पष्ट है कि सत्संग भक्ति पथ की बाधा से मुक्ति का उपाय है।

१- रा०मा०-१।३।४, वि०- ११५।५, दोहावली -१३२,
   रा०मा०- ७।६१,७।७६।१

२- रा०मा०- ७।१२०।६, ७।१२० क

३- रा०मा०- १।३।४

४- रा०मा०- २।१६८।३ - ~~जेहि~~ जे नहिं साधु संग अनुरागे।
   परमारथ पथ विमुख अभागे।।

५- रा०मा०- ५।१२१।७

६- रा०मा०- ५।४

७- रा०मा०- १।२।६, १।३।३

८- कवितावली- ७।२६, - करु संग सुशील सुसंतन सों,
   तजि कूर कुपंथ कुसाथहि रे।

३- वैराग्य:-

धर्माचरण फल स्वरूप विषयों से इन्द्रियों का निवृत्त हो जाना ही वैराग्य है ।[1] गीता में इन्द्रिय विषयों एवं अनात्म पदार्थों के प्रति दोषानुदर्शन को वैराग्य कहा है ।[2] महर्षि पतन्जलि ने वैराग्य के दो रूप बतलाए है-- वैराग्य और परमवैराग्य।[3] गौड़पादाचार्य ने बाह्य एवम् आभ्यान्तर दो विधायें निर्दिष्ट की है ।[4] कविवर तुलसी ने भी ३ प्रकार वैराग्य की निवन्चना की है - वह है वैराग्य, विमल वैराग्य और परम वैराग्य ।

प्रथम वैराग्य धर्माचरणों से वैषयिक उपरति वैराग्य है ।[5] विमल वैराग्य उसे कहते हैं जिसमें नित्यानित्य विवेक की दृढ़ता से मनोनिग्रह पूर्वक शुद्ध चित्त की निर्मलता एवम् मुदिता अन्तर्भूत हो ।[6] परम वैराग्य, जीव की समाधि जन्य विशुद्ध अन्त:करण की गुणातीत अवस्था है ।[7] जिसमें

१- रा०मा०- ३।१६।३-४ - प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती ।
निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ।।

२- गीता- १३।८- जन्म-मृत्यु जरा व्याधि दुख दोषानु दर्शनम् ।

३- योगसूत्र- १।१५-१६- व्यास भा०

४- सां०का०२३, पर गौड़०, सुवर्णसप्तति शास्त्र- २३,

५- रा०मा०- ३।१६।३-४

६- रा०मा०- ७।११७।८- तब मथि काढ़ि लेइ नव नीता ।
विमल विराग सुभग सुपुनीता ।।

७- गीता- ६।२० -रा०मा०- ७।११७

जीव का समस्त भाव एकीभूत रहता है। अर्थात सिद्धि एवं त्रैगुण्य त्याग को ही परम् वैराग्य कहा गया है।[1] यह वैराग्य ज्ञान[2] और भक्ति[3] दोनों के लिए परम सहायक है। मुक्ति का स्वतंत्र मार्ग है। तुलसी ने अनेकश: स्थलों में वैराग्य का कृमिक विवेचन किया है - अत: यह साधन भक्ति मार्ग से मुक्ति का उपाय है।

४- सन्तोष:-

मन की पूर्ण संतुष्टता सन्तोष है। हम इसे यों भी कह सकते हैं, तृष्णा का सर्वथा दाय- सन्तोष है। मानसकार यथा लाभ को संतोष कहते हैं।[4] असन्तोष मन के दोभ का कारण है और सन्तोष काम लोभ आदि मानस रोगों का नाश करके चित्त को नीरोग करता है।[5] सन्तोष से उत्तम सुख की सिद्धि होती है।[6] अत: यह बाधा का शमनकारक है।

१- रा०मा०- ३।१५।४- ज्ञान मान जहं एको नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं।
कहिअ तात सो परम विरागी।
त्रिन सम सिद्धि तीनिगुन त्यागी।।

२- रा०मा०- २।१७८।२ - बादि विरति बिनु ब्रह्म विचारु।

३- रा०मा०- १।४४, ३।१०,७।१२१।५,वि०प० १४१।३।१८७।१,२२१।२
विवेक चूड़ामणि- ३७५,

४- रा०मा०- ३।३६।२, गीता- १०।५

५- रा०प्रश्न- ७।४।६, रा०मा०- ४।१६।२ ,७।६०।१

६- योगसूत्र- २।४२- संतोषादनुत्तम: सुख लाभ:।

५- श्रद्धा:-

आस्तिक्य बुद्धि तथा वेद आदि आप्तग्रंथों और आचार्य के वचनों में की गयी भक्ति और विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।[1] विवेक तथा ईश्वरानुभूति के लिए श्रद्धा नितान्त आवश्यक है।[2] इसलिए इसे भक्ति, ज्ञान तथा योग तीनों के लिए परमावश्यक बताया है। सम्पूर्ण संसार का प्राणी श्रद्धामय है जैसी जिसकी श्रद्धा होती है उसका वैसा ही स्वरूप होता है। श्रद्धा प्रकृति विशेष के आधार पर ३ प्रकार की होती है, सात्विकी, राजसी, तामसी।[3] सात्विकी श्रद्धा ही भक्ति प्राप्ति का साधन है, बाधाओं से विरक्ति का माध्यम है।

६- प्रेम:-

ईश्वर के चरणों में किया गया अनुराग ही प्रेम है। गीता में भगवान भक्ति से ही लभ्य तथा ज्ञेय है।[4] अनन्यतम उत्कट भाव से ही भगवान प्रगट होते हैं।[5] अत: अवैषयिक भाव से अनन्य प्रीति ही भक्ति मार्ग की बाधाओं को नष्ट कर देती है।

भक्ति के प्रकार एवं साधन भी बाधाओं से मुक्ति के उपाय है जिनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

१- गीता - ६।३७, १७।१७, अपरोक्षानुभूति -८

२- रा०मा०- १।१। श्लोक -२,

३- गीता- १७।२-३,

४- गीता - ८।२२

५- रा०मा०- १।१८५।३-४, २।१२७।२, " प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।"
"....प्रेम तें प्रभु प्रगटे जिमि आगी।।"

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई.. ।
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन।
जानहि भगत उर चन्दन।।

द्वितीय-अध्याय

मुक्ति के भक्तीतर साधन और भक्ति

(क)- ज्ञान और भक्ति -

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(ख)- कर्म और भक्ति -

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(ग)- योग और भक्ति -

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(घ) सभी साधनों का समन्वय

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(क) - ज्ञान और भक्ति :-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

श्रीमद्भागवत में ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार या संयोग को ही ज्ञान बताया है।[1] अध्यात्म क्षेत्र में ज्ञान का तात्पर्य जीव, प्रकृति ब्रह्म, जगत् माया आदि के तात्त्विक रूप का विचार और उनके परस्पर सम्बन्ध की विचारणा से होता है।[2] ज्ञानी पुरुष निष्काम कर्मयोग द्वारा एवम् कर्मफल त्याग से रहित होकर प्रबल वैराग्य के आश्रय से परमसत्य का साक्षात्कार अपने अन्त:करण में करता है।[3] यही ज्ञानी का परम साध्य है। तत्व ज्ञान के लेशमात्र के उदय होने से जो सिद्धि ज्ञानी को प्राप्त होती है वही सिद्धि तपस्या तीर्थ जप-तप अथवा अन्त:करण की शुद्धि के किसी भी साधन से सम्भव नहीं।[4] ज्ञान का साधन विवेक और वैराग्य बताया गया है, और वैराग्य से सांसारिक एवम् आध्यात्मिक विषयों से विरति इन दोनों के दृढ़ संयोग से तत्व ज्ञान का उदय होता है। यही तत्व ज्ञान, ज्ञानी का लक्ष्य, साध्य, स्वर्ग एवम् अपवर्ग या अभीष्ट पदार्थ है। यही ज्ञान सगुण रूप में श्रीकृष्ण की प्राप्ति कराता है।[5] ज्ञानी सात्विक बुद्धि के सम्बल पर तत्व ज्ञान की प्राप्ति करता है। ज्ञान योग का साधक मुक्ति के चार साधनों विवेक वैराग्य षट सम्पत्ति(शम, दम, तितिक्षा उपरति, श्रद्धा, समाधान)

१- श्रीमद्भागवत- ११।१६।२६ ,११।२८।१८
२- ,, - ११।१६।१४
३- श्रीमद्भागवत- ११।१६।३
४- ,, - ११।१६।४
५- ,, - १।२।२६

के द्वारा निर्वाण, कैवल्य तत्व या मोक्ष को प्राप्त करता है, मोक्ष ही ज्ञानी का परम पुरुषार्थ एवं परम परमार्थ है। योग-वाशिष्ठ की शब्दावली में ज्ञानी क्रमशः शुभेच्छा, विचारणा तनुमानसा, सत्वापत्ति असंसक्ति पदार्थाभावनी एवम् तुर्यगा- ये ज्ञान की सात भूमियों को पार करता हुआ अभीष्ट को प्राप्त करता है।[१]

भक्ति की साधना राग प्रधान कही गयी है जिसका संबंध हृदय से है और ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से है। भक्ति की प्राप्ति का आधार शरणागति या ईश्वर के प्रति निष्काम उत्कट प्रेम है। भक्ति की वृद्धि में सत्संग, सच्चरित्रता, भगवत्कथालाप, भगवत्कथा श्रवण, भूतदया (अहिंसा) विशेष सहायक माने गये हैं।[२] इन्हीं परम् पावन लीला कथाओं के श्रवण, कीर्तन एवम् सत्संग से भक्त के कलुषित चित्त के विकार नष्ट हो जाते हैं। और साधक प्रज्ञाचक्षु सम्पन्न होकर सूक्ष्म वस्तुओं का दर्शन करने के लिए समर्थ हो जाता है।[३] इसी लिए भागवतकार उपदेश करते हैं कि इस जीव का सबसे बड़ा कर्तव्य स्वार्थ या परमार्थ केवल इतना ही है कि वह भगवान कृष्ण में अविचल प्रेम स्थापित कर अनन्य भक्ति प्राप्त करलें।[४] क्योंकि यही भक्ति मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों को नष्ट कर देती है। उद्धव से कृष्ण उपदेश देते हुये कहते हैं कि जैसे धधकती हुई अग्नि ईंधन को भष्म कर राख कर देती है उसी प्रकार मेरी भक्ति समस्त पापराशि को पूर्णतया जला डालती है।[५] यह भक्ति ही भगवत्प्राप्ति का एक मात्र साधन एवं साध्य है योगसाधन ज्ञान विज्ञान व धर्मानुष्ठान जप तप से भगवत्प्राप्ति असम्भव है।[६]

१-योगवाशिष्ठ- ३।११८।२-५
२- श्रीमद्भागवत- ५।१६।२४
३- ,, - ११।१४।२६
४- ,, - ७।७।५५
५- ,, - ११।१४।१९
६- ,, - ११।१४।२०

भागवतकार ने ज्ञान और भक्ति का सम्बन्ध है स्पष्ट उल्लेख करते हुये कहा है कि जिस साधना में चित्त का द्रवीभाव न हो, मन में ~~अन्कि~~ आर्द्रता और कोमलता न आए, शरार में रोमान्च न हो और नेत्रों में प्रेमाश्रु न आए तो उससे अन्त:करण के शुद्ध होने की सम्भावना नहीं -

कथं बिना रोम हर्षं द्रवता चेतसा बिना ।
बिनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या बिनाशय: ।[१]

भक्ति की प्राप्ति के साधन श्रीमद्भागवत में कई प्रसंगों में उपस्थापित किए गए हैं । जैसे नौयोगीश्वरों द्वारा महाराज निमि को किए गए उपदेश में,[२] तथा भगवान कृष्ण द्वारा उद्धव को ज्ञान दीप प्रकरण में,[३] प्रह्लाद द्वारा असुर बालकों को उपदेश मे,[४] स्वम् युधिष्ठिर[५] को उपदिष्ट ३० प्रकार के अनुष्ठेय धर्मों मे, श्री प्रह्लाद द्वारा पिता हिरण्यकशिपु को नवधा भक्ति के प्रबोध में[६] विशुद्ध धर्म, भाव एवं शुद्ध प्रेमा भक्ति के साधन स्वम् साध्य रुप का निदर्शन कराया गया है ।

कुछ आचार्यगण भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ मानते है इस विरोधाभास की उक्ति का आशय भागवतकार निर्दिष्ट करते हुये कहते हैं कि:--

---

१- श्रीमद्भागवत- ११।१४।२१

२- ,, - ११।२।४३, ११।२।४२, ११।२।३६-४१
३- ,, - ११।१६
४- ,, - ७।५।३२-४१

५- ,, - ७।११।८-१२

६- ,, - ७।५।२३-२४

ज्ञान के अधिदेवता ब्रह्मा जी ने अपनी भगवत्स्तुति में कहा है कि -- भक्ति सब प्रकार के कल्याण का स्रोत है जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञान के लिए कष्ट सहते हैं उनको वश कष्ट ही कष्ट मिलता है जैसे थोथी भुसी कूटने वाले को केवल श्रम ही परिणाम में मिलता है, चावल नहीं ।[1]

'वह निर्मल ज्ञान जो मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन है यदि वह भगवान की भक्ति से रहित है तो वह अशोभाकारक है ।[2] प्यारे उद्धव ! तुम ज्ञान से सहित अपने आत्म स्वरूप को जान लो और फिर ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न होकर भक्ति भाव से मेरा भजन करो ।[3]

उक्त उद्धृत पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि ज्ञान सांसारिक विषयों से विरति का एक साधन है और भक्ति ज्ञान साधन से उद्भूत साध्यावस्था है । वैसे ज्ञान में अहं एवं साधना मार्ग में क्लेश की सम्भावना रहती है ।

अव्यक्त विषयक परम् गति का साक्षात्कार बड़े यत्न का परिणाम है और भक्ति एक सहजअवस्था है । इसमें निष्कामता एवम् भगवत्लीला कथा में अनुराग तथा निष्कपट भाव से भगवत् आराधना से ही प्रेमा भक्ति का उद्रेक रहो जाता है । भक्त भगवान के ऐश्वर्य साधना का आराधक होता है और ज्ञानी ब्रह्म की विभूति का साधक --

तत्वत: दोनों साधन भवदु:ख निवृत्ति के,इष्ट प्राप्ति के उपाय हैं । ज्ञान योगी इस दुस्तर भाव सरिता को तैरकर पार जाता है, भक्तयोगी उसी को भक्ति रूप नौका पर आरुढ़ होकर पार करता है ।

१- श्रीमद्भागवत- १०।१४।४

२- ,, - १२।१२।५२

३- ,, - ११।१६।५

ज्ञानयोगी आत्म निर्भरता तथा आत्मबल का आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त करता है। भक्त आत्म समर्पण के द्वारा भगवान का साक्षात्कार करता है।

ज्ञानी अपने स्वरुप को पहचान कर अपने अहंकार का विस्तार कर देता है। भक्त अपने आपको भगवान के अर्पण कर देता है। अर्थात भक्त का भगवान के प्रति सर्व आत्म समर्पण भाव हो जाता है और उनके सामने अपनी दासता प्रकट करता है। भक्त मिश्री के स्वाद का रसज्ञ है, ज्ञानी स्वयं मिश्री बनना चाहता है।

भक्त क्रम मुक्ति प्राप्त करता है ज्ञानी को सद्योमुक्ति प्राप्त होती है ज्ञानी का लक्ष्य परम मोक्ष है, भक्त भगवत्सेवा के अतिरिक्त मुक्ति को तुच्छ समझता है।

ज्ञान पथ पिपीलिका मार्ग या वामदेव मार्ग है और भक्ति का पथ विहंगम मार्ग या शुकदेव मार्ग है। ज्ञान का सम्बल विचार होता है और भक्ति का सम्बल अनुराग या भावना होती है। भक्ति मार्ग का बाधक सम्बल मन को बताया जाता है और ज्ञान मार्ग की बाधा विभूति या योग-सिद्धि होती है। ज्ञान की साधना निर्गुण ब्रह्म की उपासना है और भक्त रुप विशेष में निर्गुण तत्व को सगुण मय देखता है। दोनों की साधना का लक्ष्य अविद्या की निवृत्ति से है।

डा० उदय भानुसिंह ने तत्व ज्ञान और भक्ति के व्यावर्तक धर्मों का समीचीन विश्लेषण किया है --

१- 'दोनों में आश्रय भेद है। तत्व ज्ञान का आश्रय अद्रुतचित्त है, परन्तु भक्ति के लिए चित्त द्रुति अनिवार्य है।

२- दोनों में स्वरुप भेद है। ब्रह्मविद्या निर्विकल्पक मनोवृत्ति है और भक्ति सविकल्पक।

३- दूसरा स्वरुप भेद यह है कि ब्रह्मविद्या में अद्वितीयता की अनुभूति होती है और भक्ति में भगवद कारता की ।

४- दोनों के साधन में भी भेद है। भक्ति का साधन है- भगवान के गुण गायक ग्रंथों का श्रवण जबकि तत्वमसि आदि वेदान्त वाक्य ब्रह्म विद्या, के साधन है।

५- दूसरा साधन भेद यह है कि तत्व ज्ञान के लिए निर्वेद अनिवार्य है, लेकिन भक्ति के लिए नहीं।

६- फल की दृष्टि से भी दोनों भिन्न हैं। भक्ति का फल भगवद्-विषयक प्रेमप्रकर्ष है और ब्रह्मविद्या का फल अनर्थमूल अज्ञान की निवृत्ति है।

७- दोनों में अधिकारिक भेद भी है।

ब्रह्म विद्या का अधिकारी साधन चतुष्टय सम्पन्न परमहंस परिव्राजक ही हो सकता है। किन्तु भक्ति का अधिकार प्राणिमात्र को है। इस प्रकार आश्रय, स्वरुप, साधन फल तथा अधिकारी की भिन्नता के कारण ब्रह्मविद्या एवम् भक्ति के भेद हैं।[१]

१- तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ- २६६,
(भक्तिरसायन ,टीका) पृष्ठ- १०,२६-२७

(क)- ज्ञान और भक्ति:-

तुलसी साहित्य के अनुसार-

कर्म, ज्ञान, योग आदि विषयों का तुलसी साहित्य में वैसा शास्त्रीय व्यवस्था के साथ वर्णन विवेचन नहीं हुआ है जैसा श्रीमद्-भागवत में हुआ है। उसके अनेक कारण हैं। एक तो भागवत और तुलसी साहित्य की सर्जना में कम से कम आठ शताब्दियों का अन्तर है। तुलसी के समय में अध्यात्ममार्गों की साधना पर विशेष ध्यान जागया था, उसके शास्त्रीय विवेचन का पिष्टपेषण नहीं हो रहा था। संस्कृत भाषा इसके लिए नियत आधार रही है। वह तुलसी के समय विशेष अध्ययन से प्राप्य थी, साधारण जीवन से वह दूर होगयी थी। तुलसी संकल्प से भी जन-साधारण के भक्त कवि थे। संस्कृत की निधि को जनभाषा में जन-साधारण तक पहुँचाना ही उनका उदय था।

स्वान्त: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति।।

अत: अध्यात्म चिन्तन की शास्त्रीय जटिलताओं में वह अपने पाठक को उलझाना नहीं चाहते रहे होंगे। भागवतकार के समय में शास्त्र चिन्तन संस्कृत साहित्य की रचना आदि हो रही थी। भागवतकार जितने व्यापक, गम्भीर एवम् प्रौढ़ पाण्डित्य के धनी हैं उतने तुलसी नहीं हैं। तुलसी की महिष्ठता वैदुष्य पर नहीं, जीवन के मार्मिक अनुभव और अडिग आस्था पर आधारित है।

दूसरे तुलसी साहित्य और श्रीमद्भागवत की साहित्यिक प्रकृति में अन्तर है। भागवत पुराण शैली की रचना है। इसमें सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ,प्रत्येक तथ्य, प्रलयभी, वर्णन विवेचन का विषय बन जाती है। श्रोता प्रश्न करता है और वक्ता, जो कोई असाधारण तपस्वी जैसे सूत, या असाधारण ज्ञानी जैसे वशिष्ठ (योगवाशिष्ठ में) या असाधारण भक्त जैसे शुक देव जी भागवत में, उसका उत्तर देता है। प्रश्नों की कोई विषय सीमा नहीं होती। इसलिए वैविध्य पुराणों की विशेषता है। पुराणकार प्रायः अपने समय में प्रचलित सभी विषयों का विवेचन करने का प्रयास करता है, बल्कि वह अपने मत के अनुसार उनकी व्याख्या करता है।

तुलसी साहित्य रामचरित की सीमाओं में आबद्ध होकर स्पष्ट हुआ है।उसी के विविध सौन्दर्य को उजागर करने और उससे जीवन का नित्य-रस मथकर निकालने पर कवि का ध्यान है। रामचरित में जो जीवन के शाश्वत मूल्य कवि को अन्तर्निहित प्रतीत हुए उन्हें अपने ग्रन्थों में कथा सन्दर्भों के साथ तुलसी ने व्यक्त किया है। इसीलिए उनकी एक रचना में रामकथा का एक सन्दर्भ अधिक विस्तार से वर्णित हुआ है तो दूसरी रचना में दूसरे सन्दर्भों को अधिक व्याख्यायित किया है।

इस प्रकार ज्ञान ,कर्म आदि का शास्त्रीय विवेचन और उनका भक्ति से तुलनात्मक संबंध शास्त्रीय शैली में तुलसी ने विवेचित नहीं किया।

योग, कर्म और ज्ञान में से ज्ञान विषय का विवेचन तुलसी साहित्य में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। ज्ञान की भक्ति के साथ तुलना भी प्रायः सर्वत्र है। राम के अनेक भक्तज्ञानी हैं, जैसे वशिष्ठ, भरद्वाज, बाल्मीकि आदि। ये सभी श्रीराम को ईश्वर का अवतार समझकर उनकी वंदना दार्शनिक विचारों के साथ करते हैं। वह कहते हैं- " हे राम, तुम वेदमर्यादा के रक्षक जगदीश्वर

हो । सीता माया है । लक्ष्मण शेषनाग हैं, आप लोग देव कार्य के लिए राजा का रूप धारण कर राक्षसों का विनाश करने के लिए निकल पड़े हो। ~~अगम-अगोचर~~ हे राम, तुम्हारा यथार्थ रूप तो मन और बुद्धि का भी अगोचर है। वेद भी तुम्हें 'नेति नेति' कहकर बताते हैं। आपको वही जानता है जिसे आप जानते हो। आपकी कृपा से भक्त आपको जान लेते हैं। तुम्हारा शरीर चिदानन्दमय है। तुम अविकारी हो।[1] इसी प्रकार भरद्वाज, वशिष्ठ आदि राम को साक्षात् परमेश्वर समझकर उनकी अभिनंदना करते हैं। इससे तुलसी व्यंजित करते हैं कि ज्ञान की चरितार्थता भक्ति में है। कोरा, शुष्कज्ञान तो अहंकार को जन्म देता है। काकभुशुण्डि के पूर्वजन्म का अयोध्यावासी शूद्र का चरित इसी तथ्य का व्यंजक है। ज्ञान और भक्ति का तुलनात्मक विचार भी अनेकत्र हुआ है। भक्ति से मंडित होकर शोभा पाती है। --

रैनि को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भान।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञान।[2]

यदि भक्त के हृदय में परमेश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हो तो वह भगवान् की शरण प्राप्त कर लेता है भले ही उसके पास ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों में से एक भी न हो।

करमठ कठमलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञान विहीन।
'तुलसी' त्रिपथ विहायगो, राम दुआरे दीन।।[3]

ज्ञान व्यक्ति को भ्रम में डाल देता है। ईश्वर हृदय में विराजमान रहता है पर जिज्ञासु उसकी खोज में वेद-शास्त्रों, तीर्थ-मन्दिरों आदि में घूमता

१- रा०मा०अयो०- १२६-१२७
२- वैराग्य संदीपनी- ४२
३- दोहावली- ९९ ,

रहता है। यह ऐसे ही है जैसे कस्तूरी मृग अपने शरीर में छिपी कस्तूरी की सुगंध को प्राप्त करने के लिए बाहर जंगल में दौड़ता फिरता है, व्यक्ति का मन आधि भौतिक, आधि दैविक और आध्यात्मिक तापों से संतप्त रहता है। उसके ऊपर दरिद्रता और बड़ा कष्ट बनती है। अपने ही घर में कल्प वृक्ष लगा है पर हम अपने मन में विषयों के बबूल उगाते रहते हैं।

यां हिते मैं हरिज्ञान गंवायो।
परिहरि हृदय- कमल रघुनाथहिं, बाहर फिरत विकलभया धायो।
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिरमद अति मति हीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि, तरु-लता, भूमि बिल, परम सुगंध कहां ते आयो।।

< < < < <

व्यापत त्रिविध ताप तनुदारुन, तापर दुसहदरिद्र सतायो।
अपने हि धाम नाम सुर तरु तजि, विषय बबूर बाग मन लायो।।[1]

रामचरित मानस के उत्तर काण्ड में ज्ञान और भक्ति का तुलनात्मक विवेचन विस्तार के साथ कियागया है। ज्ञान कष्ट साध्य उपलब्धि है। उसकी प्राप्ति के मार्ग में और प्राप्त हो जाने पर अनेक विघ्न बाधायें आती हैं।

ज्ञान उस दीपक के समान है जिसे तैयार करने के लिए घी, बत्ती, आदि एकत्र करने में बड़ा कष्ट होता है। गौ उत्तम घास खाये, अच्छा दूध दे, उसे जमाकर बिलोया जाये फिर ताया जाये, तब घी बनता है। निःसंदेह दीपक ऐसा प्रकाश देता है कि हम हर वस्तु को ठीक से देख लेते हैं। ज्ञान भी

१- विनयपत्रिका - २४४

बुद्धि को ऐसा प्रकाश देता है कि वह जीवन के माया जनित बन्धन को काटने में समर्थ हो जाती है।

लेकिन ज्ञान के प्रकाश को मायारूपी सुन्दरी अपने अंचल की वायु से, अपने आकर्षण से बुझा देती है। अच्छे अच्छे ज्ञानी माया के आकर्षण में आकर ज्ञान साधना छोड़ बैठते हैं। यदि कोई इस आकर्षण को भी जीत ले तो विषयों का आकर्षण जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है वह दुर्निवार हो जाता है, ज्ञानी उसमें फंस जाता है।

भक्ति ऐसी मणि है जिसे कोई बुझा नहीं सकता। वह श्रद्धा, विश्वास और अनुराग के कारण अनायास मिल जाता है। जैसे मणि केवल प्रकाश ही नहीं देती, दरिद्रता को भी दूर कर देती है, उसी प्रकार भक्ति आध्यात्मिक निःश्रेयस ही नहीं देती, सांसारिक कष्टों से भी मुक्ति दिला देती है। भोजन करने से भूख मिटती है, तृप्ति होती है और सुख प्रतीत होता है। इसी प्रकार भक्ति साधना से भगवत्प्राप्ति का आनन्द, संताप निवृत्ति और निश्चिन्तता की अनुभूति होती है।

तुलसी की दृष्टि में भक्ति सहित अत्यन्त स्पृहणीय उपलब्धि है। बिना भक्ति के वह अलौने भोजन की भांति निरर्थक है।[1]

१- रा०मा०- ११७-११८

द्वितीय अध्याय

मुक्ति के भक्तीतर साधन और भक्ति -

(ख)- कर्म और भक्ति :-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

अध्यात्म विचारणा में कर्म का अर्थ है वेदविहित कर्मानुष्ठान, ऐसा कर्म स्वर्ग प्राप्ति का साधन शास्त्रों में बताया गया है । "स्वर्ग कामो-यजेत", इसे धर्म भी कहा जाता है और चार पुरुषार्थों में से पहला धर्म ही है, कर्म वादी मीमांसक कर्म को पूर्ण पुरुषार्थ मानकर उसी के अनुष्ठान की आज्ञा देते हैं। भक्तों के मत में भक्ति परम पुरुषार्थ है। वह मुक्ति से भी अधिक श्रेयस्कारी है। भक्त मुक्ति की अभिलाषा नहीं करते। भक्ति चाहते हैं। भागवतकार ने धर्मादिचार पदार्थों में प्रत्येक को स्वयम् में पूर्ण न मानकर मुक्ति को अंतिम साध्य और धर्मादि को उसका साधन माना है। उनके अनुसार धर्म का प्रयोजन अपवर्ग है अर्थ नहीं। इसी प्रकार अर्थ का प्रयोजन धर्म है काम-सुख नहीं।

> धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते
> अर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय न स्मृत: ।

भागवतकार वेद और मीमांसा के विद्वान् हैं साथ ही उत्कृष्ट कोटि के भक्त हैं। उन्होंने दार्शनिक स्तर पर भक्ति को परमपुरुषार्थ रूप में प्रतिष्ठित किया है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि कर्म का भक्ति के सन्दर्भ में क्या स्थान है। क्या कर्म साधना भक्ति साधना की विरोधी है, स्वतंत्र निरपेक्ष है या भक्ति का साधन रूप से अंग बन जाती है।

उद्धव ने यही प्रश्न भगवान् से किये कि मनुष्य के लिए अनेक कल्याण मार्ग बताये गये हैं। ज्ञान, कर्म ,वैराग्य, भक्ति ,तपश्चर्या आदि आदि । इनमें क्या कोई प्रधान और शेष गौण हैं या सब समान हैं।[१] उत्तर में यही कहा गया है कि लोग भिन्न-भिन्न रुचि के होते हैं। इस लिए उनकी आध्यात्मिक साधनाएँ भिन्न हो जाती ।कर्मयोग भी उनमें से एक है।

कर्म गुणों में आसक्त पुरुष (जीव) की साधना है। वह प्राकृतिक सृष्टि को अपना स्वरुप समझकर उसमें लिप्त हो जाता है। एक कर्म दूसरे कर्म को जन्म देता है। अपने कर्म के फलों को भोगता हुआ वह संसार में भटकने लगता है शुभ कर्मों से स्वर्गादि का, अशुभ कर्मों से नरकादि का भोग करता हुआ प्रलयपर्यन्त जन्म मरण के चक्र में पड़ा रहता है।[२]

जो पुरुष इस माया से पार जाना चाहता है उसे कर्मों के परिणामों पर विचार करना चाहिए। सुख की आशा से किए गए कर्म दुख देते हैं। स्वर्गादि का सुख भी नश्वर है, वह गुरुओं की शरण में जाये, ऐसे गुरुओं की जो शब्द ब्रह्म में निष्णात हों, जिनका चित्त शान्त हो और ब्रह्म में निष्ठा हो। साधु पुरुषों का संग करो अन्य सब ओर से स्वयम् को हटा लो प्राणियों के प्रति दया, मैत्री भाव, और विनय का व्यवहार करे। संयमी जीवन बिताये। वैष्णव धर्म में श्रद्धा एवम् अन्य की

१- श्रीमद्भागवत- ११।१४।१

२- श्रीमद्भागवत- ११।३।३-६

अनिन्दा का भाव रखे। भगवान् के अद्भुत कर्मों का श्रवण, कीर्तन और ध्यान करे। उसके पास जो हो उसे भगवान के चरणों में समर्पित कर दे। भगवान् की ही यशगाथाओं की भगवद्भक्तों में चर्चा करे। इस प्रकार कर्म के साधक व्यक्ति का भी चित्त कोमल द्रवीभूत हो जाता है। इस साधनभक्ति से रागात्मिका भक्ति का उदय होता है। फिर तो चित्त की ऐसी दशा हो जाती है कि भक्त कभी अच्युत चिन्ता से रोता है, कभी हंसता है, कभी प्रसन्न होता है तो कभी- बातें करता है, कभी भगवान का ध्यान कर नाचने, गाने और भगवद्गुणों का अनुशीलन करने लगता है। अन्त में परतत्व की अनुभूति कर शान्त और निवृत्त (तृप्त) हो जाता है।[१] इस प्रकार भागवत धर्मों की शिक्षा ग्रहण कर और उसके द्वारा प्रेमभक्ति को पाकर वह नारायण के परायण हो जाता है और अनायास ही माया से पार हो जाता है।

यह तो हुआ उन लोगों के विषय में जो शास्त्रों की मर्यादा में कठोरता से बंधे रहते हैं और उसी के अनुसार पारंपरिक कर्म करते रहते हैं। शास्त्रमर्यादा में शिथिलता लाकर कर्मानुष्ठान में भिन्नता भी लायी जा सकती है। भागवतकार का निर्णय है कि वेद तो परोक्षवादी होते हैं। जो उनका प्रसिद्ध शब्दार्थ होता है, कभी कभी तात्पर्य उससे भिन्न भी होता है। कभी वेद कर्म से मुक्ति दिलाने के लिए कर्म करने की आज्ञा देता है।[२] यदि व्यक्ति ज्ञान और संयम हीन होकर कर्म करेगा तो वह धर्म के स्थान विधर्म और अधर्म की कमाई करेगा। उपर्युक्त वेदानुशासन का तात्पर्य व्यक्ति को इस अधर्म से बचाना है।

१- श्रीमद्भागवत- ११।३।३२,

२- श्रीमद्भागवत- ११।३।४४

वेदविधि का पालन करते हुये कर्म परायण व्यक्ति दो प्रकार से भगवान को सान्निध्य प्राप्त करता है। एक तो वेदोक्त कर्म (यज्ञादि) निष्काम होकर ईश्वर को समर्पित कर दिया जाय तो परिणाम में "नैष्कर्म्य" अर्थात् कर्म के प्रति अनासक्ति का भाव प्राप्त हो जाता है। यह उपलब्धि है। प्रश्न उठता है कि फिर स्वर्ग प्राप्ति का जो उल्लेख है वह किस लिए है। उत्तर है कि यह तो कर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिए है।[1]

दूसरा प्रकार यह है कि यज्ञयागादि के स्थान पर भावद्र्चना करनी चाहिए। यह भी कर्म है। यह वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकार से की जा सकती है। आचार्य से इसकी विधिवत् शिक्षा लेकर अपनी रुचि और विश्वास के अनुरूप भगवान की मूर्ति बना लें। मूर्ति लोहे, लकड़ी, पत्थर, चन्दन या मिट्टी, चित्र, बालू, या मणि की अथवा वामन कल्पना की आठ प्रकार की होती हैं।[2] स्नानादि से पवित्र बन कर प्राणायाम, अंग न्यास, आदि करे और फिर मूर्तिमय भगवान की अर्चना करे। पाद्य, अर्घ्य, आचमन आदि भगवान को अर्पित करे। गन्ध, माल्य, पुष्प, अक्षत, धूप, दीपादि देकर प्रणाम करें। स्वयम् को भगवन्मय समझते हुये यह अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार जो पुरुष अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और अपने हृदय में आत्मरूप श्री हरि की पूजा करता है वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार धर्मवाद का सर्वथा खंडन भागवतकार ने नहीं किया है। उसका भक्ति साधना में समन्वय किया है। जो गतानुगतिक रूप से वेद विहित यज्ञादि कर्म करते हैं उनके लिए तो यह उपाय है कि वे साधनभक्ति का

१- रोचनार्थं फलश्रुतिः - श्रीमदभागवत- ११।३।४६

२- श्रीमद्भागवत- ११।२७।१२

अभ्यास करते करते रागानुगा भक्ति को प्राप्त करें। जो लोग कर्मानुष्ठान में मर्यादारेखा से थोड़ा हट सकते हैं वे या तो निष्कामभाव से कर्मानुष्ठान करें और अपने कर्म को भगवदर्पित कर दें गीता का कर्मयोग भी यही है। अथवा यज्ञयागादि कर्म के स्थान पर भगवान की मूर्ति की शास्त्रोक्त विधि से पूजा सेवा करें। इस प्रकार कर्म का आग्रह भक्ति में बदल जाता है।

(ख)- कर्म और भक्ति :-

तुलसी साहित्य में -

सैद्धान्तिक रूप में कर्म और भक्ति का तुलनात्मक विचार तुलसी साहित्य में नहीं के बराबर है। यद्यपि अरण्यकाण्ड में ऋषि-मुनियों के साथ श्रीराम की भेंट में इसका प्रसंग उत्पन्न किया जा सकता था, पर तुलसीदास जी की उस ओर रुचि नहीं है। विनयपत्रिका में भक्ति के सन्दर्भ में कर्म पर अनेक पदों में चर्चा आया है। लेकिन यह चर्चा सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक है। तुलसी के विचार में भक्तिसाधना कर्म निरपेक्ष होकर नहीं चल सकती। भक्त को यदि भगवत्कृपा पाने की अभिलाषा है तो उसे अपने कर्म शुद्ध, सात्विक, सामाजिक और ईश्वर प्रिय करने होंगे। ईश्वर के दरबार में प्रवेश पाने के लिए कर्म शुद्धि आवश्यक है।

रामचरितमानस के पात्र, जो रामभक्त हैं, सब भगवान् राम की सेवा करते हैं जैसे लक्ष्मण, हनुमान्, अंगद, भरत आदि। इन्हें हम, साधनाभक्त, भावभक्त आदि नहीं कह सकते। कर्मभक्त मान सकते हैं। इनके सब कर्म परमेश्वर के लिए हैं, परमेश्वर को ही समर्पित हैं। गीता में श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति यह उपदेश कि--" तू जो करे, जो खाये जो यज्ञ करे, जो दान करे, जो तप करे - वह सब मुझे अर्पित कर दो।"

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

रामचरित मानस के इन भक्तों में पूरा-पूरा घट जाता है।

तुलसी को इस पर ग्लानि है कि वह श्रीराम की कृपा की तो याचना करता है पर अपने कर्म परिमार्जित नहीं करता । इस पर उसे संकोच है कि वह अपनी विनय भी किस प्रकार भगवान् को सुनाये । "वह कर्म तो सब धर्म के विपरीत करता है फिर किस प्रकार राम को अच्छा लग जाएगा ।"

सकुचत हौं अति राम कृपा निधि ,
क्यों करि विनय सुनावौं ।
सकल धरम विपरीत करत ,
केहिभांति नाथ , मन भावौं ।[१]

भक्त सांसारिक कष्ट भोगता है तो इसके लिए भगवान् को क्या दोष दिया जाय । वह काम तो सदा ऐसे करता है जिनसे स्वप्न में भी कल्याण नहीं मिल सकता । वह जानता है कि विषयभोग अनर्थकारी है, इनसे अन्धकार के गर्त में पड़ जाते हैं , फिर भी वह उन्हें छोड़ता नहीं है । कुत्ता , बकरा और गधे की भांति उन्हीं मे अनुरक्त होकर भागा फिरता है । भगवान् ऐसे दुष्कर्मों पर कैसे प्रसन्न होंगे । तुलसी कहते हैं -- मेरी करनी तो हाथी के दांत जैसी- है । यदि जो कहता हूं वही करुं भी तो संसार सागर से इस प्रकार तर जाऊं जैसे वत्सपद , पर यहां तो कहना कुछ और है और जीवन की रहनि कुछ और है ।[२]

भगवत्प्राप्ति का जो सच्चा साधन है वह तो व्यक्ति करता नहीं । जैसा रोग हो वैसी दवा न की जाय तो वैद्य का क्या दोष ?[३] तुलसी तो अपने पापों को देखकर और यह अनुमान कर कि परमेश्वर तो अनघ, निष्पाप है,

---

१- विनयपत्रिका- १४२

२- विनयपत्रिका- ११७-११८

३- विनयपत्रिका- १२२

डरते हैं। वह किस भांति अपना विनती करें --

> रामचन्द्र रघुनायक तुमसों हौं विनती केहिभांति करौं,
> अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौं।[1]

दंभ कर्मों का सब से बड़ा दूषण है। दंभी व्यक्ति दिखावा बहुत करता है, सुकर्म नहीं करता। उसका ध्यान अपनी पूजा कराने पर जितना रहता है उतना परमेश्वर की पूजा करने पर नहीं। वह दूसरों को शिक्षा देता है पर स्वयम् उसे नहीं मानता। जिन पापों को उसने मनलगा कर किया है उन्हें तो छिपा लेता है, पर जो कुछ थोड़ा सुकृत बन पड़े उसे लोगों को सुनाता फिरता है। उसने तो लज्जा घोर कर पी ली है।[2]

व्यक्ति समझता है कि मन से, वचन से या कर्म से परहित करें तो उद्धार हो जाएगा पर वह तो दूसरों का सुख देखकर भी बिना कारण ईर्ष्या में जलता है, परहित करना तो बहुत दूर की बात है।

> जानत हूं मन बचन करम पर हित कीन्हें तरिये।
> सो विपरीत देखि पर सुख, बिनु कारन ही जरिये।[3]

यदि कर्मों की ओर मुड़कर देखें तो लगता है कि सारा जन्म ऐसे ही बीत गया। परमार्थ तो मिला ही नहीं, स्वार्थ भी सिद्ध न होसका। संसार में जो कुटिल, कायर, खल और कलियुगी जीव हैं, उनकी प्रशंसा

१- विनयपत्रिका- १४१
२- ,, - १५८
३- ,, - १८६

करते - करते मुँख सूख गया । उन्हें परमेश्वर से भी अधिक माना । अपने सुख के लिए सदा भाग - दौड़ करता रहा । मन "पंथ के जल ज्यों" कभी शांत , स्थिर न हो पाया ।"[१]

भक्त तुलसी को विश्वास है कि उसका कर्म भी उसके किए नहीं सुधर सकेगा चाहे वह करोड़ों कल्पपर्यन्त उपाय करता रहे । श्रीराम यदि कृपा करेंगे तो पाव पल में वह सुधर जायेगा । वह तो सारे जीवन कुपथ पर कुचाल चलता रहा । कुछ भी भला नहीं हुआ । देखा देखी में , या दंभवश कुछ अच्छा हो गया तो उसका ढोल पीटा और पापों को छिपाया ।"[२]

कर्म करने में भी अपने को असमर्थ समझकर कवि भगवान् से प्रार्थना करता है कि कर्म करते हुये उसपर भगवान् की कृपा बनी रहे । कर्म तो कुटिल है । यह न जाने कहां-कहां मनुष्य को ले जाता है ।पर भगवान् सदा उसके साथ बने रहें जैसे कछुई जल में अपने अंडे के पीछे-पीछे घूमती है ।

कुटिल कर्म ले जाहिं मोहि ,
जहँ जहँ अपनी बरि आई ।
तहँ तँह जानि छिन छीह छाड़ियो ,
कमठ अंड की नाई ।।"[३]

१- विनयपत्रिका- २३४-३५

२- विनयपत्रिका- २६१

३- विनयपत्रिका- १०३

(ग)- योग और भक्ति :-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

योग शब्द पाणिनि के सूत्र युज धातु से सम्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ जुड़ना या मिलना है। यह भाववाची क्रियार्थक संज्ञा के रूप में योग शब्द प्रयुक्त है।

श्रीमद्भागवत में योग साधना का अभीष्टफल सांसारिक आसक्तियों का पूर्ण त्याग निर्देशित किया गया है।[१] भगवान कृष्ण उद्धव से योग की परिभाषा को उपदेशित करते हुए कहते हैं कि मन और चित्त की वृत्तियों को मुझमें एकाकार करके तन्मयता युक्त नित्य अवस्था में स्थित रहना ही सारे योग साधन का सारसंग्रह है।[२] अर्थात मन को स्थूल विराटता से खींचकर परमात्मा में चित्त की तदाकारता ही योग है।[३] पातञ्जल योग दर्शन में चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।[४] सांख्य योगदर्शन में पुरुष प्रकृति के वियोग को योग संज्ञा से अभिहित कियागया है।[५] वेदांतकार ने योग का अभिप्राय जीवात्मा और परमात्मा के योग से जोड़ा है।[६]

१- श्रीमद्भागवत- ३।३२।२७- 'एतावान योगेन समग्रेणेह योगिनः।
पुज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यह सङ्गस्तु कृत्स्नशः।।

२- ,, - ११।२३।६१ तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनोधिया।।
मय्यावेशितया युक्त एतावान योग संग्रहः।।

३- ,, - ११।१३।१४ एतावान योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।+
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा।।

४- योगसूत्र - १।२- योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।'

५- योग सूत्र पर भोजवृत्ति, मंगल श्लोक -३

६- वेदान्त सूत्र- 'पुंप्रकृत्योर्वियोगो पिऽयोग इत्युदितो यया।'

योगदर्शन प्रयोगात्मक अध्यात्मदर्शन है। इसका विचार पक्ष सांख्य है। सांख्य में पुरुष का प्राकृतिक विषयों में आसक्त होना बन्धन और अनासक्त होकर कर्म करते रहना मोक्ष माना गया है। योग दर्शन उस अनासंग भाव को प्राप्त करने का अभ्यास है।

चित्त ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के साथ जुड़कर विषयों की ओर अभिमुख होता है। इससे उसकी वृत्ति भी चान्चल्य रहती है। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय उसके बाहर भागने का द्वार बनी रहती है, योग चित्त की इस चन्चलता को दूर करने और मन को विषयों से हटाकर हृदय में अवस्थित ब्रह्म के ध्यान में लगाने का अभ्यास कराता है। यह योग अष्टांग है -- वे है, यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारण ध्यान और समाधि।[1] ये अंग चित्तवृत्ति निरोध के आठ सोपान है। इनमें से प्रथम पांच बहिरंग साधन हैं एवम् अन्तिम तीन अन्तरंग।[2] यम का अर्थ है सांसारिक उपरति। श्रीमद् - भागवत में यम तथा नियम बारह-बारह निर्दिष्ट किए गए है, जबकि पातंजल योगदर्शन में पांच पांच यम नियमों का संकेत है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंगता, लज्जा, असन्चय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन स्थिरता क्षमा और अभय- ये बारह यम हैं।[3]

शौच, जप तप हवन, श्रद्धा, अतिथि सेवा, भगवत्पूजा, तीर्थ यात्रा परोपकार की चेष्टा सन्तोष और गुरु सेवा- ये नियम बारह हैं।[4] दोनों का विवेचन किया जा चुका है। उपर्युक्त यम नियमों का लक्ष्य काम -

---

१- योगसूत्र - २।२६, श्रीमद्भागवत- १०।२०।२४
२- योगसूत्र - ३।१
३- श्रीमद्भागवत- ११।१६।३३
४- श्रीमद्भागवत- ११।१६।३४

लोभ मोह मद, मत्सर- इन छह विकारों पर विजय प्राप्त करना है।[1] यम नियम इन्द्रियां और मन को विषयों से उपरत कराने का साधन है तथा आसन शरीर की जितेन्द्रियता का संलक्ष्य है। प्राणायाम मन को विषयों से अनासंग करने का साधन है। प्रत्याहार धारणा, ध्यान- मन को परमतत्व में जोड़ने का धारावाहिक अभ्यास है। समाधि- मन की पूर्ण एकाकारिता है।

भागवतकार योगविद्या को परमात्मलाभका अन्यतम साधन स्वीकार करते हैं। "व्यक्ति का मन यम, नियम आदि योगमार्ग और आन्वी-क्षिकी विद्या अर्थात आध्यात्मिक ज्ञान से अथवा मेरा प्रतिमा की उपासना से परमात्मा का चिन्तन करने लगता है।"[2] योगी के लिए परामर्श है कि "यदि उससे साधना काल में कोई अपराध बन जाय, यद्यपि इसकी संभावना कम है, तो वह योगाभ्यास के द्वारा ही उस पाप को भस्म कर ले। अन्य किसी साधन जैसे यज्ञादि कर्म, की ओर अपनी प्रवृत्ति को न प्रेरित करे।[3] योग साधना कठिन और बहुन्तराय है। बीच में अभ्यास मंग होने पर कठिनता और भी बढ़ जाती है।

योग साधना से कर्मों के प्रति निर्वेद अर्थात विरक्ति जगेगी। "योगी यह भी जान जाता है कि भोग और उनकी वासनाएँ दु:खरुप हैं। इतना होने पर भी यदि कर्म और उनके फल को भोगने की लालसा बनी रहे, उसका त्याग वह न कर सके तो भक्ति योग के द्वारा वह भगवत्प्राप्ति कर

१- श्रीमद्भागवत- ७।१५।२८

२- श्रीमद्भागवत- ११।२०।२४

३- श्रीमद्भागवत- ११।२०।२५

लेता है। योगी भागवद्भक्ति से युक्त होकर भगवान् के चिन्तन में ही मग्न हो जाता है। उसके लिए फिर ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण भक्ति के द्वारा ही हो जाता है।[१]

कर्म, तपस्या, ज्ञान और वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म एवं अन्य कल्याणकारी उपायों से जो स्वर्ग, अपवर्ग आदि प्राप्त होते हैं, वह सब मेरा भक्त यदि चाहे तो भक्ति से ही अनायास प्राप्त कर लेता है। वैसे सात्विक सुख तो न चाहने में, निरपेक्षता में ही है।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्[२]

योग साधना के मार्ग में बाहर से जो बाधायें आती ही हैं, योग साधना से भी बाधायें आती हैं वे हैं- योगसिद्धियाँ। ये संख्या में आठ होती हैं। ये योगाभ्यास करते योगी को ही प्राप्त होती हैं। उन्हें प्राप्त कर योगी यदि उनके भोग में तृप्त रहने लगता है तो वह परमपद की प्राप्ति रूप जो अन्तिम लक्ष्य है, उससे च्युत हो जाता है। गीता में ऐसे योगियों को 'आरूढ़ च्युत' अर्थात् ऊपर चढ़कर गिरने वाला बताया है।

ये सिद्धियाँ हैं --'अणिमा', 'महिमा', 'लघिमा', ये तीन सिद्धियाँ शरीर की हैं। इन्द्रियों की एक सिद्धि है --'प्राप्ति'। लौकिक एवम् पारलौकिक पदार्थों का इच्छानुसार अनुभव कराने वाली मानसिक सिद्धि है --'प्राकाम्य'

१- श्रीमद्भागवत- ११।२०।२७-३१

२- श्रीमद्भागवत- ११।२०।३५

माया और उसके कार्यों को इच्छानुसार संचालित करना 'ईशिता' सिद्धि कहलाती है। विषयों में रहकर भी उनमें आसक्त न होना 'वशिता' है। जिस-जिस सुख की कामना हो उसकी सीमा तक पहुंच जाना 'कामावसायिता' सिद्धि है। यह अन्तिम आठवीं है, स्पष्ट है ये सभी किसी न किसी रूप में विषयों से सम्बद्ध हैं। उनके भोगों की असाधारण क्षमता योगी को इन से मिल जाती है।

इसके अतिरिक्त शरीर में भूख, प्यास का अनुभव न होना, दूर की वस्तु देख लेना या सुन लेना, मन के साथ शरीर का भी अन्यत्र पहुँच जाना, दूसरे शरीर में प्रवेश करना, जब मन करे तब शरीर छोड़ देना, अप्सराओं के साथ होने वाली देव क्रीडाओं का दर्शन कर लेना, संकल्प की सिद्धि, सर्वत्र अपनी आज्ञा का पालन ये दस सिद्धियां उपर्युक्त आठों से भिन्न हैं।

इसी प्रकार त्रिकालज्ञ हो जाना, द्वन्द्वानुभूति से ऊपर हो जाना, दूसरों के मन की बात जान लेना, अग्नि सूर्य, जल आदि को रोक देना, एवम् किसी से भी अपराजित होना - ये पांच सिद्धियां भी योगी को प्राप्त हो जाती हैं।[1]

जिन सिद्धियों की उपलब्धि योगसाधना से होती है वह भक्त को भक्ति मार्ग से भी मिल जाती है। जैसे भगवान के भूतसूक्ष्मात्मारूप में तन्मात्रात्मक मन की धारणा से 'अणिमा' सिद्धि की प्राप्ति होती है।

१- श्रीमद्भागवत - ११।२५।३-८

महत्तत्वरुप परमेश्वर में मन को महत्त्वाकार बनाकर तन्मय करने से 'महिमा' सिद्धि प्राप्त होती है। वायु आदि महाभूतों को भगवान् का ही रुप समझकर उनमें मन लगाने से 'लघिमा' उपलब्ध होती है। ऐसे योगी को स्वयम् सूक्ष्म वस्तु बन जाने का सामर्थ्य मिल जाता है। 'प्राप्ति' नामक सिद्धि उस भक्त को मिलती है जो सात्विक अहंकार को भगवान का रुप समझकर उसी रुप में चित्त की धारणा बना लेता है। जो व्यक्ति महत्त्वाभिमानी सूत्रात्मा परमेश्वर में अपना चित्त स्थिर कर लेता है उसे 'प्राकाम्य' सिद्धि प्राप्त होती है। इससे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं।

भक्त यदि त्रिगुणमयी माया के स्वामी कालरुप परमेश्वर की धारणा करता है तो ईशित्व सिद्धि का स्वामी बन जाता है। इससे वह अपनी इच्छानुसार जीवों को प्रेरित कर सकता है। परमेश्वर के नारायण रुप में मन लगाने वाले को 'वशित्व' सिद्धि प्राप्त होती है। अन्तिम सिद्धि 'कामावसायिता' का अधिकारी वह भक्त है जो परमेश्वर के निर्गुण रुप में मन लगाता है। इस प्रकार योग के कठिनमार्ग की अपेक्षा भक्ति का सरल मार्ग ही अधिक श्रेयस्कर है।[१]

१- श्रीमद्भागवत- ११।१५।१०-१७

(ग)- योग और भक्ति :-

तुलसी साहित्य में -

किसी रचना या रचनाकार को अंशत: परखने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि रचनाकार अपने समय का साक्षी होता है अपने समय का सृष्टि भी। तुलसी भी इस नियम के अपवाद नहीं है। उनके समय में योग साधना की जो स्थिति थी उसी का दर्शन हमें उनके साहित्य में परिलक्षित होता है।

बौद्धधर्म के ह्रासकाल में योग चर्या सिद्धों और नाथों में आ गया थी। बौद्धधर्म प्रारम्भ से ही वेदमर्यादा और उसका अनुष्ठान विधि का विरोधी था। योगमार्ग भी उससे कोई संबंध नहीं रखता। स्वर्ग- नरक की कल्पना भी इसमें नहीं है। इसका दर्शन तो सांख्य है और जो प्रकृति और पुरुष को मूलतत्व मानकर प्रकृति से असंग होने का उपदेश देता है। अत: बौद्धधर्म की प्राचीन परम्पराओं का भी इसमें कुछ अवशेष था। ईश्वर का ,उसके प्रति अनुराग का और भगवान के सान्निध्य में भावना का जीवन जीने का इसमें कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर योगचर्या में जो कृच्छ्र तप और अन्तर बाह्य सात्विकता की आवश्यकता होती है वह नाथों और सिद्धों में विरलों में ही विद्यमान थी। इस लिए वह एक प्रकार का दंभ, पाखंड मात्र रह गया था।

तुलसी ने अपने साहित्य में योग साधना का उपेक्षा के साथ ही उल्लेख किया है। उन्हें भक्तिविरोधी लगा था। इसमें उस अनुराग का अभाव था जो चित्त को स्निग्ध , शान्त और द्रवित बनाता है। वह योग साधना को आध्यात्मिक भटकाव समझते हैं। श्रीराम से विनय करते हुए कहते हैं कि-" मैं मन में त्रिविध संताप संतप्त हूं। विविधप्रकार की बौराई-पागलपन करता फिरता हूं। कभी योग में लग जाता हूं कभी भोग में।

दीनबन्धु, सुख सिन्धु, कृपाकर कारुनीक रघुराई ।
सुनहु नाथ, मन जरत त्रिविध जुर, करत फिरत बौराई ।
कबहुं जोगरत ,भोग निरत सठ, हठ वियोग बस होई ।।

गोसाईं की दृष्टि से जप- जोग भक्ति के बिना निरर्थक हैं । इनसे संसार का मायारोग दूर नहीं होता ।

संजम, जप तप , नेम , धरम
व्रत बहु ~~भेषज~~ भेषज समुदाई ।
तुलसिदास भवरोग रामपद -
प्रेम हीन नहिं जाई ।[1]

वस्तुस्थिति तो उस समय यह थी योग साधना केवल दिखावा रह गयी थी । इसका यह और अतिरिक्त क्षति थी कि लोगों का मन भक्ति साधना से विमुख होने लगा था । इसका चित्रात्मक वर्णन करते हुए कवि कहता है -" कलियुग वर्णाश्रमधर्म समाप्त होगये हैं । लोगों में मद से मादकता सी मच गयी है । बुरी वासनाओं ने कर्म , उपासना और ज्ञान को नष्ट कर दिया है , ज्ञान केवल वचन में और वैराग्य केवल वेष में रह गये हैं । जगत् ठगा सा हो गया है । गोरखनाथ ने योग , हठयोग के प्रचार से लोगों को भक्तिमार्ग से विमुख कर दिया है । लगता है गोरखनाथ के रूप में कलियुग ने ही लोगों को छल लिया है । तुलसी को शरीर, वाणी और मन से केवल राम का ही भरोसा है ।"

~~१- श्रीमद्भागवत~~

१- विनय पत्रिका - ८१

बरन-धर्मगयो, आश्रम निवासतज्यो त्रास न चकितसो परावनो परो सोहै ।
करम उपासना कुवासना विनास्यो ज्ञान, वचन विराग वेष जगत् हरो-
- सो है ।

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग ,
निगम नियोग ते सो कलि ही छरो सो है ।
काय मन वचन सुभाय तुलसी है जाहि ,
रामनाम को भरोसो ताहिको भरोसो है ।[१]

योग के प्राचीनरूप को तुलसी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से स्मरण करते हैं । पहले योग साधना उन तपस्वियों की साधना थी जिन्हें अपने शरीर का तनिक भी मोह नहीं था । राम चरित मानस में इसी प्रसंग में योग का स्मरण हुआ है । सती ने दक्ष के यज्ञ में जब अपने पति-चन्द्रमौलि, वृषकेतु का अपमान देखा तो वह उसे सहन न कर सकीं । ~~योगाग्नि-से~~ योगाग्नि से अपना शरीर भष्म कर दिया ।

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा ।
भयउ सकल मख हाहाकारा ॥[२]

शरभंग ऋषि परम योगी थे । पर उनके हृदय में भगवत्प्रेम भी वैसा ही उत्कट था । जब उन्होंने श्रीराम लक्ष्मण और सीता जी के साथ अपने पास आते देखा तो वह परमानन्द मग्न होगये । वह तो ब्रह्म के धाम जा

१- कवितावली- उ०का०- ८४
२- रा०मा०बाल०- ६३

रहे थे। पर यह सुनकर कि श्रीराम वन में आयेंगे, वह लौट आये। आकर श्री राम के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। राम के आने पर वे कृतकृत्य हो गये। अब तक उन्होंने जो योग, यज्ञ, तप, व्रत आदि किये थे वे सब उन्होंने श्रीराम को अर्पण कर दिए। अपने प्रभु से भक्ति का वरदान आशीर्वाद में माँग लिया। साथ ही यह प्रार्थना की कि --

तब लगि रहहु दीन हित लागी।
जब लगि मिलौ तुम्हहिं तनु त्यागी ॥[१]

उन्होंने अपनी चिता आप बनाया और सब ओर से अनासक्त होकर उसपर बैठ गये। अन्त में यह प्रार्थना करते हुये कि-

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तन स्याम।
मम हिय बसहु निरन्तर सगुनरूप श्रीराम ॥[२]

यह कहकर शरभंग ने योगाग्नि से अपना शरीर जला डाला और श्री राम की कृपा से स्वर्ग को चले गये।

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा
राम कृपा बैकुंठ सिधारा।[३]

निष्कर्ष में कह सकते हैं कि तुलसी साहित्य में योग और उसके भक्ति संबंध की चर्चा अल्प है। यह समय का प्रभाव है, तुलसी के समय में योग साधना केवल भक्ति विरोधी ढोंग था। योगी का कल्याण भी भक्ति के बल पर ही होता है।

१- रा०मा०अरण्य- ८
२- ,, ,,- ८
३- ,, ,,- ६

(ब)- सभी साधनों का समन्वय:-

दर्शन हो, अध्यात्म साधना हो, आचार शास्त्र हो, अथवा धर्मानुष्ठान विधि हो, विषय लौकिक हो या पारलौकिक मतभेद होना भारत की प्राचीन विचार परम्परा की विशेषता रही है। इसमें व्यक्तिगत रुचियों की भिन्नता तो कारण है ही, देश की विशालता, काल की दीर्घ विस्तृति भी उसमें हेतु हैं। जलवायु का प्राकृतिक परिवेश चिन्तन और आचरण की रुचि का निर्माण करता है अत: स्वाभाविक है कि दक्षिण पश्चिम के समुद्र तटवर्ती लोग, हिमालय की उपत्यकाओं में रहने वालों की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकार से सोचें और भिन्न प्रकार की जीवन चर्या अपनायें। लेकिन इन विभिन्नताओं में समन्वय की परम्परा सदा से रही है। उसका कारण भी यह लगता है कि हमारी आध्यात्मिक चिन्तना तप और निष्ठा पर आधारित रही है और सब का लक्ष्य सत्य तक पहुंचना रहा है। मत-मतान्तरों को, साधनाओं की भिन्नता व उस सत्य तक पहुंचने के मार्ग बन गये। सत्य में सब साधन समन्वित होते गये।

'महिम्न स्तोत्र' के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त ने इसी भाव का एक पद्य कहा है। -- हमारे यहां वेदत्रयी है, सांख्य दर्शन है, योगविद्या है, शैव मत है, वैष्णवमत है। ये भिन्न भिन्न प्रस्थान है। कोई एक को श्रेष्ठ कहता है तो दूसरा किसी अन्य को उत्तम बताता है। लेकिन सत्य यह है कि ये सभी अपनी अपनी भिन्न रुचियों के कारण सीधा अथवा वक्र मार्ग अपनाये हुये हैं। पर प्रभु, इन सब की प्राप्य तुम एक ही हो जैसे अनेक नदियों का अन्तिम गन्तव्य केन्द्र समुद्र है।

त्रयी सांख्यं योग: पशुपति मतं वैष्णवमिति ,

प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद: पथ्यमिति च ।

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नाना पथ जुषाम् ,

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसा मर्णव इव ।

ज्ञान , योग और भक्ति में भी इसी प्रकार समन्वय रहा है । गीता में कहागया है कि कुछ लोग ध्यान के द्वारा आत्मदर्शन करते हैं । दूसरे सांख्य मार्ग से और तीसरे कर्मयोग से आत्मा को पहचानते हैं , कुछ ऐसे भी हैं जो इतना ज्ञान तो नहीं प्राप्त कर सकते पर औरों से सुनकर ही परमेश्वर की उपासना करते हैं । ये सभी अपनी अपनी निष्ठा से जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं ।[१] गीता में ज्ञानियों की भी प्रशंसा की हुई है, योगियों की भी हुई है और भक्तों की तो हुई ही है । अन्त में सब का प्राप्य एक है-- इस प्रकार सब का समन्वय होगया है ।

यह अनेक साधनों का अपने एक साध्य में मिल जाने का समन्वय है । ज्ञान , योग और भक्ति का साधन स्तर पर ही समन्वय विद्यमान है । भागवतकार ने इसका स्पष्ट रूप से विवेचन किया है वह इस प्रकार है--

तीन प्रकार के साधक होते हैं --१- कर्म के प्रति आसक्त , २- कर्म से विरक्त या निर्विण्ण , और भगवान् के प्रति श्रद्धायुक्त। इनमें से कर्मासक्त को चाहिये कि वह तब तक कर्म करता रहे जब तक उससे विरक्ति न हो जाय अथवा जब तक भगवान् के प्रति श्रद्धा नउत्पन्न हो जाय कामना हीन होकर कर्म करेगा तो उसके फलस्वरूप स्वर्ग- नरक नहीं भोगने पड़ेगे क्योंकि वे तो कामना करने से मिलते हैं ।

१- गीता-- १३।२४-२५

आध्यात्मिक साधना का प्रारम्भ कर्म से होता है। वेदशास्त्रों के अनुसार अपने धर्म कर्म का पालन करता हुआ साधक उसकी असारता का और आत्म तत्व की जिज्ञासा का अनुभव करता है।

> अस्मिन् लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः
> ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥[१]

बादरायण के सर्वप्रथम सूत्र[२] में अथ का अर्थ 'कर्म के अनन्तर' किया जाता है। विहितकर्म से शुद्ध बने अन्तः करण में ब्रह्म तत्व की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ज्ञान दूसरे प्रकार से हृदय को निर्मल प्रशान्त बना देता है। उससे ज्ञात होता है कि सब भाव पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं। उनमें आसक्ति रखने से कुछ मिलता नहीं है।

> सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः।
> भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥[३]

इस प्रकार कामनाओं को दुःखपरिणामी समझता हुआ और उनकी निन्दा करता हुआ व्यक्ति कर्म भी करता रहेगा तो अन्त में वह भगवान् का श्रद्धालु भक्त बन जाएगा।

अन्त में निष्कर्ष रूप में भागवतकार का कथन है कि जो योगी भगवान् का भक्त हो जाता है उसका कल्याण न ज्ञान में रह जाता है और वैराग्य में।

१- श्रीमद्भागवत- ११।२०।११

२- ब्रह्मसूत्र- १ , अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।

३- श्रीमद्भागवत- ११।२०।२२

तस्माद् मद्भक्ति युक्तस्य योगिनो वैमदात्मन: ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय: श्रेयोभवेदिह ।।

जो कर्मों द्वारा, तप द्वारा, ज्ञान और वैराग्य द्वारा, दान से, अथवा अन्य कल्याण कारी प्रयत्नों से प्राप्त होता है वही भक्ति से सरलता से मिल जाता है।[१]

इस प्रकार कर्म से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति प्राप्त होती है। फलत: भक्तितर अन्य साधनों का भक्ति में ही समन्वय हो जाता है।

तुलसी दास जी भी अनुभव करते है कि बिना ज्ञान के भक्ति नहीं हो सकती। अत: ज्ञान की महत्ता तो है पर ज्ञान भी तो भगवत्कृपा के बिना नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार आदि से अन्त तक भक्ति में सब समाविष्ट हो जाते हैं।

जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयाने नाथ, परनि परत।[२]

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की प्राप्ति में सभी साधनों का समन्वय कर उपर्युक्त प्रसंग की समन्वय कारिता सिद्ध की है:--

वासुदेव परा वेदा वासुदेव परा मखा: ।
वासुदेव परायोगा वासुदेव पराक्रिया: ।।

१- श्रीमद्भागवत- ११।२०।३१-३३

२- वि. विनयपत्रिका-२५१

वासुदेव परं ज्ञानं वासुदेव परं तप:
वासुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गति: ।[1]

अर्थात् आशय यह है कि वेदों का तात्पर्य श्रीकृष्ण में ही है, यज्ञों के उद्देश्य श्री कृष्ण है, योग का लक्ष्य श्रीकृष्ण में है, तथा समस्त कर्मों की परिसमाप्ति का आधार श्रीकृष्ण में ही अन्तर्भूत होता है। ज्ञान से ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण की संप्राप्ति होती है, तपस्या का आधार श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए है और समस्त धर्मों के अनुष्ठान का फल श्रीकृष्ण में ही है, तथा समस्त गतियों का संलक्ष्य भी श्रीकृष्ण ही हैं।

इसी प्रकार मानस में भी मुनि वशिष्ठ के माध्यम से इसी समन्वयकारिता में अपने भावोद्गार अभिव्यन्जित कराए गए हैं :-

जप तप नियम जोग निज धर्मा ।
श्रुति सम्भव नाना शुभ कर्मा ।
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन । जहं लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।
आगम निगम पुरान अनेका ।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर ।
सब साधन कर यह फल सुन्दर ।।

x x x x x x

१- श्रीमद्भागवत- १।२।२८-२९

सोइ सर्वग्य तग्य सोइ पण्डित ।

सोइ गुन गृह विज्ञान अखण्डित ।।

दच्छ सकल लच्छन जुत सोई । जाकें पद सरोज रति होई ।[१]

साधन सिद्धि राम पग नेहू ।[२]

भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा ।

उभय हरहिं भव संभव खेदा ।[३]

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि भक्ति, ज्ञान, योग, कर्म भारतीय साधना क्षेत्र के अलग अलग समानान्तर मार्ग है तथा अपनी अपनी प्रणाली और प्रक्रिया के द्वारा मानव के उद्धार का सुसंकल्प लेकर चले- चल रहे हैं। दोनों साहित्यकार का अभीष्ट लक्ष्य एक ही परम तत्व स्वरूप श्रीराम और श्रीकृष्ण की प्राप्ति करना है।

१- रा०मा०- ७।४६।१-४

२- रा०मा०- २।२८६।४

३- रा०मा०- ७।११५ क।७

तृतीय- अध्याय

भक्ति: साधन और साध्य

(क)- भागवत में

(ख)- तुलसी-साहित्य में

तृतीय अध्याय

भक्ति साधन या साध्य

(क)- श्रीमद्भागवत के अनुसार :-

भक्ति सूत्रों में भक्ति को साधन एवम् साध्य दोनों माना गया है साध्य इसलिए है कि उसके लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है-- क्योंकि वह स्वयं फल प्रमाण रूपा, शान्तिरूपा एवम् परमानन्द रूपा है।[1] ब्रह्मकुमारों ने भक्ति को स्वयं फल रूपा कहा है।[2] भक्ति स्वयं पुरुषार्थ रूपा है,[3] वही मुक्ति स्वरूपा है।[4] वह मोक्षादि से भी

१- नारद भक्ति सूत्र- ५६- प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात।
,, - ६०- शान्तिरूपात्परमानन्द रूपाच्च।

२- नारद भक्ति सूत्र- ३०- स्वयं फल रूपतेति ब्रह्मकुमारा।

३- शा० भ० सू०- १।१।१ पर भक्ति चन्द्रिका
अत्र भक्तिमीमांसेति विहायभक्ति जिज्ञासेति कथनेनं भक्तेः पुमर्थता सूचिता।
शा० भ० सू० २।२।२३ पर भक्ति चन्द्रिका-
तस्मात्पुरुषार्थचतुष्टयान्तरगतत्वेन स्वातन्त्र्येण वा भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वात्।।

४- स्कन्दपुराण- निश्चलात्वमि भक्तिर्या सैव मुक्ति जनार्दन।
दे० ए० हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी जिल्द ४, पृष्ठ- ४१६

वृहत्तर एवम् परम पुरुषार्थ रूपहै। ~~किसी~~ भक्ति की तुलना में मोक्ष तुच्छ है।[1] इसलिए भक्त को योगी, ज्ञानी, एवम् कर्मी से श्रेष्ठ बताया गया है।[2] भक्ति अन्य साधनों का भी साध्य है। नारद भक्ति सूत्र में कहागया है कि ज्ञान कर्म योग आदि के साधनों द्वारा भी भक्ति को ही प्राप्त किया जाता है, इसलिए भक्ति का साधन ज्ञान बताया गया है-- तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके।[3] अर्थात ज्ञान भी भक्ति का साधन है। अर्थात ज्ञान, कर्म योग अंग है और भक्ति अंगी। जिस प्रकार लोक में किसी ज्ञान के बाद ही उससे प्रीति होती है, उसी प्रकार साधनमार्ग में भी साधन रूप ज्ञान से साध्य रूपा भक्ति की प्राप्ति होती है।[4] श्रुतियों में भी ब्रह्मकाण्ड का प्रतिपादन भक्ति के लिएही किया गया है।[5] मधुसूदन सरस्वती ने तारतम्कि दृष्टि से कर्मयोग की अवधि अष्टांगयोग, अष्टांग योग की अवधि भक्तियोग मे बताया है, भक्ति सबसे उच्चतम् है क्योंकि भक्ति के बिना मनः संतुष्टि या मनः प्रसाद असम्भव है।[6]

१- भ०र०-१।१ और उसपर टीका: हरिरसामृत सिन्धु- १।१।१३

२- गीता - ६।४६-४७ ,शा० भ० सू० १।२।१५

३- ना० भ० सू०-२८

४- शा० भ० सू०-१।२।४, और उसपर भक्ति चन्द्रिका

५- शा० भ० सू०- १।२।१६- (ब्रह्मकाण्डन्तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात।) पर भक्तिचन्द्रिका

६- भ० र०- १।१ पर टीका, पृष्ठ ८-१२

अत: भक्ति साधना अपने में स्वयम् साध्य और साधन दोनों इस प्रश्न को दो प्रकार से समझा जा सकता है, एक तो यह कि भक्ति का साधक अपनी साधना से क्या किसी भक्तीतर वस्तु की कामना करता है, उसे अपना साध्य समझता है और भक्ति को उसे प्राप्त करने का केवल साधन मानता है। दूसरा अर्थ भक्ति के विचारकों ने यह भी लिया है कि भक्ति साधना दो स्तरों पर की जाती है, साधन स्तर पर और साध्यस्तर पर साधनभक्ति में विकास होता है। वह विकसित होकर साध्य बन जाती है। यह विचार चैतन्य संप्रदाय के वैष्णव भक्त आचार्यों का है। रूपगोस्वामी ने अपनी पुस्तक 'भक्तिरसामृत सिन्धु' में भक्ति का विवेचन इसी पद्धति पर किया है। ग्रन्थकार भक्ति के भावात्मक या रसात्मक रूप को इसका चरम उत्कर्ष और सच्चा स्वरूप मानता है। यही भक्ति का साध्य अथवा अन्तिम उत्कृष्ट रूप है।

गोस्वामी जी ने भक्ति साधना को विकासक्रम से दो भागों में विभक्त किया है साधन भक्ति और साध्य भक्ति- साधनभक्ति को भक्ति का मर्यादा मार्ग भी कहा है। इसकी साधना तब होती है जब साधक के मन में भगवद्राग न हो, केवल शास्त्रों की आज्ञा से इधर प्रवृत्ति हो जाती है। शुकदेवजी ने परीक्षित को उपदेश दिया कि व्यक्ति यदि अभय चाहता है तो उसे सर्व व्यापी भगवान की कीर्ति गाथाओं का श्रवण करे। उनका कथनानुकथन करे, और उनका स्मरण चिन्तन करे।[१] स्मरण, कीर्तन, श्रवण आदि उपायों से मन की श्रद्धा प्रेमभाव में परिवर्तित हो जाती है। अत: साधना भक्ति ही वैधी से रागानुगा बन जाती है। इसी का अगला विकास भाव भक्ति है जिसे रूप गोस्वामी ने प्रेमाभक्ति कहा है।

१- श्रीमद्भागवत- २।५।११

प्रेमाभक्ति बिना साधनभक्ति के भी उद्भूत हो सकती है। अनुराग चेतना की सहजवृत्ति है। इसे किसी की अपेक्षा नहीं होती। ब्रजाङ्गनाओं को कृष्णभक्ति परम्परा में श्रेष्ठभक्त माना जाता है। यह रूप गोस्वामी के अनुसार साध्यभक्ति है, इसे भावभक्ति भी उन्होंने कहा है।

प्रश्न का दूसरा पक्ष इस विचारणा से भिन्न है। उसमें यह जिज्ञासा होती है कि जीवन के चार पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में भक्ति की गणना नहीं है। अतः वह साध्य तो नहीं बन सकती। फिर क्या उसे मोक्ष आदि का साधन मानना चाहिए ?

इसपर मधुसूदन सरस्वती ने अपनी पुस्तक भक्ति रसायन में विचार किया है। उनका तर्क है कि धर्म, अर्थ और काम तो साधन हैं, स्वयं में साध्य नहीं है। इनका साध्य मोक्ष है। धर्म का प्रयोजन मोक्ष है और अर्थ का प्रयोजन धर्म। काम धर्म से अनुशासित होकर धर्म का ही अंग बन जाता है। इसप्रकार सब का साध्य मोक्ष माना जा सकता है।

मोक्ष को पुरुषार्थ इसलिए माना जाता है कि वह निरतिशय स्वरूप है, अर्थात् उससे बढ़कर और कोई सुख संसार में नहीं है, कुछ लोगों का यह कहना कि वह दुःखाभावरूप है- ठीक नहीं है। कारण कि भाव तो कोई वस्तु नहीं होती। उसे पुरुषार्थ जैसी चीज कैसे माना जा सकता है। अतः यही कहना ठीक होगा कि मोक्ष निरतिशय सुख को कहते हैं। वैसा सुख जिसप्रकार समाधि में योगी को प्राप्त होता है भक्ति में भी प्राप्त होता है। भक्त के हृदय का रतिभाव, जो आनन्द की अंकुरावस्था है, उद्बुद्ध होकर परमेश्वर के आनन्द में मग्न हो जाता है। अतः भक्ति सुखस्वरूप होने के कारण स्वतंत्र पुरुषार्थ है।[१] और मोक्ष से भी बढ़कर है।

१- समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्र पुरुषार्थत्वात्।

भक्तिरसायन-प्रथम उल्लास- पृ० १४-१५

भौतिक जीवन के त्रिविधतापों से मुक्त होने की विशेषता जिसप्रकार मोक्ष में है उसी प्रकार वह भक्ति में भी है। इसलिए भक्ति मोक्ष में अन्तर्भूत है। भक्ति धर्मानुष्ठान आदि से प्राप्त होती है अत: उसे धर्म में अन्तर्भूत भी माना जासकता है। यह उन लोगों के सन्तोष के लिए पर्याप्त है जिनकी मोक्ष अथवा धर्म के प्रति जड़ श्रद्धा है।[१] इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को जीवन का साध्य प्रतिष्ठित किया है और उसे भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध चार पुरुषार्थों में से एक भी माना है।

भागवत में अनेक बार भक्ति को जीवन का परमसाध्य मानकर वर्णित किया है। भगवान कृष्ण में भक्ति की साधना साध्यरूप में अनेक उपायों से की जाती है जैसे दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, और संयम।[२] इस लोक में लोगों के लिए कल्याण के उदय का मार्ग यही है कि वे तीव्र भक्तियोग से अपने मन को मुझमें (भगवान्) में स्थिरता के साथ अर्पण कर दें।[३] हे नाथ, प्राणियों को जो आनन्द आपके चरणों का ध्यान करने से होता है वह साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति में भी नहीं हो सकता यमराज की तलवार से मारे हुए की भांति स्वर्ग से गिरने वालों की तो बात ही क्या है।[४]

भगवान् कृष्ण ने उद्धव को समझाते हुये भक्ति को ही जीवन का परमसाध्य बताया है, उनका कहना है कि —

कुछ लोग धर्म को, कुछ यश को और कुछ लोग काम, सत्य, शम स्वार्थ अथवा ऐश्वर्य आदि को जीवन का साध्य मानलेते हैं, इसी प्रकार यज्ञ,

---

१- समाधिसुखस्यैव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्र पुरुषार्थत्वात्।
भक्तिरसायन, प्रथम उल्लास- पृ० १४-१५,

२- श्रीमद्भागवत- १०।४७।२४,

३- श्रीमद्भागवत- ३।२५,४४,

४- श्रीमद्भागवत- ४।६।१०

तप , दान, व्रत, नियम, आदि को भी लोग जीवनका सर्वश्रेष्ठ काम्य समझते हैं। पर ये सभी कर्म हैं, इनके फलस्वरूप जो व्यक्ति को मिलता है वह दारिष्णु, नाशवान् है इनका अन्त दुःख, शोक और अज्ञान में होता है। जिसका मन मुझसे संबंध बना कर सन्तुष्ट शान्त, दान्त हो जाता है। वह चाहे अकिंचन ही हो, उसके लिए सबदिशाएं सुखमय बन जाती हैं। ऐसा व्यक्ति मुझे छोड़कर ब्रह्मा का पद्या देवराज इन्द्र का आसन भी नहीं चाहता , न वह सम्राट बनना चाहता है न रसातल का स्वामी यहां तक कि योग की सिद्धियों अथवा मोक्ष को भी वह नहीं चाहता।[1]

शुकदेव जी का परीक्षित को उपदेश है कि -- संसार चक्र में फंसे मनुष्य के लिए भगवत् प्राप्ति का भक्ति के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। इसलिए परीक्षित ,सदा ,सर्वत्र भगवान् विष्णुका ही श्रवण कीर्तन, स्मरण आदि करना चाहिये।[2]

प्रह्लाद की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने उसे वर मांगने को कहा। उत्तर में प्रह्लाद ने कहा कि जो भक्त भगवान् से अपनी कामनाएं पूर्ण करना चाहता है वह भक्त नहीं, बनिया है।[3] इसी प्रकार हिरण्यकशिपु का बध करने के बाद इन्द्र ने नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुये कहा है कि जिन्हें आपकी सेवा की चाह होती है वे मुक्ति का आदर नहीं करते।[4]

इस प्रकार अनेक प्रसंगों में सैद्धान्तिक रूप से और प्रयोगात्मक रूप से भागवतकार ने भक्ति को जीवन का परम पुरुषार्थ,साध्य मानकर वर्णित किया है।

१- श्रीमद्भागवत-११।१४।१०-१४

२- श्रीमद्भागवत-२।२।३३-३६

३- श्रीमद्भागवत-७।१०।४

४- श्रीमद्भागवत-७।८।४२

(ख)- **भक्ति साधन स्वम् साध्य**

तुलसी साहित्य में-

राम की भक्ति तुलसी का आदर्श है। वही भक्ति के साधन स्वम् साध्य है, अर्थात भगवान राम के चरणों में उत्कट प्रेम ही तुलसी की भक्ति का साधन स्वम् साध्य है।[1] कविवर तुलसी श्रीसीता राम के चरणों में अविचल अनुराग को ही सकल पुण्यों का फल प्राप्ति मानते हैं।[2] यही भक्ति का साध्य है। वैधी मार्ग द्वारा अनुशासित कर्म, योग, वैराग्य, ज्ञान आदि के समस्त साधनों का फल भगवद् भक्ति ही बताते हैं।[3] यह भक्ति ही सैकड़ों कामधेनुओं के सदृश फल प्रदायिनी है। अत: यह साधन है।[4] उक्त प्रसंग में विवेचित कर चुके हैं कि ज्ञान, योग, कर्म आदि सभी भक्ति के साधन हैं। इस दृष्टि से ज्ञान भी भक्ति का अंग है और भक्ति अंगी। अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ज्ञान को दीपक बताया गया है जिसे पात्र, घृत बाती आदि की आवश्यकता नितान्त अपेक्षणीय है।[5] लेकिन भक्ति को किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयं प्रकाशवती मणि है।[6] अर्थात नारद स्वयं इसे परमानन्द रुपा, शान्तिरुपा तथा प्रमाण रुपा बताते हैं।

१- रा०मा०- २।२८६।४ - 'साधन सिद्धि राम पग नेहू।
मोहि लखि परत भरत मत एहू।'

२- रा०मा०- ७।७५।२, गीतावली- २।५०।६

३- रा०मा०- ७।४६।१-२, ७।६५।३, ७।१२६।२-४,

४- रा०मा०- २।२६६।१, विनयपत्रिका- ११६।५

५- रा०मा०- ७।११७।५ दोहा -

६- रा०मा०- ७।१२०।१-२

अनन्यता तुलसी की भक्ति भावना की अन्यतम् विशेषता है। अनन्यता दोनों पक्षों में है। आराध्यपक्ष में और आराधना के मार्ग के पक्ष में। तुलसी भगवान् के रामरूप के ही उपासक हैं-- यह उनकी भक्ति के स्वरुप के सन्दर्भ में विवेचित हो चुका है। दूसरा पक्ष भक्ति की उद्देश्यता को लेकर है। यहां यह परीक्षा करने का प्रयास करते हैं कि तुलसी भक्ति के द्वारा कुछ और श्रेष्ठता प्राप्त करना चाहते हैं या भक्ति अर्थात भगवद्-नुराग को ही अपनी साधना का साध्य समझते हैं।

कवि ने अपने सभी ग्रन्थों में भक्ति की महिमा का गान किया है। उसमें दोनों विचार व्यक्त हुए हैं-- यहकि भक्त भक्ति के आनंद के बदले में और कुछ नहीं प्राप्त करना चाहता है और यह कि भक्ति ज्ञान, वैराग्य, यज्ञ-यागादि की तुलनामें सर्वश्रेष्ठ साधना है। इन दोनों विचारों से भक्ति की साध्यता व्यंजित होती है।

भरद्वाज मुनि के आश्रम में श्रीराम लक्ष्मण और सीता के साथ पहुंचे। इसपर भरद्वाज के हृदयोद्गार इस प्रकार व्यक्त हुये हैं कि उन्हें अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ लाभ, अनन्त लाभों का लाभ श्रीराम के दर्शन रुप में प्राप्त हुआ है। वह राम से निवेदन करते हैं --

आजु सफल तप तीरथ त्यागू।
आजु सफल जप जोग विरागू।।
सफल सकल सुभ साधन साजू।
राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।।
लाभअवधि सुख अवधि न दूजी।+
तुम्हरे दरस आस सब पूजी।।
करम बचन मन छाँडि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुं नहीं किएं कोटि उपचार।।[1]

भावदर्शन को लाभ की अवधि और दुख की अवधि बताकर उसकी सहायता स्पष्टतः व्यक्त कर दी है।

इसी प्रकार वाल्मीकि उसे उत्तम भक्त मानते हैं जो भगवान के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। श्रीराम ने ऋषि से वन में अपने वासयोग्य स्थान जानना चाहा। इसका उत्तर ऋषि वक्रोक्ति शैली में देते हुये कहते है कि जो भक्त अपनी साधना के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता उसके हृदय में आप निवास करो।

जाहि न चाहि-अकबहुं कछु, तुम्हसन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासुमन, सो राउर निज गेह ।।[१]

गरुड़ जी के पूछने पर काकभुशुण्डि ज्ञान और भक्ति की उपादेयता पर तुलनात्मक विचार करते हैं। अन्त में भक्ति की वरीयता बताते हुये कहते हैं कि मोक्ष भी बिना भक्ति के केवल ज्ञान से नहीं मिल सकती जिस प्रकार बिना स्थल के जल नहीं ठहर सकता इसी प्रकार बिना भक्ति के मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भांति कोउ करै उपाई ।।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकहि हरिभाति बिहाई।
अस बिचारि हरिभगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।।[२]

१- रा०मा०- २।१३१

२- रा० मा०-७।११६

लंका विजय के अनन्तर भगवान् राम अयोध्या आगये। उन्हें भगवत रूप में देखते हुये मुनि वशिष्ठ कहते हैं कि मैं उपरोहित्य कर्म करना नहीं चाहता था। ब्रह्मा जी ने कहा कि तुम्हारे ज्ञान, जप, तप आदि का फल तुम्हें इस कर्म में भी मिल जायेगा। इससे स्वीकार करके आज मैंने अपने समस्त सुकृतों का फल पा लिया।

जप तप नियम जोग निजधर्मा।
श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा।।
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन।
जहं लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन।।
आगम निगम पुरान अनेका।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर।
सब साधन कर यह फल सुन्दर।।[1]

विनयपत्रिका में यह और अधिक स्पष्टरूप में व्यक्त हुआ है। भक्त भगवान् से संसार की सुख-समृद्धि अथवा अपने कष्टों का निवारण भी नहीं मांगता। वह केवल भक्ति की याचना करता है। उसके भगवान् के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं। जैसे भी बन सके उसे भगवान् के चरणों में शरण मिल जाय।

तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन-सरन पावै।[2]

१- रा०मा०- ७।४८-४६

२- विनयपत्रिका- ७८

तुलसी के साधनहीन गुण विहीन हैं। पर कृपालु श्रीराम ने तो बिना सेवा के गुण विहीनों को भी केवल दीनता प्रकट करने से निहाल कर दिया है था। प्रार्थना है कि अब उसेभी रुचि जानकर चकोर का सा प्रेम प्रदान करें।

तुलसिदास जाचक-रुचि जानि दान दीजै।
रामचन्द्र चन्द्र तू, चकोर मोहि कीजै ।।[1]

मनवचन मानव चेतना को काम क्रोध आदि दोषों का एवम् कर्म जन्य पाप पुण्यों का मल लग जाता है। यह रोग भी है, कीचड़ का मैल कीचड़ से नहीं धुलता, रोग अनुपयुक्त औषध से नहीं जा सकता। मल को धोने का जल और इस रोग को दूर करने की औषधि केवल भक्ति है।

संजम, जप तप, नेम, धरम व्रत, बहुभेषज समुदाई।
तुलसीदास भव रोग राम पद प्रेम हीन नहिं जाई ।।

--+++--　　--+++--　　--+++--

तुलसीदास व्रत दान ज्ञान तप, सुद्धि हेतु स्रुति गावै।
राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै ।।[2]

मानव जीवन के सर्वोत्तम प्राप्य को "पुरुषार्थ" कहा जाता है। पुरुषार्थ ही हमारे कर्मों का प्रेरक तत्व है। भक्ति पुरुषार्थ का भी पुरुषार्थ है।

१- वि०प०- ७६
२- वि०प०- ८१-८२

लाभ हू को लाभ, सुखहू को सुख, सरबस,
पतित पावन, डर हू को डरु है ।
वेदहू , पुरानहू, पुरारिहु पुकारि कह्यो ।
नाम प्रेम चारि फल हू को फरु हैं । [1]

भगवान का दर्शन भक्त के लिए सबसे बड़ा प्रयोजन अथवा सिद्ध है ।

इहै परम फलु, परम बड़ाई ।
नख सिख रुचिर बिन्दु माधव छवि निरखहि नैन अघाई ।।

x x x x x

मन इतनोइ या तन को परमफलु ,
सब अँग सुभग बिन्दु माधव छवि, तजि सुभाव, अवलोक, एक पलु ।। [2]

इस प्रकार तुलसी भक्त के रुप में भागवतकार के समान ही समर्पित हैं । भगवत्प्रेम की पराकाष्ठा की अभिव्यक्ति एवं भक्ति को अपना एक मात्र साध्य अनेक रूपों में उन्होंने वर्णित किया । दोहावली की "चातक चौंतीसी " इस प्रसंग का सर्वोत्तम निदर्शन है , चातक प्यास बुझाने के लिए जल नहीं चाहता , अपने प्रिय मेघ का स्नेह चाहता है ।

१- वि०प०- २५५
२- वि०प०- ६२,६३

चतुर्थ - अध्याय

भक्ति का आलंबन

(क)- भागवत में

(ख)- तुलसी- साहित्य में

चतुर्थ अध्याय

(क)- भक्ति का आलंबन:-

श्रीमद्भागवत में-

श्रीमद्भागवत के टीकाकार श्री जीव गोस्वामी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' नामक ग्रंथ में भक्ति को रस सिद्ध किया है। इससे पहले संस्कृत के समीक्षक आचार्यों ने इसे भाव माना था।[१] लेकिन भक्ताचार्यों ने रस स्थापित किया है, लौकिक श्रृंगारादि रसों को रसाभास कहा है। श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार एवम् समीक्षक स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती (पूर्व नाम पं० शान्तनु विहारी द्विवेदी) ने श्रीमद्भागवत रहस्य के अन्तर्गत एक लेख में अपना मत उद्धृत करते हुये कहा है कि -' वैसे तो भगवान के साथ जिस सम्बन्ध को लेकर चित्त द्रवित हो जाय- गंगा की धारा जिस प्रकार अखण्ड रुप से समुद्र में गिरती है, वैसे ही जब चित्त एक मात्र भगवान की ओर प्रवाहित होने लगे, तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है - क्योंकि चित्त की द्रवावस्था ही रस है। यदि वह संसार के लिए है तो विषय की क्षणिकता के कारण रसाभास है और यदि भगवान् के लिए है तो उनकी रस रुपता के कारण वह वास्तविक 'रस' है। इसी को रसिक भक्तों के सम्प्रदाय में भक्ति रस कहागया है।[२]

भक्ति रस की पांच अवान्तर धारायें भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थों में स्थापित की गयी है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृंगार या मधुर इत्यादि ही पांच हैं।

१- साहित्य दर्पण- रतिर्देवादि विषाया व्यभिचारी तथान्जित: भाव: प्रोक्त:।

२- श्रीमद्भागवत रहस्य- पृष्ठ- २०५

ये पांचों प्रकार अनुभूति के स्तर पर तल्लीनताकारी हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त मधुर भक्ति रस को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। कारण कि अनुभूति की प्रगाढ़ता और लयकारिता मधुर भक्तिरस में ही अधिक है। भागवतकार ने सामान्य रूप से भक्ति को रस कहा है।[1] मधुराभक्ति में सर्वश्रेष्ठ मानने वालों में अग्रण्य है रूप गोस्वामी, जिन्होंने अपनी स्थापना में वृहदकाय ग्रंथ 'उज्ज्वल नीलमणि' लिखकर माधुर्य की भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुयायियों का तर्क यह भी है कि शान्त दास्य आदि अपनी प्रगाढ़ अवस्था में दूसरे रस में परिणत हो जाते हैं। शान्त भक्ति प्रगाढ़ अनुभूति की दशा में बदल जाता है। दास्य भाव प्रगाढ़ होकर सख्य बन जाता है। सख्य की प्रगाढ़ स्थिति वात्सल्य भाव में परिणित हो जाती है। इसी प्रकार वात्सल्य अपनी प्रगाढ़ अवस्था में मधुरभाव अर्थात श्रृंगार भक्ति में परिणित हो जाता है। मधुर भाव से प्रगाढ़ अन्य कोई भाव ही नहीं होता। अतः वह तटस्थ ही रहता है। इस लिए माधुर्यभाव की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

मनोविज्ञान के अनुसार भगवान् के साथ उपर्युक्त पांच सम्बन्ध ही साक्षात् घट सकते हैं। लौकिक रसों के अन्य स्थायी भाव हास्य शोक क्रोध उत्साह भय जुगुप्सा आदि परम्परा से पात्रान्तर में परिणित होते हैं। अतः वे भक्ति के आभोग में परिगणित तो कर लिए जाते पर गौण भक्ति रस के अन्तर्गत मान्य हैं।

शान्तादि भक्ति रसों के स्थायी भाव थोड़े भेद के साथ रति के अन्तर्गत ही व्यवस्थित किये जा सकते हैं जैसे शान्त भक्ति रस का स्थायी भाव

१- श्रीमद्भागवत- १।१।३ 'पिबतं भागवतं रसमालयम्।'

शान्तरति के साथ, सख्य भक्तिरस का स्थायी भाव सख्य रति के साथ, वत्सल्य भक्ति रस का वत्सलरति के साथ, दास्य भक्तिरस का स्थायीभाव प्रेम प्रीति के साथ तथा मधुर भक्ति रस का स्थायी भाव मधुर रति के साथ अनुस्यूत है। इससे भक्ति परम प्रेम रूपा सिद्ध होती है।

इन रसों का वर्गीकरण तुलसी साहित्य के आलम्बन प्रकरण में विस्तृत मीमांसा के साथ निरूपित किया गया है। प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचित किया जा रहा है।

१- शान्तभक्ति रस:-

इसका स्थायीभाव शान्तरति है। इसका दूसरा नाम शम है, लौकिक साहित्य के शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद माना जाता है। लेकिन निर्वेद अभावात्मक, दु:खात्मक भाव है। वह भक्तिरस जैसी आनन्दानुभूति का मूल नहीं हो सकता। अत: वैष्णव लोग शान्तरति या शम को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हैं। शम का अर्थ भागवतकार ने बुद्धि की भगवन्निष्ठता बताया है।[१]

परमेश्वर के निर्गुण रूप की उपासना को भी भक्ति माना जाता है। वह भक्ति शान्तरसात्मक ही है। सगुण परमेश्वर की उपासना भी शान्तभक्ति है। अत: इस भक्तिरस के आलंबन परमेश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप होते हैं, इसके उपासक दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे आत्माराम पुरुष जो भगवान या उनके प्रियभक्तों की करुणा दृष्टि से

१- श्रीमद्भागवत- ११।३।२ - " शमो मन्निष्ठता बुद्धे: ।

भगवान की ओर आकर्षित हुये हैं, दूसरे वे साधक जिनका विश्वास है कि भगवान की भक्ति से ही परमकल्याण की प्राप्ति हो सकती है, भागवतकार ने ऐसे ज्ञानी निस्पृह भक्तों के लिए ही कहा है कि " जो आत्माराम और त्यागी सन्त होते हैं वे भी भगवान में अहेतुकी भक्ति की भावना रखते हैं।"[1]

सनक, सनन्दन आदि कुमार, शुकदेव आदि भक्त इसी कोटि में आते हैं, भागवत के तृतीयस्कन्ध में कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को पहले सांख्य का उपदेश दिया और बाद में माया से मुक्ति पाने के लिए शान्त भक्ति का ही उपदेश दिया था।" जो लोग सहनशील, दयालु, समस्त देह धारियों के अकारण हेतु, किसी के प्रति भी वैरभाव न रखने वाले, शान्त, सरलस्वभाव और सत्पुरुषों का सम्मान करने वाले होते हैं, जो मुझसे अनन्यभाव से प्रेम करते हैं, मेरे लिए सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सभी संबंधियों को भी त्याग देते हैं और मेरे परायण रहकर मेरी पवित्र कथाओं का श्रवण कीर्तन करते हैं, इन भक्तों को संसार के तरह तरह के संताप कोई कष्ट नहीं पहुंचाते।[2]

रामचरितमानस में राजा जनक बड़े आत्मज्ञानी योगी पुरुष थे, राम के रूप को देखकर वे भी प्रेममग्न हो गये थे। राजा जनक भी शांतभक्ति के ही भक्त हैं।

इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बर बस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।
सहज बिराग रूप मनु मोरा।
चकित होत जिमि चन्द चकोरा।।[3]

१- श्रीमद्भागवत- २।३।१५- "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति मित्थं भूतगुणो हरिः।"

२- वही - ३।३५।२१-२२

३- रा०च०मा० बाल०-१/२१६

शान्तभक्तिरस के उद्दीपन विभाव साधारण और असाधारण दो प्रकार के होते हैं, साधारण ये हैं --

१- भगवान की पूजा के पुष्प, तुलसी, नैवेद्य आदि प्राप्त करके मुग्ध होना।

२- भगवान की पूजा के शंख, घंटा, आरती, स्तुति आदि को सुनना।

३- पवित्रपर्वत, सुन्दर जंगल, सिद्ध क्षेत्र एवम् गंगा आदि नदियों का सेवन करना।

४- सांसारिकभोगों की क्षणभंगुरता का विचार।

५- यह विचार करना कि संसार की समस्त वस्तुएं यहां तक कि अपना जीवन भी मृत्युग्रस्त है, असाधारण विभाव वे हैं जिनमें भक्त की सात्विकता विशेषरूप से अपेक्षित रहती है, जैसे --

(१)- उपनिषद, दर्शन आदि उनग्रन्थों का श्रवण, कीर्तन, मनन, स्वाध्याय आदि करना जिनमें भगवान के स्वरूप, गुण एवम् महिमा का वर्णन रहता है।

(२)- ऐसे एकान्त स्थानों का सेवन जिनमें चित्त एकाग्र होता है।

(३)- अपने सत्वप्रधान चित्त में भगवान की मूर्ति का निरन्तर ध्यान करना।

(४)- भगवान, जीव और जगत् के स्वरूपों का पृथक् पृथक् विवेचन और उनके संबंधों का निर्णय करना।

(५)- सम्पूर्ण विश्व को भगवान् का व्यक्तरूप समझकर उसके प्रति प्रति आदर मैत्री का व्यवहार।

(६)- भक्तों एवम् ज्ञानियों का सत्संग करना आदि आदि।

शान्तभक्तिरस के अनुभाव और संचारी भाव बहुत अधिक व्यक्त नहीं हो पाते क्योंकि ऐसे भक्त धीर शान्त प्रकृति के होते हैं। उनके मन और शरीर पर किसी प्रकार की विक्रिया स्पष्ट नहीं होती।

शान्तभक्ति का आलंबन:-

रूप गोस्वामी ने शान्तभक्तिरस का आलम्बन भगवान का चतुर्भुज विष्णुरूप और शान्त भक्त सनक, सनन्दन आदि को माना है, भगवान का रूप सच्चिदानन्द, आत्माराम, द्वन्द्वातीत, दान्त, शुचि, सदा अपने स्वरूप में अवस्थित, मारे गये शत्रुओं को भी सद्गति देने वाले, विभु इत्यादि गुणों से सम्पन्न होता है।[1]

इसके आलम्बन की परिकल्पना अनेकत्र भागवतकार ने की है। भीष्मपितामह ने अपनी स्तुति में इसी रूप का बिम्ब समर्पित किया है।

"उस समय हजारों रथियों के नेता भीष्मपितामह ने वाणी को रोक कर मन को सामने खड़े, आदि पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण में लगा दिया। उनके सुन्दर चतुर्भुज विग्रह पर उस समय पीताम्बर फहरा रहा था। भीष्म की आंखे उसी रूप पर निर्निमेष लग गयी। वह कहने लगे कि मैं अपनी शान्त कामना रहित बुद्धि को श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित करता हूं वे सदा आनन्दमय रूप में स्थित रह कर लीलाविहार की इच्छा से प्रकृति को स्वीकार करते हैं। इनका शरीर त्रिभुवन सुन्दर श्यामल तमाल के समान है, जिसपर सूर्य रश्मियों के समान पीतांबर लहराता है। कमल सदृश मुख पर

१- हरिभक्ति रसामृतसिन्धु- पश्चिम विभाग- शान्त लहरी- कारिका-७-८

घुंघराली अलकें लटकती रहती हैं। मुझे युद्ध के समय की उनकी वह विलक्षण छवि याद आती है। उनके मुख पर लहराते हुये घुंघराले बाल घोड़ों की टाप की धूल से मटमैल हो गये थे और पसीने की छोटी छोटी बूंदें शोभायमान हो रहीं थीं। मैं अपने तीखे वाणों से उनकी त्वचा को बींध रहा था। उन सुन्दर कवचमण्डित भगवान श्रीकृष्ण के प्रति मेरा शरीर अन्तःकरण और आत्मा समर्पित हो जाय।[1]

इसी प्रकार कपिलावतार के प्रसंग में पिता कर्दम ने जो स्तुति की है, कृष्ण जन्म से पूर्व वसुदेव को जो विष्णु के दर्शन हुए हैं, और कपिल ने अपनी माता देवहूति को जो भगवान का ध्यान करने का स्वरूप बताया है वह सब शान्त रस का आलम्बन है। भागवतकार भगवान के जब दर्शनाश्रित रूप की कल्पना करते हैं तब भगवान विष्णु का शान्तरूप ही वर्णित करते हैं।

रूपगोस्वामी जी के अनुसार यह भगवद्रूप तो आलम्बन है ही इसकी स्तुति करने वाले जैसे भीष्म, वसुदेव, कर्दम आदि भी शान्तभक्त के रूप में शान्तभक्तिरस के आलंबन हैं।

२- दास्यभक्तिरस:-

दास्यभक्ति रस का स्थायी भाव प्रीति है। इसीलिए कुछ विद्वान इसे प्रीतिभक्तिरस भी कहते हैं। कुछ विद्वान इसे शान्तभक्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं। पर दोनों में अन्तर है। शान्तरस में परमेश्वर के स्वरूप चिन्तन की प्रधानता रहती है। दास्यभक्तिरस में ऐश्वर्य चिन्तन की।

१- श्रीमद्भागवत- १।६।३३-३४

दास्यभक्ति अपने उद्भावक कारण के आधार पर दो प्रकार की होती है- परमेश्वर के लोकोत्तर कर्म, स्वभाव आदि के अनुशीलन से सम्भ्रमजनित और उनके गौरव से उद्भूत। सम्भ्रम जनित दास्यभाव वह है जिसमें साधक भगवान के अनन्त ऐश्वर्य, भाव, शक्ति गुणों का आधिक्य एवम् चरित्र की अलौकिकता, देखकर उन्हें अपने सेव्य रूप में वरण कर लेता है, गौरवप्रीति रस में भगवान के साथ गौरवजनित संबंध रहता है।

दास्यभक्तिरस के आलंबन साकार परमेश्वर ही होते हैं। सेवा का सम्बन्ध तभी संभव होता है, परमेश्वर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक हैं। वे अनन्तशक्ति और करुणा के सागर हैं। सर्वज्ञ, शरणागतवत्सल, क्षमाशील उनका स्वभाव भक्त का आधार है। इस प्रकार के परमउदार, परम ऐश्वर्यशील भगवान दास्यभक्तिरस के आलम्बन होते हैं।

उपर्युक्त तीनों स्तुतियों में भगवान की सर्वशक्ति सत्ता और इन्द्रादि की उनकी वशवर्तिता वर्णित हुई है। यही दास्यभाव की भक्ति की विशेषता होती है।

दास्यभक्तिमें भी साधारण और असाधारण दो प्रकार होने के उद्दीपन होते हैं जैसे --

१- पद पद पर भगवान की कृपा का अनुभव।

२- भगवान के प्रसाद का सेवन।

३- भगवान के प्रेमी भक्तों का सत्संग।

४- भगवान की भक्तवत्सल चेष्टाएं।

५- भगवान के गुण, प्रभाव, महत्व आदि का श्रवण।

दास्यभाव की भक्ति का उदय हो जाने पर भक्त के हृदय में निम्नलिखित अनुभव प्रकट होते हैं —

१- भगवान जिस कर्म में नियुक्त कर दें उसी को सर्वश्रेष्ठ समझकर स्वीकार करना ।

२- किसी के प्रति ईर्ष्या द्वेष आदि न रखना ।

३- जो स्वयम् से अधिक भगवान की सेवा करता है उससे प्रसन्नता अ अनुभव करना ।

४- भगवान की सेवा में ही रति, प्रीति और निष्ठा रखना ।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि सुदामा भगवान कृष्ण के सखा है पर उनके मन में श्रीकृष्ण के प्रति दास्यभाव ही भागवतकार ने व्यक्त किया है । सुदामा कहते हैं --" मुझे जन्म जन्म उन्हीं की प्रेम, उन्हीं की हितैषिता उन्हीं की मित्रता और उन्हीं की सेवा प्राप्त हो ।

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री ।
दास्यं पुन जन्मनि जन्मनिस्यात् ।।"[1]

दास्यभक्ति के भक्त का अपने भगवान पर अखण्ड विश्वास होता है । भागवतकार ने शिव, ब्रह्मा , और इन्द्र को दास्यभक्त के रूप में ही चित्रित किया है । ऊषा- अनिरुद्ध के विवाह प्रसंग में भगवान शिव के पार्षद ज्वर आदि भी श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करते हैं । वाणासुर आदि जब परास्त हो जाते हैं तो शिव साक्षात् उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं-- हे अखण्ड ज्योति स्वरूप परमेश्वर, आपका अवतार धर्म की रक्षा और संसार के अभ्युदय के लिए हुआ है । हम सब भी आपके प्रभाव से ही प्रभावित होकर संतो मुनों का पालन करते हैं ।"[2]

१- श्रीमद्भागवत- १०।८१।३६

२- श्रीमद्भागवत- १०।६३।३७

इसी प्रकार ब्रह्मा जी भग्नदर्प होकर श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुये कहते हैं -- "भगवान ,मैं रजोगुण से उत्पन्न हुआ हूं । आपके स्वरूप को ठीक से नहीं जानता । इसी से अपने को आपसे अलग और संसार का स्वामी माने बैठा था । मैं अजन्मा स्वम् जगत का सृष्टा हूं -- इस माया जन्य मोह से अंधा हो रहा था अब आप यह समझकर कि यह मेरे ही अधीन है, मेरा सेवक है, इस पर कृपा करना चाहिये -- मेरा अपराध क्षमा कर दीजिए ।"[1]

उद्धव दास्यभाव के ही भक्त हैं, जब श्री कृष्ण वैकुण्ठ धाम जाने को उद्यत हो गये तो उद्धव जी उनके पास जाकर कहते हैं --"प्रभो , हमने आपके द्वारा उपयुक्त माला, गन्ध, वस्त्र ,अलंकार आदि से स्वयम् को अलंकृत किया है, हम आपका उच्छिष्ट खाने वाले दास आपकी माया पर विजय पाजाते हैं ।"[2]

दास्यभक्ति का आलंबन:-

दास्यभक्ति का भक्त भगवान् को स्वामी और स्वयम् को उनका सेवक मानता है । ऐसा भक्त कभी भगवान् के प्रति संभ्रम- आश्चर्य- का भाव रखता है तो कभी गौरव का । इसके आलंबन श्रीकृष्ण द्विभुजरूप में वर्णित होते हैं । कभी चतुर्भुज रूप भी देखने में आता है ।

दास्यभक्ति के आलंबन के गुण --

१- श्रीमद्भागवत- १०।१४।१०

२- श्रीमद्भागवत- ११।६।४६

दास्यभक्ति के आलम्बन के गुण हैं--

भगवान का वह रूप जिनके एक एक रोम में कोटि कोटि ब्रह्माण्ड समाये हैं, वे कृपा के सागर हैं, उनकी शक्ति अचिन्त्य है, अनेक अवतारों के मूल हैं, आत्माराम हैं, परमाराध्य, दृढ़व्रत , क्षमाशील, शरणागत भक्त पालक , शास्त्रवदा, भक्तों के सखा, उदार, बलवान और प्रेम के वशीभूत । सब प्रकार के दास भक्तों के लिए भगवान का यही रूप आलम्बन होता है ।

दासभक्त भी इसके आलंबन हैं । वे चार प्रकार के होते हैं-- अधिकृत, आश्रित, पारिषाद और अनुग । अधिकृत जैसे ब्रह्मा, शंकर, इंद्र आदि आते हैं जैसे - उद्धव, हनुमान, विभीषण। उद्धव ज्ञानी हैं , हनुमान सेवानिष्ठ हैं और विभीषण शरणागत हैं । परिषादों में नन्द ,उपनन्द आदि आते हैं । अनुग वे भक्त हैं जो सदा भगवान् की सेवा में आसक्त होकर लगे रहते हैं । ये सभी दासभक्ति के आलम्बन है ।

जरासन्ध के कारागृह से मुक्त हुए राजा लोग शरणागत भक्त हैं । उन्होंने कारागृह से बाहर आकर श्रीकृष्ण को जिसरूप में देखा वह दास भक्ति का आलम्बन रूप है , वर्णन इस प्रकार हैं --

राजाओं ने देखा कि श्रीकृष्ण घनश्याम हैं, उनके वस्त्र पीले रेशमी हैं, श्रीवत्स का चिन्ह वक्ष पर शोभायमान है, चार भुजाएं हैं , नेत्र कमल के भीतरी भाग के समान अरुण हैं , मुख सुन्दर एवम् प्रसन्न है, कानों में मकराकार कुण्डल चमकरहे हैं, हाथों में कमल,गदा,शंख और चक्र हैं, किरीट, हार, कटक और कटि सूत्र से आभूषित हैं । गले में मणियों का हार और वनमाल है ।

राजाओं सतृष्ण नेत्रों से ऐसे देखा मानों नेत्रों से उन्हें पी रहे हों , नासिका से सूंघ रहे हों और बाहुओं से आलिंगन कर रहे हों। भगवान् के दर्शन से उनके समस्त क्लेश दूर होगये । वे प्रार्थना करने लगे --

स्वामिन् , अच्छा ही हुआ कि जरासन्ध ने हमें कारागृह में डाल दिया । आपकी कृपा हमें मिल गयी । अब हमारी समझ में आया है कि राज्य श्री का अभिमान मिथ्या है , मृगतृष्णा है । पहले हम इसी मृगतृष्णा में एक दूसरे से ईर्ष्या करते और विग्रह करते थे । जरासंध ने हमारा अभिमान चूर चूर कर दिया और आपकी कृपा ने हमें ज्ञान कीचक्षु प्रदान कर दी । हम आपके दास हैं । आज्ञा करें, प्रभु । ऐसी कृपा करो कि हम कभी आपके चरणों की सेवा भूलें नहीं ।[१]

३- सख्य भक्तिरस:-

सख्यभक्तिरस का स्थायीभाव सख्यरति है, जो भक्त भगवान की भगवत्ता का अनुभव करता हुआ उनके प्रति सख्यभाव रखता है वह भावना सख्यरति है , भगवान की कौमार, पौगण्ड और किशोर अवस्था का रूप इसका आलम्बन होता है । सखा भी रूप ,वेष, गुण आदि में भगवद्रूप के समान ही होते हैं । सखा शब्द का अर्थ ही समान, वय,वेष आदि है ।[२] श्रीकृष्ण का किशोर अवस्था तक का जीवन ब्रज में ग्वालबालों के साथ मुक्त प्रकृति में बीता था अत: सख्यभाव की भक्ति का ब्रजवासियों में बहुत विकास हुआ श्रीदामा, सुबल, तोष , बलराम आदि ब्रज के सखा हैं। द्वारका और हस्तिनापुर में भी उनके सखा बने । ये हैं अर्जुन, भीमसेन, सुदामा आदि ।

स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती ने सखाओं के चार भेद किये हैं-- सुहृत् , सखा, प्रिय सखा और प्रिय नर्म सखा । सुहृदों में वात्सल्यमिश्रित सख्य

१- श्रीमद्भागवत- १०।७३।२-१५

२- श्रीमद्भागवत- 'समानं ख्यानं येषां ते सखाय: ।

रहता है। श्रीकृष्णावतार के प्रसंग में सुभद्र, बलभद्र आदि इसी श्रेणी में आते हैं, बलराम श्रीकृष्ण से आयु में बड़े थे। वह श्रीकृष्ण की रक्षा का ध्यान भी रखते थे। रुक्मिणी के प्रेमपत्र को पाकर श्रीकृष्ण अकेले ही कुण्डिनपुर को चले जाते हैं। यह समाचार जानकर बलराम सेना के साथ पीछे से वहां पहुंच गये। श्रीकृष्ण स्वयं कभी पादसंवाहन आदि इनकी सेवा करते हैं।[1]

सखा श्रेणी में ग्वालबाल आते हैं। ये श्रीकृष्ण से छोटे हैं। इनके मन में सख्यभाव के साथ साथ दास्यभाव भी रहता है। गोचारण में श्रीकृष्ण की पाद संवाहन आदि सेवा भी वे करते हैं। क्रीड़ा करते हैं तो सख्यभाव प्रकट होता है, सूरदास जी का प्रसिद्ध पद इसी भाव को लेकर है --

खेलत में को काको गुसइयां।
हरि हारे जीते श्रीदामा, काहे बरबस करत रिसैयां।
अति अधिकार जनावत याते हैं कछु अधिक तिहारे गैयां।।

तीसरी श्रेणी के प्रिय सखा श्रीदामा, सुदामा आदि हैं, इनकी अवस्था श्रीकृष्ण के समान है। इनमें केवल विशुद्ध सख्य है, कोई श्रीकृष्ण से विनोद करता है, कोई पुलकित होकर उनका आलिंगन करता है।

चौथी श्रेणी के प्रियनर्म सखा सख्य भाव के साथ साथ मधुरभाव की भी अनुभूति करते हैं। श्रीकृष्ण के प्रेमसन्देश गोपियों के पास और गोपियों के प्रेमसन्देश श्रीकृष्ण के पास पहुंचाना प्रियनर्म सखाओं का काम होता है।

१- श्रीमद्भागवत-१०।१५।१४क्वचित् क्रीड़ापरिश्रान्तं गोपोत्संगोप बर्हणम्। स्वयम् विश्रमयत्यार्य पाद संवाहनादिभिः।

सख्यभाव की श्रीकृष्णभक्ति की सर्वाधिक उद्भावना सूरदास जी ने की है वे स्वयं इस भावना के भक्त थे। भागवतकार दार्शनिक विद्वान हैं। इसके लिए जैसी सर्वजन साधारण की मत मनो भूमि अपेक्षित होती है वह उनके पास नहीं है। श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ाओं को उन्होंने गिनाया मात्र है। उन्हें अपनी कल्पना से रूपायित नहीं कर सके हैं।

'एक ओर ग्वालबाल श्रीकृष्ण के चरित्रों का गान गाते हैं तो दूसरी ओर वह बलराम जी के साथ भौंरों की सुरीली गुन गुनाहट में अपना स्वर मिलाकर संगीत अलापते हैं। कभी कल हंसों के कूजन का अनुकरण करते हैं, कभी नाचते हुये मोरों के साथ नाचने लगते हैं। जब गायें दूर चली जाती हैं तो अपनी गम्भीर वाणी से उन्हें नाम लेकेर बुलाते हैं। कभी चकोर, क्रौंच, चकवा एवम् मोर आदि पक्षियों की सी आवाजें बोलते हैं तो ऐसे चिल्लाते हैं मानों बाघ या शेर से डर गये हों, जब ग्वालबाल नाचने लगते हैं या आपस में कुश्ती लड़ने लगते हैं तो श्रीकृष्ण बलराम एक दूसरे का हाथ पकड़ कर हँसने और ग्वालबालों की प्रशंसा करने लगते हैं।[१]

सख्यभक्ति का आलम्बन:-

रूपगोस्वामी के अनुसार श्रीकृष्ण और उनके सखा सख्यभक्ति के आलम्बन हैं। श्रीकृष्ण के इस रूप में जो गुण अपेक्षित हैं वे -- सुवेष होना सब प्रकार के श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त बलवान, विविध प्रकार की भाषाओं का ज्ञाता, प्रतिभाशील, दक्ष, करुणा शील, श्रेष्ठ वीर, विदग्ध, क्षमाशील लोकानुरक्त, सुखी इत्यादि। उनके सखा भी रूप, गुण और वेष में उनके समान ही होते हैं, वे स्वतंत्र पर भगवान के विश्वस्त मित्र होते हैं।[२]

१- श्रीमद्भागवत- १०।१५।१०-१७

२- ~~श्रीमद्भागवत~~- ह०भ०र०सि०- पश्चिमविभाग लहरी-३, कारिका-३-५

सख्यभक्ति के आलम्बन का वर्णन भागवत में कम ही किया गया है। सूरदास इसके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। वे स्वयं भी सखाभाव के भक्त ही कहे जाते हैं।

श्रीकृष्ण के शैशव बीत जाने पर जब कुमार अवस्था या किशोर अवस्था आती है उस समय वह अपने मित्रों के साथ बाहर क्रीड़ा करते हैं। उनका वह रूप सख्यभक्ति का आलम्बन है।

भागवतकार के दिये चित्र इस प्रकार है:--

"कभी वन में कलेवा करने की इच्छा से श्रीकृष्ण ने प्रात:काल ही समान आयु के अपने सखाओं को श्रृंग की ध्वनि देकर जगा दिया और बछड़ों को आगे करके वन को चल दिये। उनके साथ ही जोकों ग्वाल बाल, छींके बेंत, श्रृंग और बांसुरी लेकर निकल पड़े। उनके साथ भी अपने अपने बछड़े थे। वे सब मिल कर वन में विहरने लगे। उन्होंने स्वयम् को वन के फूल, फल, नवीन कोंपलें, और गुच्छों से सजा लिया कोई किसी का छींका चुरा लेता, कोई बेंत या बांसुरी, स्वामी के पास आता देखकर चुरायी वस्तु को दूर फेंक देते। यदि श्रीकृष्ण वन की शोभा देखने कहीं आगे बढ़ जाते तो उन्हें छूने के लिए सब होड़ लगा कर दौड़ते और कहते कि- पहले मैं छूऊंगा, कोई बांसुरी बजाता तो कोई श्रृंगी फूंकता। कोई कोई भौंरों के साथ गुनगुनाते हैं, बहुत से कोयलों के स्वर में स्वर मिलाकर कुहू-कुहू करते हैं। कुछ ग्वाल-बाल आकाश में उड़ते पक्षियों की छाया के साथ दौड़ते तो कोई हंसों की नकल करते उनके साथ साथ दौड़ते। कुछ बगलों की नकल करते हैं तो कोई बन्दरों की म पूंछ पकड़कर खींच रहे हैं। मेंढकों के साथ कूदते हैं। भगवान् के साथ ये पुण्यात्मा ग्वालबाल तरह तरह के खेल खेल रहे हैं।[१]

१- श्रीमद्भागवत- १०।१२-१-१२

४- वात्सल्यभक्तिरस:-

वत्सल भक्ति का स्थायी भाव वात्सल्यरति है। इसके आलंबन हैं - बालक भगवान् और उनके गुरु जन। अयोध्या में शिशु रूप राम एवम् ब्रज में शिशुरूप श्रीकृष्ण वात्सल्यभाजन हैं। सुकुमार शैशव से लेकर किशोर अवस्था तक वात्सल्यरति की अवस्था रहती है। यौवन का आरम्भ होने पर भी गुरुजनों की दृष्टि में किशोर अवस्था ही रहती है। कंस का वध ~~के~~ करने के बाद श्रीकृष्ण और बलराम वसुदेव -देवकी के पास गये। उनसे यह कहकर क्षमा मांगी कि आपने हमारा बालकपन, पौगण्ड एवम् किशोर अवस्था का सुख नहीं लिया। आप तो कंस से डरते ही रहे हैं, पर हम परतंत्र थे। हमें क्षमा करो। 'इसप्रकार वसुदेव और देवकी मोहित होगये। इन्हें गोद में उठा लिया और हृदय से लगा कर हर्ष का अनुभव किया।'[1]

वात्सल्यभक्ति की यह विशेषता है कि इसमें भगवान के गौरव एवम् ऐश्वर्य का बोध नहीं रहता अपने स्नेह पात्र के प्रति स्नेह करने वाले की जो विशुद्ध रति भावद्विषयक हो जाती है। यशोदा यह भूली रहती है कि कृष्ण भगवान हैं, यदि ऐश्वर्य का मान हो जाय तो वात्सल्यभाव समाप्त हो जाता है। ~~यदि~~ दधिमंथन के समय कृष्ण ने यशोदा का दधिपात्र नीचे ढुलका दिया। इस पर कुपित होकर वह हाथ में लकड़ी लेकर कृष्ण को पीटने के संकल्प से चलीं तो कृष्ण भाग लिये। उन्हें पकड़ लिया तो रोने लगे। यशोदा ने डरा हुआ समझकर लकड़ी तो फेंक दी पर रस्सी से बांधने लगीं। यशोदा उनके बल, ऐश्वर्य से अपरिचित जो थीं।

१- श्रीमद्भागवत- १०।४५-१० - इति माया मनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम्॥

व्यक्ता यष्टिं सुतंभीतं विज्ञायार्भक वत्सला ।
इयेष किल तं बुद्धुं दाम्ना तद्वीर्य कोविदा ।।

पूतना के मर जाने पर गोपियों ने देखा कि बालक कृष्ण उसकी छाती पर निडर होकर खेल रहा है। इसपर गोपियां, यशोदा, रोहिणी आदि सब वहां एकत्र हो गयीं चकित और भयभीत होगयीं। सबने मिलकर बालक कृष्ण का गोमूत्र से स्नान कराया, गौ की पूंछ उसके सर पर फिराई और गोरज से उसका अंग न्यास कर रक्षा की।[१] यशोदा आदि के ये सब व्यापार श्रीकृष्ण के भगवत्व से अपरिचित होकर ही हुए हैं।

वात्सल्यभक्ति का वर्णन भी जितना अच्छा सूरदास ने किया है उतना भागवतकार नहीं कर सके हैं। भागवतकार घटनाओं के वर्णन करते हैं पर उनका बिम्ब नहीं बना पाते। सूरदास की कल्पना श्रीकृष्ण के बालरुप, बालचेष्टाओं, आदि पर रमती है। उनके विविध प्रकार के चित्र खड़े कर देती है। भागवतकार पंडितभक्त हैं। सूरदास भक्त कवि हैं। भागवत में श्रीकृष्ण का शैशव, पौगण्ड एवम् किशोर अवस्थाएँ असाधारण कर्मों से चर्चित होकर उनके लोकोत्तर भगवत्व की व्यंजना करती हैं, उनकी विचारणा में शास्त्र, पुराण और दर्शनों की मान्यताएँ रहती हैं, अतः कवित्वपूर्ण वर्णन वह कम करते हैं। सूरदास की कल्पना में ब्रज का जीवन छाया रहता है। उसको श्रीकृष्ण की श्रद्धा में लपेट कर विविध प्रकार बिम्बायित करने में सफल हो गये हैं।

१- श्रीमद्भागवत- १०।६।१८-२६

वात्सल्यभक्ति का आलम्बन:-

रूपगोस्वामी जी श्रीकृष्ण और इनके गुरुजनों को वात्सल्यभक्ति का आलम्बन माना है। इस संदर्भ में श्रीकृष्ण का स्वरुप होता है- श्यामांग, रुचिर, कोमल प्रियभाषी, सरल, लज्जाशील, विनयी, सम्माननीयों का सम्मान करने वाला आदि आदि। इसमें गुरुजन बालस्वरूप श्रीकृष्ण के प्रभाव को नहीं पहचानते। उसे अपना अनुग्राह्य मानते हैं। इसी लिए वह वात्सल्य का विषय बन जाता है।[1]

भागवतकार ने श्रीकृष्ण के बालरुप और उनकी चेष्टाओं का बिम्बात्मक वर्णन अधिक नहीं किया है। उनका ध्यान भगवान की लोकोत्तर शक्ति पर अधिक रहता है। इस क्षेत्र में सूरदास अप्रतिम हैं, तुलसीदास भी सफल हैं। लगता है भागवतकार भगवान के शान्त रुप के उपासक थे। श्रीकृष्ण और बलराम के बालरुप का वर्णन करते हुये वह कहते हैं --

'राम और श्याम घुटनों और हाथों के बल चल चल कर गोकुल में खेलने लगे। दोनों भाई अपने नन्हें नन्हें पैरों को गोकुल की कीचड़ में घसीटते हुये चलते उस समय उनके पांव और कमर के घुंघरु बजने लगते। वे दोनों अपनी ही ध्वनि सुनकर खिल उठते। कभी वे रास्ता चलते किसी अज्ञात व्यक्ति के पीछे चलदेते। जब देखते कि यह कोई अन्य है तो लौटकर माताओं के पास आ जाते।[2] वर्णन में बालरूप का वर्णन तो कम है, बाल चेष्टाओं का अधिकांश इससे आलम्बन का बिम्ब बन जाता है।

१- ह०भ०र०सि०- पश्चिमविभाग- लहरी ४, कारिका-२-४

२- श्रीमद्भागवत- १०।८।२१-२२

माता यशोदा का बिम्ब रूपात्मक और हृदयग्राही है। वे अपने स्थूल कटि भाग में नाड़े वाला रेशमी लहंगा पहने हुए हैं। स्तनों में पुत्र स्नेह की प्रचुरता के कारण दूध निकल रहा है, वे कांप भी रही थी नेती खींचने से बाहें थक गयीं। हाथों के कंगन और कर्णफूल हिल रहे हैं। मुंह पर पसीने की बूंदें झलक रही हैं। चोटी में गुंथे हुए मालती के सुन्दर फूल सिर से जा रहे हैं। यशोदा दही मथ रही हैं।[1]

५- मधुरा भक्ति :-

भक्तों के हृदय में भगवान के प्रति मधुरभाव भी रहता है, गोपियां, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि एवम् मीरा जैसे भक्तों के हृदयों में मधुररति ही विद्यमान है। उसका भगवान के साथ संबंध होने पर मधुरा भक्ति का जन्म होता है। ऊपर बताये गये भक्ति के चार भेदों की अपेक्षा यह पांचवां सर्वाधिक प्रगाढ़ एवम् सान्द्रानन्द संदोह स्वरूप माना जाता है, गौरांग महा प्रभु इसी भाव के भक्त थे। उनके शिष्यों और भक्तों ने इसी भाव को सच्चाभक्तिरस माना है। गौरांग महाप्रभु के शिष्य जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी ने क्रमशः अपने ग्रंथों 'हरिभक्ति रसामृतसिन्धु' और 'उज्वलनीलमणि' में मधुरा भक्ति को ही श्रेष्ठ सिद्ध किया है, 'उज्जवलनीलमणि' तो एक मात्र शृंगारभक्ति का हरि ग्रन्थ है।

ऊपर बताये चार भक्ति भेदों में प्रत्येक का स्थायीभाव वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि से संयुक्त रति ही है। मधुराभक्ति का स्थायी-भाव शृंगार सहित है। शृंगाररति का अर्थ है कि भक्त भगवान को अपने प्रिय या पति के रूप में मानकर उपासना करता है तो वह मधुरभाव की भक्ति का

१- श्रीमद्भागवत- १०।९।३१

भक्त है । भगवान के परिकर में ऐसे पात्र हैं जिनका अवतारी भगवान के साथ प्रिय या पति का संबंध होता है, जैसे सीता का राम के साथ, गोपियों, कुब्जा, रुक्मिणी आदि का श्रीकृष्ण के साथ शृंगार प्रेम का सम्बन्ध है । उनके कार्य व्यापारों का वर्णन पढ़कर, सुनकर या देखकर भक्त को जो अनुभूति होती है वह लौकिक शृंगार की नहीं जैसी कि लौकिक काव्यादि में होती है, उसकी अनुभूति श्रद्धा पर आधारित, सात्विक, उज्वल आध्यात्मिक होती है, इसी अभिप्राय से रुपगोस्वामी ने इसे 'उज्वलरस' कहा है ।

तुलसीदास जी की कल्पना में सीता का बिम्ब शुद्ध पत्नी का न होकर भक्त पत्नी का है । उसी प्रकार भागवतकार ने रुक्मिणी आदि आठ रानियों को भक्त पत्नी के रुप में चित्रित किया है । रुक्मिणी जी विवाहोपरान्त द्वारका में श्रीकृष्ण की सेवा में थी तो उन्हें यह अभिमान हो गया कि मैं ही श्री कृष्ण की प्रियतमा हूं, इस पर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा कि राजपुत्रि, हम तो तुम्हें शिशुपाल आदि का अहंकार मिटाने के लिए ले आये हैं । वास्तव में तो हमारा कोई घर पाट भी नहीं है । मथुरा से भागकर भागकर द्वारका आगये हैं । तुम चाहो तो किसी अन्य राजकुमार का वरण कर लो तुमतो परमसुन्दरी हो ।

यह सुनकर रुक्मिणी जी स्तंभित हो गयी । उनका हाथ शिथिल होगया । सेवा का व्यंजन हाथ से गिर गया । आंखों से आंसू टपकने लगे, खीफकर अपने ही सौन्दर्य को यह कहकर निन्दा करने लगी कि— यह शरीर तो जीते जी मुर्दा है । इसके ऊपर चमड़ी, रोम, नख, और केश ढके हैं । इसकेभीतर मांस, हड्डी, खून, कीड़े, मल मूत्र कफपित्त और वात भरे पड़े हैं । इसका अभिमान वही स्त्री कर सकती है जिसे कभी आपके चरणारविन्द की सुगन्ध लेने का सौभाग्य नहीं मिला[१] यह भावभक्त के हैं पत्नी के नहीं । रुक्मिणी के मुख से ऐसे अनेक श्लोक भागवतकार ने कहे हैं।—

१- श्रीमद्भागवत- १०।६०।४५

भगवान कृष्ण के द्वारका में रहते एक बार सूर्यग्रहण पड़ा। सब यादव ग्रहण नहाने स्यमन्त पंचक तीर्थ पर गये। वहां नन्दादि ब्रज-वासी और पाण्डव लोग भी आये। सबका प्रेम समागम हुआ द्रौपदी ने रुक्मिणी, सत्यभामा आदि से उनके विवाहादि की जानकारी चाही। इस पर प्रत्येक ने श्रीकृष्ण के प्रति अपने अपने भाव द्रौपदी को बताये। भागवतकार ने एक एक श्लोक में एक का भाव व्यक्त किया है। प्रत्येक श्लोक में, भक्ति सेवा आदि के भाव हैं। जैसे --

रुक्मिणी:- तच्छ्री निकेतचरणाऽस्तु ममार्चनाय।[1]-

जाम्बवती:- अहममुष्य दासी।[2]

कालिन्दी:- सख्यौ पेत्याग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी।[3]

मित्रविन्दा:- तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम्।[4]

सत्या:- तास्यमस्तु मे।[5]

भद्रा:- अस्यमे पाद संस्पर्शोभवेज्जन्मनि जन्मनि।[6]

१- श्रीमद्भागवत- १०।८३।८

२- वही - १०

३- वही - ११

४- वही - १२

५- वही - १४

६- वही - १६

अब तक जो प्रसंग दिये गये हैं वे दाम्पत्य रति के हैं। दाम्पत्य-रति में सामाजिक मर्यादा और प्रिय के प्रति महत्व की अनुभूति रहती है। उसका भक्ति में पर्यवसान होना सरल है। पर चैतन्यमतानुयायी भक्त पत्नी के स्थान पर प्रेयसी के अनुराग में प्रेम की चरमप्रगाढ़ता और सान्द्रता अनुभव करते हैं। उसी प्रेम को भक्ति का श्रेष्ठ रूप बताते हैं। इस प्रकार का प्रेम ब्रज बालाओं में है। भक्तलोग गोपियों को श्रेष्ठभक्त और राधा जी को श्रीकृष्ण का ही रूप मानते हैं। भागवत में राधा का नाम तो नहीं आया है। गोपियों के प्रेम की भागवतकार ने भूरि भूरि प्रशंसा की है।

उद्धव गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करते हुये कहते हैं- -गोपियों, तुम कृतकृत्य हो। तुम्हारा जीवन सफल है। तुम सारे संसार की पूज्य हो। ~~हृदय, अनन्त~~ तुमने इस प्रकार भगवान् कृष्ण को अपना हृदय, अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है, तुमने वह भक्ति प्राप्त की हो जो तपस्वियों को भी दुर्लभ है।[1] मैं किसी प्रकार ब्रज की इन गुल्म, लता अथवा जड़ी बूटियों में से कोई बन जाऊं। इन पर ब्रजबालाओं की चरणरज गिरी है ये ब्रज बालाएं अपने प्रिय जनों और ~~आर्य~~ आर्यमर्यादा को त्याग कर श्रीकृष्ण के पास भाग आयीं थी।[2] प्रेम की प्रगाढ़ता तो मर्यादित प्रेम की अपेक्षा स्वच्छन्द प्रेम या औपपत्य प्रेम में होती है। इस दृष्टि से चैतन्यमत की अवधारणा सही है। पर सामाजिक दृष्टि से भगवान के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध शंकनीय होता है। रास वर्णन के अनन्तर परीक्षित् ने यही प्रश्न शुक देव जी से किया है। उसका भागवतकार कोई अकाट्य उत्तर नहीं दे पाये। परीक्षित् के प्रश्न की भाषा सबल है। वह कहते हैं --

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।४७।२३-२४

२- श्रीमद्भागवत- ६१

भगवान का अवतार-- तो धर्म की स्थापना और अधर्म के शमन के लिए होता है। वह भगवान् तो धर्मसेतुओं के कर्ता, वक्ता और रक्षिता है। उन्होंने दूसरों की पत्नियों के साथ यह व्यभिचार क्यों किया? भगवान तो आप्तकाम है, फिर यह निन्दनीय कार्य क्यों ? शुक देव जी ने इसका उत्तर इतना ही दिया है कि --"ईश्वर अति सामर्थ्यवान होकर कभी कभी धर्म का उल्लंघन कर देते हैं। यह उनका साहस है। तेजस्वियों के लिए यह दोष नहीं जैसे अग्नि दूषित ईंधन को जलाकर दूषित नहीं होता।[१]

शृंगारभक्ति के दो पक्ष होते हैं संयोग और वियोग संयोग का वर्णन रास लीला और कुब्जारति के वर्णन में किया है। दोनों जगह वर्णन बहुत खुला है। सात्विकता का कोई अनुशासन उसपर नहीं है। वियोग वर्णन अपेक्षाकृत श्रेष्ठ और मार्मिक है। रासोत्सव के बाद गोपियों के प्रेमाभिमाजन को दूर करने के लिए भगवान कृष्ण अन्तर्धान हो गये। इस पर गोपियों ने वियोग की करुण पीड़ा का अनुभव किया। भागवतकार ने कहा है कि भगवान् का ध्यान करते करते वे भावन्मय होगईं। जो योगियों को समाधि में भी कठिनता से मिलता है वह उन्हें सहज ही मिल गया।

यज्ञपत्नी- उद्धरण प्रसंग जो यज्ञपत्नी श्रीकृष्ण के पास नहीं जा सकी थी उसने वियोग में अपने प्राण ही त्यागदिये थे।

इस प्रकार भागवतकार ने मधुरा भक्ति का अपेक्षाकृत अधिक वर्णन किया है। रास में संयोग शृंगार का वर्णन चित्रात्मक भी है। रास के शृंगार को भागवतकार भक्ति ही मानते हैं। अन्तिम श्लोक में इसके श्रवण मनन से पाप नष्ट होने का उपदेश भी देते हैं।

१- श्रीमद्भागवत- १०।२३।२७-३१

श्रृंगार भक्ति का आलम्बन:-

कृष्ण भक्त कवियों एवम् आचार्यों ने श्रृंगार भक्ति को भक्ति साधना का श्रेष्ठरूप माना है। इसी लिए इसे मधुरभक्ति भी कहा है। इस भक्ति का एकमात्र आलंबन श्रीकृष्ण हैं। उनके भक्त यद्यपि रति का आश्रय हैं पर बाद के भक्तों के वे भी आलम्बन हो जाते हैं। अत: वे भी आलम्बन माने जाते हैं।[१]

रूपगोस्वामी ने नायक श्रीकृष्ण के आलम्बन प्रसंग में चौंसठ गुण गिनाये हैं। वे इस प्रकार हैं--

१- सुन्दर, २- सर्वसल्लक्षणयुक्त, ३- रुचिर, ४- तेजस्वी, ५- बलवान ६- युवा, ७- अनेक भाषाविज्ञ, ८- सत्यवादी, ९- प्रियभाषी, १०-वाचाल, ११- पण्डित, १२- बुद्धिमान, १३- प्रतिभाशाली, १४- विदग्ध, १५- चतुर, १६- दक्ष, १७- कृतज्ञ, १८- दृढ़व्रत, १९- देशकाल और पात्र को पहचानने वाला २०- शास्त्रज्ञ, २१- शुचि, २२- जितेन्द्रिय, २३- स्थिर, २४- विनीत, २५- क्षमाशील, २६- गम्भीर, २७- धीर, २८- सम, २९- उदार, ३०-धार्मिक ३१- शूर, ३२- दयालु, ३३- बड़ों का आदर करने वाला, ३४- दक्षिण, ३५- विनयी, ३६- लज्जाशील, ३७- शरणागतरक्षी, ३८- सुखी, ३९- भक्तों का मित्र, ४०- प्रेम के वशीभूत, ४१- सबका शुभकरने वाला, ४२-प्रतापी, ४३- कीर्ति-मान ४४- लोकप्रिय, ४५- सज्जनों का आश्रय, ४६- नारियों का मनहरने वाला, ४७- सब का आराध्य, ४८- समृद्धिमान, ४९- वरीयान, ५०- ईश्वर, ५१- सदा सुन्दर, ५२- सर्वज्ञ, ५३- सर्वसिद्धि प्राप्त, ५४-सच्चिदानन्द स्वरूप, ५५-नित्य-नूतन, ५६- अचिन्त्य महाशक्ति, ५७- कोटि ब्रह्माण्ड विग्रह, ५८-सब अवतारों का मूल, ५९- मारे गये शत्रुओं को भी सद्गति देने वाला, ६०- आत्मारामों का प्रिय ६१- लीलापुरुष, ६२-अतुल्य प्रेमी, ६३-मुरलीधर, ६४-असाधारणरूप सम्पन्न।

१:- कृष्णाश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मता:।

ह०भ०र०सि०दक्षि०विभाग लहरी-१ कारिका-१६

इनमें से कुछ गुणों के उदाहरण ग्रन्थकार ने भागवत से दिए हैं शेष के अन्य काव्यादि ग्रन्थों से। संस्कृत के अनेक कवियों एवम् नाटककारों ने श्रीकृष्ण के चरित्र को मानवीयगुणों और भावनाओं से मण्डित किया था। यह उन्होंने रससिद्धान्त के अभाव में किया था। उसमें भक्ति का अंश कम और कवित्व अधिक है।

भागवत के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं --

१८- दक्ष- दक्ष वह है जो कठिन परिस्थिति में शीघ्र उपाय कर ले।

जैसे :- शत्रुओं ने श्रीकृष्ण पर जितने बाण बरसाये उन्हें उन्होंने सबको काट डाला।[1]

२२-जितेन्द्रिय- जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है।

जैसे- जिन वनिताओं के भावसूचक उद्दाम हास्य पर कामदेव भी अपना धनुष छोड़ बैठता था वे ही वनितायें अपनी चेष्टाओं से श्रीकृष्ण का मन विचलित न कर सकीं।[2]

३६- भक्तों का मित्र- यथा- भीष्म पितामह स्तुति करते हुये कहते हैं --

मैंने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध में श्रीकृष्ण से शस्त्र ग्रहण करा कर छोड़ूंगा। मेरे लिए उन्होंने अपना प्रण तोड़ा और रथ का पहिया हाथ में उठा कर मेरी ओर इसप्रकार झपटे जैसे शेर हाथी पर झपटता है।[3]

१- श्रीमद्भागवत - १०।५७।३

२- श्रीमद्भागवत- १।११।२७

३- श्रीमद्भागवत- १।६।३७

४४- लोकप्रिय - जो लोगों के अनुराग का पात्र हो ।

जैसे :- हस्तिनापुर से द्वारका में श्रीकृष्ण के आ जाने पर प्रजाजनों ने कहा -- " कमल नयन, जब आप अपने बन्धु-बान्धवों से मिलने के लिए हस्तिनापुर या मथुरा चले जाते हैं तब आपके बिना हमारा एक एक क्षण कोटि कोटि वर्षों के समान बीतता है । हमारी दशा ऐसी हो जाती है जैसे बिना सूर्य के आंखों की दशा होती है । "[1]

इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं। विस्तार भय से सब को नहीं दिखा रहे । ऐसे भी अनेक चित्रण भागवतकार ने किए हैं जिनमें श्रीकृष्ण का आलंबन बिम्ब साकार हो जाता है। वैणुगीत का यह चित्र निदर्शन है ।[2]

श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ बृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं । उनके सिर पर मयूर पंख है और कानों में कनेर के पीले पीले फूल हैं । शरीर पर सुनहरा पीताम्बर और गले में वैजयन्ती माला है , बांसुरी के छिद्रों को अपने अधरामृत से भर रहे हैं । पीछे ग्वाल-बाल उनका कीर्तिगान कर रहे हैं । इस प्रकार वैकुण्ठ से भी श्रेष्ठ वृन्दावनधाम को अपने चरण चिह्नों से रमणीय बना दिया है । "

१- श्रीमद्भागवत- १।११।९
२- श्रीमद्भागवत- १०।२१।५

(ख)- भक्ति का आलम्बन:-

तुलसी साहित्य में -

सामान्यत: भाव के प्रेरक आधार को आलंबन कहते हैं। हरिभक्ति रसामृत सिन्धुकार ने भक्तिरस के आलम्बन भगवान और उनके भक्तगण दोनों ही माने हैं।[1] तुलसी की भक्तिरस के मुख्य आलंबन श्रीराम ही हैं। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने नायक के उस व्यक्तित्व को ही प्रमुखता दी है, जो धीर, प्रशान्त गुण वान एवम् अनुपम सौन्दर्य युक्त तथा भारतीय धर्म से मर्यादित एवम् संयमित आचारों द्वारा समस्त जनता का स्मृति कारक हो। कविवर तुलसी ने रामेतर अवतारों की श्रृंखला को भी अभिव्यक्त किया है[2] उन अवतारों में प्रधान श्रीकृष्ण हैं। भगवान श्रीकृष्ण का शक्तिशील सौन्दर्य एवम् दिव्य गुणों का वर्णन तुलसी की कृष्ण गीतावली के अतिरिक्त अन्य कृतियों में भी समाहित है।[3] पर तुलसी का जितना मन आराध्य राम में रम सका है, उतना अन्य अवतारों में कम परिलक्षित होता है। कथा प्रवाह में उनका वर्णन करना उनकी अतिसय उदारता है। लेकिन जितना व्यापक रुपविधान का चित्रण राम का साहित्य में संगुम्फित है उतना व्यापक चित्रण अन्य अवतारों का नहीं। इसलिए उनकी राम विषयक रचनाओं में भक्ति रस का अजस्र

१- हरिभक्ति रसामृत सिंधु- २।१।१६

२- विनयपत्रिका- ५२, रा०मा०- ६।११०।४

३- कवितावली- ७।१३१, ७।१३३-३५,

विनयपत्रिका- ५२।७, ६८।२-३, रा०मा०- १।८८।१,

प्रवाह है । सीता राम की अभिन्न एवं आद्या शक्ति हैं ।[1] यह राम से उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार वाणी का अर्थ, एवं जल का लहर से घनिष्ट अन्तरंगता है । अत: सीता विषयक पंक्तियां भी रसप्लावित कही जायेंगी।[2]

तुलसी की भक्ति के विषयालंबन का दूसरा वर्ग श्रीकृष्ण आदि अवतारों एवम् शंकर आदि देवताओं का है । तुलसी ने लंकाकाण्ड में रामेश्वर की स्थापना करते समय राम के श्रीमुख से जो सम्बोधनात्मक उद्गार व्यक्त किए है तथा उत्तरकाण्ड में सार्वजनिक प्रवचन द्वारा शंकर भजन से भक्ति की यथार्थत: निर्दिष्ट की गयी -- तथा विनयपत्रिका में शिव विषयक स्तुतियों से भी भक्ति भाव को एक आधार मिला है ।[3] अन्य अवतारों में कृष्ण विषयक[4] कुछ पदों को छोड़कर ,वहां तुलसी का भक्तिभाव सामान्य

१- रा०मा०- १।१८, विनयपत्रिका- ४१-४२ ,

२- विनयपत्रिका-४१- कबहुक अंब अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि घाइबो कछु करुन कथा चलाइ ।
दीन सब अंग हीन छीन मलीन अघी अघाई ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाई ।
बूझिहैं सो है कौन,कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ।
तरै तुलसी दास भव तव नाथ गुन गन गाइ ।।

३- रा०मा०- ६।३।२, ६।२।४, ७।४५

४- कवितावली- ७।१३१,१३३,

सहृदय की दृष्टि से रस की कोटितक नहीं पहुंच सका है। शिव भवानी विषयक स्तुतियों में अनेक स्थलों पर भक्ति रस का अजस्र प्रवाह प्रवाहित होने लगता है।[१] तुलसी ने गणेश, सरस्वती, सूर्य, गंगा, यमुना आदि को भी भक्ति का विषयालंबन आधार बनाकर भक्ति रस्ता दिखाया है।[२] यों तो भक्तजन प्रत्येक स्तुति को पढ़कर या सुनकर भक्तिरस धारा में निमग्न हो जाते हैं परन्तु हमारी प्रतीति यह है कि उपरिनिर्दिष्ट गणेश आदि की स्तुतियों में काव्य शास्त्रियों का परम्परा प्रोक्त भाव ही है, रस नहीं। तुलसी साहित्य में अभिव्यक्त भक्तिरस के आलम्बन का तीसरा वर्ग राम भक्तों का है उनकी सूची बहुत लम्बी है। रामचरित मानस और विनय पत्रिका के आरम्भ में गुरु, दशरथ, कौशल्या, वाल्मीकि, हनुमान लक्ष्मण भरत, शत्रुघ्न आदि राममक्तों की भावमयी वन्दना की है। सरसता के तारतम्य की दृष्टि से राम के बाद दूसरा स्थान हनुमान का ही है। हनुमत विषयक स्तुतियां[३] विशेषकर हनुमान बाहुक में बहुत ही सरस एवं

१- विनयपत्रिका - ५,६,१५

२- रा०मा०- १।१।श्लोक १,
विनयपत्रिका- १,-२,१७,२४,
कविता० - १४५-४७

३- विनयपत्रिका- २५-३६,
रा०मा०- ५।१।श्लोक- ३,

एवम् मार्मिक है ।[1] रससिद्धान्त का यह आग्रह है कि आलम्बन में यथोचित गुणों का अस्तित्व होना चाहिए अपात्र को आलम्बन मानकर की गयी रचना रसानुभूति कराने में सर्वदा असमर्थ होती है । इसीलिए भारतीय काव्य और काव्य शास्त्र में नायक के स्वरुप निरुपण पर इतना बल दिया गया है । तुलसी ने राम को भक्ति भाव का श्रेष्ठ आलम्बन क्यों माना - इसकी विस्तृत आलोचना पूर्ववर्ती अध्यायों में की जा चुकी है । उनके राम सभी कमनीय गुणों के आकर है । वाल्मीकि रामायण के वाल्मीकि और नारद ने जिन लोक विश्रुत आदर्श गुणों की चर्चा की है[2] और भारतीय काव्य शास्त्र में जिन नायकोचित गुणों का प्रतिपादन किया गया है ।[3] वे सभी गुण तुलसी के राम में विद्यमान है । भारतीय महाकाव्य

१- हनु० ३, आपने ही पापतें जितापतें कि शापतें,
बढी है बांह वेदन कही न सही जाति है ।
औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किए,
वादि भए देवता मनाये अधिकाति है ।
करतार भरतार हरतार, कर्म काल को है
जग जाल जो न मानत इताति है ।
चरो तेरो तुलसी तू मेरो कह्यो रामदूत,
ढील तेरी बीर मोहि पीरतें पिराति है ।।

२- वा० रा०- १।१।२-२०

३- दशरुपक- २।१-२, नाट्यदर्पण, कारिका- १६१-६५, नाट्य लक्षण- -रत्न कोश, पृ०-५६-६०, साहित्यदर्पण -३।३०,३२, ह० र० सि०- - २।१।१६-२५

के नायक की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि उसमें रूप[1] और गुण समन्वय का आदर्श उपस्थित किया गया है जिस नायक में रूप और गुणों का समन्वय जितना ही अधिक होगा, वह उतना ही लोक रंजक और लोक शंकर होगा इसी परम्परा धारणा के अनुसार तुलसी के अखिल गुणोदधि राम सर्व सौन्दर्य सम्पन्न भी है।[2] कोई भी प्राणी (सुर- असुर, नर-वानर पशु- पक्षी) ऐसा नहीं है जो राम के रूप को देखकर आत्म विस्मृत न हो गया हो ।[3]

१- रूप के प्रति आकर्षण मानव मन की बहुत बड़ी कमजोरी है। हमारे महाकवियों एवं आचार्यों ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य की नस को खूब पहचाना था। किसी कुरूप भिनभिनहे नायक के चित्रण से पाठक का रतिभाव जाग्रत नहीं हो सकता और यदि किसी का होता है तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी मति में कोई न कोई गड़बड़ी अवश्य है ।

२-कवि०-७।१५, रूप सील सिंधु गुन सिंधु बंधु दीन को दया निधान जानमनि - - बीर बाहु बोल को ।

वि०पु०-४४।३- जयति श्रृंगार सरतामरसदामदुतिदेह गुण गेह-विश्वोपकारी।

३- रा०मा०- १।३१७।२-४, २।११४।१, २।१२०।४, ३।१६।२-३,
गीतावली- १।३४, १।६२, १।१०६, २।३५।
कवितावली-२।२३-२७ ,

काव्य कोविदों ने ४ प्रकार के नायक माने हैं- धीरोदात्त, धीरललित, धीर शान्त, और धीरोद्धत,।[१] तुलसी के राम में भारतीय नायक के सामान्य आदर्शगुणों एवम् धीरोदात्त तथा धीरशान्त नायक के विशिष्ट गुणों का समुचित आधान है। वे रूपवान[२] अनुपम[३] और अवद्य[४] हैं। संसार में ऐसा कोई जीव जन्तु नहीं जिसे राम प्रिय न हों।[५] वे भूपाल चूड़ामणि,[६] रघुकुल केतु,[७] अतुलित अजेय शक्तिमान[८] और साहिब[९]

१- दशरूपक- २।३-९, सा० द०- ३।३१-३४

२- रा०मा०- १।२२९।१, २।११६, गी०- १।१०८, कविता०- २।२०

३- रा०मा०- १।६३।४, २।६२।४,

४- रा०मा०- ३।११।६, ७।७२।२,

५- रा०मा०- २।१६२।३८- अस को जीव जन्तु जग माहीं ।
जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ।।

६- रा०मा०- ५।१।श्लोक-१, गीतावली-१।१।६, ७।७।१

७- रा०मा०- ७।३५।४,

८- रा०मा०- २।१८६।४- सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा ।
रामहिं समर न जीतनिहारा ।

रा०मा०- ३।११।८- अतुलित भुज प्रताप बल धामा: ।
रा०मा०- ६।११०।३- अजित अमोघशक्ति करुनामय ।

९- रा०मा०- २।२९८।१, वि०पत्रिका- २५६।१, कवितावली-७।१३, दोहावली- १८१, गीतावली- ५।२५।१,

-- है। वाग्मी[१] धार्मिक[२] नीतिज्ञ[३] और शुचि[४] है। हृषीकेश[५] धीर[६] शान्त[७] सत्यपालक[८] नागर[९] सुजान[१०] ज्ञानी[११] विवेकी[१२] शीलवान[१३] सरल[१४] विरागी[१५] संकोच शील[१६] कोमल[१७] हैं।

१- रा०मा०- २।२८५।२, विनयपत्रिका - ५४।१

२- रा०मा०- २।२५४।१ विनयपत्रिका- १५२।६, गीतावली- २।३३।२

३- रा०मा०- २।२५७।४, २।५०।२ , ब०रा०- ७,

४- रा०मा०- १।२३०, १।२५८ ,

५- विनयपत्रिका- ११६।५

६- रा०मा०- २।१४१।४,३।२२।३

७- रा०मा०- १।२४२।२, ५।१।श्लोक, विनयपत्रिका- ५३।३

८- रा०मा०- २।२५४।२, वि० - ५३।५, गीतावली- २।४१।३

९- रा०मा०- ३।११।७, ६।१११।१

१०-रा०मा०- २।६४ , विनयपत्रिका - ५४।१,
कवितावली- ७।१०० ,

११- रा०मा०- ७।२६।१, विनयपत्रिका - २४४।५

१२- रा०मा०- २।६७।३, ३।१।श्लोक- १ ,

१३- रा०मा०- २।२७४।३, विनयपत्रिका- २५७।३, कवितावली-६।५२,

१४- रा०मा०- २।२६८।१, बा०रा०- ७,

१५- रा०मा०- १।२८५।२, १।३०८।१।२५७

१६- रा०मा०- २।२०१, २।२६६।३, गीतावली - २।६५।२

१७- विनयपत्रिका- १६६।१
गीतावली- २।२।५,

मंगलकारी[१] अतिशय उदार[२] और क्षमावान[३] है। यदि कभी क्षमा छोड़ते भी है तो भक्त के कल्याण के लिए।[४] वे शरणागत पालक,[५] कृपालु[६] और भाव वल्लभ[७] हैं। तुलसी के राम शक्ति, शील सौंदर्य के अनुपम निधान हैं।[८]

कृष्ण भक्त आचार्यों ने नायक रूप में अंकित कृष्ण का चतुर्विधत्व स्वीकार किया है।[९] उनका यह अध्यवसाय कृष्ण की सर्वतोमुखी पूर्णता प्रतिपादित करने के लिए है, श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के चरित्र में इसी प्रकार के लक्षण अनुस्यूत है। तुलसीदास इस प्रकार के मोह और आग्रह के वशीभूत

१- रा०मा०- १।११२।२, वि०प०- ६१।८

२- रा०मा०- ३।४२।३, ६।११३।३

गीतावली- ७।३८।१

३- रा०मा०- १।२८५।३, दोहावली- ४२७

४- कवितावली - ७।३

५- विनयपत्रिका- २७४।१, गीतावली- ५।२२।१०

६- रा०मा०- ३।४।१, गीतावली- १।२५।१,

वि०प० - ४५।१, कवितावली- ५।३० ,

७- रा०मा०- ३।४।१०, ७।६२ सोरठा ,

८- रा०मा०- १।२८५।१-२, २।२६८।१-२, ७।१।श्लोक-१,७।६१४, ७।६२

९- ह०र०सि०- २।१।७६-

स पुनश्च चतुर्विधः स्याद् धीरोदात्तश्च-धीरललितश्च।

धीर प्रशान्त नामा तथैव धीरोद्धतः कथितः॥

नहीं है। अपनी लोकसंग्रहाभिलाषिता एवम् मर्यादा वादिता के कारण उन्होंने राम को धीर ललित या धीरोद्धत नायक के रूप में चित्रित नहीं किया है। राम के रूप वर्णन, प्रेम निरूपण आदि धीरललित नायक के व्यावर्तक लक्षण नहीं है। ये विशेषताएं धीरोदात्त आदि में भी पायी जाती है। राम के विषय में ललित [1] शब्द के प्रयोग में यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि तुलसी राम का चित्रण धीरललित नायक के रूप में कर रहे हैं। धीरललित नायक का वैशिष्ट्य उसकी विलासिता आदि में है। परन्तु तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम विषय रस रूखे [2] हैं। राजधर्म के प्रति जागरूक है। [3] वे हर्ष, विषाद, क्रोध, माया मान आदि से रहित है। [4] अपने परित्राण परायण और लोक पालन दक्ष आराध्य को धीर ललित विलासी के रूप में चित्रित करना तुलसी को वाञ्छनीय नहीं था। जनक वाटिका [5] और हिंडोले आदि [6] के शृंगारिक प्रसंगों के आधार पर भी राम में मधुर रसानुयोगी धीर ललित गुणों, कलासक्तता, भोग प्रवणता आदि [7] की पुष्टि नहीं की जा सकती। उन सन्दर्भों में भी, जहां

१- दो० -१२०, रा०प्र०- ४।३।३

२- रा०मा०- २।१७६।४

३- रा०मा०- ७।२०।४, ७।२४।१

४- रा०मा०- १।२७०, २।१२।२

विनयपत्रिका- ५६।६,

५- रा०मा०- १।२३०।१।१।२३८।२-

~~विनयपत्रिका~~- गीतावली- १।७१।७२

६- गीतावली- ७।१८+-२२

७- धीर ललित नायक के लक्षण के लिए दे० दशरूपक- २।३, और उस पर - अवलोक - सा० द० ३।३४ आदि।

कहीं अवकाश मिला है, काव्य धर्म की रक्षा करते हुये, दास्य भक्ति -मयी पंक्तियां बिठा दी गयी हैं।[1] राम के धीरोद्धत तत्व की बात तो दूर रही, उद्दंड लक्ष्मण में भी धीरोद्धत नायक की अधिकांश विशेषतायें नहीं।[2] वे चपल विकत्थन और रोषाण तो है परन्तु उनमें अहंकार दर्प मात्सर्य छल और माया दीपन नहीं है। "जौ तुम्हारि अनुशासन पावौं। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं।"[3] आदि का कारण उनका राम भक्ति प्रेरित रोष है। पाप मूलक क्रोध नहीं।

१- गीतावली- १।७२।४ ,

मुनि असीस सुनि सीस नाइ पुनि पुनि ,
बिदा भई देवी सों जननि डर डरकै।
हरषी सहेली, भयो भावतो ,गावतीं गीत
गवनी भवन तुलसीस हियो हरि कै।"

रा०मा०- १।२३५।१-२

२- धीरोद्धत नायक की विशेषताओं के लिए दे० दशरूपक- २।५-६, और उसपर अवलोक सा० द०- ३।३३। ह०र०सि०- २।१।८७-८८,

३- रा०मा०- १।२५३।२ ,

कविवर तुलसी ने मानस में श्री शंकर,[१] शरभंग[२] सुतीक्ष्ण[३] कुंभज,[४] जाम्बंत[५] सुरेश[६] ब्राह्मण वेषधारी वेद[७] काकभुशुण्डि[८] तथा

१- रा०मा०- १।११६ - राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।
परमानन्द परेश पुराना ।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि शिव नाएउ माथ ।

रा०मा०- १।११८।१,- सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी ।
रघुवर बस उर अंतर जामी ।।

२- रा०मा०- ३।८ - सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम ।
मम हिय बसहुं निरन्तर सगुन रुप श्रीराम ।।

३- रा०मा०- ३।११।६-१०- जदपि विरज व्यापक अविनासी ।
सबके हृदय निरंतर बासी ।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी
बसतु मनसि मम कानन चारी ।।
जे जानहिं ते जानहुं स्वामी ।
सगुन अगुन उर अन्तजामी ।।
जो कौशल पति राजीव नयना ।
करहु सो रामु हृदय मम अयना ।।

४- रा०मा०- ३।१३।६-७ - जदपि ब्रह्म अखण्ड अनंता ।
अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ।
अस तव रुप बखानौ जानौ ।
फिरि फिर सगुन ब्रह्म रति मानौ ।

शेष पादटिप्पणी-क्रमश: ५,६,७,८
अगले पृष्ठ पर देखिये:-

स्वयं तुलसी [१] के द्वारा सगुण रूप श्रीराम के वर्णन में भक्तिरसता का उपस्थापन किया गया है - कतिपय पंक्तियां अवलोकनीय हैं --

---

देखें पिछले पृष्ठ की पाद्टिप्पणी:

५- रा०मा०- ४।२६।७- हम सब सेवक अति बड़ भागी ।
संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ।।

६- रा०मा०- ६।११२।७- कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव ।
अव्यक्त जेहिं श्रुति गाव ।
मोहि भाव कोशल भूप ।
श्रीराम सगुन सरुप ।

७- रा०मा०- ७।१३।छंद-६,
जे ब्रह्म अजम द्वैत मनु भवगम्य मन पर ध्यावहीं ।
ते कहहुं जानहुं नाथ हम तव सगुन जसु नित गावहीं ।।

८- रा०मा०-७।११०।८- निमु जेहि पूछौं सोइ मुनि अस कहई ।
ईश्वर सर्व भूत मय अहई ।।
निर्गुन मत नहि मोहि सुहाई ।
सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई ।

१- कवितावली- ७।१२६-
अन्तर्जामिहु तैं बड़े बाहर जामि हैं राम, जे नाम लिएतें ।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यौं बालक बोलनि कान किएतें ।
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबें की न बावरि बात किएतें ।
पैंज परें प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें ।।

यही नहीं, भगवान राम का सगुण रूप इतना मनोमोहक है कि विदेह राज जनक भी अपने वीतरागी मन से ब्रह्म सुख को बरबस त्यागकर उनमें अनुरक्त हो गये :-

'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा ।
उभय वेश धरि की सोइ आवा ।
सहज विराग रूप मनु मोरा ।
थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा ।।[1]
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा ।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मनु त्यागा ।।[2]

अत: स्पष्ट है कि तुलसी ने अपने प्रतिपाद्य भगवान राम को ही शक्ति, शील, सौन्दर्य से संयुक्त एवम् सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त बिम्बों को आलम्बन मानकर भक्ति रस की प्रतिष्ठा की है । अब हम भक्ति रस के विविध आलम्बनात्मक विविध भेदों का सम्यक विवेचन करेंगे जिससे भक्ति रस की साध्यता सिद्ध होती है :--

रूप गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस के विविध भेदों का भिन्न प्रकार से निरूपण किया है । रूप गोस्वामी ने मुख्य एवं गौण दो भेद बताकर मुख्य के पांच (शांत, प्रीत, प्रेयान्, वत्सल और मधुर) तथा गौण के

१- रा०मा०- १।२१६।१-२,
२- रा०मा०- १।२१६।३,

सात (हास्य अद्भुत, वीर, करुणा, रौद्र, भयानक और वीभत्स) उप-भेदों के रूप में भक्तिरस के कुल मिलाकर बारह भेद माने हैं।[1] अपने भक्ति-रसायन में मधुसूदन सरस्वती ने सात चित्तद्रुतियों, तत्संबंधी सोलह स्थायी भावों और तदनुसार सोलह रसों का विवेचन किया है।[2] मिश्रित भक्तिरस

१- दे०-ह०र०सि०- २।५।६५-६८,

२- प्रस्तुत सारणी से उनका मत स्पष्ट हो जाएगा :-

मूलचित्तद्रुति	तत्संबंधी स्थायी	रस
१- काम (२।३)	१- रति (२।४)	१- श्रृंगार(२।३१-३३)
२- क्रोध (३।५)	२-ईर्ष्याजि द्वेष(२।२६)	२-शुद्धरौद्र (२।३०)
,,	३- भयजद्वेष(२।२६)	३-रौद्रभयानक(२।३०)
,,	४- भय रति(२।८)	४-प्रीतिभयानक(२।३१-३३)
३- स्नेह(२।६)	५- वत्सलरति(२।११)	५-वत्सलरस(२।३४-३५)
,,	६- प्रेयोरति(२।११)	६-प्रेयान्(२।३४-३५)
४- हर्ष(२।१२)	७- शुद्धारति(२।१३)	७-विशुद्धभक्तिरस(२।३४-३५)
,,	८- हास(२।१४)	८-हास्य(२।३१-३३)
,,	९- विस्मय(२।१५)	९-अद्भुत(२।३१-३३)
,,	१०- युद्धोत्साह(२।१६)	१०-युद्धवीर(२।३१-३३)
५-शोक(२।१७)	११- शोक(२।१७)	११-कल्याण(२।३१-३३)
६-दया (२।१८)	१२-जुगुप्सा (२।१८-२०)	१२-बीभत्स(२।२७-२८)
,,	१३- दयोत्साह(२।२१)	१३-दयावीर(२।२७+२८)
,,	१४-दानोत्साह(२।२२)	१४-दानवीर(२।३१-३३)
,,	१५- धर्मोत्साह(२।२३)	१५-धर्मवीर(२।२७-२८)
७- शम(२।२४)	१६- शम (२।२४)	१६-शान्त(२।२७-२८)

सात हैं और शेष छः रस भक्तिरसत्व के अयोग्य हैं। पूर्वोक्त सोलह रसों में से परिपुष्कल (शुद्ध या मुख्य)भक्तिरस केवल तीन हैं -- विशुद्ध-भक्तिरस, वत्सल-भक्तिरस और प्रेयान-भक्तिरस। किसी अन्य रस या भाव का मिश्रण न होने से इन्हें अमिश्र भक्तिरस भी कहा जा सकता है।[1] श्रृंगार,करुणा हास्य, प्रीतिभयानक, अद्भुत, युद्धवीर और दानवीर-- ये सात मिश्रित भक्तिरस हैं, क्योंकि इनके स्थायी भावों (कामरति, शोक, हास, भयरति, विस्मय, युद्धोत्साह और दानोत्साह) का भगवद्भक्ति के साथ मिश्रण हो सकता है।[2] शेष छः रस(शुद्धरौद्र, रौद्र भयानक,बीभत्स,धर्मवीर,दयावीर, और शान्त) भक्तिरसत्वा नहीं हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् जुगुप्सा, धर्मोत्साह, दयोत्साह और शम के (भक्तिरस- विषयक) आलम्बन नहीं हो सकते।[3] ईर्ष्याजि द्वेष और भयज द्वेष तो भगवद्विषयक होने पर भी प्रीति के साक्षात् विरोधी हैं।[4] अतएव उनका भक्तिरसत्व प्राप्त करना सर्वथा असंभव है।

भक्तिरस के शुद्धत्व या केवलत्व और इतर रसों के साथ उसके सांकर्य के आधार पर तुलसी के काव्य में अभिव्यक्त भक्तिरस के भी दो भेद हैं-- शुद्ध भक्तिरस तथा मिश्रित भक्तिरस। इन्हीं को क्रमशः मुख्य भक्तिरस तथा गौण भक्तिरस, एवं केवल भक्तिरस और मिश्रित भक्तिरस भी कहा जा सकता है। शुद्ध भक्तिरस वहां होता है जहां स्थायी भाव के रूप में केवल भगवद्रति की अभिव्यंजना की गयी हो,[5] जिसमें कामरति,हास, शोक आदि का मेल न

१- भ०र०- २।३४-३५

२- दे०- भ०र० २।३३ और उस पर किन्चिद्व्याख्या

३- भ०र०- २।२८
४- भ०र०- २।३०
५- भ०र०- २।३४+३५,४०

कियागया हो । मिश्रित भक्तिरस वह है जिसमें भगवद्रति के साथ कामरति, हास, शोक आदि भावों का भी मिश्रण हो ।[१] तुलसी की मुक्तक काव्यरचना 'विनय-पत्रिका' का अधिकांश शुद्ध भक्तिरस का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रबन्ध काव्य 'रामचरित मानस' में मिश्रित भक्तिरस की भी रमणीय व्यंजना हुई है ।

शुद्ध भक्तिरस:-

आश्रय भक्त, आलंबन भगवान के रूप, एवम् भक्तभगवत्संबंध के भेद से शुद्ध भक्तिरस के भी अनेक भेद हैं । इस विषय में भक्तिरस-मीमांसक एकमत नहीं हैं । रूपगोस्वामी आदि के मत से शुद्ध (मुख्य) भक्तिरस के पांच भेद हैं- शांत, प्रीत, प्रेयान् वत्सल और मधुर ।[२] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार शुद्ध (परिपुष्कल या अमिश्र) भक्तिरस केवल तीन हैं- विशुद्ध भक्तिरस, वत्सल भक्तिरस, और प्रेयान् भक्तिरस ।[३] तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से कुछ बातें ध्यान में देने योग्य हैं । वत्सल भक्तिरस दोनों को मान्य है । रूपगोस्वामी के प्रीत भक्तिरस तथा प्रेयोभक्तिरस, एक प्रकार से, मधुसूदन सरस्वती के प्रेयान् भक्तिरस में समाविष्ट हैं । रूप गोस्वामी का मुख्य (शुद्ध)शांत भक्ति-रस मधुसूदन सरस्वती को शुद्ध या मिश्रित किसी भी रूप में मान्य नहीं है । वे रूपगोस्वामी के मधुर रस को भी शुद्ध और श्रेष्ठ भक्तिरस मानने को तैयार नहीं है । वे उसे मिश्रित भक्तिरस की कोटि में ही रखते हैं । फिर भी उसकी प्रभविष्णुता स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच नहीं है । उनका कथन है कि यद्यपि भक्तिरस की दृष्टि से तीनों शुद्ध भक्तिरस ही श्रेष्ठ है तथापि श्रृंगाररस,

---

१- भ०र०- २।३२-३३

२- ह०र०सि० २।५।६६-६७

३- भ०र० २।३४-३५

मिश्रित होने पर भी, सभी रसों में बलवत्तम है, क्योंकि उसी में ही संभोग-विप्रलंभानुसार रति का तीव्र तीव्रतरत्व पाया जाता है।[1]

तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्तिरस चार प्रकार का है -- विशुद्ध भक्तिरस, शांत भक्तिरस, प्रेयान् भक्तिरस और वत्सल भक्तिरस। परानंदमय भगवान् के महात्म्य से उत्पन्न हर्ष के कारण द्रुतचित्त की भगवद्विषयक शुद्ध सात्त्विकी रति विशुद्ध भक्तिरस का स्थायी भाव है।[2] इसमें भगवान् की महिमा आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि अनुभाव एवं हर्ष, मति आदि संचारी भाव होते हैं। यथा--

> सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीनन को जलु है।
> श्रुति रामकथा,मुख राम को नामु, हिएं पुनि रामहि कोथलु है।।
> मति रामहि सों, गति रामहिं सों, रति राम सों,रामहिं को बलु है।।
> सब की न कहै,तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है।।[3]

तुलसी के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्तिरस का दूसरा प्रकार शान्त भक्तिरस[4] है। उनकी कृतियों में शांत के दो रूप हैं-- शुद्ध शांत रस और शांत भक्तिरस। जहां स्थायी भाव के रूप में केवल शम की व्यंजना हुई है,(भगवद्रति की नहीं) वहां शान्तरस है।[5] जहां ज्ञानी भक्तों की ज्ञानपूर्विका भावद्रति की व्यंजना है वहां शांत भक्तिरस है। ऐसे स्थलों में ज्ञानचर्चा गौण है। शम संचारी मात्र है। कवि का वास्तविक प्रतिपाद्य, स्थायी भाव, भगवद्रति ही है। शांतरस प्रत्यापक तत्वज्ञान निरूपण भगवद्रति और भक्तिरस

१- भ०र०२।३६
२- भ०र० २।१२-१३
३- कवि० ७।३७
४- दे०- भ०र० २।२७-२८
५- वि० १११,११५,१२२,१६७

का पोषक है, एवम् स्थायी भाव शम ईश्वर विषयक रति का अंग होकर आया है ।[१] शांत भक्तिरस का स्थायी भाव संकल्प-विकल्प से रहित मन वाले शर्मी भक्तों की शांता रति है । विभु, सच्चिदानंद, परमात्मा विषयालंबन और आत्माराम तापस शांतभक्त आश्रय है । वेदोपनिषदादि का श्रवण, तीर्थादि का सेवन ,ज्ञानी भक्तों का संसर्ग आदि उद्दीपन विभाव हैं । ज्ञानमुद्रा, निरपेक्षता, निरहंकारिता, भक्त्युपदेश आदि अनुभव तथा रोमांच, कंप आदि सात्विक भाव हैं । निर्वेद, घृति, मति आदि संचारी भाव हैं ।[२] स्वयं तुलसीदास[३], और उनके शंकर[४], सुतीक्ष्ण[५], अगस्त्य[६], सनक[७] आदि की शांता रति अनेक स्थलों पर रमणीयता के साथ व्यक्त हुई है ।

तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्ति का तीसरा प्रकार प्रेयान् भक्तिरस है । इस रस का स्थायी भाव प्रयोरति है । सैव्य-सेवक-भाव से की गयी भगवद्विषयक रति को प्रेयोरति कहते हैं ।[८] यह कहा जा चुका है कि तुलसीदास की भक्ति मुख्यत: सैव्य-सेवक-भाव की भक्ति है ।[९]अतएव उनके काव्य में अभिव्यक्त मुख्य भक्तिरस (मधुसूदन सरस्वती वाले अर्थ में)प्रेयान् भक्तिरस ही है ।

१- रा०१।१०७।३थ१।११६, वि० ११६,११७,१२०,१२१

२- ह०र०सि०- ३।१।४-२४

३- वि० १२१,१२३, रा० १।१।श्लोक६

४- रा०१।११६।१-१।११६।२

५- रा०-३।११।६

६- रा०३।१३।३-७

७- रा० ७।३३।१-७।३४

८- भ०र०-२।११

९- सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।-रा०७।११९(क)

निर्भ्रान्त विचारणा के लिए रूपगोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती का मतभेद स्पष्ट कर देना अपेक्षित है । रूपगोस्वामी ने भक्तिरस-संबंधी जिन स्थायी भावों का निरूपण किया है उनमें संभ्रमप्रीति(दास्य), सख्य तथा वात्सल्य तीन स्वतंत्र स्थायी भाव है । और तदनुसार प्रीत, प्रेयान् तथा वात्सल्य इन तीनों रसों की अभिव्यक्ति होती है । मधुसूदन सरस्वती ने जो सात मूल चित्तवृत्तियां मानी है उनमें से एक चित्तवृत्ति स्नेह है । इसी स्नेह के दो रूप हैं । -- वत्सल रति (पाल्य-पालक-भाव) और प्रेयोरति सेव्य-सेवक-भाव) और प्रेयोरति (सेव्य-सेवक-भाव अनिवार्य है । रूपगोस्वामी ने जिसे प्रीतभक्ति -रस कहा है उसका स्थायी भाव संभ्रमप्रीति है । भगवान् की प्रभुता के ज्ञान से चित्त में जो सादर कंप उत्पन्न होता है उसे`संभ्रम`कहते हैं । वस्तुतः संभ्रमप्रीति का अर्थ हुआ-- माहात्म्यज्ञानपूर्विका भावद्रुति । उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण इसकी तीन तारतम्कि अवस्थाएं हैं -- प्रेमा, स्नेह और राग ।[१] इसके विषयालंबन हैं कृपा, शक्ति, ज्ञान, क्षमा आदि गुणों के आकर भगवान् एवम् उनके निदेशवशवर्ती, प्रभुताज्ञानी भक्तजन ।[२] इसके साधारण उद्दीपन भगवान् का स्मितपूर्वक अवलोकन, उनके गुणोत्कर्ष का श्रवण आदि तथा असाधारण उद्दीपन भगवद्नुग्रह, हरिभक्तसंगति आदि हैं ।[3] हरिप्रीतिनिष्ठता, भक्तजनों से मैत्री आदि इसके असाधारण अनुभव, भक्तों का आदर विराग आदि साधारण अनुभव, तथा रोमांच आदि आठों सात्त्विक भाव हैं ।[४] हर्ष, दैन्य, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं ।[५] उन्होंने जिस प्रेयान रस कहा है

१- ह०र०सि० ३।२।४०-४३

२- ह०र०सि० ३।२।६-१३

३- ह०र०सि० ३।२।३०-३३

४- ह०र०सि० ३।२।३३-३६

५- ह०र०सि० ३।३।३६-३८

उसका स्थायी भाव सख्य है।[१] मधुसूदन सरस्वती ने रूपगोस्वामी के उपर्युक्त दोनों ही स्थायी भावों को एक ही मूल स्थायी भाव माना है-- प्रेयोरति (जिसकी निष्पत्ति प्रेयान् रस के रूप में होती है)। तुलसीदास के एतद्विषयक विवेचन के लिए मधुसूदन सरस्वती का यह मत ही अधिक उपयोगी है क्योंकि उनके काव्य में रूपगोस्वामी के प्रेयान् रस की अभिव्यंजना न होकर मधुसूदन सरस्वती के प्रेयान् रस की ही अभिव्यंजना हुई है-- अर्थात् उनके द्वारा अभिव्यक्त सख्यभाव के मूल में भी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सेव्य-सेवक -भाव विद्यमान है।

प्रेयोरति के तीन भेद हैं- दास्य, सख्य और दास्यसख्योभयात्मक। तदनुसार प्रेयान् रस के भी तीन भेद हैं-- दास्यप्रेयान् रस, सख्यप्रेयान् रस तथा उभयात्मक प्रेयान् रस। तुलसी की प्राय: सभी सरस रचनाओं में दास्यप्रेयान् रस का शक्तिमान् प्रवाह है।[२] उनके साहित्य में अंकित दास्यप्रेयोरति(संभ्रमप्रीति) का रूप सर्वथा स्पष्ट है। यह दास्य-भाव ही उनकी समस्त कृतियों में सर्वव्यापक स्थायी भाव है। य ही कारण है कि वात्सल्य के आश्रय दशरथ, कौशल्या आदि का स्थायी वात्सल्य भी प्राय: तुलसी के स्थायी दास्य से मुक्त नहीं हो सका है। भरत और लक्ष्मण राम के भाई एवं सुग्रीव तथा विभीषण राम के सखा होकर भी उन के प्रति दास्यभाव का निवेदन करते हैं।[३] शिव, ब्रह्मा, शुक, सनक आदि ज्ञानी- विज्ञानी भी सेव्यसेवकभाव की भक्ति को अनिवार्य समझते हैं।[४]

१- ह०र०सि०- ३।२।१

२- द्रा०- ३।६।५ छं०,७।१३।छं० १-६, वि०१०१

३- रा०मा०-२।२३४।१-

भरत- जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी।।

मोरे सरन राम की पनहीं। रामु सुस्वामि दोसु सब जनहीं।।

देखे शेष अगले पृष्ठ पर -----

सहृदयों के हृदय में स्थित स्थायी सख्यभाव आत्मोचित विभावादि के संयोग से पुष्ट होने पर प्रेयान् रस कहा जाता है। इसके आलम्बन हरि और उनके वयस्क है।[1] विषय और आश्रय के भेद से हरि विषयालंबन एवम् हरिवयस्क आश्रयालंबन हैं। शृंगार रस की भांति दोनों को परस्पर आश्रय और विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि, हरि के प्रति वयस्कों का स्थायी भाव सख्ययुक्त भक्ति है, किन्तु वयस्कों के प्रति हरि का स्थायी भाव सख्ययुक्त वात्सल्य है। यदि यह भेद नहीं स्वीकार किया जायेगा तो हरि की भगवत्ता और वयस्क की भक्तिमत्ता ही लुप्त हो जाएगी। फिर भक्ति रस कहां रहेगा? जहां भगवान् का एक सखा दूसरे सखा की सख्यभक्ति का विषयालंबन हो सकता है। लेकिन, ऐसे भाव का निबंधन करने वाली रचना रसकोटि तक नहीं पहुंच पाती, अधिक- से अधिक भावव्यंजक हो सकती है।

तुलसीदास मूलत: दास्यभक्ति के कवि हैं, अतएव उनके काव्य में सख्यप्रेयान् रस की विशेष ~~न~~ अभिव्यंजना नहीं हो सकी। इसप्रकार के एकाध ही स्थल देखने को मिलते हैं। निम्नोद्धृत पंक्तियों में मित्रवृत्तिविशिष्ट प्रेयान् रसध्वनि की रमणीयता है--

---

देखें- शेष <u>पिछले पृष्ठ की पाद्टिप्पणी:</u>

रा०२।७१-लक्ष्मण- उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ।।

रा०-४।२१।२- सुग्रीव- विषयबस्य सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी।।

रा०-५।४५-विभीषण- स्रवन सुजस सुनि आएउं प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर।।

३- रा०- ७।११६क, ७।१२२।६-७

१- ह०र०सि०- ३।३।१-२

पुर बालक कहि कहि मृदुबचना । सादर प्रभुहि देखावहिं रचना ।।

सब सिसु येहि मिसु प्रेमबस परसिमनोहर गात ।

तनु पुलकहिं अति हरष हियं देखि देखि दोउ भ्रात।।

सिसु सब राम प्रेमबस जाने ।

प्रीति समेत निकेत बखाने ।।

निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई ।

सहित सनेह जाहिं दोउ भाई ।।

रामु देखावहिं अनुजहिं रचना ।

कहि मृदु मधुर मनोहर बचना ।।

लव निमेष महुं भुवन निकाया ।

रचै जासु अनुसासन माया ।।

भगति हेतु सोइ दीनदयाला

चितवत चकित धनुष मखसाला ।।[१]

इस उदाहरण की समीचीनता पर यह आपत्ति की जा सकती है कि वे बालक भक्त नहीं हैं, उनमें सखिधर्मयुक्त भगवान् की भावना नहीं है। इसका समाधान तुलसीदास ने ही इस अवतरण की अंतिम पंक्तियों में कर दिया है। बालकों की भक्ति से ही प्रभावित होकर राम मखशाला का अवलोकन करते हैं। राम के प्रति बालकों का बंधुवत् व्यवहार उनके सख्यभाव का प्रत्यायक है। शास्त्रीय दृष्टि से यहां पर रसोचित सामग्री का भी समुचित संयोग है। राम विषयालंबन और बालक आश्रयालंबन हैं। राम के मनोहर वचन आदि उद्दीपन हैं। हर्ष आदि संचारी भाव हैं। पुलक आदि अनुभव हैं। इस प्रकार उपस्थापित विभावादि रसाभिव्यंजन में समर्थ हैं। सबसे बड़ी बात अनुभव है। इन पंक्तियों को पढ़कर सहृदयों को प्रेयान् रस की अनुभूति होती है, अतः इनमें प्रेयान् रस है।

१- रा०मा०- १।२२४।४-१।२२५।२

प्रेयान् भक्तिरस के तीसरे प्रकार(दास्यसख्योभयात्मक) की व्यंजना अनेक स्थलों पर हुई है। इसका कारण यह है कि सखातुल्य भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव विभीषण आदि भक्तों की रामविषयक प्रीति का आधार सेव्यसेवकभाव ही है। विश्वास-विशिष्ट सख्यप्रेयोरति की रसात्मक अभिव्यंजना के लिए अधोलिखित पद निदर्शनीय है--

केशव ! कारन कौन गुसाईं ।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहिं तजेउ अग्य की नाईं ।।
परम पुनीत संत कोमल-चित तिनहिं तुमहिं बनि आई ।
तौ कत बिप्र, व्याध, गनिकहि तारेहु, कछु रही सगाई ?
काल, करम, गति अगति जीव की सब हरि ! हाथ तुम्हारे ।
सोइ कछु करहु, हरहु ममता प्रभु ! फिरउं न तुमहि बिसारे ।[1]

उपर्युक्त पद के प्रथम दो पद्यों में की गयी सामाप्यसूचक अनौपचारिक प्रश्न-व्यंजना एवम् भगवान् को दी गयी 'अवरेब' पूर्ण उलाहना में सख्यभाव का समावेश है। अंतिम तीन पद्यों में आत्मनिवेदनात्मक दास्यभक्ति का ज्ञापन है।

सख्य भक्ति के सम्बन्ध में यह बात अवधानपूर्वक स्मरण रखने की है कि सख्यभक्ति वहीं मानी जासकती है जहां भक्त सखिधर्मविशिष्ट भगवान् की भावना करता है। परन्तु जहां भगवान् भक्त को तो सखा कहते हैं लेकिन भक्त उन्हें स्वामी के रूप में देखता है वहां सख्यभक्ति नहीं उचित है। अतएव

'सुनहु सखा कह कृपानिधाना ।
तेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ।।[2]

१- वि०- ११२।१-३

२- रा०- ६।८०।२

राम की इस उक्ति में सख्यभक्ति का अस्तित्व नहीं है। इसके दो कारण हैं सख्य भक्त की भावना है, भगवान की नहीं। प्रस्तुत अर्द्धाली में राम का सख्य-भाव व्यक्त हुआ है, विभीषण का नहीं। दूसरे, विभीषण के मन में स्थित भक्ति भाव दास्य है। उसी के ऊपर की दो पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं --

अधिक प्रीति मन भा संदेहा ।
बंदि चरन कह सहित सनेहा ।।
नाथ न रथ नहिं तनु पदत्राना ।
केहि बिधि जितब बीर बलवाना ।।[1]

'बंदिचरन' और 'नाथ' से हमारे कथन की निस्संदेह पुष्टि हो जाती है।

इसीप्रकार " पुनि रघुपति सब सखा बोलाए ।... ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भए समर सागर कहुं बेरे[2]।" को भी सख्यभक्ति का उदाहरण माना[3] युक्तिसंगत नहीं है। यहां पर सखिधर्म से युक्त भगवान् का भक्तद्वारा भावन नहीं किया गया है, बल्कि उल्टे भक्तों के सखिधर्म का ही भगवान के द्वारा कृतज्ञतापूर्वक प्रकाशन हुआ है। भगवान आश्रय हैं और भक्त विषयालम्बन। जिस, पूर्ववर्ती पंक्ति में जामवंत आदि का भक्ति भाव व्यक्त हुआ है, उससे दास्य की ही ध्वनि निकलती है--

देखि नगरबासिन्ह कै रीती।
सकल सराहहिं प्रभु पद प्रीती ।[4]

१- रा०- ६।८०।१-२

२- रा० ७।८।४

३- डा०मुंशीराम शर्मा ने इसे सख्यभक्ति का उदाहरण माना है-
(दे०-भक्ति का विकास, पृ० ७४६)

४- रा० ७।८।२

एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि 'सखा' शब्दका प्रयोगमात्र सख्यभक्ति का लक्षण नहीं है उसमें पूर्वोक्त प्रकार से भक्तिभाव की अपेक्षित अभिव्यक्ति अवश्य होनी चाहिए। उपर्युक्त उदाहरणों के पक्ष में एक यौक्तिक प्रश्न उठाया जा सकता है कि इन पंक्तियों के पठन या श्रवण से भावक का कौन सा भाव जागृत होता है -- सख्य-विशिष्ट भक्ति या दास्य-विशिष्ट भक्ति ? हमारी मान्यता है-- सख्य-विशिष्ट दास्यभक्ति। हमें इसे दास्य-विशिष्ट सख्यभक्ति कहने में भी संकोच है। कारण, ये सभी रामकथित सखा सभी अवसरों पर राम को अपना स्वामी और अपने को उनका दास ही मानते हैं।

तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त शुद्ध भक्तिरस का चौथा प्रकार वत्सल भक्तिरस है।[१] उनकी कृतियों में निरूपित वात्सल्य तीन रूपों में निष्पन्न हुआ है- शुद्धवात्सल्यरस, शुद्धवत्सलभक्तिरस और वात्सल्यमिश्रित वत्सलभक्तिरस। 'गीतावली', 'कवितावली' और 'रामचरितमानस' में निरूपित वात्सल्य इयत्ता एवम् ईदृक्ता दोनों की ही दृष्टि से गौरवशाली है। विभिन्न स्थलों पर विषयालंबन के शरीर, आकल्प और मंडन के नयनाभिराम सरस चित्र अंकित किए गये हैं। संयोग और वियोग की विविध दशाओं में आश्रय की चित्त वृत्तियों की, अनुभवों और संचारी भावों की सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक हृदयहारिणी अभिव्यंजना की गयी है। आलम्बनगत और आलम्बनबाह्य उद्दीपनों का मर्मस्पर्शी चित्रांकन कियागया है।

सूर की तुलना में भी तुलसी के वात्सल्य निरूपण की कतिपय विशेषताएं ध्यान देने योग्य है। इसमें संदेह नहीं कि सूर वात्सल्य के अन्यतम कवि हैं। परन्तु, इस क्षेत्र में भी तुलसी का स्थान काफी ऊंचा रहा है। वत्स के प्रति जननी के वात्सल्य की अतिशयता प्राय: सर्वत्र ही देखी जाती है।

१- रा० २।३३।१-२।१५५।३-४

सूर में भी इसका आधिक्य है। किन्तु पुत्र-वियोग की भावना मात्र से सुरलोकपरदाक विश्वविजेता पिता के द्रुतचित्त की कातरता की पराकाष्ठा का चमत्कारी कारुणिक आलेखन समर्थ कवि तुलसी की लेखनी का ही चमत्कार है। वात्सल्यमयी माँ के हृदय की अभिव्यंजना में भी तुलसी का काव्य-कौशल उत्तम कोटि का है। राम के संयोग तथा वियोग के अनेक अवसरों पर कौशल्या के वात्सल्य का मार्मिक चित्रण असाधारण है।[१] इसमें भी विशेष लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि दशरथ और कौशल्या को को यह भलीभाँति विदित है कि राम परब्रह्म परमेश्वर हैं।[२] फिर भी वे वात्सल्य से अभिभूत और कातर हो उठते हैं।[3] सूर के वात्सल्य की विविधता एक सीमित क्षेत्र में ही है। तुलसी के वात्सल्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। देश-काल की विविध भूमिकाओं में जीवन की जितनी विविध परिस्थितियों एवम् मानव तथा अमानव के जितने विविध संबंधों की निदर्शना तुलसी ने की है वह सूर से कहीं अधिक है। पार्वती, राम, लक्ष्मण, सीता, आदि के प्रति माता-पिता एवम् स्वयं कवि के वात्सल्य का वर्णन तो सुन्दर है ही किन्तु राम और सीता के प्रति सास-ससुर, अन्य गुरुजनों तथा साधारण दर्शकों का वात्सल्य भी विशेष द्रष्टव्य है। मैना, सुनयना, कौशल्या, सुमित्रा आदि की परिस्थितियों में जो वैविध्य है वह यशोदा आदि में नहीं है। सपत्नी-पुत्रों के प्रति सौतेली माताओं के स्नेह का इतना चित्ताकर्षक निरूपण [४] अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण के मथुरा-गमन में लाचारी है, लेकिन राम का गमन अनिवार्य नहीं है। कृष्ण के साथ राधा नहीं गयी थीं, राम

१- गी०- १।८, २।५१-५५ आदि

२- रा० १।२०२।४, २।७७।३

३- गी०२।४, रा०- २।७६।३-४

४- रा०- १।३५६।४-१।३५७।४, गी० १।८,६,११,१६

के साथ सीता भी हैं। वक्रता इस बात में है कि दशरथ चाहें तो कैकेयी को वरदान न देकर अंधकूप में डाल दें, कौशल्या, वसिष्ठ आदि चाहें तो राम को अवध में ही रोक रखें, और यदि राम स्वयं चाहें तो वन न जाएं। फिर भी वे जाते हैं और वेदना का पारावार उमड़ता है। धर्म की मर्यादा वंदनीय है। भगवान् राम का भक्तों के प्रति स्नेह भी वात्सल्य है। इसलिए उन्हें भक्तवत्सल कहा गया है। राम की भक्तवत्सलता का निरूपण तुलसी के अतिशय प्रिय विषयों में से एक है। वात्सल्य के इस रूप की निबंधना भी तुलसी के वात्सल्यनिरूपण की अनुपेक्षणीय विशेषता है। यदि तुलसी के राम ने किसी की माखनचोरी नहीं की, गायें नहीं चरायीं, बालाओं से छेड़छाड़ नहीं की, तो क्या हुआ? उनका विश्वमंगलकारी लोकरंजक धनुर्धर रूप एक गोरसप्रेमी माखनचोर लीलावतार की अपेक्षा कहीं अधिक महनीय है।

जहां केवल पाल्यपालकलक्षण युक्त पुत्रादिविषयक स्नेह की अभिव्यक्ति हुयी है वहां शुद्ध वात्सल्य रस है।[१] जिन स्थलों पर पाल्यपालकभाव एवं भगवद्रति का प्रभाव समान है वहां वात्सल्यरस मिश्रित वत्सलभक्तिरस है।[२] जहां पाल्यपालकभाव के द्वारा मुख्यत: भगवद्रति की ही अभिव्यंजना हुयी है वहां वत्सलभक्तिरस है।[३]

वत्सलभक्तिरस के मुख्य विषयालंबन हैं भगवान्- श्याम, रुचिर सर्वसल्लक्षणयुक्त, मृदु, प्रियभाषी, सरल, विनयी आदि।[४] तुलसी के काव्य में वत्सलरति के विषयालंबन के रूप में जहां भरत, लक्ष्मण, सीता आदि का स्मरणीय चित्रण हुआ है वहां वात्सल्य रस है, वत्सल भक्तिरस नहीं, क्योंकि

१- गी०- १,३४,२।५२,५३, रा०- १।२०८।१-५

२- गी०- १।१८-१६, रा० १।२०३।१- दोहा

३- गी०- २।२, कवि० १।६

४- ह०र०सि०- ३।४।२-४

वहां वे ईश्वररूप नहीं हैं, अतः उनके आश्रयालंबन वत्सल स्नेह मात्र से द्रुतचित्त हैं, भक्तिभावना से नहीं। इस रस के उद्दीपन बालरूप भगवान् का शैशवचापल्य, रूप-वेष, जल्पित, स्मित, लीला आदि हैं। इसके अनुभाव शिरोघ्राण, हाथ से अंगों का स्पर्श, आशीर्वाद, निदेश, लालन, प्रतिपालन, चुंबन, आश्लेष, नामग्रहणपूर्वक आह्वान आदि हैं। इसमें अन्य रसों में अभिव्यक्त आठों प्रकार के सात्विक भावों के अतिरिक्त एक नवां सात्विक भाव भी होता है जिसे स्वतंयभ्राव कहा गया है।[१] परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदास ने जिस प्रसंगों में स्वतन्यभ्राव की निबन्धना की है[२] वहां शुद्धवात्सल्य रस ही, वत्सल भक्तिरस नहीं। इसके संचारी भाव हर्ष, गर्व, निर्वेद, दैन्य, चिंता, स्मृति, शंका, औत्सुक्य, मोह, उन्माद, मरण आदि हैं।[३]

इस रस का स्थायी भाव ईश्वर- विषयक वात्सल्य है। यहां पर 'वात्सल्य' शब्द अपने संकुचित अर्थ (सन्तान के प्रति जनक-जननी का स्नेह) में नहीं व्यवहृत हुआ है। उसका व्यापक अर्थ है-- अनुकंप्य के प्रति अनुकंपा करने वाले की संभ्रम आदि से रहित रति।[४] वत्सलरति को संभ्रम आदि से रहित कहा गया है क्योंकि वात्सल्य के प्रसंग में विषयालंबन के प्रति माहात्म्यज्ञान अथवा आदरभाव नहीं होता है। विषय और आश्रय में पाल्य-पालक, भाव या लाल्य-लालक-भाव होने के कारण आश्रय की चित्तवृत्ति अनुकंपायुक्त स्नेह ही कही जायेगी। डा० सुशील कुमार दे ने वत्सलरति और अनुकंपा दोनों को ही इस रस का स्थायी भाव माना है।[५] उनकी यह मान्यता चिंत्य है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि वत्सल रति में अनुकंपा के भाव का भी

१- ह०र०सि० ३।४।८-६,२०-२३

२- रा० २।१६६।३, ७।६।छं०

३- ह०र०सि० ३।२।३६-३८, ३।४।२३

४- ह०र०सि०- ३।४।२४

५- वैष्णव फेथ ऐन्ड मूवमेन्ट, पृ० १४८

समावेश है और दूसरे यह कि केवल अनुकंपा वात्सल्य रस का स्थायी भाव नहीं हो सकती क्योंकि वह रतिभाव से रहित भी हो सकती है और इस रस के लिए रति-भाव अनिवार्य है ।

तुलसी के भक्तिनिरूपण सम्बन्धी वात्सल्य के आश्रय दो वर्गों में रखे जा सकते हैं--भजनीय और भक्तजन। भक्तों के प्रति भजनीय राम का वात्सल्य अथवा अनुकंपा वत्सल भक्तिरस का स्थायी भाव नहीं है ।[१] उसे हम औचित्यानुसार भक्तिरस- व्यंजक उद्दीपन विभाव ही मानेंगे । वत्सल भक्तिरस में भगवान् वात्सल्य के विषयालंबन ही हो सकते हैं, आश्रय कदापि नहीं । दूसरे वर्ग के आश्रय(वत्सल भक्तजन) भी दो प्रकार के हैं । पहला वर्ग दशरथ, कौशल्या आदि भक्त जनों का है जिनका राम से वस्तुत: पाल्यपालक-सम्बन्ध है । जो इस वास्तविक सम्बन्ध के बिना भी उन्हें लाल्यपाल्य रूप में देखते हैं वे पात्र भी इसी वर्ग के अंतर्गत है । यथा--

> पद कंजनि मंजु बनीं पनहीं, धनुहीं सर पंकज-पानि लिएं ।
> लरिका संग खेलत डोलत हैं सरजू तट चौहट हाट हिएं ।
> तुलसी अस बालक सों नहिं नेहु कहा जप जोग समाधि किएं ।
> नर वे खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फल कौन जिएं । [२]

उपर्युक्त पद में बालक राम आलंबन, उनके वसन, मंडन, चेष्टा आदि उद्दीपन, भक्त का बलि जाना और प्राण न्यौछावर करना अनुभाव , तथा हर्ष और निर्वेद संचारी भाव है ।

दूसरा वर्ग काकभुशुण्डि आदि भक्तों का है जिनका पाल्य-पालक भाव सुव्यक्त नहीं है और जो बालरूप राम को अपना आराध्य मानकर उनकी

१- यथा- रा० ७।८३।४

२- कवि०- १।६

भक्ति करते हैं --

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भगत हेतु लीला बहु करहीं ।।
तब तब अवधपुरी मैं जाऊं । बालचरित बिलोकि हरषाऊं ।।
जनम महोत्सव देखौं जाई । बरष पांच तहं रहौ लोभाई ।।
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा ।।
निज प्रभु बदन निहारि निहारी । लोचन सुफल करौं उरगारी।।
लघु बायस बपु धरि हरि संगा । देखौं बाल चरित बहु रंगा ।।
लरिकाई जहं जहं फिरहिं तहं तहं संग उड़ाऊं ।
जूठन परइ अजिर महं सो उठाइ करि खाउं ।। [1]

प्रस्तुत अवतरण में इष्ट देव बालक राम आलंबन, उनकी बाल-लीला उद्दीपन, बार-बार निहारना, साथ-साथ उड़ना, जूठन खाना आदि अनुभाव, एवं हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

रूप गोस्वामी आदि के द्वारा प्रतिपादित मधुर भक्तिरस, जिसे उन्होंने उज्ज्वलरस [2] भी कहा है, तुलसी को शुद्ध भक्तिरस के रूप में मान्य नहीं है। मधुररस का स्थायी भाव है मधुरा रति। [3] असमान उर्ध्व सौंदर्य और लीलावैदग्ध्य के आश्रय हरि एवं राधा आदि उनकी प्रेयसियां आलंबन हैं। [4] मुरलीध्वनि आदि उद्दीपन, कटाक्ष, स्मित आदि अनुभाव, एवम् आलस्य तथा उग्रता को छोड़कर शेष सभी इक्कीस संचारी भाव हैं। [5] मध्यकालीन हिन्दी का अधिकांश कृष्ण-परक काव्य सामान्य साहित्य-भावक

१- रा०- ७।७५।१- दोहा

२- इस रस का सांगोपांग विशद् प्रतिपादन करने के लिए ही रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

३- ह० र० सि०-३।५।१,६

४- ह० र० सि०- ३।५।३-४

५- ह० र० सि०- ३।५।५-६

की दृष्टि में श्रृंगार-काव्य है। यह दूसरी बात है कि माधुर्यभक्ति के उपासक भक्त लोग उसे भक्तिरस कहते हैं और भक्तिरस पंचक(दास्य, प्रीत, प्रेयान, शांत और मधुर) में सर्वश्रेष्ठमानकर उसे उज्ज्वलरस या रसराज के आसन पर प्रतिष्ठि करते हैं ।

श्रृंगार की मुख्यता या गौणता के आधार पर श्रृंगार-भक्ति-मिश्रित काव्य के हम स्पष्टरूप से क्रमश: दो भेद कर सकते हैं। एक तो भक्ति मिश्रित श्रृंगारकाव्य और दूसरा श्रृंगारमिश्रित भक्तिकाव्य । भक्तिमिश्रित श्रृंगार की प्रधानता रहती है। इसमें निबद्ध स्थायी भाव(रति) के मूल में यौन (कामविषयक) शरीरसंबंध की चाह होती है। इस प्रकार की रचना के लेखक और पाठक को यह विस्मृत होजाता है कि इसका आलम्बन कोई भजनीय है । ऐसी कृति में उपस्थापित विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की व्यंजना से भाव का जो स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है वह कामरति ही है । भक्तिभाव गौण ा होता है और वह भी केवल उस पाठक के मन में उठता है जो भौतिक जीवन से विरक्त है और जिसके मन में नायक के देवत्व की विशेष (अलौकिक) प्रतिष्ठा है । री-तिकालीन कृष्ण-कवियों की अधिकांश रचनाएं श्रृंगार या भक्तिमिश्रित श्रृंगार के इसी वर्ग की है । उनका प्रतिपाद्य श्रृंगार है जिसपर भक्ति का भीना आवरण पड़ा हुआ है । भक्ति कल्पना तो उनके लिए सन्तोष की अन्तिम सांस है --

आगे के सुकबि रीझिहैं तौ कबिताई
न तौ राधिका कन्हाई सुमरन को बहानो है ।[1]

श्रृंगार मिश्रित भक्तिरस में भक्ति की प्रधानता होती है।श्रृंगार का निरुपण भक्तिरस में सहायक बनकर आताहै । आराध्य का श्रृंगार-निरुपण करते समय भी कवि इस बात को कभी नहीं भूलता कि उसके निरुपित श्रृंगार का

१- काव्यनिर्णय- पृष्ठ- ३

विषयालंबन भजनीय है । उस कविता के द्वारा भावक की भावद्वृति ही विकसित होकर उसे रसानुभूति कराती है । सूर, तुलसी आदि की रचनाओं में इस प्रकार की कविताओं के प्रचुर उदाहरण विद्यमान है ।

तुलसी के काव्य में मधुररस की अभिव्यंजना नहीं है । इससेयह सिद्धांत निकलता है कि उनकी दृष्टि में यह अतिशयोक्त रस भक्ति मिश्रित श्रृंगार से अधिक और कुछ नहीं है । शिव और पार्वती तथा राम और सीता के श्रृंगारिक प्रसंगों में उन्होंने आराध्य के प्रति इस प्रकार के माधुर्य भाव का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तिरस्कार किया है ।[१] उनके काव्य को पढ़कर हमें इस रस की अनुभूति नहीं होती । फिर भी उनके काव्य में श्रृंगार है और उसकी अभिव्यक्ति के तीन रूप हैं:-

१- शुद्ध श्रृंगार रस:-

इसके आश्रय तथा आलंबन राम-सीता ,गोपी-कृष्ण आदि हैं।[२] इसकी व्यन्जना तुलसी ने अनेक स्थलों पर की है, किन्तु काव्यधर्म के पालनवश। यह उनका अभीष्ट प्रतिपाद्य नहीं है ।

२- भक्तिसंकीर्ण श्रृंगार:-

जहां भक्ति और श्रृंगार का मिश्रण है किन्तु श्रृंगार अधिक प्रभावशाली है ।[३]

१- रा०-१।१०३।२- जगत मातु पितु संभु भवानी।तेहि सिंगारु न कहौं बखानी।।
रा०-१।२४७।१-सियसोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी ।।
रा०-१।२४८।१- सोह नवल तनु सुंदर सारी।जगतजननि अतुलित छबि भारी।।
२- (क)संयोग- रा०-१।२३०।१-४कवि ०१।१७, ब०रा०- १८
(ख)वियोग- रा०-३।३०।४-७, कवि० ७।१३३

३- कवि० २।२३, कृ० ३३

३- शृंगारसंकीर्ण भक्ति:-

जिन सन्दर्भों में शृंगार और भक्ति का मिश्रण है परन्तु भक्ति रस प्रधान है ।[१]

हिन्दी काव्य में शृंगार-मिश्रित भक्तिरस अनेक शैलियों में व्यक्त हुआ है । कहीं आत्मा की नायिका(पत्नी) के रूप में और परमात्मा का नायक(पति) के रूप में कल्पना की गया है ।[२] कहीं काव्य की नायिका पर आत्मा का और नायक पर परमात्मा का आरोप कियागया है ।[३] कहीं काव्य की नायिका पर परमात्मा का और नायक पर आत्मा का आरोप हुआ है ।[४] कहीं दृष्टा भक्त के द्वारा भगवान की प्रेमलीला का तन्मुखभाव से वर्णन है ।[५] कहीं भगवान और उनकी प्रिया के शृंगार का मर्यादावादी दृष्टिकोण से निरूपण किया गया है ।[६] अन्तिम शैली ही अपने परिष्कृत रूप में तुलसी को ग्राह्य है । उनकी कविता में इसी पद्धति पर मर्यादित शृंगार की अभि-व्यंजना हुई ।[७]

१- गी०- ७।७१(वसंत-विहार), कृ०५१

२- कबीर ग्रंथावली, पृ० ८७,पद-१-२

३- पदमावत, ८।६।५-६

४- दे०-`पदमावत` का प्राक्कथन(डा०वासुदेवशरण अग्रवाल), पृ० ५१
`जायसी-ग्रंथावली` की भूमिका(रामचन्द्र शुक्ल), पृ० ५८

५- दे०- विद्यापति की पदावली, विदग्धविलास, रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, पृष्ठ- ३०५-६

६- सूरसागर- ६।२३।२५

७- गी०- १।७२, ७।२१-२२

कतिपय शोधकर्ताओं ने तुलसीदास में भी मधुररस की साधनधारा का अस्तित्व स्वीकार किया है। रामकाव्य के विशेषज्ञ अध्येता डा० भगवती प्रसाद सिंह की मान्यता है कि तुलसी साहित्य में भी रसिकसाधन की फलक दृष्टिगोचर होती है। उनका मत है कि तुलसी का सखीरूप गीतावली में पूर्ण रूप से प्रकाश में आया है। उनके इस निष्कर्ष के दो आधार हैं — १- गीतावली के कुछ पद और २- व्रजनिधि की साक्षी। गीतावली के आधार पर तुलसी के विषय में डा० सिंह का कथन है — "उनके कुछ वर्णनों से ऐसा लक्षित होता है कि वे भी अंततः इसप्रकार की साधना के अपने जीवन में कभी न कभी भक्त थे। गीतावली का एक पद है --

> जैसे ललित लखन लाल लोने ,
> तैसिये ललित उरमिला परसपर लखत सुलोचन कोने।
> सुखमासागर सिंगारसार करि कनक रचे हैं तिहि सोने।
> रूपप्रेम- परमिति न परत कहि बिथकि रही मति मोने।
> सोभासील सनेह सोहावने समउ केलि गृह गौने।
> देखि तियन के नयन सफल भए, तुलसीदास हू के होने।[१]

केलिगृह की फांकी से तियनि का नयन सफल करना तथा तुलसी का उस दृश्य के प्रति औत्सुक्य प्रकट करना उनकी मधुरसाधना की ओर संकेत करता जान पड़ता है।"[२] उनके इस मत से सहमत होने में कठिनाई है। उपरिवर्णित केलिगृह में जिस केलि का उल्लेख कियागया है वह केलि उर्मिला और लक्ष्मण की है, सीता-राम की नहीं। तुलसीदास के आराध्य सीता-राम हैं।

१- गी० (तुलसी- ग्रंथावली), १।१०५

२- उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य(अप्रकाशित), पृ० ६५-६६, रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०५-६

मर्यादावादी तुलसीदास ने उर्मिला और लक्ष्मण की केलि का भी यहां कोई वर्णन नहीं किया, क्योंकि, आराध्य राम के भक्त को भी मधुररस से संबद्ध करना उन्हें अनुचित जंचा। इसी पद के ऊपर के पदों में राम-जानकी की 'जोरी' का रूप-चित्रण भी अनुपेक्षणीय है। यदि तुलसी में रसिकसंप्रदायी कवियों का सा माधुर्यभाव होता तो राम-सीता के केलिगृहगमन और वहां पर उनकी कामक्रीड़ा का वर्णन वे अवश्य करते।

'गीतावली' के कुछ पदों के आधार पर डा० सिंह ने तुलसी में तत्सुखी भाव भी बतलाया है।' गीतावली मे वनयात्रा के प्रसंग में ठीक उसी अवसर पर जहां 'मानस' में एक 'तापस' आता है वहीं से आकर सहसा उपस्थित एक स्त्री की प्रेम-विह्वलता का वर्णन किया है —

सखिहि सुसिख दई, प्रेम मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही।
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी सी काढ़ी,
न जाने कहां ते आई कौन की को ही।[१]

स्वामिनी सीता की कृपादृष्टि से देखने और हृदय से लगाने का भी उल्लेख है—

'स सनेह सिथिल सुनि बचन सकल सि
चितई अधिक हित सहित ओही।
तुलसीमनहुं प्रभु कृपा की मूरति फिरि
हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही।।[२]

१- तुलसी- ग्रंथावली, दूसरा खण्ड, पृ० ३३३

२- तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खण्ड, पृ० ३३४

इस प्रसंग से सहसा स्त्रीरूप में आराध्य-युगल के समक्ष आने वाला, सीता जी के द्वारा आलिंगित इस स्त्री को यदि तापस की भांति ही तुलसी से अभिन्न मान लिया जाये तो कहा जा सकता है कि मानस में उनका आराध्य के प्रति आत्मनिवेदन दास्यभाव का था और गीतावली में उनकी आत्मविभोरता एवम् आत्मसमर्पण श्रृंगार भावना से प्रेरित। प्रथम में इस अवसर पर वे इष्टदेव के चरणों पर गिरे थे किन्तु अपने इस दूसरे रुप में वे स्वामिनी के हृदय से लगे। रसिकसिद्धान्त के अनुसार सखियों का सीधा संबंध आराध्यदेव (राम) से नहीं होता, वे सीता की अंशोद्भावा हैं अतएव स्वयं को उन्हें (सीता को) समर्पित करके ही तत्सुखभोग की अधिकारिणी होती है। अतः स्त्री का सीता द्वारा आलिंगन संभवतः इसी तथ्य का स्मरण कराता है।"[1]

इस संभावना के विषय में भी अनेक सन्देह उठते हैं। डा० सिंह को स्वयं भी संदेह है। 'हिये लियो है पोहि' का 'आलिंगन' अर्थ करना भी विवाद मुक्त नहीं है। 'रामचरितमानस' के तापस और 'गीतावली' की नारी के रुप में तुलसी स्वयं आये हैं- इसका कोई प्रमाण नहीं है। अपने लिए 'तेजपुंज' आदि[2] का व्यवहार करना रामचरितमानसकार तुलसी की प्रकृति के

१- उन्नीसवीं शती का रामभक्तिसाहित्य-(अप्रकाशित), पृ० ९६-९७
और भी दे०-रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०६-७

२- रा- २।११०।४ - तेहि अवसरु एकु तापसु आवा ।
तेजपुंज लघु बयसु सुहावा ।
कबि अलखित गति बेषु बिरागी ।
मन क्रम बचन राम अनुरागी ।।

प्रकृति के विरुद्ध है। `गीतावली` की उस अज्ञात स्त्री को यदि तुलसी का प्रतिरूप सापधि स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी एक नारी द्वारा दूसरी नारी (अपनी स्वामिनी) का आलिंगन रसिक-साधना की सिद्धि में कैसे सहायक प्रमाणित होगा ? प्रस्तुत गीत के अतिरिक्त `गीतावली` के ही अन्य गीतों एवम् `रामचरितमानस`, `कवितावली` आदि में राम-सीता के अलौकिक रूप से इसी प्रकार अभिभूत नर-नारियों की संख्या बहुत बड़ी है। परन्तु उन्हें `स्वसुखी` या `तत्सुखी` भाव से आविष्ट है मानने में संकोच होता है।

`ब्रजनिधि` की साक्षी[1] पर आश्रित निष्कर्ष की मान्यता भी विचारणीय है। उनका अनुमान कि तुलसी की रसिक-भावना के कारण ब्रजनिधि ने उन्हें `सखी` कहा है। किन्तु ईश्वर डा० सिंह ने बतलाया है कि ब्रजनिधि

१- `तुलसी-साहित्य में इस प्रकार के माधुर्यभक्ति के सूत्र पाकर ही `ब्रजनिधि` ने उन्हें `तुलसी सखी` के रूप में देखा हो तो कोई आश्चर्य नहीं --

सकल सखियन में सिरोमनि दास तुलसी तुम रहौ ।
करौ सेवन रुचिर रुचि सों सुजस की बाना कहौ ।
तुलसी सुवृन्दा सखी को निज नाम ते वृन्दा सखी ।
`दास तुलसी` नाम को यह रहसि मैं मन में लखी ।।

---ब्रजनिधि-ग्रंथावली, पृ० २७५-७६

दे०-उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य(अप्रकाशित), पृ० ६६-६७
और भी दे०- रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०६-१०,
(अनन्यमाधव के नाम से उद्धृत उपर्युक्त पद)

ही नहीं रामचरणदास, रामरसरंगमणि, बनादास आदि ने भी तुलसी के प्रति अपने परम आदरभाव का ज्ञापन किया है। वस्तुतः सम्पूर्ण रसिक-संप्रदाय में तुलसी और उनके 'रामचरितमानस' को अपार संमान प्रदान किया गया है। तुलसीदास की मान्यता रसिकरामभक्ति की एक प्रमुख विशेषता है। रामचरणदास (जन्म सं० १७६०) ने तो 'रामचरितमानस' की रसिकसंप्रदायपरक टीका भी लिखी है।[१] रसिकसंप्रदायी भक्तों द्वारा तुलसी को दी गयी मान्यता का रहस्य क्या है? यह मानव स्वभाव है कि अपने मत के समर्थन के लिए वह आप्त महापुरुषों की साक्षी का उपयोग करता है। अतएव इन रसिकसंप्रदायी रामकवियों ने भी इस भावना से प्रेरित होकर समाज में सर्वाधिक प्रतिष्ठित रामकवि तुलसी को अपने मत का पोषक बतलाने की चेष्टा की।

तुलसी के 'रामचरितमानस' ने समाज में मर्यादापुरुषोत्तम राम का जो आदर्शरूप प्रतिष्ठित कर दिया था उसके विरुद्ध राम का घोर शृंगारिक रसिक साधनापरक रूप उपस्थित करने में चरित्रहीन कहे जाने का भय था। जनता ने उनका आदर नहीं किया और न किसी प्रकार की रुचि दिखायी। प्रतिकूल लोकमत के कारण ही रसिकसाधनापरक रामकाव्य की हस्तलिखित प्रतियां समाज से उपेक्षित होकर पुस्तकालयों में या कुछ व्यक्तियों के पास ही पड़ी रहीं। दूसरी ओर, 'रामचरितमानस' की प्रतियां घर-घर में मिल जायेंगी। पढ़े-लिखे और अपढ़ भी 'राम-चरितमानस' में अवगाहन करके आनन्द प्राप्त करते हैं। ऐसे लोकप्रिय 'रामचरितमानस' और उसके राम की मर्यादा के विरुद्ध कविता लिखना आत्मघात करना था। अतएव आत्मरक्षा का एक उपाय समझकर ही इन कवियों ने तुलसी को सखी और 'रामचरितमानस' को रसिकसाधनापरक बतलाया था। इसीलिए इन सखी-भाव के भक्तकवियों ने तुलसी के राम को

१- दे०- रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १५६-६१

परम्परा-प्रसिद्ध मर्यादा का सम्यक् ध्यान रखा है और घोर विलास के चित्र अंकित करते समय भी उनके एकपत्नीव्रत की रक्षा की है।

सखी-संप्रदाय के कवियों की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि वे अपने लिए `सखी`, `अली` आदि शब्दों या उपनामों का प्रायः व्यवहार करते हैं। यदि तुलसी सखी-भाव के भक्त होते हैं तो वे भी अपने लिए `सखी`, `अली` आदि का प्रयोग करते। सखी-भाव का अव्यक्त रूप भी तुलसी-दास में नहीं माना जा सकता। उनका मर्यादावादी दास-भाव उनके संपूर्ण साहित्य में इतना अभिभावशाली है कि सखी-भाव के लिए लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। रामचरितमानस की बात तो दूर रही `बरवैरामायण` में भी जहां राम-सीता के लीला-विलास का अवसर आया है वहां से तुलसी ने सखियों को हटा दिया है।[1] यह सखी-भाव का प्रत्यक्ष विरोध है। `रमारमन` या `श्रीरमन`[2] जैसे शब्दों के आधार पर भी उनके काव्य में मधुररस की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि उनमें `रमन` का व्यवहार (रति के अर्थ में) साभिप्राय नहीं है।

तुलसीदास और रसिक-संप्रदाय की बहुत सी मान्यताएं समान हैं। दोनों में वैधी भक्ति का गौरव है। दोनों ने उपास्य से व्यक्तिगत संबंध की घनिष्ठता पर बल दिया है। दोनों को राम-चरित की मर्यादा का ध्यान है। दोनों हनुमान् की महिमा और सहायता स्वीकार करते हैं। दोनों की दृष्टि में चित्रकूट, अयोध्या आदि का विशेष महत्व है। परन्तु ये सभी ऊपरी बातें हैं। `रसिक` या `सखी` के व्यावर्तक धर्म तुलसी में बिल्कुल नहीं है -- न तो वे स्वसुखीभाव से अपने को सीता मानकर राम के साथ रमणभाव की व्यंजना करते हैं और न तो तत्सुखीभाव से ही अपने को सीता की सखी मानकर रामसीता के

१- ब०रा०-१८

२- रा०- ७।१४।छं० १,१०

विलास को देखते हुये आनंदलाभ करते हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में यथासंभव ऐसे अवसर ही नहीं आने दिए। और यदि ऐसे अवसर आये भी तो उन्हें टालदिया। 'रसिक-साधना में निरूपित वेश। भक्ति के आडंबर तुलसी में नहीं हैं।श्रृंगारपरक अष्टयाम- वर्णन का भी अभाव है। सखीभाव के भक्तों ने न हनुमान को सीता-भगिनी और रामसखा के रूप में अंकित किया है। तुलसी ने निज को ही नहीं हनुमान् को भी दास की श्रेणी में ही रखा है। उन्होंने सीता-राम को ही नहीं उमा- महेश्वरी को भी आराध्य जगज्जननी और जगत्-पिता के रूप में देखा हैं।[१]

आचार्य चंद्रबली पांडे ने प्रमुदासीदास कहाइ[२] का जो एक अर्थ यह निकाला है कि कि तुलसीदास रसिकभावनानुसार अपने को राम की दासी कहना चाहते हैं[३] वह प्रसंग और पात्र के औचित्य की दृष्टि से कथमपि तर्क-संगत नहीं है। हम डा० भगवतीप्रसाद सिंह के इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि 'गोस्वामी तुलसीदास रसिक साधना की तत्कालीन स्थिति और सिद्धांतों से भली भांति परिचित ह थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक कारणों से उन्होंने इसे समयोपयोगी न समझा और लोकमंगल के विचार से मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के ऐश्वर्य भाव को ही अपने मानस का विषय बनाया।'[४] इस भाव की उपासना में तुलसी का अपना कोई विश्वास नहीं था, फिर भी 'गीतावली' के उत्तरकाण्ड में उन्होंने माधुर्य भाव से संबंधित पद लिखे हैं। इन

१- क्रमश:- कवि०१।१५, रा०- १।१०३।२

२- वि० ४१।२

३-'तुलसी की गुह्य साधना'(चन्द्रबली पांडे)-नया समाज(सितम्बर१९५३)पृ०१९०-९१
देखि०-- राममक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०५

४- उन्नीसवीं शती का राममक्ति-साहित्य (अप्रकाशित), पृ० ९८

पदों में रूप और यौवन के कुछ उन्माद के चित्र भी पाये जाते हैं। 'गीतावली' के अनेक पदों [१] में राम के रूप-यौवन का शृंगारिक चित्रांकन है। किन्तु वह उज्ज्वलनीलमणिकार के उज्ज्वलरस का व्यंजक नहीं है, क्योंकि, मधुरभक्तिरस में तुलसी की आस्था ही नहीं थी। उक्त पदों में भी तुलसीदास का मर्यादावाद बलवत्तर है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि कवि ने राम का नखशिख वर्णन तो किया है किन्तु सीता या अन्य सुंदरियों का नहीं। यदि तुलसी में माधुर्यभाव होता तो कृष्ण-कवियों की भांति वे (तुलसी) रमणियों के वासनोद्दीपक अंगों और विलासचेष्टाओं के मादक चित्र भी अवश्य उपस्थित करते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि तुलसी अपने को सीता या उनकी सखी का तदात्म प्रतिरूप मानकर राम के ही सौन्दर्य वर्णन में तृप्ति-सुख का अनुभव करते हैं, अतएव उन्हीं के सरस रूपांकन पर उनका ध्यान केन्द्रित है। इसका कारण यह है कि वे सीता को अंबा और स्वामिनी तथा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम को पिता और स्वामी समझते हैं।

निष्कर्ष यह कि तुलसी के साहित्य में भक्त और राम के विविध संबंधों की चर्चा है, सीता-राम का मर्यादित शृंगार-चित्रण है, उन दोनों के रूप को देखकर द्रुतचित्त नर-नारियों के रतिभाव की तलस्पर्शी अभिव्यंजना है, किन्तु वह मधुररस नहीं है।

मिश्रित भक्तिरसः-

भक्तीतर दस काव्यरसों के मिश्रण के आधार पर तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त मिश्रित भक्तिरस दस हैं। पूर्वोक्त शांतमिश्रित भक्तिरस, वात्सल्यमिश्रित भक्तिरस और शृंगारमिश्रित भक्तिरस के अतिरिक्त वीरमिश्रित

१- गी०- ७।१८, १६, २०,२१ आदि

भक्तिरस[1], करुणामिश्रित भक्तिरस[2], अद्भुतमिश्रित भक्तिरस[3], हास्य-मिश्रित भक्तिरस,[4] रौद्र मिश्रित भक्तिरस,[5] भयानकमिश्रित भक्तिरस[6] तथा बीभत्समिश्रित भक्तिरस[7] की भी अभिव्यंजना हुयी है। यह पहले कहा जा चुका है कि मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस के साथ रौद्र, बीभत्स, धर्मवीर, दयावीर और शांत का मिश्रण असंभव समझते हैं, क्योंकि भगवान् इन रसों के आलंबन नहीं हो सकते। इसमें संदेह नहीं कि भक्तिमान् व्यक्ति भगवान् के प्रति क्रोध, जुगुप्सा आदि नहीं कर सकता। परन्तु, केवल इसी तथ्य को मिश्रित रस के अभिधान का एकमात्र प्रवृत्ति-निमित्त मानना आवश्यक नहीं है। आलंबन चाहे जो हो, यदि किसी रचना के भावन से भावक को बीभत्स आदि किसी भी रस के आस्वाद के साथ-साथ भक्तिरस की अनुभूति होती है तो वहां मिश्रित भक्ति रस मानना युक्तिसंगत है। इसी व्यापक दृष्टि से ही तुलसी के काव्य में व्यक्त इन मिश्रित भक्तिरसों की चर्चा की गयी है।

१- गी० ६।८

२- गी० ३।१३-१६, कवि० ६।५२

३- रा० १।११८।२-१।११६।१

४- कवि० २।२८

५- रा० ५।५७-५।५६।४

६- रा० ५।२५।४-५।२६।४

७- वि० १३६।३-४

पंचम - अध्याय

भक्ति का सामाजिक पक्ष

(क)- भक्ति और लोकमंगल की भावना

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(ख)- शक्ति, शील, सौन्दर्य का समन्वय

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

(ग)- अन्य समन्वय

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

पंचम अध्याय

भक्ति का सामाजिकपक्ष

(क)- भक्ति में लोक मंगल की भावना:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

हमारी जितनी भी प्राचीन अध्यात्म साधनाएँ हैं उन सबकी प्रवृत्ति व्यक्ति परक आत्मोन्मुखी है। साधक अपने कल्याण की चिन्ता करता है, आस पास के समाज का कल्याण, उसका हित उसकी साधना की सीमा में नहीं आता, उसके चिन्तन का भी वह विषय नहीं बनता। यह अपवाद सब अध्यात्म साधनाओं के विषय में लगाया जाता है चाहे वह ज्ञान साधना हो, चाहे कर्म साधना हो, चाहे तप हो या भक्ति हो। अत: भक्ति के विषय में विचार करते हैं कि क्या इसके उद्भावक आचार्यों स्वम् भक्त मनीषियों ने भक्ति की अवधारणा में लोक मंगल की भावना भी समाहित की है या नहीं।

लोकहित से तात्पर्य जन सामान्य के हित, उसके कल्याण से है। साधक भक्त अपने अतिरिक्त अन्य जनसाधारण की उपेक्षा करता है या उसके कल्याण की भी कामना करता है? इस दृष्टि से पहले भागवत में प्रतिपादित भक्ति की अवधारणा पर विचार करते हैं।

भागवत मूलत: विष्णु के विविध अवतारों के वर्णन का महा-पुराण है। अवतार के विषय में गीता की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि --

' साधुओं के परित्राण के लिए , दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए मैं (भगवान्) अवतार लेता हूं ।'

परित्राणायसाधूनां विनाशायच दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

इस स्थापना का सभी अवतार भक्तों पर प्रभाव है । भागवतकार और तुलसी इस सन्दर्भ में समान हैं । यह लोक हित की ही भावना है । श्रीकृष्णावतार की भूमिका में भागवत में शुकदेव जी परीक्षित को बताते हैं कि एक समय ऐसा आया कि यह पृथ्वी अभिमानी राजाओं के रूप में दैत्य और राक्षसों के भार से आक्रान्त हो गयी । वह ब्रह्मा जी की शरण में गौ का रूप धारण कर पहुंची । उसने रो कर , खिन्न होकर अपना कष्ट सुनाया । ब्रम्हा यह सब समझ कर देवताओं के साथ भगवान् विष्णु के पास गये और उनकी स्तुति की । वहांआकाशवाणी हुई कि इस लोक- पीड़ा को दूर करने के लिए ही भगवान् ने श्रीकृष्ण के रूप में अवतार ले लिया है ।[१]

कुन्ती ने श्रीकृष्ण की स्तुति में कहा है कि वह दीनों के रक्षक और अकिंचनों के वित्त हैं । वह तो यह भी चाहती है कि उनपर विपत्तियां आती रहें तो अच्छा । इस निमित्त से श्रीकृष्ण के दर्शन तो हो जाते हैं ।[२] पृथ्वी जब दैत्य- दानवों के भार से डगमगाने लगती है तो उसका भार उतारने के लिए भगवान् अवतार लेते हैं ।[३] भगवान् कालरूप में अभिमानी,कुकर्मरत

१- श्रीमद्भागवत- १०।१।१७-२१

२- ,, - १।८।२५-२७

३- ,, - १।८।३४

दुष्टात्माओं की इच्छा को नष्ट करता रहता है। वह प्राणिमात्र का एक मात्र मित्र है।[1] राजा वेन के कदाचारों से पीड़ित प्रजा की रक्षा के लिए भगवान विष्णु ने पृथु के रूप में अवतार लिया ऋषियों ने पृथु के जन्म पर बताया कि यह लोकरक्षा के लिए अवतारित साक्षात् विष्णु का अंश हैं।

एष साक्षाद् हरेरंशो जातो लोक रिरक्षाया[2]

बन्दी जनों ने पृथु की प्रशंसा में कहा है कि वह पीड़ित प्राणियों के रक्षक हैं। इन्द्र की भांति जब जब प्रजा कष्ट में पड़ती है तब वह उसकी रक्षा करते हैं। अपने दूतों के माध्यम से लोगों की बाह्य और आन्तरिक चेष्टाओं को देखते रहते हैं। निरपराधी को कभी दण्ड नहीं देते भले ही वह शत्रु हो और अपराधी को छोड़ते नहीं, भले ही वह अपना पुत्र हो। प्राणिमात्र के शरणदाता, प्रजा के पिता समान स्नेही एवम् ब्रह्मवादियों के सेवक हैं।[3]

भगवान् कृष्ण का कंस, पूतना, अरिष्ट कालिय नाग आदि का वध दुष्टों के विनाश का और लोक मंगल का प्रतीक है। कालिय नाग के दमन के अनन्तर नाग पत्नियों ने स्तुति में कहा है कि -- श्रीकृष्ण का अवतार खल निग्रह के लिए है। वह दुष्टों को दण्ड उनके पाप को शान्त करने के लिए देते हैं।[4]

१- श्रीमद्भागवत- ३।६।२२ - सो यं समस्त जगता सुहृदेक आत्मा।

२- ,, - ४।१५।६-२

३- ,, - १६।१२-१७

४- ,, - १०।१६।३३-३४

कंस अपने साथी प्रलम्ब , बक ,चाणूर , तृणावर्त अघासुर, मुष्टिक आदि एवम् मगध नरेश राजा जरासन्ध, बाणासुर, भौमासुर आदि के साथ मिलकर उनकी सहायता से यदुवंशियों को नष्ट करने लगा था । वे लोग डर कर कुरु , पांचाल , कैकय विदर्भ , निषध आदि देशों में जा बसे थे । कंस को मारकर श्रीकृष्ण ने इन सभी की रक्षा की । लोक जीवन शान्तिमय बनाया ।

इस प्रकार भागवतकार ने भगवान् के विविध अवतारों का मूलकारण दुष्टों का विनाश एवम् सज्जनों का परित्राण दिखाया है । यही लोक मंगल है ।

इसके अतिरिक्त भक्ति के गुणों में अनेक बार यह प्रतिपादित किया है कि परमेश्वर सर्व व्यापक है । वह ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त प्रत्येक वस्तु में अवस्थित है । भगवान् के भक्त को प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक प्राणी को, भगवदाश्रय होने के कारण आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखना चाहिये ।

'आत्मस्वरुप भगवान् समस्त प्राणियों में नियन्तारूप से स्थित है । जो भक्त कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ता को ही देखता है और साथ ही प्राणियों को विराट भगवान् में अवस्थित देखता है वह उत्तम भक्त है । जो भगवान् से प्रेम , उसके भक्तों से मित्रता एवम् दुखी अज्ञानियों पर कृपा करता है । इसी प्रकार भगवान् से द्वेष करने वालों से द्वेष नहीं बल्कि उपेक्षा करता है वह मध्यम कोटि का भक्त है ।[1]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२।४५-४६

जो भक्त अर्चना पूजा में ही लगा रहता है और भक्तों एवं अन्य प्राणियों की सेवा सुश्रूषा नहीं करता है वह अधम भक्त है।[1]

लोकमंगल की भावना लोक के साथ आत्मीय की अनुभूति से आती है। स्वभाव से व्यक्ति अपने प्रति और अपनों के प्रति शुभ चिन्तक ही रहता है। आत्मीयता की अनुभूति में बाधक व्यक्ति का अहंभाव होता है। भागवतकार ने भक्त के गुणों में अहंभाव के अभाव को भी गिनाया है। वह समाज के सन्दर्भ में हा है। जिसे अपने जन्म, कर्म , वर्ण , आश्रम और जाति का कोई अहंकार नहीं होता वह उत्तम भागवत है। धन को लेकर अथवा स्वयम् अपने को लेकर जिसके मन में अपने पराये का भाव नहीं उठता वह उत्तम भागवत है।[2]

सत्व , रजस , तमस् जो प्राकृतिक तीन गुण हैं उनके आधार पर भी भक्तों के उत्तम, मध्यम, अधम या सात्विक, राजस, तामस , भेद किये गये हैं। तामसभक्त की विशेषताओं का वर्णन करते हुये बताया गया है कि जो व्यक्ति औरों के प्रति भेदभाव, हिंसा, दंभ , एवं मात्सर्य का भाव रखता है , साथ ही भगवान् का भक्त भी बनता है वह तामस अर्थात् निकृष्ट भक्त है।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२।४७ ,

२- श्रीमद्भागवत- २।५१-५२

३- श्रीमद्भागवत- ११।१६-८

भक्ति का सामाजिकपक्ष:-

(क) - भक्ति और लोक मंगल की भावना -

तुलसी साहित्य में-

कविवर तुलसी की भक्ति सामाजिक धरातल पर अवस्थित है। वह व्यक्तिगत साधना एवम् व्यक्ति मात्र के कल्याण के लिए ही नहीं है प्रत्युत लोक-साधना एवम्-कल्याण के लिए भी हैं।[१] लोक-कल्याण के लिए आत्म बलिदान करने वाले को वे स्तुत्य मानते हैं।[२] उनकी भक्ति संसार को छोड़कर नहीं चलती। आवश्यकता उपस्थित होने पर वे बिना हिचकिचाहट के वेद विदित परम धर्म अहिंसा[३] को छोड़ने का परामर्श देते हैं।[४]

१- रा०मा०- ७।४१।१(पू०) - परहित सरिस धरमु नहिं भाई।
   विनयपत्रिका-पद-१७२, पं०४

२- रा०मा०- १।८४।२- परहित लागि तजइ जो देही।
   सन्तत संत प्रसंसहिं तेही ।।

३- रा०मा०- ७।१२१।२२(पू०)- परम धरम श्रुति विदित अहिंसा ।।

४- रा०मा०-४।६।७-८- (क)- अनुज बधू भगिनी सुतनारी।
   सुनु सठ कन्या सम ए चारी।
   इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई।
   ताहि बधें कछु पाप न होई ।।

   रा०मा०-१।६४।३-४(पू०)-(ख)- संत संभु श्रीपति अपवादा।
   सुनिअ जहां तहं असि मरजादा ।।
   काटिय तासु जीभ जो बसाई।.....

उसमें साधुमत एवम् लोकमत दोनों का समन्वय है ।[1] जिस भक्ति से संसार की रक्षा होती है, जिसे समाज चाहता है, वही वास्तविक भक्ति है । तुलसी की भक्ति को अकर्मण्य, परावलम्बी एवं निस्तेज बना देने वाली नहीं है । वह तो उसे सतत् कर्मयोगी एवम् तन-मन-वचन से लोकमंगल-साधना के निमित्त निरन्तर सचेट एवम् जागरूक रहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती है। यही कारण है कि वह व्यष्टिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ हो उठी है । उसके अन्तस्तल से लोक-मंगल की कामना कभी भी तिरोहित नहीं हो सकती है। उसमें समस्त सांसारिक मर्यादाओं का आदर्श अक्षुण्य है । चित्रकूट में वशिष्ठ एवम् निषादराज का मिलन प्रकरण इसका सुन्दरतम उदाहरण है । प्रेम से पुलकित होकर अपना नाम बतलाकर निषादराज अपनी जातिगत हीनता के कारण, लोकमत की मर्यादा का निर्वाह करते हुए वशिष्ठ जैसे महर्षि को दूर ही से दण्डवत् प्रणाम करता है । पर महर्षि वशिष्ठ राम सखा को 'बरबस' हृदय से लगाकर अपनी महानता का परिचय देते हुये साधुमत का सफल निर्वाह करते हैं । पृथ्वी पर फककर प्रणाम करता हुआ निषादराज ऋषीश्वर वशिष्ठ को ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रेम पृथ्वी पर गिरकर बिखर गया हो, जिस बिखरे हुए प्रेम को उन्होंने समेट कर अपने हृदय से लगा लिया ।[2]

१- रा०मा०- २।२५८

२- रा०मा०-२।२४३।५-६- प्रेम पुलकि केवट कहि नामू ।
कीह्न दूरि तें दण्ड प्रनामू ।।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा ।
जनु महि लुठत सनेह समेटा ।।

भरत-निषाद राज के मिलन का वर्णन करते हुए भी तुलसी ने इसी स्थिति का स्पष्टीकरण किया है।[१] इसी तरह काकभुशुण्डि के प्रसंग में भी गुरु को शिव मन्दिर में अभिमान के कारण प्रणाम नहीं करके अपमानित करने वाले काक को भगवान् शिव के द्वारा अभिशाप दिया जाना लोकमत की मर्यादा की रक्षा का प्रतीक है और अभिवादन नहीं किये जाने पर भी काक के गुरु के हृदय को लेश मात्र भी क्रोध का नहीं होना तथा शिव द्वारा शाप दिये जाने पर उनसे उसके परम कल्याण की प्रार्थना करना, उनके साधुमत की मर्यादा के फल निर्वाह का परिचायक है। तुलसी भक्ति के आवेश में कभी भी समाज का त्याग नहीं करते। भरत जब राम को मनाने के लिए चित्रकूट जा रहे हैं तब वे नगर घोड़े-हाथी, महल-खजाना आदि सारी सम्पत्ति की रक्षा की व्यवस्था करके ही आगे बढ़ते हैं। उनके विचार में सारी सम्पत्ति भगवान् राम की है। और उसे ऐसे ही छोड़कर चलने में भलाई नहीं है क्योंकि स्वामी का द्रोह सब पापों में शिरोमणि है।[२] इसी तरह राजा जनक भी घर, नगर और देश में

१- रा०मा०-२।१९४।३-४- लोक वेद सब भाँतिहिं नीचा।
जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता।
मिलत पुलक परिपूरित गाता।।

२- रा०मा०-(भरत)-२।१८६।२-४- भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू।
नगरु बाजि गज भवन भण्डारू।।
सम्पति सब रघुपति कै आही।
जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही।।
तौ परिनाम न मोरि भलाई।
पाप सिरोमनि साइँ दोहाई।।

रक्षकों को रखकर ही चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते हैं।[1] भक्त शिरोमणि भरत और जनक के जीवन में राम के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और सामाजिक कर्तव्य दोनों का समानान्तर निर्वाह प्रदर्शित करके तुलसी ने इंगित किया है कि कर्तव्य रहित राम भक्ति के वे समर्थक नहीं हैं। तुलसी की भक्ति में सर्वत्र लोक संग्रह का अत्यन्त व्यापक भाव विद्यमान है। लोक मर्यादा की रक्षा के लिए ही, राम के अनन्य भक्त तुलसी अपनी कृतियों में पहले विद्या की अधिष्ठातृ देवी वाणी तथा विद्या के अधिष्ठाता देवता विनायक की वन्दना करके ही अपने आराध्य का गुन -गाण प्रारम्भ करते हैं।[2]

तुलसी ने अपनी भक्ति का ज्ञान, योग , कर्म आदि के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया , प्रत्युत तत्कालीन साम्प्रदायिक झगड़ों को समूल नष्ट करने के लिए भारत के सम्मान्य इष्टदेवों में भी इस कुशलता के साथ सामंजस्य स्थापित किया है कि किसी भी सम्प्रदाय के इष्ट देव के प्रति विद्वेषात्मक भाव उठने ही नहीं पाता। एकदेववाद के अनुराग में पड़कर उन्होंने किसी अन्य देवी-देवता की उपेक्षा नहीं की। उनके समय में आचार्य - भावनाओं के अनुकूल जितने मत , सम्प्रदाय और उपासना के अन्य प्रचलित केन्द्र थे , उन सबसे उन्होंने अपने आराध्य या आराध्या को सम्बद्ध बताया है। पर --आर्य -भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करने वाले कौल एवं वाम पथ पर उन्होंने कठोर प्रहार किया है।[3] साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण

१- रा०मा०- २।२७२।४-५ - घर पुर देश राखि रखवारे।
हय गय रथ बहुजान, संवारे ।।
दुवरी साधि चले ततकाला।
किये बिश्रामु न मग महिपाला ।।

२- रा०मा०-१-श्लोक-१, विनयपत्रिका, पद १

३- रा०मा०- ६।३१।२-४, २।१६८।७-८

छिन्न-भिन्न होने वाले भारतीय समाज की सांस्कृतिक एकता की रक्षा के लिए तुलसी का यह प्रशंसनीय प्रयत्न उनकी सभी प्रमुख कृतियों में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। पर रामचरितमानस और विनयपत्रिका में इसका विराट् आयोजन दृष्टिगोचर होता है। मानस में कदाचित् ही कोई देवता स्थान पाने से बच पाये हों। भगवान् राम और शिव तो इस कथा की आधारशिला एवम् मेरुदण्ड ही हैं पर मानस के अनेकानेक प्रसंगों और स्थलों पर पार्वती, गणेश, सरस्वती, गंगा, सूर्य आदि अन्यान्य देवी-देवताओं की भी स्तुतियां तुलसी की सर्वदेव समन्वयवादिता को पुष्ट कर रही हैं। वस्तुत: समस्त पौराणिक सम्प्रदायों के सात्विक स्वरुप में तुलसी का अखण्ड विश्वास है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी कृतियों में वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर प्रभृति सभी सम्प्रदायों के इष्टदेवों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है और सबों की वन्दनाएं करते हुए उनसे राममक्ति की याचना की है। राम की भक्ति को निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुये, राम की अनन्य भक्ति की आकांक्षा ही, तुलसी की विशेष साम्प्रदायिकता है। तुलसी की यह साम्प्रदायिकता संकीर्णता एवम् कट्टरता आदि दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त रहकर दूसरे संप्रदायों को भी मुक्त रहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करने वाली है। डा० राजपति दीक्षित के शब्दों में "अपनी विश्वसंग्राहिका-बुद्धि तथा अपने महान् विचक्षण उदार हृदय के कारण उन्होंने अपनी साम्प्रदायिकता को वह व्यापक रूप दिया है जिसमें आचार्य सनातन धर्म को किसी भी सात्विक रूप में मानकर चलने वाले सम्प्रदायों की अन्तरात्मा का सुसम्बद्ध समन्वय है।"[१]

अत: स्पष्ट सिद्ध होता है कि तुलसी की भक्ति ने जनमानस में सात्विकता का बीजवपनकर समाज में सहिष्णुता, विश्व बन्धुत्व की विचारणा से ओत-प्रोत किया तथा समाज के कल्याणार्थ श्रुति भक्ति पथ के सैद्धान्तिक रूप की पुन: प्रतिष्ठा की।

१- तुलसीदास और उनका युग, पृष्ठ-१३८ का अन्तिम वाक्य

(ख)- शक्तिशील सौन्दर्य का समन्वय:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की भक्ति भावना के विवेचन- विश्लेषण में यह मान्यता स्थापित की है कि भक्ति साधना में भक्त की सात्विक श्रद्धा तभी पूर्ण तृप्ति प्राप्त करती है जब आराध्य के स्वरूप में शील, शक्ति और सौन्दर्य इन तीनगुणों का समन्वय हो। स्वाभाविक है कि भक्त अपने आराध्य को सर्वशक्ति सम्पन्न समझकर ही उसके प्रति श्रद्धा समन्वित बनता है। यह सम्पन्नता किसी एक या दो गुणों से नहीं अपितु इन तीनों के समन्वय से उत्पन्न होती है। न एक शील में जीवन की पूर्णता है और न अकेली शक्ति में या सौन्दर्य में।

आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य के आलोचक थे, पर उनका अध्ययनबड़ा व्यापक था। संस्कृत, अंगरेजी, बंगला आदि भाषाओं के साहित्य को उन्होंने हृदयंगम किया था। इनमें साहित्य के विविधरूप उनके परिचय में आये थे। तुलसी साहित्य के वह मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनकी समीक्षात्मक मान्यताएं तुलसी साहित्य के एवम् अन्य साहित्यों के अध्ययन के आधार पर बनी थीं। तुलसी के आराध्य राम में उपर्युक्त तीनों गुणों का समन्वय विद्यमान है। इसे शुक्ल जी ने भक्ति का और साहित्य का भी मानदण्ड बना लिया था।

संस्कृत के समीक्षक आचार्यों ने धीरोदात्त नायक की परिकल्पना में भी इन तीनों गुणों का समन्वय अन्तर्भूत किया है। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने नायक के सामान्यगुणों में - त्यागी, कृती, कुलीन, सुन्दर, रूप और यौवन का उत्साही, दक्ष, लोकप्रिय, तेजस्वी, चतुर एवम् शीलवान् - आदि गुणों का परिगणन किया है।

धीरोदात्त नायक की विशेषताओं में बताया है कि वह आत्मश्लाघी न हो, क्षमावान्, गंभीर, महाप्राण अर्थात् हर्ष शोक आदि से विचलित न होने वाला, स्थिरमति, अपने अहम् को छिपा लेने वाला, और दृढ़ व्रत होना चाहिए।[1]

इन विशेषताओं में शील का तो शब्दशः उल्लेख हुआ है। कुलीन, लोकप्रिय, निगूढ़मान आदि गुण भी शील के ही रूप हैं। शक्ति का भाव, दृढ़व्रत, महाप्राण, उत्साही आदि विशेषताओं में व्यंजित है। सुन्दर का भी नाम से संकेत है। साहित्यदर्पणकार ने पूर्वोक्त गुणों का परिगणन लौकिक साहित्य के सन्दर्भ में किया है। शुक्ल जी ने शील आदि गुणों की चर्चा भक्ति के संदर्भ करके भक्ति भावना की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है।

इनमें शील से तात्पर्य जीवन के सद्गुणों से है जिनके अनुसार व्यक्ति समाज और धर्म की मर्यादाओं का पालन करता है, स्वभाव में कोमल, सहृदय एवम् दयावान् आदि होता है। गीता में सामंजस व्यक्तित्व के गुणों में कहा गया है कि जिससे समाज उद्विग्न न हो और जो स्वयम् समाज से उद्विग्न न हो वह पूर्ण व्यक्ति है।

"यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजतेचयः

यह प्रकारान्तर से शीलवान् व्यक्ति के ही लक्षण हैं। शीलवान् व्यक्ति दूसरों के मनोभावों का आदर और रक्षा किया करता है इस लिए वह सर्व प्रिय बन जाता है। वह विनयी विशेष रूप से होता है।

1- साहित्य:दर्पण- 3।31-32

भर्तृहरि ने अपने एक पद्य में कहा है कि जो शीलवान् है उसके लिए दुर्गम सुगम बन जाता है दुर्लभ सुलभ हो जाता है। आग पानी बन जाती है और समुद्र नाली हो जाता है।¹ ।

शक्ति का स्पष्ट अर्थ सामर्थ्य है। बाधाओं पर विजय पाना, अन्याय अत्याचार का विध्वंस करना , भक्तों, दीन-दुखियों की रक्षा करना सामर्थ्य के कार्य हैं। कृपालुता, भक्तवत्सलता, आर्त परित्राण, रक्षा आदि कर्म दिव्यसत्ता की शक्ति की अभिव्यक्ति है। लोकमंगल का विधान शक्ति द्वारा ही होता है। भक्तों के आराध्य भगवान् की शक्ति अचिन्त्य और अपरिमेय होती है। भागवतकार ने भगवान् की स्तुति में स्थान स्थान पर यह कहा है कि वह ब्रह्मा बनकर सर्जन, विष्णु बनकर रक्षण , पालन और शिव बनकर संहार करता है। यह दिव्य सत्ता की शक्ति की व्याख्या है ।

सौन्दर्य प्रसिद्ध शब्द है। भक्त की चक्षुरादि इन्द्रियां और मन अपने आराध्य के रूपादि को देख सुन कर जो आह्लादित होता है वह भगवान् के सौन्दर्य का प्रसादन किंवा आह्लादन है। भगवान् का कर्म भी चाहे भयानक ही हो पर लोकमंगलकारी होने से सुन्दर बन जाता है। वाराह एवं नृसिंह अवतार के वीर कर्म सामान्य रूप से भयानक एवम् उद्वेजक हैं पर भक्तों के लिए वे सुन्दर हैं। इसी प्रकार राम का ताड़का , खर-दूषण, रावण , कुम्भकर्ण आदि को मारना लोकमंगलकारी होने से सुन्दर माना जाता है, भगवान् कृष्ण सौन्दर्य की सीमा हैं। उनका रूप, वंशी का स्वर, वेष ,ललित चेष्टाएं , रास, आदि सब सुन्दर हैं। इसी लिए उन्हें -

---

१- वह्निस्तस्य जलायते जल निधि: कुल्यायते तत्क्षणात्
यस्माकोऽखिललोक वल्लभतरं शीलं समुन्मीलति

भर्तृहरिशतक- नीतिशतक- ४०

"साक्षात् मन्मथमन्मथः" कहा गया है। संस्कृत के एक स्तोत्रकार ने श्रीकृष्ण की रूप सम्पदा, चेष्टा आदि सब को मधुर बताते हुये कहा है कि मधुराधिपति की प्रत्येक वस्तु मधुर है।[१]

भक्त के लिए भजनीय भगवान है वह दिव्य गुणों से संयुक्त है वही सृष्टि के परम कारण एवम् उत्पत्ति स्थिति तथा संहारकर्ता हैं, भक्त वत्सल एवम् शरणागत दाता है और अहेतुकी कृपा के आगार है। अनन्त शक्तिमान हैं, चिन्मय शरीर धारण करना उनकी अलौकिकता एवम् लीला द्वारा जीव का कल्याण करना है। भागवतकार ने भक्त ध्रुव के माध्यम से भगवान विष्णु के अलौकिक रूप माधुर्य का ध्यानाकर्षण किया है -- "भगवान के नेत्र और मुख निरन्तर प्रसन्न रहते हैं, उन्हें देखने से ऐसा मालूम होता है कि वे प्रसन्नता पूर्वक भक्तों को वर देने के लिए उद्धत हैं। उनकी नासिका भौंहें और कपोल बड़े ही सुहावने है। वे सभी देवताओं में परम सुन्दर हैं।[२] उनकी तरूण अवस्था है, सभी अंग बड़े सुडौल हैं। लाल-लाल होंठ और रतनारे नेत्र हैं। वे प्रणत जनों को आश्रय देने वाले, अपार सुखदायक, शरणागत वत्सल और दया के समुद्र है।[३] उनके वक्षः स्थलपर श्रीवत्स का चिह्न है, उनका शरीर सजल जलधार के समान श्याम वर्ण है। वे परम पुरुष श्याम सुन्दर गले में वन माला धारण किए हुए हैं और उनकी चार भुजाओं में शंख चक्र गदा एवम् पद्म सुशोभित है।[४] उनके अंग प्रत्यंग किरीट, कुण्डल, केयूर और कंकड़ादि आभूषणों से विभूषित हैं। गला

१- मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्

२- श्रीमद्भागवत- ४।८।४५

३- श्रीमद्भागवत- ४।८।४६

४- श्रीमद्भागवत- ४।F।४७

कौस्तुभ मणि की शोभा को बढ़ा रहा है तथा शरीर में रेशमी पीताम्बर है।[1] उनके कटि प्रदेश में काञ्चन की करधनी और चरणों में सुवर्ण मय नूपुर (पैंजनी) सुशोभित है। भगवान का स्वरुप बड़ा ही दर्शनीय, शान्त तथा मन और नयनों को आनन्दित करने वाला है।[2] वही सृष्टि के उत्पादक, पालक एवम् संहारक अनन्तशक्तिमान है, परम कारक है।[3] अतः भक्ति में इष्ट के दिव्य गुणों के प्रति भक्त के मन का आकर्षण भी एक सहज अनुरक्ति बनती है, अनुपम रुप माधुरी ही मन को आकर्षण करने का साधन है, यह रुप माधुरी अलौकिक शक्तिमान परमसत्ता के सगुण स्वरुप को देखना सम्भव हो सकती है, वह भी राम और कृष्ण के लोक रंजक एवम् लोक संरक्षक चरित्रों में अनुस्यूत है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति में पूर्णता के लिए आराध्य में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों का समन्वय अपेक्षित है। इस मान्यता की दृष्टि से पहले हम श्रीमद्भागवत के प्रतिपाद्य का आकलन करते हैं।

भागवत में अन्य प्रासंगिक विषयों के अतिरिक्त प्रमुख रुप से विष्णु के विविध अवतारों की लीलाओं का, अवतार के कारणों एवम् प्रयोजनों का वर्णन हुआ है। इनमें से सब अवतारों को कार्य व्यापारों, रुप आकार आदि पर विचार करें तो यहां भी शील आदि तीनों विशेषताएं विभिन्न अवतारों में मिल जाती हैं। भागवतकार ने ही इस दृष्टि से उनका वर्णन किया है। रामावतार में शील का और शक्ति का वर्णन हुआ है।

१- श्रीमद्भागवत- ४।८।४८

२- श्रीमद्भागवत- ४।८।६

३- श्रीमद्भागवत- १०।१४।२०, १०।१४।५७-५६

४- श्रीमद्भागवत- २।२।८-१२, १०।१३।१६, ६।१०।१२, ६।१०।१४-१५

अपने पिता की आज्ञा से राज्य छोड़कर जो राम वन को चले गये -यह उनका शील था। वन वासियों, से रीछ- वानरों की सहायता से दुलव्य समुद्र का सेतुबंधन रावण का बध किया यह उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति है। शक्ति की अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति नृसिंहावतार और वराह एवम् वामनावतार में हुई है। कृष्णावतार में भागवतकार ने शक्ति और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है। शील उपेक्षित रह गया है।

हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के व्रजवास कालीन जीवन को ही अपनी कल्पना का विषय बनाया। उसमें भी जो उन्होंने पूतना, कालियनाग, बकासुर, अघासुर आदि के वध के चरित हैं उनमें शक्ति का प्रस्फुटन विद्यमान है। भागवत में उसका आभास पाठक को मिलता है, पर सूरादि हिन्दी भक्तकवियों ने उसका विस्तार से वर्णन नहीं किया। उसे कल्पना कारनहीं बनाया। भागवतकार ने श्रीकृष्ण को लालित्य, सौन्दर्य और संहार तीन व्यापक भूमिकाओं में रख कर वर्णित किया है। शील पर उनकी दृष्टि नहीं गयी है। उसका कारण यही है कि वह श्रीकृष्ण को साक्षात्‌भगवान् (पूर्णकलावतार) मानते हैं। उनके अक्षि संकोच मात्र से सर्जन पालन- संहार होते हैं। वह जीव के समक्ष विनयी बने - यह भागवतका दर्शनौदात्य कल्पना नहीं कर सका। इस प्रकार भागवत के विभिन्न अवतारों में अंदश: शील, शक्ति और सौन्दर्य की प्रभावकारी अभिव्यक्ति हुई है। उनका मुख्य विषय विष्णुतत्व है। उसमें इन तीनों का समन्वय घटित होगया है पर किसी एक अवतार के चरित को इनसे मंडित वह नहीं कर सके।

(ख) भक्ति में शक्ति शील सौन्दर्य का समन्वय:-

तुलसी साहित्य में -

तुलसी की भक्ति के आदर्श भगवान श्रीराम हैं उन्हीं के शक्ति शील एवं सौन्दर्य का विवेचन - एवं विश्लेषण तुलसी की मति का लक्ष्य है। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने भारतीय नायक की चार प्रकार की विशेषताएं निर्दिष्ट की हैं -- धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शान्त और धीरोद्धत।[१] तुलसी ने भी अपने आराध्य राम में ४ प्रकार का भारतीय नायक के लक्षणों द्वारा उनके शक्ति, शील, सौन्दर्य का विवेचन प्रस्तुत किया है -- उनके राम लोक संग्रह कारक एवम् मर्यादावाद के पोषक हैं। उनके अवतार का लक्ष्य धर्म संस्थापन, श्रुति-प्रमाणित हरिभक्ति की प्रतिष्ठा तथा पृथ्वी, गौ सुर सन्तों एवं भक्तों की संरक्षा एवम् अधर्मियों के विनाश का संकल्प प्रयोजनात्मक है उनके नर चरित में जो मर्यादा और लोक रक्षण की संपुष्टि हुई है वैसी विष्णु के अन्य अवतारों में परिलक्षित नहीं होती। इनकी अतुलित शक्ति[२]

१- साहित्य दर्पण- ३।३१-३४, दशरूपक - ३।३-६

हo भoरoसिo- २१।७६ - 'स पुनश्चतुर्विधः स्याद धीरोदात्तश्च धीर ललितश्च।
धीर प्रशान्त नामा तथैव धीरोद्धतः कथितः।'

२- राoमाo- २।१८६।४- सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा।
रामहि समर न जीतनि हारा।।

राoमाo- ३।११।८ - अतुलित भुज प्रताप बल धामः।

राoमाo- ६।११०।३ अजित अमोघ शक्ति करुना मय।'

अनिन्द्य रूप माधुरी [1] एवम् विमल शील भक्त के हृदय में वीर शान्त एवम् धीरोदात्त भारतीय नायक के वैशिष्ट्य गुण भक्ति के आलम्बन भाव में श्रद्धा एवं विशुद्ध प्रेम की रागात्मक मनोदशा को अनायास ही दृढ़ बनादेते है ।

अत: तुलसी के राम रूपवान, [2] अनुपम, [3] भूपाल चूड़ामणि [4], अनवद्य [5] रघुकुल केतु [6] अतुल अजेय शक्तिमान [7] वाग्मी [8] धार्मिक, [9] नीतिज्ञ [10] शुचि [11], धीर [12], शान्त [13], सत्य पालक [14], नागर [15], सुजान [16], ज्ञानी [17],

---

१- कवितावली ७।१५ रूपशीलसिन्धु गुनसिन्धु बंधु दीन को दया-
- निधान जानमनि बीर बाहु बोल को ।

विo पo- ४४।३ - जयति श्रृङ्गार सरतामरसदामद्युति देह गुण गेह विश्वोपकारी।

२- राoमाo- १।२२६।१, २।११६, गीताव० १।१०८, कवितावली-२।२७

३- राoमाo- १।१६३।४, २।६३।४

४- राoमाo- ५।१। श्लोक१, गीतावली- ५।५०।६, ७।७।१

५- राoमाo- ३।११।६, ७।७२।३

६- राoमाo ७।३५।४

७- राoमाo- २।१८६।४,३।११।८, ६।११०।३

८- राoमाo- १।२८५।२, विoपo ५४।१

९- राoमाo- २।२५४।१, विoपo १५२।६, गीतावली- २।३३।२

१०- राoमाo- २।२५७।४, ५।५०।२, बरवैरामायण - ७

११- राoमाo- १।२३०, १।३५८

१२- राoमाo- २।१४१।४, ३।२२।३

१३- राoमाo- १।२४१।२, ५।१ श्लोक-१ , विoपo ५२।३

१४- राoमाo- २।२५४।२, विoपo ५३।५, गीता० २।४१।३

१५- राoमाo- ३।११।७, ६।१११।१

१६- राoमाo- २।६४, विoपo १५४।१, कवितावली- ७।१००

१७- राoमाo- ७।२६।१, विoपo २४४।१

विवेकी [१], शीलवान [२], विनयी [३], संकोचशील [४], मंगलकारी [५], अतिशय उदार [६], क्षमावान [७], भक्त के ~~कल~~ कल्याण दाता [८], शरणागत पालक [९], कृपालु [१०], और भाव वल्लभ हैं। [११] इसप्रकार तुलसी के राम शक्ति शील एवम् सौन्दर्य के अनुपम निधान [१२] एवम् सर्वगुण सम्पन्न हैं। [१३]

१- रा०मा०- २।६७।२, २।१।श्लोक- १

२- रा०मा०- २।२७४।२ , विनयपत्रिका- २५७।२
   कवितावली- २।५२

३- रा०मा०- १।२८५।२, १।२०८। १।२५७
४- ,, - २।२०१, २।२६६।३, गीतावली- २।६५।२ ,
५- रा०मा०- १।११२।२, विनयपत्रिका- ६१।८

६- रा०मा०- ३।४२।३, ६।११३।३ , गीतावली- ७।३८।१ ,

७- रा०मा०- १।२८५।३ , दोहावली- ४२७

८- कवितावली- ७।३

९- विनयपत्रिका- २७४।१, गीतावली ५।२२।१०

१०- रा०मा०- ३।४।१, गीतावली- १।२५।१

११- रा०मा०- ३।४।१०, ७।६२ सो०

१२- रा०मा०- १।२८५।१-२, २।२६८।१-२,
   -७।१।श्लोक १, ७।६१।४, ७।६२

१३- कवितावली- ७।१५, विनयपत्रिका- ४४।२

अब हम मानस में प्रयुक्त राम की जीवन चर्या द्वारा शक्ति शील एवम् सौन्दर्य का उपस्थापन करेंगे --

भक्त अपनी रुचि के अनुसार बालरूप में[1], नृपरूप में[2] एवम् काननचारी रूप में[3] भगवान राम को साधना का आधार बनाता है। लेकिन तुलसी को सरचाप धारी राम का रूप ही विशेष प्रिय है[4] यही रूप भक्त के लिए शरणागत वत्सल एवम् आर्तत्राण के लिए सर्वथा अनुकूल है।

राम बज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल हैं।[5] अत्याचारियों के दमन में उनके रौद्र शरणागतों पर कृपा-प्रदर्शन में उनके कोमल रूप के दर्शन होते हैं। गौ, ब्राह्मण और ऋषि मुनियों पर घोर अत्याचार करने वाले राक्षसों पर भयंकर क्रोध प्रकट करते हुये वे पृथ्वी को राक्षस रहित करने का भुजा उठाकर प्रण करते हैं।[6] शरणागत भक्तों के पापों को नष्ट कर वे उनकी रक्षा करते हैं और उन्हें सद्गति प्रदान करते हैं। अपने अनिष्ट की आशंका से शरणागत का त्याग उन्हें अभीष्ट नहीं है।[7] शरणागत-वत्सल भगवान् को शरणापन्न विभीषण की रक्षा की चिंता युद्ध भूमि में अपने भाई लक्ष्मण के अचेत होने पर भी बनी रही।[8] रावण ने क्रुद्ध होकर युद्ध-भूमि में विभीषण पर जो प्रचण्ड शक्ति का प्रयोग किया था उसे राम ने

१- रा०मा०- १।२।३ (पू०), ७।७५।५(पू०)
२- रा०मा०- ३।१०।१८-१६
३- रा०मा०- ३।११।१५-१८
४- रा०मा०- १।१४७।८, २ श्लोक- ३, ३।११
५- रा०मा०- ७।१६(ग)
६- रा०मा०- ३।६(पू०)
७- रा०मा०- ५।४३
८- गी०लंकाकाण्ड, पद- ७ पं० ५-६

विभीषण को पीछे कर स्वयं सामने होकर अपने ऊपर सहन कर लिया।[1] कदाचित् इसीलिए भगवान् शिव ने यह सिद्धान्त अटल कर दिया है कि--

उमा राम सुभाव जेहि जाना ।
ताहि भजन तजि भाव न आना ।।[2]

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम अनन्त- सौन्दर्य- सम्पन्न हैं।[3] करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाला उनका असाधारण एवम् अनन्त रूप सौन्दर्य का अवलोकन कर आबालवृद्ध-वनिता से भी विस्मय -विमुग्ध हो जाते हैं। उनकी रूप- माधुरी का तुलसी पर इतना अधिक प्रभाव है कि अनेका-नेक बार उनकी अभिव्यक्ति करते हुये भी उनको पुनरुक्ति का भान तक नहीं होता। सभी भक्त राम का दर्शन कर आत्म- सुधि खो देते हैं और गद्गद् हो जाते हैं।[4] राम के अनुपम सौन्दर्य का इतना अधिक आकर्षण है कि वैरागी विदेह जनक सहित जनकपुरवासी,[5] वन-मार्ग के ग्रामीण नर-नारी,[6] कोल- भील[7] पशु-पक्षी, सज्जन - दुर्जन, ऋषि-मुनि, देवता सभी बरबस वशीभूत हो जाते हैं। विषैले एवम् तामसी प्रवृत्ति के सर्प- बिच्छू भी उन पर

१- रा०मा०- ६।६२, ६।६४।२
२- रा०मा०- ५।३४।२
३- रा०मा०- १।१६६।१
४- रा०मा०- ४।२।६, ५।४५।३, ७।३३।२-४
५- रा०मा०- १।२१६।३, १।२२०।१, १।२२०
६- रा०मा०- २।११०।२, २।११४।३
७- रा०मा०- २।१३५।४-६

विभीषण को पीछे कर स्वयं सामने होकर अपने ऊपर सहन कर लिया।[1]
कदाचित् इसीलिए भगवान् शिव ने यह सिद्धान्त अटल कर दिया है कि--

"उमा राम सुभाव जेहि जाना ।
ताहि भजन तजि भाव न आना ।।"[2]

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम अनन्त- सौन्दर्य- सम्पन्न हैं ।[3]
करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाला उनका असाधारण एवम् अनन्त रूप
सौन्दर्य का अवलोकन कर आबालवृद्ध-वनिता सभी विस्मय -विमुग्ध हो
जाते हैं । उनकी रूप- माधुरी का तुलसी पर इतना अधिक प्रभाव है कि अनेका-
नेक बार उनकी अभिव्यक्ति करते हुये भी उनको पुनरुक्ति का भान तक
नहीं होता । सभी भक्त राम का दर्शन कर आत्म- सुधि खो देते हैं और
गद्गद् हो जाते हैं ।[4] राम के अनुपम सौन्दर्य का इतना अधिक आकर्षण है
कि वैरागी विदेह जनक सहित जनकपुरवासी,[5] वन-मार्ग के ग्रामीण नर-नारी,[6]
कोल- भील[7] पशु-पक्षी, सज्जन - दुर्जन, ऋषि-मुनि, देवता सभी बरबस
वशीभूत हो जाते हैं । विषैले एवम् तामसी प्रवृत्ति के सर्प- बिच्छू भी उन पर

१- रा०मा०- ६।६२, ६।६४।२

२- रा०मा०- ५।३४।३

३- रा०मा०- १।१९६।१

४- रा०मा०- ४।२।६, ५।४५।३, ७।३३।२-४

५- रा०मा०- १।२२६।३, १।२२०।१, १।२२०

६- रा०मा०- २।११०।२, २।११४।३

७- रा०मा०- २।१३५।४-६

मुग्ध होकर उनका कोई अनिष्ट नहीं करते ।[1] औरों की तो बात ही क्या उनका शत्रु खरदूषण भी उनके सौन्दर्य पर मन्त्र मुग्ध है ।[2] शूर्पणखा भी उनके सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर ही उनसे अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहती थी ।[3] क्षत्रिय कुल के विश्वविदित द्रोही परशुराम भी असंख्य कामदेवों का मान-मर्दन करने वाले उनके अपूर्व रूप का अवलोकन कर चकित रह गये ।[4] जनकपुर के बालक वृन्द तो उनका अद्भुत सौन्दर्य देखकर उनके पीछे ही लग जाते हैं ।[5] जनकपुर की वाटिका में भगवान् राम ने अपने भाई लक्ष्मण सहित लता- कुंज से प्रकट होकर सीता की सखियों को जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार कराया वह ऐसा विलक्षण एवं अपूर्व था कि सखियां अपने आप को भूल गयी ।[6] इतना ही नहीं उनमें से एक चतुरा ने तो पार्वती की पूजा में ध्यानस्थ सीता के हाथों को झकझोर कर उन्हें उस सौन्दर्य को देखने के लिए विवश किया ।[7] राम का रूप ऐसा अपूर्व है कि उसे स्वयं तो लोग देखते ही है, दूसरों को भी देख कर नेत्रों का लाभ लेने की शिक्षा देते हैं।[8] विवाह के अवसर पर तो उनके त्रिभुवन- मोहन रूप के दर्शनार्थ शिव, विष्णु ब्रह्मा ,कार्तिकेय, इन्द्र आदि सभी देवगण जनकपुर में जुट गये थे ।[9] सीता स्वयंवर में उपस्थित सभी नागरिक निष्पलक नयनों से राम की रूप माधुरी का पान कर रहे थे ।[10] वन- मार्ग के पथिकगण एवम् ग्रामीण उनके सौन्दर्य

१- रा०मा०- २।२६२।८

२- रा०मा०- ३।१६।३-४

३- रा०मा०- ३।१७।८-१०

४- रा०मा०- १।२६६।८

५- रा०मा०- १।२१६।२

६- रा०मा०- १।२३२।१।२३३

७- रा०मा०- १।२३४।१-२

८- रा०मा०- २।११४।६

६- रा०मा०- १।३१७।२-८

१०-रा०मा०- १।२४२।-१।२४४-३

की पराकाष्ठा देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ग्रामीण बधुएं उत्कण्ठित होकर सीता से श्यामल- गौर- किशोर राजकुमारों का परिचय प्राप्त करती हैं [1] और उनके चले जाने पर भी उनकी सुकुमारता को स्मरण करती हुई खिन्न होकर विधिना को उलाहना [2] देती हैं तथा यही चाहती हैं कि--

जौं मागा पाइअ बिधि पाहीं।
ए रखिं हहिं सखि आँखिन्ह माहीं।। [3]

तुलसी ने भगवान् राम के अनुपम सौन्दर्य के साथ ही साथ उनकी अद्वितीय शक्ति का भी उद्घाटन किया है। उनकी शक्ति के लवलेश से तीनों लोकों के चराचर पर विजय प्राप्त की जा सकती है। [4] जिस समय भगवान् राम का अवतार हुआ था उस समय रावण, बालि और परशुराम ये तीन विश्व- विश्रुत योद्धा विद्यमान थे। किष्किन्धा का सम्राट बालि राक्षसराज रावण से भी अधिक बली था और उसने उसे बुरी तरह परास्त ही नहीं किया था परन्तु अपनी कांख में छह मास तक दबाये भी रखा था। क्षत्रियों के जन्मजात शत्रु महामुनि परशुराम ने तो कौतुक में ही रावण को बन्दी बनाने महावीर सहस्रबाहु को भी मारकर इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय-विहीन किया था। राम ने रावण और बालि का तो बध किया ही उन्होंने सीता-स्वयंवर में अप्रतिम वीर परशुराम का भी मान-मर्दन कर उन्हें तपस्या के लिए जंगल का रास्ता दिखाया। ये सारे कार्य राम की अतुलित शक्ति और अपूर्व वीरता

१- रा०मा०- २।११६, २।११७।१

२- रा०मा०- २।१२१।३-४

३- रा०मा०- २।१२१।५

४- रा०मा०- ५।२१

की पराकाष्ठा के ही परिचायक हैं। उनके वाण खींचते ही समुद्र के हृदय में ज्वाला उठने लगती थी।[१] उन्होंने सरकंडे का ही वाण जयन्त पर छोड़ा था और मारीच को बिनु फर सर ही मारा था जिनकी प्रतिक्रियाएं अवर्णनीय हैं। उनके वाणों में ऐसे अद्भुत शक्ति है जो क्षणमात्र में ही भयंकर राक्षसों को काटकर रख देते हैं। और वे सब पुनः लौटकर उनकी तरकस में घुस जाते हैं।[२] राम की शक्ति के बल पर ही, रावण के सामने आंख उठा कर भी नहीं देखने वाला विभीषण, काल के सामने उससे युद्ध करता था।[३] उनके कमल सदृश कोमल कर के स्पर्श से भक्तों की पीड़ा दूर हो जाती है और उनका शरीर बज्र के समान सुदृढ़ हो जाता है।[४] वे अपनी शक्ति से सबको नचाते रहते हैं।[५] उनमें अनन्त कोटि दुर्गाओं के समान शत्रुओं के संहार की शक्ति विद्यमान है।[६] राम ने अपनी अपूर्व शक्ति से ताड़का, खरदूषण, कुम्भकर्ण, मारीच आदि अत्याचारियों का भी बध किया। रावण और मारीच आदि राक्षसों ने उनकी अतुलित शक्ति से ही उन्हें परब्रह्म के रूप में पहचाना था।[७] भला उस राम से भी अधिक शक्ति सम्पन्न कौन हो सकता है, जिसके लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प प्रचण्ड वाण हैं और साक्षात्काल जिसका धनुष है।[८] वस्तुतः जिस तरह राम स्वयं अनन्त हैं, उसी तरह उनकी महिमा, नाम, रूप और गुणों की कथा सभी अपार एवं अनन्त है।[९]

१- रा०मा०५।५८।६(उ०)
२- रा०मा०-६।६८
३- रा०मा०-६।९४
४- रा०मा०-३।३०।४।८।६, वि०प०, पद- १३८की अंतिम दो पंक्तियां।
५- रा०मा०- ४।७।२४, ४।११।७
६- रा०मा०- ७।९१।७(उ०)
७- रा०मा०- ३।२३।२, ३।२५
८- रा०मा०- ~~~ ६ मंगलाचरण
९- रा०मा०- १।३३(पू०)७।९१।३

तुलसी ने भगवान् राम के शील का ऐसा मार्मिक अंकन किया है कि भक्तों का हृदय स्वतः उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। उनके मनोहर शील-स्वरूप को देखकर उनका अनुभव कर मनुष्य अपनी वृत्तियों को भी उसी के मेल में ले चलने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। राम की सरलता एवम् सुशीलता के अनुभव से उसकी कुटिलता एवम् दुष्टता धीरे-धीरे दूर होने लगती है और इस तरह वह भक्ति का अधिकारी बन चलता है। अयोध्या में - राम-राज्याभिषेक का आयोजन हो रहा है। कुलगुरु वशिष्ठ अभिषेक की सफलता के लिए राम को संयम करने का आदेश देने आये हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम लौकिक एवम् वैदिक धर्म की रक्षा करते हुये उनके प्रति जिस असाधारण शिष्टाचार एवं शील का निर्वाह करते हैं, उसे देखकर महामुनि वशिष्ठ उनके गुण, शील और स्वभाव का वर्णन कर प्रेम से पुलकित हो जाते हैं।[1] गुरु का आगमन सुनते ही राम राजद्वार पर उपस्थित होकर उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं। सादर अर्घ्य प्रदान कर उन्हें घर में लाते हैं और षोडशोपचार से पूजा करके उन्हें सम्मानित करते हैं। पुनः सपत्नीक चरण-स्पर्श करते हुये करबद्ध निवेदन करते हैं कि यद्यपि सेवक के घर स्वामी का आगमन मंगलों का मूल और अमंगलों का विध्वंसक होता है तथापि उचित तो यही था दास को ही कार्य के लिए बुला लिया जाता। आपने प्रभुता का परित्याग कर स्वयं यहां पधार कर जो स्नेह किया, इससे यह घर आज पवित्र हो गया। अब गुरुदेव की जो आज्ञा हो, वही मैं करूं क्योंकि स्वामी की सेवा में ही सेवक का लाभ है।[2] जब वशिष्ठ राम को अभिषेक कार्य के सकुशल सम्पन्न होने के निमित्त उपवास, हवन आदि संयम करने का उपदेश देकर लौट जाते हैं

१- रा०मा०- २।१०।१

२- रा०मा०- २।६।२-७

तब राम सोचने लगते हैं कि हम चारों भाई एक ही साथ जन्में। खाना, सोना, लड़कपन के खेलकूद, कनछेदन, उपनयन संस्कार और विवाह आदि उत्सव सब साथ ही साथ हुए। पर इस निर्मल वंश में यही एक अनुचित बात है कि और सब भाइयों को छोड़कर राज्याभिषेक एक बड़े का ही होता है।[१] वस्तुत: कुल की परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राम का अभिषेक कोई अनुचित नहीं था पर अन्याय सभी उत्सवों में अपने भाइयों के साथ सम्मिलित रहने वाले राम को, अपनी सुशीलता के कारण इस उत्सव में भी एकाकी होना उचित प्रतीत नहीं होता। राम का यही शील सम्पन्न प्रेमपूर्ण सुन्दर पश्चाताप भक्तों के मन की कुटिलता कोअपहरण करने में सफलता प्राप्त करता है।[२] इसी तरह वन-गमन प्रसंग में राम, लक्ष्मण एवं सीता को वन के लिए विदा कर जब सुमन्त अवध जाने लगे तब राम अपनी सुशीलता के कारण पिता के लिए उनके द्वारा प्रेम पूरित सन्देश ही प्रेषित नहीं करते प्रत्युत पिता के लिए "कटुबानी" का प्रयोग करने वाले लक्ष्मण को रोकते भी हैं। इतना ही नहीं लक्ष्मण के इस अनुचित आचरण पर उन्हें संकोच होता है और वे अपना शपथ देकर सुमन्त से लक्ष्मण की कटु बातों को पिता से नहीं कहने का आग्रह करते हैं।[३] यह राम के शील की पराकाष्ठा है जिसको उनके पिता से कहे बिना सुमन्त को भी नहीं रहा गया था।[४] अयोध्या के नागरिकों के साथ भरत को चित्रकूट में आते देखकर उनके प्रति लक्ष्मण के हृदय में बहुत तरह की कल्पित आशंकाएं एवं सन्देह होने लगते हैं,[५] पर राम के निर्मल अन्त:करण में

१- रा०मा०- २।१०।५-७

२- रा०मा०- २।१०।८

३- रा०मा०- २।९६।४-५

४- रा०मा०- २।१५२।७-८

५- रा०मा०- २।२२८।४-७

आशंका एवम् सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है। उन्हें अपने शील के बल पर दूसरे के शील पर पूरा भरोसा है। अपने साथ अनिष्ट करने वालों के प्रति भी राम का शील-प्रदर्शन नहीं रुकता। वहीं चित्रकूट में अपने कुकृत्यों से खिन्न कैकयी को राम यही समझाते हैं कि जो कुछ भी घटनाएं घटित हुईं, वे सब विधाता के विधान के कारण, उनमें कैकयी का कोई अपराध नहीं है।[1] जिस महापराक्रमी राम के शर-संधान के उपक्रम से ही समुद्र में भयंकर ज्वाला उत्पन्न होने लगी, वही महासुशील राम पहले लगातार तीन दिनों तक जड़ 'जलधि' से अनुनय-विनय करते रहे। उनके शील के साक्षात्कार से कोल-भील, गुह-निषाद, बन्दर-भालू, रीछ आदि बहुत सी अनार्य जातियां ही नहीं, बल्कि वाल्मीकि, अत्रि, अगस्त्य आदि महामुनि भी उनकी ओर आकृष्ट हुए। किष्किन्धापति वानरराज बालि और लंकापति राक्षसराज रावण का बध कर उन्होंने उनके राज्य का अपहरण नहीं किया, बल्कि उन्हीं के उत्तराधिकारी भाइयों को दे दिया। यह राम के शील की पराकाष्ठा का ही परिचायक है कि जो सम्पत्ति शिव ने रावण को दसों सिरों की बलि देने पर प्रदान की थी, उसी को राम ने विभीषण को बहुत संकोच के साथ दिया।[2] उन्हें ऐसा लगा कि इसे कुछ दिया ही नहीं गया। वस्तुतः राम के शील-स्वभाव की थाती लेकर ही भक्त उनके पास तक पहुंचने का प्रयास करता है। जब जीव को प्रतिदिन किये जाने वाले अपने असंख्य अपराधों की स्मृति होती है तब भक्ति मार्ग में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं लेकिन जब उसे शील निधान भगवान् के

१- रा०मा०- २।२४४

२- रा०मा०- ५।४६(ख)

उदार स्वभाव का स्मरण हो जाता है तब उसके पैर तेजी से बढ़ने लगते हैं।[1]

यथार्थतः मानस में वर्णित भगवान् राम ने अपने सौन्दर्य, शक्ति एवम् शील से जन-जन के जीवन पर अपना अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लिया है। कदाचित इसीलिए हिन्दी साहित्य के अद्वितीय आलोचक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपना यह उद्गार व्यक्त किया है कि "भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है।[2]

१- रामा०- २।२३४।६

२- गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ- ५३-५४

(ग)- अन्य समन्वय :-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

श्रीमद्भागवत में व्यासकार ने समन्वय की प्रक्रिया का पूर्ण सामन्जस्य अनुस्यूत किया है। वैसे श्रीमद्भागवत वैष्णव ग्रंथ है। उसमें सभी वैष्णव अवतारों की लीलात्मक चर्या का विवेचन एवम् विश्लेषण विस्तार से निदर्शित किया गया है। फिर भी इसमें दो राह नहीं कि भागवतकार ने विभिन्न मतों के आराध्यों एवम् साधना प्रक्रिया में ऐक्य का संस्थापन किया है। जैसे वैष्णव एवम् शैव का समन्वय, ज्ञान और भक्ति, जीव एवम् ब्रह्म तथा माया एवम् परमेश्वर के परस्पर विरोधी तत्वों में भी एकरूपता सिद्ध की है। कतिपय प्रसंगों द्वारा समन्वय की पुष्टि करेंगे —

१- शैव वैष्णव का समन्वय:-

व्यासकार के समय वैदिक शिव का भी महत्व सम अन्यतम था, और भागवत वैष्णव ग्रंथ है इस ग्रंथ में दोनों आराध्यों का ऐक्य संस्थापित कर तात्कालिक वैमनस्य एवं विवाद को समूल नष्ट किया। श्रीमद्भागवत में शिव को जगत का उत्पत्ति पालक और संहारकर्ता,[१] पुरुष प्रकृति के अधिष्ठाता[२], ब्रह्म,[३] ईश्वर[४] अहेतुकी कृपालु[५] भक्त

१- श्रीमद्भागवत- ८।७।२३, ३४

२- श्रीमद्भागवत- ८।७।२४

३- श्रीमद्भागवत- ८।७।२५

४- श्रीमद्भागवत- ८।७।२२

५- श्रीमद्भागवत- ८।७।२६-३४

वत्सल[1] आदि निर्गुण एवम् सगुण तथा तटस्थ लक्षणों द्वारा शिव की महिमा का यशोगान किया है। तथा यह भी निर्दिष्ट किया है कि शिव और हरि में कोई भेद नहीं बल्कि श्रीहरि के ही दो रूपों में लीला विवर्त हुयी है। वह रूप श्रीहरि की प्रसाद लीला एवम् रुद्र की रौद्र लीला का ही विस्तार श्रीमद्भागवत है।[2] श्रीशिव को वही प्रिय है जिस पर श्रीकृष्ण प्रसन्न हैं।[3] जो पुरुष अव्यक्त प्रकृति तथा जीव संज्ञक पुरुष इन दोनों के नियामक भगवान वासुदेव की साक्षात् शरण लेता है वह मुझे परमप्रिय है।[4]

२- ज्ञान और भक्ति तथा कर्म का समन्वय:-

कर्म, ज्ञान, और भक्ति परम तत्व स्वरूप भगवान के प्राप्ति के मार्ग है। तीनों के गन्तव्य मार्ग भिन्न भिन्न है। ज्ञानी अद्वितीय, ब्रह्म को ही अन्त:करण में धारण करता है, तथा तत्व ज्ञान की अखण्डता में वह लय रहता है, कर्म काण्डी वेदों द्वारा नाना कर्मों एवम् यज्ञ अनुष्ठान विधि से विष्णु रूप की प्राप्ति करता है और भक्त भजनीय आराध्य की कथा श्रवण, प्रेमा इत्यादि के माध्यम से सगुण रूप भगवान को प्राप्त करता है। भागवतकार ने एक दूसरे की अन्योन्याश्रिता दिखाकर ऐक्य संस्थापित किया है -- उनका मत है कि यह श्रीमद्भागवत् सम्पूर्ण वेदान्तों का सारसंग्रह है इसके साथ साथ वैराग्य, ज्ञान, योग एवं

१- श्रीमद्भागवत- ८।७।३५

२- ,, - १२।५।१

३- ,, - ८।७।३६

४- ,, - ४।२४।२८

भक्ति से युक्त नैष्कर्म के उपदेश द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार निरूपित हुआ है तथा इसमें देवता स्वम् सन्तों को भी आनन्दित करने वाली शत शत भगवत लीलाओं के उज्ज्वल प्रसंग तथा दिव्य रस की सांगोपांग रसधारा प्रवाहित हुयी है।[1] तथा यह भी उल्लेख किया है कि "वह निर्मल ज्ञान भी जो मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन है, यदि भगवान् की भक्ति से रहित है तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती जितनी भक्ति सम्पन्न ज्ञान की। तथा इसके साथ-साथ यदि वह कर्म भगवान् को अर्पित नहीं किया जाता है तो वह सुख शान्ति का आविर्भूत नहीं होता अर्थात अमंगल स्वम्दुखदाई स्वरूप है।[2]

श्रीकृष्ण उद्धव को संबोधित करते हुये कहते हैं कि-- तुम ज्ञान के द्वारा आत्म स्वरूप को पहचान कर ज्ञान विज्ञान सम्पन्न होकर भक्ति भाव से मेरा भजन करो।[3] स्वम् भगवान कृष्ण के जन्म में ब्रह्मा द्वारा स्तुति में यह अभिव्यक्त किया गया है कि भक्ति रहित ज्ञान निरर्थक है। श्रेयस्करी भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान की उपासना करते हैं वे अन्न की अभिलाषा में भूसी प्राप्त करते हैं।[4]

३- सगुण स्वम् निर्गुण का समन्वय:-

तत्वत: भगवान अजन्मा निर्गुण, निर्विकार, ज्ञानगिरागोतीत है। परभक्तों के कल्याणार्थ धर्म संस्थापन हेतु स्वेच्छा से लीलातनु धारण कर

१- श्रीमद्भागवत-१२।१३।१५
२- ,, -१२।१२।५२
३- ,, -११।१९।५,- तस्मात् ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञान विज्ञान सम्पन्नोभजमां भक्तिं भावित:।।
४- ,, -१०।१४।४,

सगुण हो जाते हैं।[1] वेदस्तुति में इसी तादात्म्य का समर्थन किया गया है -- 'आप ज्ञान स्वरुप आत्मा हैं, चराचर जगत् के कल्याण के लिए अनेकों रुप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध अप्राकृत सत्वमय होते हैं और सन्त पुरुषों को सुखानुभूति एवम् परमानन्द की प्राप्ति कराते हैं --तथा दुष्टों को दण्ड का विधान कर धर्म का संस्थापन करते हैं।[2]

४- माया और ब्रह्म का अन्वय :-

सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्रतत्व है वह सत्व, रजस और तमस की साम्यावस्था है।[3] पुरुष उसमें आसक्त होकर बद्ध और अनासक्त रहकर निष्काम कर्म करने से मुक्त हो जाता है। प्रकृति को वेदान्त माया संज्ञा से अभिहित करता है, तत्वत: माया और प्रकृति एक ही समशील अर्थ है। वह द्वैतवाद के प्रतिष्ठापक है। अत: माया को स्वतन्त्र तत्व न मानकर ब्रह्म की ही शक्ति मानते हैं --

'आदि पुरुष परमात्मा जिस अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भूतों को धारण करता है और भूतों के भोग के लिए ही पंचभूतों द्वारा नाना प्रकार के देव मनुष्य, त्रियक आदि शरीरों की सृष्टि करता है वह माया है। विद्या और अविद्या मेरे शरीर है प्रकृति ही माया है और महेश्वर उसका अधिपति है। --

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।२७।११, ६।४।३३, १०।८८।७, ११।५।५०, ८।३।२, १०।६०।४६, १०।५०।६, १०।७०।२७, १०।५०।१०, १०।३३।२७, १०।६३।३७, १०।८४।२२, ११।५।४६, १।३।३५, १।८।३०, १।२।३४, ११।१७-१८

२- श्रीमद्भागवत- १०।२।२६, ७।१।३७

३- श्रीमद्भागवत- ११।२८।२४, २।५।१८

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।[1]

इस प्रकार भागवत में माया और ब्रह्म का समन्वय नहीं, माया का ब्रह्म में अन्वय है ।

५- जगत् और परमेश्वर का अन्वय:-

परमेश्वर से ही दो प्रकार के पदार्थ प्रादुर्भूत हुए एक चेतन होने के कारण जीव, और दूसरा जड़ होने के कारण जगत् कहलाया ।[2] जगत् को परमेश्वर का विरोधी तत्व कहा है जैसा कि वेदान्ती लोग उसे जड़ बन्धकारी असत्य मानते हैं । भागवतकार इस बिन्दुपर समन्वय स्थापित करते हैं। उनके अनुसार जड़ परमेश्वर की ही सृष्टि है और परमेश्वर जगत् को बनाकर उसी में प्रविष्ट होगया ।अत: भक्त को जगत् भी उसी प्रकार पूज्य और श्रद्धेय है जिस प्रकार परमेश्वर ।

परमेश्वर ही सत तत्व की उत्पत्ति स्थान (पालन) और निरोध (प्रलय) की लीला के लिए सत्व गुण से युक्त विष्णु ,रजोगुण से युक्त ब्रह्मा और तमोगुण से युक्त शिव रूप बन जाता है ।उसकी गति से विषयीजन यथार्थत: अपरिचित रहते हैं ।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ११।३।३, ११।११।३

२- श्रीमद्भागवत- ३।१०।१२, ३।२६।१६, ११।२२,२।५ , २।५-६, २।१०, ३।१२ ,।

३- श्रीमद्भागवत- २।४।१२ ,।

६- ब्राह्मण- शूद्र ,ज्ञानी- अज्ञानी का समन्वय:-

भक्ति के क्षेत्र में ब्राह्मण - शूद्र का कोई भेद नहीं । अजामिल पिंगला आदि अन्त्यज जाति और हीन कर्मों के परायण होते हुये (भक्ति के क्षेत्र में) श्रेष्ठ भक्त परिगणित किए गए हैं । इसी प्रकार गोप-गोपियां अज्ञानी हैं । उन्होंने न वेद पढ़े न ज्ञानियों का सत्संग ही किया पर उत्तम प्रेम के उपासक होने में श्रेष्ठ प्रेमी भक्तों में पूज्यनीय हैं । —

ते नाधीत श्रुत गणा नोपासितमहत्तमा: ।

(ग)- अन्य प्रकार का समन्वय:-

तुलसी साहित्य में-

" तुलसी के काव्य की सफलता का एक और रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय शक्ति में है। उन्हें लोक और शास्त्र दोनों का बहुत व्यापक ज्ञान प्राप्त था। उनके काव्य ग्रंथों में जहां लोक विधियों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वहीं शास्त्र के गम्भीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूत पूर्व सफलता दी है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पण्डित और अपण्डित का, समन्वय रामचरितमानस के आदि से अन्त दो छोरों पर आने वाली परकोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। इस महान् समन्वय का आधार रामचरित को चुना है।[१]

तुलसी साहित्य में समन्वय का अपूर्व एवम् अनोखा सामन्जस्य अनुस्यूत है। समन्वय का शाब्दिक अर्थ- परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं या मान्यताओं का विरोध परिहार पूर्वक सामन्जस्य है। उदार चेता विचारकों की सार ग्राहिणी प्रतिभा दूसरों की उपयोगी एवम् ग्राह्य मान्यताओं को निःसंकोच भाव से ग्रहण करती आयी है। संस्कृति के

१- द्विवेदी, डा० हजारी प्रसाद- लेख - सफलता का रहस्य -पृष्ठ- २३६, "तुलसी" संपादक- उदयभानु सिंह।

विद्वानों की मान्यता है कि नास्तिक बौद्धों ने राम को बोधिसत्व के रूप में स्वीकार किया है और आस्तिकों ने बुद्ध और ऋषभदेव को विष्णु का अवतार माना । वेदान्त में सांख्य और न्याय के सिद्धान्तों को अपनाया, न्याय सांख्य ने वेदान्त के परमेश्वर को स्वीकारा । धर्म - अर्थ - काम - मोक्ष की पुरुषार्थ चतुष्टयी समन्वय का ही रूप है । अद्वैतवाद में अनेकता में एकता की मान्यता समन्वय भावना का परिणाम है । इस प्रकार समन्वय भारतीय संस्कृति का एक व्यापक गुण है ।

तुलसी साहित्य में अनेक परस्पर विरोधी मान्यताओं और परम्पराओं का समन्वय हुआ है । यह गोस्वामी जी का व्यापक अनुभव और संतुलित मनीषा का परिणाम है । कतिपय उदाहरण अवलोकनीय है:--

१- शैव एवम् वैष्णवमतों का समन्वय:-

तुलसी के समय शैव और वैष्णव पंथ के अनुयायियों की साधना पद्धति एवम् साध्य भाव में बड़ा ही विरोध एवं विद्वेष था । वैष्णवजन अपने आराध्य विष्णु को सृष्टि का उत्पादक, पालक एवम् संहारक मानते थे । और शैव जन शिव को ही सृष्टि का, उत्पादक, पालक एवं संहारक मानते थे । अतः इस पार्थक्य एवं वैमनस्य विद्वेष को दूर करने के लिए गोस्वामी जी ने अपने साहित्य में दोनों की समन्वयवादिता पर बल देकर एकेश्वरवाद की स्थापना की । विनय पत्रिका की हरि-शंकरी स्तुति में[१] तुलसी ने विष्णु और शिव का समन्वय करते हुये इसी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की । उन्होंने राम को हरि-शंकर रूप मानकर सामन्जस्य का उपस्थापन किया।

१- विनयपत्रिका- ४९,

मानस में बालकाण्ड के मंगलाचरण में रामाख्य मीशं हरिं [1]कहकर उन्होंने राम में विष्णु एवम् शिव का समन्वय प्रस्तुत किया । मानस के लंका काण्ड में शिव- लिंग की स्थापना कर उनकी विधिवत पार्थिव पूजा की- तथा यह भी जयघोष किया कि शिव से द्रोह करने वाला स्वप्न में मेरी अविचल भक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता, वह निश्चय ही नरकगामी योग्य है ।[2]

1- रा0मा0- १।१। श्लोक- ६,

2- रा0मा0 ६।२।४ दोहा- "सिव द्रोही मम भगत कहावा ।
सो नर सपनेहुं मोहिं न पावा ।
संकट बिमुख भगति चह मोरी ।
सो नारकी मूढ़मति थोरी ।
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुं बास ।।
हरिहर निन्दा सुनहिं जे काना ।
मानहु ते गोघात समाना ।।

अन्यत्र भी देखें- रा0मा0६।११६क, १।७६,रा0मा0-२।१०३,६।२।३,

रा0मा0- १।३८।४- जेहिं पर कृपा न करहिं पुरारि ।
सो न पाव मुनि भगति हमारी ।।
रा0मा0- ७।४५ - औरौं एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरि ।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ।।"

उन्होंने अन्यत्र भी राम को विष्णु एवं शिव रूप बताया है।[1] तुलसी साहित्य में हरि-हर युगपत पंक्तियां नाना प्रसंगों में अनुस्यूत है।[2] भगवान शिव के मुख से - सोइ मम इष्ट देव रघुवीरा सेवत जाहि सदा मुनि धीरा[3] एवं जहं लगि साधन वेद बखानी, सब कर फल हरिभगति भवानी[4] कहकर समन्वय का स्थापन किया।

२- वैष्णव एवम् शाक्त मतों का समन्वय:-

शिव विष्णु के भक्तों में जिस तरह पारस्परिक विद्वेष एवम् वैमनस्य फैला था उसी तरह वैष्णव एवं शाक्तों में भी इस समय घोर संघर्ष चल रहा था। तुलसी ने शैव और वैष्णवों की भांति शाक्तों एवं वैष्णवों के संघर्ष एवम् वैमनस्य को दूर करते हुए शक्ति की उपासना की मानस में सीता को राम की आदिशक्ति बताकर- उदभव स्थिति संहार कारिणी, क्लेश हारिणी सर्व श्रेयस्करीं कहकर उनकी वन्दना की। तथा भगवती सीता द्वारा भवानी पार्वती की वन्दना कराकर दोनों शक्तियों में ऐक्य का संस्थापन निर्दिष्ट किया --

---

१- वि०प०-५४।३,६ - व्यक्त मध्यक्त गतभेद विष्णो.......
दास तुलसी प्रणत रावणारी।
वि०प०-११।८- पाइ भैरव रूप राम रूपी रूद्र बंधु गुरू जनक जननी विधाता।
वि०प०- ६।२- विनु तव कृपा राम-पद-पंकज सपनेहु भाति न होई।।

२- रा०मा०-१।४।२,२।१६७, ६।३२।१, गीतावली-१।११।४,३।१५।२, ब०रा-२२

३- रा०मा०- १।५१।८

४- रा०मा०- ७।१२६

'नहिं तव आदि मध्य अवसाना ।
अमित प्रभाव वेद नहि जाना ।
भव भव बिभव पराभव कारिनि ।
बिस्वबिमोहनि स्वबसविहारिनि ।।

तुलसी साहित्य में भवानी पार्वती के एवं भगवती सीता के तटस्थ लक्षणों के माध्यम से भी तुलसी ने दोनों पंथों में ऐक्य का संस्थापन किया ।[1]

१-(I) सीता- रा०मा०-१।१८७।३,१।२८८, १।२६८, कवितावली-७।१२६, रा०मा०- २।६७।३, वि०प०- १५४,रा०मा०-२।२५२।२ , वि०प० - १५।१, रा०मा०-१।८१, १।१।श्लोक - ७ ,२।१२६छं० वि०प० - १६।१, रा०मा०-१।४८।१,१।२४७।१,६।६२,२।२३६,

(II)पार्वती:- रा०मा०- १।८१। रा०मा०- १।६८।२, रा०मा०-१।६४, गीतावली- १।७२।२ , रा०मा०-१।७२।४, रा०मा० १।२३५।४, वि०प० - १६।३, वि०प० १५।१, वि०प०- १६।३ , रा०मा०- १।२३५।४, कवितावली- ७।१७३, वि०प० - १५।१। वि०प०- १५।३, रा०मा०- १।४८।१ , कवि० - ७।१७३-७४, वि०प०- १५।१, १६।३, रा०मा०- १।२३६।३ , वि०प०- १५।३-४, १६।१-२, रा०मा०- १।२३६।१ कविता०- ७।१७३, वि०प०- १६।१, रा०मा०- १।२२८, गीताव०- १।७२ ,

३- सगुण एवम् निर्गुण का समन्वय:-

तुलसी के पूर्ववर्ती भक्तों में ही ब्रह्म के निर्गुण एवम् सगुण स्वरूप पर पर्याप्त संघर्ष चला आ रहा था। तुलसीदास ने सगुण और निर्गुण के विद्वेष एवम् वैमनस्य को मिटाते हुये दोनों में समन्वय स्थापित किया है और बताया है कि यद्यपि ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अज, अनघ, अद्वैत, अव्यक्त, अचल, अनीह, अविरल, अनामय, अनारम्भ एवम् अमल है, तथापि वह दीनबन्धु, दयालु, शरणागत वत्सल भक्त वत्सल है, पृथ्वी, गौ, द्विज, सुर, सन्त के परित्राण के लिए एवम् धर्म संस्थापन के लिए सगुण रूप धारण करता है। यही उनकी लीला का प्रयोजन है। अत: तुलसी ने सगुण एवम् निर्गुण विशेषता तथा तटस्थ लक्षण आराध्य राम में सम्पृक्त कर दिए हैं।[२] तथा अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुण सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूपं कहकर स्तुति की है। इस तरह तुलसी ने निर्गुण एवम् सगुण के विवाद की खाई को पाटा है।

१-(I) राम के निर्गुण लक्षण:-

निर्गुण:- रा०मा०० १।२०५, विनयपत्रिका- ५०।८,

सगुण:- रा०मा०- २।२९६।३, गीतावली- ७।७।६

गुणातीत:- रा०मा०- ३।३६।१, गीतावली- ७।२१।१०, वि०प०- २०३।४,

(II) राम के निर्गुण लक्षण:-

अकल:- रा०मा०-१।५०, ६।११०।३, वि०प०- ५५।६०

अशिल:- रा०मा०- ३।११।६, ७।७२।२,

अखण्ड:- रा०मा०- १।११४।२, ३।१३।६, ६।६१।८, ६।१११।८,

शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें:-
अविच्छिन्न :-

विनयपत्रिका- ५१।८, ९८।२,

अव्यक्त:- विनयपत्रिका- ५३।३, रा०मा०- ३।३२ छंद- २ ,

निराकार:- रा०मा०- ७।७२,

अरुप:- रा०मा० १।२२।१ ,१।१४१।१

अलख :- रा०मा० १।३४१।३, २।९३।४,

अनाम:- रा०मा०- १।२२।१ , १।२०५ ,

मायारहित:- रा०मा०- १।१८६। छन्द-२, विनयपत्रिका- ५६।६

मायातीत:- रा०मा०- ६।१२, श्लोक- १,

मायापार:- रा०मा०- १।१९२। ७।२५, दोहावली- ११४

प्रकृतिपार:- रा०मा०- ७।७२।४,

निरुपाधि:- रा०मा०- १।१४४।३ , विनयपत्रिका- ५३।३, ५६।५

निरंजन:- रा०मा०- १।१९८, विनयपत्रिका- ५६।५

निरपेक्ष:- विनयपत्रिका- ५७।४,

विरज:- ~~विनयपत्रिका- ५७।४~~, रा०मा०- ३।११।६, ७।११।४,
विनयपत्रिका- ५३।८, ५५।५

अचल:- विनयपत्रिका- ५६।८,

अनामय:- रा०मा०- ५।३९।१, वि०प०- ५६।८,

विकाररहित:-रा०मा०- १।२३।४, वि०प०-५६।८ ,

शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें:-

अमल:- रा०मा०- ३।११।६

अनघ:- रा०मा०- ५।१ श्लोक १, ६।११०।३, वि०प०-५१।८,५६।८,

अनवद्य:- रा०मा०- ३।११।६, ६।१११।८, वि०प०-५०।८।५६।८,

अज:- रा०मा०- ४।२६।६, वि०प०- ५३।३, दोहा- ११४

नि:सीम:- विनयपत्रिका- ५६।५

अविनाशी:- रा०मा०-१।१२०।३, ३।३०।६, गीतावली- ७।३८।१

ज्ञानगोतीत:- रा०मा०- ७।२५, दोहा०- ११४

अन्तर्यामी:- रा०मा०- १।१२१।२

राम के सगुण लक्षण:-

कृपालु:- विनय पत्रिका- १३६।४, रा०मा०-४।१२।२, गीताव०-१।२५।१, कवितावली- ५।३०, दो०- १२५, रा०प्र०- ५।४।४

दीनदयालु:- वि०प० - १३८।१, रा०मा०-६।७।१, कवि०- ७।७, गी०-५।३८।५,

दीनबन्धु:- रा०मा०-१।२११। वि०प०-८१।१, गीताव०-१।६२।२, दो०१७६

प्रणतप्रेमी:- रा०मा०-६।३।३, ६।७।३ ,

करुणामय :- रा०मा०- २।४०।२

शरण शरण:- कवितावली- ७।१०।१०-११, ७।२१, रा०मा०- ७।५१।२, विनयपत्रिका-२१०।१, गीतावली-५।३२।३, रा०प्र०- ५।६।१,

शेष पिछले पृष्ठ- की पादटिप्पणी देखें:-

ममतालु :- रा०मा०- १।१३।३

परमसनेही:- रा०मा०- ३।२६।४, ६।४६।१

भक्तवत्सल:- रा०मा०- १।४६।४, ३।४।६०१

गरीबनिवाज:-रा०मा०- १।१३।४, वि०प०- ७८।६, गीतावली- ३।१७।२,
कवितावली- ७।१, दो०-५७६, रा०प्र०-३।५।७ ,

रामके तटस्थ लक्षण:-

१- विश्व के परम कारण- वि०प०-५३।७, रा०मा०- ६।१०३।छंद-१

२- सृष्टा और सृष्टि:- वि०प०- ५३।७

३- जगत के निमित्त और उपादान दोनों कारण:-रा०मा०१।१८६छं०३,

४- ब्रह्मादि जनक :- रा०मा०- १।१५०।३

५- सृष्टि के कर्ता, भर्ता, संहर्ता:- रा०मा०-६।७।२, कवितावली- ७।१४६

रा०मा०-१।११६।१- सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा ।
गावहि मुनि पुरान बुध वेदा ।।
सगुन अगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ।
अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।

रा०मा०-७।१३ - जय सगुन निर्गुन रुप रुप अनूप भूप सिरोमने ।

रा०मा०-१।११६- अगुन अरुप अलख अज जोई ।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।

४- ज्ञान कर्म और भक्ति का समन्वय:-

अध्यात्म साधना के तीन स्वतन्त्र मार्ग प्राचीन काल से ही गतिशील थे। तुलसी के समय ज्ञानियों, भक्तों, एवम् कर्मकाण्डियों में बड़ा विवाद चलता था। जिसके फलस्वरुप ज्ञानीजन भक्तों को, एवम् भक्त कर्मकाण्डियों को तुच्छ समझते हुये स्वयं को श्रेष्ठ मानते थे। तीनों - शाखाओं की साधना प्रक्रिया में अन्तर होने से आपस में वैमनस्य एवम् विद्वेष व्याप्त था। क्योंकि कर्मकाण्डी वेदों की यज्ञ विधि के अनुष्ठानजन्य कर्म को श्रेष्ठ मानते थे। उपनिषदों एवम् दर्शनों के तत्व चिन्तन का प्रतिपाद्य परम्तत्व ज्ञानियों के लिए अभीष्ट था और पुराणों में प्रतिपादित ईश्वर प्रेम साधना को भक्त लोग अपना भगवान् समझते थे। कविवर तुलसी ने तीनों साधनों की प्रक्रियाओं को एक ढांचे में ढालकर भगवान् राम को ही तीनों का संलक्ष्य घोषित किया एवम् तीनों मार्गों में एक रुपता सिद्ध की। ज्ञान की श्रेष्ठता की ओर 'कहहिं संत मुनि वेद पुराना' नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना, कहकर तुलसी ने भी संकेत किया। परन्तु तुलसी ने भक्ति के लिए ज्ञान की महत्ता घोषित की। यद्यपि तुलसी ने ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका अथवा ज्ञान के पंथ कृपान के धारा आदि कहकर ज्ञान मार्ग की कठिनाइयों की ओर संकेत किया और भक्ति स्वतंत्र सकल सुख खानी भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ सिद्ध किया। तथापितुलसी ने भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा, कहकर दोनों की समता सिद्ध की। इसके साथ साथ ज्ञानी संत को अनन्य प्रिय बतलाकर भक्त और ज्ञानी में भी एकता सिद्ध की--

> सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
> चहु चतुर कह नाम अधारा।
> ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा। "१

१- रा०मा०- १।२२

तथा साथ ही "जोग अगिनि कर प्रकट तब कर्म सुभासुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ । कहकर उन्होंने ज्ञान को घृत बताया । जिसके द्वारा चित्त रुपी दीपक प्रज्वलित होता है और मोह मदादि शलभ सब नष्ट हो जाते है । इसके साथ ही कहहिं भगति भगवंत के संजुत ज्ञान विराग, कहकर भक्ति को ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त बताकर एकता सिद्ध की । तथा श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजुत विरति विवेक [१] कहकर भी भक्ति और ज्ञान के समन्वय की प्रतिष्ठापना की एवम् श्री वशिष्ठ द्वारा सभी धर्मों एवम् कर्मों का फल हरि-भगति बताकर तादात्म्य स्थापित किया --

जप तप नियम जोग निज धर्मा ।
जहं लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।
आगम निगम पुरान अनेका ।
पढ़े सुनेकर फल प्रभु एका ।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर
सब साधन कर यह फल सुन्दर । [२]
नाना कर्म धर्म व्रत दाना ।
संजम दम जप तप मख नाना ।
भूत दया द्विज गुर सेवकाई ।
विद्या विनय विवेक बड़ाई ।।
जहं लगि साधन वेद बखानी ।
सबकर फल हरि भगति भवानी ।। [३]

१- रा०मा०- ७।१००
२- रा०मा०- १।४९।४
३- रा०मा०- ७।१२६।३-४

५- ब्राह्मण और शूद्र का समन्वय:-

तुलसी के समय में छुआ छूत, अस्पृश्यता ने मानवता के भीतर भी अपनी जड़े जड़ित कर ली थी । ब्राह्मण भक्त शूद्र को जाति से हेय समझकर उससे विद्वेष करते थे । इस तरह सर्वत्र वैमनस्य छाया था। तुलसी ने भरत और निषाद के बीच भक्ति की प्रेमपूर्ण अनन्यता में एकरूपता दिखाकर तथा वशिष्ठ ने केवट को हृदय से स्पर्शकर इस संकीर्णता , अस्पृश्यता के भेद को समता में अभिव्यक्त किया --

भेंटत भरत ताहि अति प्रीती ।
लोग सिहाहिं प्रेम के रीती ।।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता ।
मिलत पुलक परिपूरित गाता ।।

वशिष्ठ:- प्रेम पुलकि केवट कहि नामू ।
कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू ।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा ।
जनु महिं लुटत सनेह समेटा ।।[१]

६- रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्ग का समन्वय:-

कहा जाता है कि तुलसी रामानन्द के शिष्य-सम्प्रदाय में नरहर्यानंद के शिष्य होने के कारण रामावत सम्प्रदाय में ही दीक्षित हुए थे ।[२]

१- रा०मा०- २।१९४, २।२४३ ,

२- उपाध्याय- आचार्य बल्देव - भागवत सम्प्रदाय ,

रामावत सम्प्रदाय में राम को ही परब्रह्म माना गया है तथा ब्रह्म के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार नामक पांच रूप माने गये हैं। इन्हीं रूपों में इनकी आराधना एवम् अर्चना होती है। तुलसी ने उक्त रूपों के अनुकूल ही 'रामचरितमानस' में भगवान् राम का चित्रण किया है, परन्तु इसके साथ ही पुष्टिमार्ग के अनुसार ब्रह्म की कृपा अथवा अनुग्रह को ही सर्वोपरि बताया है और सिद्ध किया है कि कितनी ही पूजा, अर्चना एवम् उपासना की जाये, किन्तु भगवान् की कृपा बिना कभी कुछ नहीं होता। इसीलिए तुलसी ने 'तुम्हरिहि कृपा तुमहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन' कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान् की कृपा से ही भगवत्-साक्षात्कार होता है। साथ ही बिना भगवान् की कृपा के राम-भक्ति भी प्राप्त नहीं होती। इसलिए तुलसी लिखते हैं --

> राम भगति मनि उर बस जाके।
> दुख लवलेस न सपनेहुं ताके।।
> चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं।
> जे मनि लागि सुजतन कराहीं।।
> सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।
> राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।।[1]

इस प्रकार राम की भक्ति में भी राम की कृपा की महत्ता प्रदर्शित करते हुए और 'रामचरितमानस', 'गीतावली', 'कवितावली' आदि में बाल-रूप भगवान् राम की भक्ति का निरूपण करके तुलसी ने रामावत-सम्प्रदाय एवम् पुष्टिमार्गीय मत में भी सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

१- रा०मा०- ७।१२०क।५-६

७- अद्वैतवाद एवम् विशिष्टाद्वैतवाद का समन्वय:-

तुलसी ने दार्शनिक विचारों में भी समन्वय स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया है। तुलसी से पूर्व सभी भक्त्याचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करके अपने-अपने मत की स्थापना की थी। इसीलिए रामानुजाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का विरोध करके अपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया, मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रचार किया, विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया और निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद का प्रचार किया था। यद्यपि गोस्वामी जी रामानुजाचार्य के मतानुयायी होने के कारण विशिष्टाद्वैत मानते थे और इसी कारण अपने जीवन को ईश्वर का अंश कहकर ईश्वर की ही भांति चेतन, अमल, अविनाशी आदि कहा है।[1] ब्रह्म को सगुण, निर्गुण, अवगुण, अरूप, अलख, अज आदि कहकर विशिष्टता प्रदान की है।[2] तथा "पल्लवत फूलत नवल नित संसार-विटप नमामहे" तथा "जो जग मृषा ताप-त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे" आदि कहकर विशिष्टाद्वैतवादियों की भांति संसार को नित्य, शाश्वत एवम् अविनाशी घोषित किया है, परन्तु अन्य स्थलों पर तुलसी ने शंकर के अनुसार ही ब्रह्म को अज, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सत्य आदि

१- रा०मा०- ७।११७क।२-३ - ईश्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो माया बस भयउ गोसाईं।
बंध्यो कीर मर्कट की नाईं।।

२- रा०मा०- १।१।६।१- अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।

कहा है, जीव को ब्रह्म-स्वरूप और जगत् को सोपाधिक एवं मिथ्या बताया है।[1] यथा अविद्या-माया का निरूपण भी शंकर की ही भांति किया है-- समुझें मिथ्या सोपि। इस तरह तुलसी विचारों में अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का भी समन्वय मिलता है और इसके द्वारा तुलसी ने दार्शनिक विद्वेष एवम् वैमनस्य को दूर किया है।

८- नर और नारायण का समन्वय:-

तुलसी से पूर्व राम का महत्व दशरथ के पुत्र के रूप में ही था। उन्हें कोई भी परात्पर ब्रह्म, अज एवम् अविनाशी नहीं मानता था। इसलिए कबीर ने 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना' कहकर राम के दशरथ- पुत्र - रूप को ब्रह्म से पृथक् कहा था। परन्तु तुलसी ने 'भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी' कहकर उन्हीं ब्रह्म को कौशल्या-पुत्र या दशरथ -सुत के रूप में अवतरित दिखाकर[2] अपने इष्टदेव को साधारण मानव या नर से ऊपर उठाते हुए नारायण के ब्रह्म-पद पर आसीन कर दिया है। इसी कारण तुलसी के राम अवतारी पुरुष ~~नरस्वरूप~~ के होकर भी अज, अनवद्य, अरूप एवम् अचल हैं, सगुण होकर भी निर्गुण एवम् निर्विकार हैं,

---

१-(क)- रा०मा०- सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होई जाई।।

(ख)- रा०मा० - जनमु मरनु जहं लगि जगजालू।
संपति बिपति करमु अरु कालू।।
धरनि धामु धन पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहं लगि व्यवहारू।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मनमाहीं।
मोहमूल परमारथ नाहीं।।

देखिए पादटिप्पणी- २ अगले पृष्ठपर--

अनिकेत होकर भी अवधवासी हैं, शील एवम् सौन्दर्ययुक्त होकर भी अखण्ड, अनन्त एवम् व्यापक हैं। इस प्रकार तुलसी ने राम के रूप में नर और नारायण का अथवा मानव और ब्रह्म का सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

६- राजा और प्रजा का समन्वय:-

तुलसी के काल में राजा और प्रजा के बीच गहरी खाई बनती जा रही थी। राजा प्रजा से कहीं अधिक श्रेष्ठ, उन्नत एवम् महान् समझा जाता था और ईश्वर का रूप माना जाता था। इस भावना का परिणाम यह हुआ कि 'दिल्लीश्वरो व जगदीश्वरो वा' कहकर दिल्लीश्वर की प्रशंसा की गयी। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में राजा और प्रजा के कर्तव्यों का निर्धारण करते हुए दोनों के सम्यक् रूप की व्यवस्था की और बताया कि 'सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिबु होई' अर्थात् राजा को मुख के समान और प्रजा को कर, पद एवं नेत्र के समान राजा का हितैषी होना चाहिए। इतना ही नहीं 'मुखिया मुख सों चाहिए खान-पान कहुं एक। पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक' कहकर तुलसी ने राजा को मुख के तुल्य बताते हुए अपनी प्रजा के पालन-पोषण के लिए ही वस्तुओं का संग्रह करने वाला कहा है। इस प्रकार शरीर में जिस तरह मुख तथा अन्य अंगों का समन्वय रहता है, उसी तरह तुलसी ने राजा और प्रजा के समन्वय पर जोर दिया।

देखिए- पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी:

रा०मा०-१।११८।३,

२- बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना।

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्याना।

सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान।।

१०-पारिवारिक क्षेत्र में समन्वय:-

तुलसी ने धर्म एवम् समाज के क्षेत्र में ही समन्वय स्थापित नहीं किया, अपितु पारिवारिक क्षेत्र के अन्तर्गत पिता और पुत्र में, पति-पत्नी में, सास और पुत्रवधू से, भाई-भाई, स्वामी और अनुचर में तथा पत्नी-सपत्नी में भी समन्वय स्थापित किया है। इसी कारण तुलसी के राम पिता के जितने भक्त हैं, उतने ही वे माताओं के भी भक्त हैं और माता-पिता भी राम के उतने ही भक्त हैं। ऐसे ही जितना आदरण बधुएं अपनी सासों का करती हैं, उतना ही स्नेह उन्हें सासों से भी प्राप्त है। साथ ही जितना स्नेह एवम् प्रेम राम अपने भाइयों से करते हैं, उतना ही स्नेह एवम् प्रेम उन्हें अपने भ्राताओं से भी प्राप्त होता है और जितना प्रेम राजा दशरथ या राजा राम अपने सेवकों से करते हैं उतना ही प्रेम उन्हें सेवकों से प्राप्त होता है। इस प्रकार तुलसी ने पारिवारिक जीवन में समन्वय स्थापित करते हुए एक आदर्श परिवार की प्रतिष्ठा की है।

११- साहित्यिक क्षेत्र में समन्वय :-

तुलसी ने धर्म, राजनीति, परिवार एवम् समाज के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी सुन्दर समन्वय की स्थापना की है। यही कारण है कि तुलसी ने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं का समन्वय करके 'रामचरितमानस' की रचना की है, इसलिए हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत भाषा के श्लोकों की रचना करके तथा 'मानस' और 'विनयपत्रिका' के स्तोत्रों में संस्कृत- गर्भित हिन्दी का प्रयोग करके संस्कृत और हिन्दी का सुंदर समन्वय किया है, इसी कारण अपनी रचनाओं में वर्णिक और मात्रिक छंदों का प्रयोग करके छंद- संबंधी समन्वय को भी स्थान दिया है, इसलिए लम्बी-लम्बी समासांत पदावली -युक्त क्लिष्ट रचना-शैली तथा सरल एवं सुबोध शैली को

अपनाते हुये 'विनयपत्रिका' में शैलीगत समन्वय को भी अपनाया है, और 'मानस' में विवरणात्मक कथा-रूप के साथ-साथ राम एवम् शिव-सम्बन्धी स्तोत्रों की रचना करके कथा-शैली एवम् स्तोत्र -शैली का भी समन्वय किया है, जिसमें पौराणिक एवम् ऐतिहासिक शैली का भी समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह तुलसी ने विभिन्न ग्रन्थों से राम-कथा को लेकर ऐसे सुन्दर कथा-सम्बन्धी समन्वय की स्थापना की है, जिससे 'निगमागम सम्मत' होकर भी 'रामचरितमानस' सर्वथा अद्भुत, अलौकिक एवम् मौलिक दिखाई देता है। इतना ही नहीं, तुलसी ने दोहा-चौपाई- पद्धति पर 'मानस' लिखकर, पद-पद्धति पर 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' लिखकर, बरवै पद्धति पर 'बरवैरामायण' लिखकर तथा लोकगीत-पद्धति पर सोहर छंद में 'रामलला नहछू' लिखकर तत्कालीन साहित्य में प्रचलित सभी रचना-पद्धतियों में भी सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

सारांश यह है कि तुलसी एक उच्चकोटि के समन्वयवादी कवि थे। उन्होंने जीवन और जगत् के सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया और अपने समन्वयवादी विचारों द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त विषमता, विद्वेष, वैमनस्य, कटुता आदि को दूर करके पारस्परिक स्नेह, सौहार्द, समता, सहानुभूति आदि का प्रचार किया। इसलिए तुलसी एक उच्चकोटि के कवि, महान् लोकनायक, सफल समाज-सुधारक, भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ प्रचारक एवम् समाज में उनन्त आदर्श के संस्थापक कहलाते हैं।

डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना के शब्दों में -- गोस्वामी तुलसीदास भी उन्हीं सन्त कवियों में से एक थे, जिन्होंने तत्कालीन परिस्थिति का गहराई के साथ अध्ययन एवम् अनुशीलन करके समाज में व्याप्त विषमता को दूर करने के लिए समन्वय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है और स्वयं धर्म, राजनीति,

समाज , साहित्य आदि के क्षेत्रों में यथासम्भव समन्वय स्थापित करते हुए पारस्परिक विरोध एवम् वैषम्य को दूर कर दिया । इस समन्वय के लिए तुलसी ने सामाजिक ,पारिवारिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सभी क्षेत्रों को चुना और इन सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करते हुए तत्कालीन जन जीवन में व्याप्त घोर अशांति, पापाचार, अ- अनाचार , अधार्मिकता , विषमता आदि को दूर करने की सफल चेष्टा की । अपने इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण तुलसी लोकनायक भी कहलाते हैं और गौतम बुद्ध के पश्चात् आपको ही लोकनायकत्व का महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है ।

षष्ठम-अध्याय

भक्ति के पात्र एवं उनके उद्गार

(अ) भागवत में

(ब) तुलसी-साहित्य में

षष्ठम्- अध्याय

भक्ति के पात्र एवम् उनके उद्गार

(क)- श्रीमद्भागवत में :-

श्रीमद्भागवत संस्कृत वांगमय के अन्तर्गत "वैष्णव सम्प्रदाय" का अद्वितीय ग्रंथ है। इसकी उपादेयता धार्मिक एवम् आध्यात्मिक सरणि में ख्याति जन्य है महर्षि वेद व्यास ने सरिताओं में गंगा देवों में भगवान विष्णु और वैष्णवों में श्री शिव के समान पुराणों में इसे सर्व श्रेष्ठ बतलाकर इसकी लोकप्रियता का प्रमाण सिद्ध किया है।[१] जिस प्रकार सब तीर्थों में काशी अग्रगण्य है उसी प्रकार पुराणों में यह सर्व पूज्यमान ग्रंथ आदरणीय है। इसमें वेद वेदान्त का सारभाग निचोड़कर भर दिया गया है।[२] इसमें श्री शुकदेव के मुख का निर्गित रस है।[३] वैरागियों एवम् परमहंसों का विशुद्ध ज्ञान है एवम् महापुरुषों के भावात्मक प्रवचन का श्रुति सम्मत सार है।[४] श्रीमद्भागवत में भगवान विष्णु के २४ अवतारों की लीलाओं का चरितांकन है, जिनमें सभी भक्त पात्रों के उद्गारों को उद्धृत करना शोध की सीमाओं का अतिक्रमण करना है। अतः कतिपय भक्त पात्रों के भक्ति सम्बन्ध उद्गारों का यहां विवेचन करना अभीष्ट समझेंगे - भागवतकार ने भगवान ब्रह्मा, भगवान शिव, यम, देवर्षि नारद सनत्कुमारादि ऋषि बालक, महामुनि कपिल, महाराज मनु भक्त प्रहलाद, विदेह जनक,

---

१- श्रीमद्भागवत- १२।१३।१६

२- श्रीमद्भागवत- १२।१३।१८

३- श्रीमद्भागवत-

४- श्रीमद्भागवत-

षष्ठम्- अध्याय

भक्ति के पात्र एवम् उनके उदगार

(क)- श्रीमद्भागवत में :-

श्रीमद्भागवत संस्कृत वांगमय के अन्तर्गत "वैष्णव सम्प्रदाय" का अद्वितीय ग्रंथ है। इसकी उपादेयता धार्मिक एवम् आध्यात्मिक सरणि में ख्याति जन्य है।महर्षि वेद व्यास ने सरिताओं में गंगा देवों में भगवान विष्णु और वैष्णवों में श्री शिव के समान पुराणों में इसे सर्व श्रेष्ठ बतलाकर इसकी लोकप्रियता का प्रमाण सिद्ध किया है।[1] जिस प्रकार सब क्षेत्रों में काशी अग्रगण्य है उसी प्रकार पुराणों में यह सर्व पूज्यमान ग्रंथ आदरणीय है। इसमें वेद वेदान्त का सारभाग निचोड़कर भर दिया गया है।[2] इसमें श्री शुकदेव के मुख का निर्मित रस है।[3] वैरागियों एवम् परमहंसों का विशुद्ध ज्ञान है एवम् महापुरुषों के श्रेयात्मक प्रवचन का श्रुति सम्मत सार है।[4]श्रीमद्भागवत में भगवान विष्णु के २४ अवतारों की लीलाओं का चरितांकन है, जिनमें सभी भक्त पात्रों के उदगारों को उद्धृत करना शोध की सीमाओं का अतिक्रमण करना है। अतः कतिपय भक्त पात्रों के भक्ति सम्भव उदगारों का यहां विवेचन करना अभीष्ट समझेंगे - भागवतकार ने भगवान ब्रह्मा, भगवान शिव, यम, देवर्षि नारद सनत्कुमारादि ऋषि बालक, महामुनि कपिल, महाराज मनु भक्त प्रहलाद, विदेह जनक,

---

१- श्रीमद्भागवत- १२।१३।१६

२- श्रीमद्भागवत- १२।१३।१४

३- श्रीमद्भागवत-

४- श्रीमद्भागवत-

पितामह भीष्म, दैत्यराज बलि तथा परमहंस शुकदेव आदि द्वादश भक्ति के आचार्यों का उल्लेख किया है ।[१] जिन्होंने ही भागवती भक्ति का प्रचार एवं प्रसार भक्ति के विविध अवयवों द्वारा अक्षुण्य रूप से शाश्वत रखा है । जिनका अनुकरण कृपानुकूल भक्तगण तथा अवतारी भगवान के लीला परिकर के पात्रादि करते आये हैं -- वैसे श्रीमद् भागवत की रचना का उद्देश्य भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति को प्राप्त करना ही है ।[२] वही वेदों के तात्पर्य है , यज्ञों के उद्देश्य है, योग के लक्ष्य है तथा समस्त कर्मों की परिसमाप्ति के हेतु है ।[३] वही ज्ञान से प्राप्त होने योग्य ब्रह्म स्वरूप है वही तपस्या के आवेय है , वही सब गतियों एवं धर्मों के अधिष्ठान रूप हैं ।[३] वैसे श्रीमद् भागवत महापुराण में सर्ग[५] विसर्ग[६] स्थान[७] और[८] मन्वन्तर[९] ईश कथा[१०] निरोध[११] मुक्ति[१२] और आश्रय[१३] इन दस (भागवत) लक्षणों (विषयों)का विस्तार से वर्णन किया गया है ।[१४] अब हम श्रीमद् भागवत में वर्णित भक्तों के उद्गार उद्धृत करेंगे --

---

१- श्रीमद्भागवत- ६।३।२०-२१
२- ,, १।२।६, १।१।१
३- ,, १।२।२८
४- ,, १।२।२९
५- ,, २।१०।३
६- ,, २।१०।३
७- ,, २।१०।४
८- ,, २।१०।४
९- ,, २।१०।४
१०- ,, २।१०।४
११- ,, २।१०।५
१२- ,, २।१०।६
१३- ,, २।१०।७
१४- ,, २।१०।१

१- भक्तिमती कुन्ती :-

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत द्वापर युग में भक्तिमती कुन्ती जैसी दात्राणी का जन्म होना इतिहास के लिए गौरव की बात है। युगानुकूल नारी जगत इस महा साध्वी से प्रेरणा लेकर संसार की नश्वरता एवं लोक धर्म की शिक्षात्मक प्रेरणा ग्रहण कर सकती है। जिन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से अपने जीवन का सार भूत तत्व विपत्ति को ही वर के अभीष्ट रूप में याचना की था। कि हे भगवन। मेरे जीवन के पगपग पर विपत्तियां ही आती रहे और इन विपत्तियों में आपकी स्मृति बनी रहे और आपके दर्शन लाभ से जन्म मृत्यु रूप संसार चक्र से छूट सकूं।[१] क्योंकि विपत्ति का रहस्यात्मक मन्तव्य वास्तव में सात्विक जनों का भगवत्स्मरण ही है। उनकी दृष्टि में भगवद्विस्मरण होना ही विपत्ति है और उन (प्रभु) का स्मरण बना रहे यह गहनीय सम्पत्ति है --

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायण स्मृतिः ।।

भक्तिमती कुन्ती की जीवन चर्या पर जब हम विहंगम दृष्टिपात करते हैं तो इनके जीवन में विपत्तिमय यापन को ही प्रमुख मानते हैं। यह परम आदर्श आर्य नारी महात्मा पाण्डवों की माता स्वयं भगवान कृष्ण की सगी बुआ के सम्बन्ध से जानी जाती हैं। पुराण कालीन संस्कृति में ऐसा ही उल्लेख किया गया है।[२]

१- श्रीमद् भागवत - १।८।२५

२- महाभारत -

ये भगवान कृष्ण के पिता वसुदेव की सगी बहिन तथा राजा कुन्तीभोज की कन्या स्वरुप गोद में प्रदत्त की गयी थी । इनका बचपने का नाम प्रथा था । राजा कुन्ती भोज के यहां इनका पालन पोषण होने से कुन्ती के नाम से विख्यात हुयी । इनका स्वभाव बाल्यकाल से ही धर्मपरायण एवम् भगवत्मुखी था । वह सदाचारिणी के साथ-साथ संयम शीला भी थीं । आतिथ्य सेवा में उनकी विशेष अभिरुचि होने के कारण ब्राह्मण देवता के वेष में उग्रतपा महर्षि दुर्वासा ने इनकी सेवा शुश्रुषा से प्रसन्न होकर अमूल्यमान- अथर्ववेद के शिरोभाग से निकले हुये मंत्रों का वर प्रदत्त किया था । इन मंत्रों के अनुष्ठानात्मक प्रभाव से देवता लोग अधीन होकर मुंह मांगा वर देंगे, जिनके फलस्वरुप वरयिता कुन्ती ने धर्मादि देवताओं द्वारा युधिष्ठिर आदि पुत्रों को जन्म दिया । कुन्ती का परिणयोत्सव महाराज पाण्डु के साथ हुआ । वह बड़े संयमी एवम् धर्मात्मा थे । इनके पति द्वारा भूल से मृगरुपधारी किन्दममुनि की हिंसा होने के कारण उनके मन में बड़ा पश्चाताप, मन: ग्लानि एवम् निर्वेद से दुखित होकर राज्यपाट त्यागकर वन में तपस्या करने चले गये । कुन्ती पतिभक्ता होने के कारण उनका अनुशरण किया। पति के साथ इन्द्रियों को वश में करके काम जन्य सुख को तिलान्जलि देकर पतिपरायणता में तत्पर रहने लगी । तब से जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया और संयम पूर्वक जीवन यापन करने लगी । पति का स्वर्गवास होने के पश्चात इन्होंने पति के साथ सतीत्व समर्पण की भावना की और बच्चों को अपनी सौत बहिन माद्री को सौंप दिया तब माद्री ने इस प्रस्ताव का विरोध कर कहा, हे बहिन ! मैं अभी युवती हूं अत: मैं भी पतिदेव का अनुगमन करुंगी तुम मेरे बच्चों को संभालकर रखना । कुन्ती माद्री की बात मानकर बच्चों के लालन पालन में विरक्त की भांति एकाग्र रहने लगी। और उनके भी पुत्रों को अपने पुत्र से बढ़कर समझने लगी । पति की मृत्यु के बाद कुन्ती का जीवन बराबर कष्ट के साथ व्यतीत होने लगा । पर

उन्होंने कष्ट की परवाह न करके लोक धर्म की रक्षा की। और दुर्योधन के अत्याचारों को वे चुपचाप सहन करती रहीं - लाक्षागृह से अपने पुत्रों के प्राणों की रक्षाकर एक चक्रा नगरी में रहकर भिक्षा-वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करने लगी। वहां की ~~प्रजा~~ प्रजा पर भी भारी संकट बकासुर राक्षस का था। ब्राह्मण के घर आश्रिता होने के कारण इन्होंने अपने गृहस्वामी के प्राण की रक्षा हेतु बकासुर राक्षस के यहां भक्षण हेतु अपने बलशाली पुत्र भीमसेन को भेजा। कौन सी माता अपने पुत्र का बलिदान करा सकती है पर कुन्ती ने उऋणता एवं गृह निवास के कर्तव्य की भूमिका निभायी।

द्यूत क्रीड़ा में द्रौपदी का अपमान एवं पाण्डवों के वन गमन के समय आपको महात्मा विदुर के यहां जीवन निर्वाह करना पड़ा। महा-भारत के महायुद्ध में दुर्योधनादि की मृत्यु के पश्चात आपने राजमाता पद को तिलान्जलि देकर पुत्रादि शोक विरह धृतराष्ट एवम् गान्धारी अर्थात जेठ और जिठानी के साथ उनकी सेवा सुश्रुषा हेतु ~~उनके~~ उनके साथ वन को स्वीकार किया। इस प्रकार संक्षेप में माता कुन्ती ने कभी भी सांसारिक सुख नहीं भोगा, जब से वे विवाहित होकर आयी, उन्हें विपत्ति का ही सामना करना पड़ा। पति रोगी होने के साथ जंगलों में भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुये उनकी देख रेख में समय बीता। थोड़े दिन पुत्रों के साथ हस्तिनापुर में जाकर रहना पड़ा वहां भी आश्रित रूप में जीवन निर्वाह किया। फिर लाक्षागृह में किसी प्रकार पुत्रों को लेकर भागीं और भिक्षा के अन्न द्वारा जीवन बिताती रहीं। थोड़े दिन राज्य सुख भोगने का समय आया कि धर्म राज युधिष्ठिर कपट के जुएं में सर्वस्व हार कर वनवासी बने। मध्य समय विदुर के घर पर पराश्रिता हेतु बीता। युद्ध की परि-समाप्ति में परिवार जनों का संहार हुआ, और पुत्रों को विजय प्राप्त हुई,

पर वे पाण्डवों के साथ राज्य भोग में सम्मिलित नहीं हुईं। इसप्रकार सम्पूर्ण जीवन की घटना चक्र विपत्तियों के घेरे में ही चलता रहा। और भगवान के स्मरण की सुधि विस्मृत नहीं हुई। भागवत के भक्त पात्रों में भक्तिमती कुन्ती का स्थान प्रशंसनीय है।

श्रीमद् भागवत में भक्तिमती कुन्ती भगवान कृष्ण से प्रार्थना करती हुयी कहती हैं कि हे भगवान! जैसे गंगा की अखण्ड धारा समुद्र में गिरती है वैसी ही मेरी बुद्धि किसी अन्यत्र न जाकर आपके ही स्वरुप में निरन्तर एकाग्र एवम् अनुरक्त रहे।[1] क्योंकि भक्त जन आपके स्वरूप का ही बार बार ध्यान करते रहते हैं और दिव्य चरित्र का गान, कीर्तन और स्मरण करके आनन्दित होते हैं और दुर्लभ आपके चरण कमल का अविलंब दर्शन करके जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[2] इसलिये भगवन मुझे विपत्ति स्वरुपा आपका स्मरण वान्छनीय है।[3]

२- परीक्षित के उद्गार:-

यह पाण्डव शिरोमणि वीर अभिमन्यु के पुत्र तथा भगवान कृष्ण के सखा अर्जुन के पौत्र थे। शमी के पुत्र द्वारा शाप देने पर आप अन्न जल त्याग के व्रत को लेकर गंगातट पर महर्षि शुकदेव जी से भागवत कथा के श्रवण से ही आपने मुक्ति का परम लाभ प्राप्त किया है। श्रीमद्भागवत में आप प्रमुख श्रोता हैं, अतः भक्ति विषयक आपके उद्गार अवेक्षणीय हैं- "जिनकी तृष्णा की प्यास सदा के लिए शान्त हो चुकी है, ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष भी पूर्ण प्रेम से अतृप्त रहकर भगवान श्रीकृष्ण के सुन्दर रसीले गुणानुवादों की महिमा का गायन ही किया करते हैं। क्योंकि उनके अपार्थिव गुणानुवाद मुमुक्षुओं के लिए भवरोग की साक्षात् रामबाण औषधि है, विषयी एवम् पशु घाती तथा आत्महन्ता के लिए यह कान और मन को आह्लाद प्रदान करने वाली अलौकिकी परमशान्ति प्रदायक गाथा है।[4]

१- श्रीमद्भागवत- १।८।४२ 　 २- श्रीमद्भागवत- १।८।२५

३- श्रीमद्भागवत- १।८।३६ 　 ४- श्रीमद्भागवत- १०।१।४

३- भीष्म-पितामह:-

आप महाराज शान्तनु के पुत्र थे आपका एक नाम गंगा सुत भी है। आपने पिता निमित्तार्थ आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर जो सात्विक जीवन का निर्वाह किया, वह महाभारत कालीन संस्कृति में अनुपम एवम् असाधारण है। इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण आप भीष्म कहलाए। हस्तिनापुर के प्रति आपकी राष्ट्र भक्ति आपके व्यक्तित्व को प्रख्यापित करती है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में महाभारत के महायुद्ध की समाप्ति पर मृत्यु शय्या पर लेटे-लेटे आपने जो कौरव, पाण्डव एवम् श्रीकृष्ण के समक्ष धर्म, नीति एवं मोक्ष का उपदेश किया वह भक्ति का साक्षात् प्राण है। जीवन के प्रयाण काल में आप द्वारा की गयी भगवान कृष्ण की स्तुति आपको परम भक्त सिद्ध करती है, आपकी त्याग, निष्ठा एवम् अनासक्ति आपके जीवन का सिद्धान्त है-- अत: आपके उदगार अवलोकनीय हैं -- जिनकी लटकीली सुन्दर चाल हाव- भाव युक्त चेष्टाएं, मधुर मुस्कान और प्रेम भरी चितवन से अत्यन्त सम्मानित गोपियां रासलीला में उनके अन्तर्धान हो जाने पर प्रेमोन्माद से मतवाली होकर जिनकी लीलाओं का अनुकरण करके तन्मय होगयी थी। उन्हीं भगवान कृष्ण में मेरा परम प्रेम हो।[१] जिनका शरीर त्रिभुवन सुन्दर एवम् श्याम तमाल के समान सांवला है, जिसपर सूर्य रश्मियों के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता रहता है और कमल सदृश मुख पर घुंघराली अलकें लटकती रहती है, उन अर्जुन सखा श्रीकृष्ण में मेरी निष्कपट प्रीति हो।[२] मुझ आततायी ने तीखे बाण मार-मार कर उनके शरीर का कवच तोड़ डाला था, जिससे सारा शरीर लहू लुहान हो रहा था, अर्जुन के रोकने

१- श्रीमद्भागवत- १।६।४०

२- श्रीमद्भागवत- १।६।३३

पर भी वे बल पूर्वक मुझे मारने के लिए मेरी ओर दौड़े आ रहे थे। वे ही भगवान श्रीकृष्ण जो ऐसा करते हुये भी मेरे प्रति अनुग्रह और भक्त वत्सलता से परिपूर्ण थे, वे मेरी एक मात्र गति एवं आश्रय हों। [1]

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान कृष्ण ने भक्त उद्धव को आपके ही मोक्ष धर्म की शिक्षा का पाठ सिखाया है। [2]

४- भक्त उद्धव:-

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भक्त पात्रों में परमभागवत उद्धव जी का स्थान अद्वितीय है। उद्धव जी देव गुरु बृहस्पति के प्रिय शिष्य थे। इनकी लोक ख्याति नीति निपुणता एवम् तत्व ज्ञानी के रूप में बहुश्रुत थी। इनका शरीर श्याम वर्ण का तथा मेघ कमल के समान सुन्दर था। यह भगवान कृष्ण के अन्तरंग सखा तथा मंत्री थे। श्रीमद् भागवत में इनका निरूपण दो रूपों में किया गया है। प्रथम कथा संघटना में श्रोता रूप में, द्वितीय आचार्य वक्ता रूप में। जिसप्रकार रामचरित मानस में वक्ता काकभुशुण्डि जी द्वारा गरुड़ जी को ज्ञानदीपक तथा भक्ति का जो उपदेश विवेचित किया गया। उसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भगवान - कृष्ण द्वारा उद्धव को भक्ति संजीवनी तथा ज्ञानदीप का उपदेश मुखरित किया गया।[3] अर्थात उद्धव जी श्रोता के रूप में उक्त प्रसंग में अनुस्यूत किये गये। द्वितीय

१- श्रीमद्भागवत- १।६।३८

२- श्रीमद्भागवत- ११।१६।१३-१८

३- श्रीमद्भागवत-

परिदृश्य आचार्य, वक्ता का आता है। भगवान कृष्ण भक्त उद्धव को विरह विधुरा गोपियों के यहां ब्रज प्रदेश में सान्त्वना हेतु भेजते है । यहां उनका आचार्य स्वरूप दर्शनीय है। जब भक्त उद्धव ब्रज के परिजनों के लिए श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर सान्त्वनार्थ जाते है तब नन्द गोपादि बड़े स्नेह से कृष्ण सखा का आतिथ्य सत्कार करते हैं और ब्रज-बृजांगनाएं एकान्त में उद्धव जी को घेरकर भगवान श्याम सुन्दर की कुशल क्षेम पूंछते है। उद्धव जी योग तथा ज्ञानपद्धति द्वारा सर्वत्र श्रीकृष्ण की व्याप्ति सदृश कहते हैं कि हे ब्रजदेवियों ! श्रीकृष्ण तो सर्वव्यापी परमेश्वर हैं, उनका अधिवास तुम्हारे हृदय एवम् चराचर में है। उनसे तुम्हारा नित्य संग है और उनसे तुम्हारा वियोग हो ही नहीं सकता उनको समत्व भावद्बुद्धि द्वारा सर्वत्र देखने का प्रयास करो ।[१]

महाभाव रसयिता ब्रजांगनाओं को इस शुष्क ज्ञान से सन्तुष्टि न मिली और विरह विधुरा श्रीकृष्ण के वियोग में फूट-फूट कर क्रन्दन करने लगी। और उद्धव से कहने लगी कि हम भी दिन रात मुकुटधारी की स्मृति में संयोग की राह देखती ही रहती हूं। उन्हें कालिन्दी के पुलिन में, वृक्षों में, लताओं में, कुन्जों में सर्वत्र कमल लोचन का ही दर्शन करती हूं। हमारे हृदय में वह श्याम मूर्ति एक क्षण के लिये भी अदृश्य नहीं होती और इतना कहकर सभी गोपियां जोरों से विलाप करने लगी ।[२]

उद्धव जी ने जब इसप्रकार की अविच्छिन्न महाभाव धारणा देखकर आश्चर्य चकित हो गये क्योंकि उनके हृदय में तत्वज्ञान से परमात्म प्राप्ति का गर्व था वह भी गोपियों के अलौकिक एवम् अनन्य प्रेम के समक्ष नष्ट होगया है। उन्हें देखकर अभिलाषा करने लगे कि- मैं तो इन

१- श्रीमद्भागवत-

२- श्रीमद्भागवत-

गोपकुमारियों की चरण रज की वन्दना करता हूं जिनके द्वारा की गयी श्री हरि की कथा तीनों लोकों को पवित्र करती है।[1] इस पृथ्वी पर जन्म लेना तो इन गोपांगनाओं का ही सार्थक है। क्योंकि भवभय से भीत मुनिगण तथा हम सब भी जिसकी इच्छा करते हैं, निखिलात्मा श्री नन्दनन्दन में इनका वही दृढ़ अनुराग है। श्रुति जिन भगवान मुकुन्द का अब तक अन्वेषण ही करती है उन्हीं को इन लोगों ने स्वजन तथा घर की आसक्ति एवम् आर्यपथ- लौकिक मर्यादाओं का मोह छोड़कर प्राप्त कर लियाहै। अत: मेरी तो इतनी ही लालसा है कि मैं इस वृन्दावन में कोई भी लता, भाड़ी, तृण आदि हो जाऊं जिससे इनकी पदधूलि मुझे मिलती रहे।[2] क्योंकि स्वयं भगवती लक्ष्मी जी जिनकी पूजा करती रहती हैं। ब्रह्मा शंकर आदि परम समर्थ देवता पूर्ण काम, आत्माराम तथा बड़े- बड़े योगेश्वर अपने हृदय में जिनका चिन्तन करते रहते हैं। इन गोपियों ने भगवान कृष्ण के उन्हीं चरणारविन्दों से रास लीला के समय अपने वक्ष स्थल पर रखकर आलिंगन द्वारा जलन और विरह ताप शान्त किया है।[3] गोपियों के इस अलौकिक प्रेम में मस्त हो गये और तत्पश्चात द्वारिका में श्रीकृष्ण के पास चले गये। श्रीकृष्ण अपने राजकार्यों में उद्धव जी से सम्मति लिया करते थे। भगवान के स्वधाम प्रस्थान करते समय जब द्वारिका में अपशकुन होने लगे तो महात्मा उद्धव विह्वल होकर श्रीकृष्ण के चरणों में प्रार्थना करने लगे - कि हेभगवन! मैं आपका दास हूं। आपका उच्छिष्ट प्रसाद, आपके द्वारा दिए गये वस्त्रा भरण से ही मैंने जीवन का

१- श्रीमद्भागवत- १०।४७।५८

२- श्रीमद्भागवत- १०।४७।६१

३- श्रीमद्भागवत- १०।४७।६२

निर्वाह किया है। प्रभो ! मुझे न त्यागकर अपने धाम अकिन्चन को ले चलिए।[1] तब भगवान ने तत्व ज्ञान का उपदेश देकर बदरिकाश्रम, में रहने की आज्ञा दी। मेरे समकक्ष ज्ञान वाले उद्धव ही परम है वह पिपासुओं को ज्ञान का दान करते रहेंगे।[2] इस प्रकार भगवान के स्वधाम सिधारने के पश्चात उद्धव जी मथुरा आये और विदुर जी के संसर्ग में भक्ति का सत्संग हुआ। तत्पश्चात भगवान के आदेशानुसार आप स्थूल रूप से बदरिकाश्रम तथा सूक्ष्म रूप से ब्रजप्रदेश के अन्तर्गत गोवर्धन गिरि की लता झाड़ियों में स्थायी निवास करते हैं।

जब महर्षि शाण्डिल्य के उपदेश के द्वारा वज्रनाभ से गोवर्धन गिरि के पास भगवान का संकीर्तन किया तो उद्धव जी ने प्रकट होकर श्रीमद्भागवत की कथा सुनाकर पिपासुओं को भगवान का बोध कराया। --

भगवान के भक्तों में उद्धव का स्थान सर्वश्रेष्ठ बताया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमुख से कहते हैं कि हे उद्धव ! मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय है उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, श्रीबलराम जी एवम् लक्ष्मी जी भी नहीं है। अधिक क्या कहूं तुम्हारे बराबर मुझे अपना आत्मा भी प्रिय नहीं।[3]

भक्त उद्धव इसीलिये दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ जब वेदाध्ययन, इन्द्रिय संयम तथा अन्य पुण्य कर्मों के साधनों की सफलता श्रीकृष्ण की भक्ति प्राप्त में ही मानते हैं।[4]

१- श्रीमद्भागवत-

२- श्रीमद्भागवत-

३- श्रीमद्भागवत- ११।१४।१५

४- श्रीमद्भागवत- १०।४७।२४

५- श्री नारद जी:-

श्री नारद जी भगवद् गुणानुवाद एवं कीर्तन गायन के लिए प्रसिद्ध है। भक्ति के आदर्श आचार्यों में आपका नाम भी सम्मिलित है। आप भगवान ब्रह्मा के विशुद्ध सत्व गुण से अवतरित हुये मानस पुत्र है। भगवान विष्णु के अवतारों की प्रत्येक लीला में आपकी अद्वितीय भूमिका है। श्रीमद्भागवत में आपने भक्त प्रह्लाद स्वम को ज्ञानोपदेश एवं सभी अवतारी महापुरुषों की स्तुतियों से आत्मसमर्पण एवम् निवेदन भाव अभिव्यक्त किया है। अतः आपके उद्गार अवेक्षणीय हैं --"सन्तों के परमाश्रय भगवान श्रीकृष्ण के नाम गुण लीला आदि का श्रवण कीर्तन स्मरण उनकी सेवा पूजा और नमस्कार उनके प्रति दास्य, सख्य और समर्पण इत्यादि मनुष्यों का श्रेष्ठ धर्म है।[१] सत्य संकल्प व्यास जी! पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण के प्रति समस्त कर्मों को समर्पित कर देना ही संसार के तीनों तापों की एक मात्र औषधि है।[२] इस लोक में जो शास्त्र विहित कर्म भगवान की प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं, उन्हीं से पराभक्ति युक्त ज्ञान की प्राप्ति होती है।[३]

श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण के अवतार के पश्चात जब भगवानने कंस द्वारा भेजे गए केशी और व्योमासुर का बध कर दिया - इस पर देवताओं ने पुष्पों की वर्षा एवम् हर्ष ध्वनि की। तब उसी समय नारद भगवान की स्तुति करते हुये कहते हैं कि - हे प्रभो! आप

१- श्रीमद्भागवत- ७।११।११

२- श्रीमद्भागवत- १।५।३२

३- श्रीमद्भागवत- १।५।३५

कर्मेमय योगीश्वर है आप सात्वतों में श्रेष्ठ है। जैसे एक अग्नि सब काष्ठों में व्याप्त रहती है उसी प्रकार आप समस्त प्राणियों में व्याप्त हैं। आप स्वयं को अदृश्य किए रहते हैं। क्योंकि आप पंचकोष रूपी गुफाओं के भीतर प्रतिष्ठित हैं। आप सबके नियन्ता और सबके साक्षी है। आपने ही सृष्टि प्रारम्भ में अपनी माया से गुणों की सृष्टि की, उनके आश्रय से जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हो। अत: इस कर्म में आपको न किसी उपादान की आवश्यकता है और न निमित्त कारण की। आप सर्व शक्तिमान हैं। आप दैत्य प्रधम और राक्षसों का विनाश करने के लिए और धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए अवतीर्ण हुये हो, अत: मेरा शिरोधार्य प्रणाम स्वीकार हो।[1]

६- परमभागवत ब्रह्माजी:-

भक्ति के द्वादश आचार्यों में परमभागवत ब्रह्माजी का स्थान शीर्षस्थ है। आप सृष्टि के उत्पादक है, अत: विधाता कहलाते है। आपने रजोगुण से भू भुव: स्व: तीनों लोकों की सृष्टि की तथा चार प्रकार की योनियों में आपकी ही संरचना है। लेकिन इनसे भी महान् परम सत्ता है जिसके कमलनाल से श्री ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई, वह परम सत्ता श्रीमद्भागवत के अनुसार आदि नारायण हैं। जो वैष्णव के पुरुषोत्तम हैं, श्रीहरि इन्हीं का नाम है। इन्हीं श्रीहरि ने अनेकों योनियों में अवतार ग्रहण कर जीव का कल्याण एवं श्रुति समस्त धर्म की प्रतिष्ठा की। भगवान कृष्ण के अवतार होने पर श्रीब्रह्मा जी स्तुति में कहते है कि- प्रभो! आपने जैसे अनेकों बार मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, परसुराम और वामन अवतार धारण करके

१- श्रीमद्भागवत- १०।३७।१०-१४

हम लोगों की और तीनों लोकों की रक्षा की है, वैसे ही आप इस बार भी पृथ्वी का भार हरण कीजिए। हे यदुनन्दन! हम आपके चरणों की वन्दना करते है।[१] जो पुरुष आपके मंगलमय नामों और रूपों का श्रवण कीर्तन स्मरण और ध्यान करता है और आपके चरण कमलों की सेवा में ही अपना चित्त लगाए रहता है उसे फिर जन्म मृत्यु रूप संसार के चक्र में नहीं आना पड़ता है।[२] जो लोग ज्ञान के प्रयत्न का परित्याग कर केवल भक्तों की सत्संगति करते हैं, और आपकी कथा का रसास्वादन लेते हैं उनके लिए आप पराधीन है। अतः हे प्रभो! जो आपकी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान प्राप्ति में ही लगे रहते हैं उन्हें परिणाम में क्लेश ही प्राप्त होता है। अतः हे प्रभु! मैं तो आपका पुत्र हूं प्रलय काल में आपकी ही नाभि के कमल से मेरा जन्म हुआ है, अतः आप ही एक मात्र सत्य है। पुराण पुरुष एवं निर्विकारी है आप स्वरूप प्रमाण, अविनाशी नित्य एवम् पूर्ण है, अतः मैं आपसे बार-बार यही विनय करता हूं कि इस जन्म या दूसरे जन्म में आपके दासों में से एक दास बनूं।[३]

७- भक्त यमराज जी के उदगार:-

श्री यमराज सूर्य पुत्र कहे जाते हैं। भगवान की भक्ति महिमा के गायन में द्वादश आचार्यों में आपका नाम भी प्रशंसनीय है।[४] आपने भगवान की भक्ति का प्रचार एवम् प्रसार किया। कठोपनिषद में नचिकेता को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश तथा भागवत में अपने दूतों को भगवन्नाम

१- श्रीमद्भागवत- १०।२।~~[illegible]~~ -४०

२- श्रीमद्भागवत- ~~४।३४।६~~ १०।२।३७

३- श्रीमद्भागवत- ~~५।५।१८~~ १०।१४।१-३०

४- श्रीमद्भागवत- ६।३।२०-२१

महिमा की उपस्थापना आदि ज्वलन्त प्रमाण है। अतः आपके उद्गार अवेक्षणीय हैं :--

"जिनकी जिह्वा भगवान के मंगलमय गुणों एवम् परमपवित्र नामों का कीर्तन नहीं करती, जिनका चित्त भगवान के चरणकमलों का चिंतन नहीं करता जिनका सिर एक बार भी भगवान को नमन करने के लिए नतमस्तक नहीं होता है दूतों! ऐसे भगवद् विमुख दुष्टों को ही मेरे यहां लाया करो।[१] हे दूतों! इस जगत में जीवों के लिए बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य- परमधर्म है कि वे नाम संकीर्तन आदि उपायों से भगवान के चरणों में भक्तिभाव प्राप्त कर लें।[२] जो मनुष्य गिरते समय, पैर फिसलते समय, अंग भंग होते समय भी विवशता से हरिहरि कहकर भगवान के नाम का उच्चारण कर लेता है, वह यमयातना का पात्र नहीं रह जाता है।[३] जैसे जान या अनजान में ईंधन से अग्नि का स्पर्श हो जाय तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही जान बूझकर या अनजान में भगवान के नामों का संकीर्तन करने से मनुष्य के सारे पाप भस्म हो जाते हैं।[४]

८- परम भागवत कपिल जी के उद्गार:-

भक्ति के द्वादश आचार्यों में भी आपकी गणना मान्य है।[५] विष्णु के २४ अवतारों में आपका नाम भी आदरणीय है आपने श्रीमद्भागवत में माता देवहूति को ब्रह्म ज्ञान तथा भक्ति, योग और कर्म की रहस्यात्मकता का उद्घाटन कराकर मोक्ष तत्व की प्रतिष्ठा की वह उपदेश

१- श्रीमद्भागवत- ६।३।२९

२- श्रीमद्भागवत- ६।३।२२

३- श्रीमद्भागवत- ६।२।१५

४- श्रीमद्भागवत- ६।२।१८

५- श्रीमद्भागवत- ६।३।२०-२१

श्रीमद्भागवत की धुरा है । षड्दर्शनों में सांख्यदर्शन के आप प्रवर्तक एवं प्रतिष्ठापक है पुरुष प्रकृति विवेक द्वारा परम तत्व का निरूपण कर आपने ब्रह्म की ही अनिर्वचनीयता को वाणी रूप देकर भारतीय समाज को उपकृत किया है । अतः आपके भक्ति विषयक उदगार दर्शनीय हैं :--

माता जी ! जिसका चित्त एक मात्र भगवान में ही केन्द्रित है ऐसे मनुष्य की वेद विहित कर्मों में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान कराने वाली (कर्मेन्द्रिय एवम् ज्ञानेन्द्रिय- दोनों प्रकार की) इन्द्रियों की जो सत्वमूर्ति श्रीहरि के प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है वही भगवान की अहैतु की भक्ति है । यह मुक्ति से भी बढ़कर है क्योंकि जठरानल जिसप्रकार खाये हुए अन्न को पचा देता है उसी प्रकार यह भी कर्म संस्कारों ~~के~~ के भण्डार रूप लिंग शरीर को तत्काल भस्म कर देती है ।[1] योगियों के लिए भगवत्प्राप्ति के निमित्त सर्वात्मा श्रीहरि के प्रति की हुई भक्ति के समान और कोई मंगल मार्ग नहीं है।[2] योगीजन -ज्ञान वैराग्य युक्त भक्तियोग के द्वारा शान्ति प्राप्त करने के लिए मेरे निर्भय चरणकमलों का आश्रय लेते हैं ।[3] अतः संसार में मनुष्यों के लिए सबसे बड़ी कल्याण प्राप्ति यही है । कि उसका चित्त तीव्र भक्ति योग के द्वारा मुझसे लगाकर स्थिर हो जाय।[4]

९- श्री सूत जी के उदगार:-

आप ८८ हजार मुनियों में श्रेष्ठ वक्ताचार्य है । कुशाग्र स्मृति में

१- श्रीमद्भागवत- ३।२५।३२-३३

२- श्रीमद्भागवत- ३।२५।१९

३- श्रीमद्भागवत- ३।२५।४३

४- श्रीमद्भागवत- ३।२५।४४

एवम् भगवान के गुणानुवादों में महर्षि वेद व्यास तुल्य गणना की जाती है -- अतः इनके भक्ति सम्बन्धी उद्गार अवेक्षणीय है --

मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान श्रीकृष्ण में भक्ति हो - भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्दस्वरुप परमात्मा की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।[1] भगवान श्रीकृष्ण में भक्ति होते ही, अनन्य प्रेम से उनमें चित्त जोड़ते ही निष्काम ज्ञान और वैराग्य का आविर्भाव होजाता है।[2]

शौनकादि ऋषियों! पवित्र तीर्थों का सेवन करने से महत्सेवा, तदनन्तर श्रवण की इच्छा, फिर श्रद्धा, तत्पश्चात भगवत्कथा में रुचि होती है।[3] भगवान श्रीकृष्ण के यश का श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करने वाले है। वे अपनी कथा सुनने वालों के हृदय में आकर स्थित हो जाते हैं। ~~क्योंकि वे सन्तों के नित्य सुहृद हैं~~ और उनकी अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते हैं। क्योंकि वे सन्तों के नित्य सुहृद हैं।[4] वेदों का तात्पर्य श्रीकृष्ण में ही है, यज्ञों के उद्देश्य श्रीकृष्ण ही है, योग श्रीकृष्ण के लिए ही किए जाते हैं तथा समस्त कर्मों की परिसमाप्ति भी श्रीकृष्ण में ही है। ज्ञान से ब्रह्मस्वरुप श्रीकृष्ण की ही प्राप्ति होती है। तपस्या श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही की जाती है, श्रीकृष्ण के लिए ही धर्मों का अनुष्ठान होता है, और सब भक्तियाँ श्रीकृष्ण में ही समा जाती है।[5]

१- श्रीमद्भागवत- १।२।६

२- श्रीमद्भागवत- १।२।७

३- श्रीमद्भागवत- १।२।१६

४- श्रीमद्भागवत- १।२।१७

५- श्रीमद्भागवत- १।२।२८-२६

१०- प्रचेतागण के उदगार:-

श्रीमद्भागवत में भक्त प्रचेतागण भी भगवान के अनन्य भक्त है, इन्होंने जीवन जन्म का परमलाभ उसी को सफल बताया है जिसमें कि से भगवान में अनुरक्ति हो जाये -- यथा -

"वही जन्म सफल है ,वही कर्म सुकृत है, वही आयु सार्थक है, वही मन मनस्वी है वही वाणी वचनामृत है जिसके द्वारा मनुष्य सर्व समर्थ विश्वात्मा श्रीहरि की सेवा करते हैं ।[१]

११- परमभागवत ऋषभदेव जी के उदगार:-

यह भगवान विष्णु के २४ अवतारों में से एक हैं। आपने श्रीमद् भागवत में अपने पुत्रों को ज्ञान और भक्ति तथा मोक्ष का ही निर्वचन किया - इन्हीं के पुत्रों में से एक श्री भरत हैं , जिनसे हमारे देश का नाम भारत वर्ष पड़ा । नौ योगीश्वर इन्हीं के पुत्रों में से हैं । अत: आपका उदगार प्रत्यक्ष है:--

जो अपने प्रिय सम्बन्धी बन्धुओं को भावद्भक्ति का उपदेशदेकर मृत्यु की फांसी से नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं, स्वजन स्वजन नहीं, वह पिता पिता नहीं, तथा माता माता नहीं, एवम् इष्टदेव इष्टदेव नहीं और पति पति नहीं है ।[२]

श्रीमद्भागवत में अवधूत एवम् पारमहंस ज्ञान की सैद्धान्तिक चर्या के निर्वाह में आप अद्वितीय हैं ।

१- श्रीमद्भागवत- ४।३१।६

२- श्रीमद्भागवत- ५।५।१८

१२- शुकदेव जी :-

आप श्रीमद्भागवत के वक्ता हैं। आप जन्म से ही परम सिद्ध स्वम् विरक्त परमहंस वृत्ति के ज्ञानी बालक थे। महर्षि कृष्ण द्वैपायन के परम ज्ञानी सुपुत्र हैं। श्रीकृष्ण की लीला कथाओं ने इनके चित्त को बलात् आकर्षित कर लिया था। इसलिए आप श्रीमद्भागवत के आचार्य वक्ता हैं। अतः आपके उद्गार अवलोकनीय हैं --

जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार सागर से पार जाना चाहते हैं अथवा जो लोग अनेकों प्रकार के दुख दावानल से दग्ध हो रहे हैं, उनके लिए पुरुषोत्तम भगवान की लीला कथा रूप रस के सेवन के अतिरिक्त और कोई साधन और कोई नौका नहीं है। वे केवल लीला रसायन का सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं।[१] जिन्होंने पुण्य-कीर्ति मुकुन्द मुरारि के पद पल्लव की नौका का आश्रय ले लिया है, जो सत्पुरुषों के सर्वस्व है, उनके लिए यह भवसागर बछड़े के खुर से बने हुये गड्ढे के समान है। उन्हें परमपद की प्राप्ति हो जाती है और उनके लिए विपत्तियों का निवास स्थान यह संसार नहीं रहता है।[२] जो आत्माराम, आत्म काम माया के समस्त बन्धनों से मुक्त मुनि गण हैं, वे भी भगवान में निष्काम भक्ति करते हैं वे भी बिना किसी कारण के ही भगवान से प्रेम करते हैं। क्योंकि भगवान के मंगलमय दिव्य गुण ही ऐसे हैं।[३] श्रीमद्भागवत में द्वादश आचार्यों में आपकी भी गणना सिद्ध है।[४]

१- श्रीमद्भागवत- १२।४।४०

२- श्रीमद्भागवत- ६।२।४६

३- श्रीमद्भागवत- १।७।१०

४- श्रीमद्भागवत- ६।३।२०-२१

१२- योगीश्वर कवि जी के उद्गार :-

यह नौ योगीश्वरों में प्रधान योगीश्वर हैं - इन्होंने विदेह राजर्षि निमि को भागवत धर्म के उपदेश को उपदेशित किया है-- हे राजन ! शरीर से, वाणी से मन से इन्द्रियों से बुद्धि से, अहंकार से अनेकों जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से स्वभाववश जो जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान नारायण के लिए ही समर्पित करना- भागवत धर्म का सरल से सरल सीधा सा धर्म मार्ग है ।[१]

१३- दुर्वासा जी के उद्गार:-

भागवद्भक्तों में ऋषि दुर्वासा का स्थान भी तप और आराधना के क्षेत्र में ख्याति जन्य है । आप उग्रतपा कहलाते हैं- श्रीमद्भागवत में महाराज अम्बरीष की अनन्य भक्ति के प्रभाव में इनके क्रोध का अन्त हुआ था । इसी प्रसंग में आप भगवान से प्रार्थना करते हैं कि--

जिन्होंने भक्तवत्सल भगवान श्रीहरि के चरणकमलों को दृढ़ प्रेम भाव को पकड़ लिया है - उन साधु पुरुषों के लिए कौन सा कार्य कठिन है । जिनका हृदय उदार है, वे महात्मा भला किस वस्तु का परित्याग नहीं कर सकते ।[२]

जिनके मंगलमय नामों के श्रवण मात्र से जीव निर्मल हो जाता है उन्हीं तीर्थ पाद भगवान के चरणकमलों के जो दास हैं, उनके लिए कौन सा कर्तव्य शेष रह जाता है ।[३]

१- श्रीमद्भागवत- ११।२।३६

२- श्रीमद्भागवत- ९।५।१५

३- " " ९।५।१६

१५- भगवान रुद्र के उद्गार:-

" जो पुरुष अव्यक्त प्रकृति तथा जीव संज्ञक पुरुष इन दोनों के नियामक भगवान वासुदेव की साक्षात् शरण लेता है। वह मुझे परम प्रिय है।[1]

१६- महाराज रन्तिदेव के उद्गार:-

महाराज रन्तिदेव का स्थान भागवद्भक्तों के अन्तर्गत अहिंसा वृत्ति के आराधक रूप में परिगणित किया जाता है, उनके जीवन का उद्देश्य पर दुःखकातर प्राणियों के दुख में दुखी होकर प्राणियों को दुख का हरण करना है।--

"मैं भगवान से आठों सिद्धियों से युक्त परमगति नहीं चाहता और वे क्या मैं मोक्ष की भी कामना नहीं करता है, मैं तो केवल यही चाहता हूं कि समस्त प्राणियों के हृदय में स्थिर होकर उनके सारे दुख को आत्मसात कर जाऊं। जिससे किसी को दुख न हो।[2]

१७-महाराज पृथु के उद्गार:-

महाराज पृथु ने हो १० हजार कान भगवत्गुणानुवाद सुनने के लिए ही भगवान से याचना की थी।। मुझे तो उस मोक्ष पद की भी इच्छा नहीं है, जिसमें महापुरुषों के हृदय से उनके मुख द्वारा निकला हुआ

१- श्रीमद्भागवत- ४।२४।२८

२- श्रीमद्भागवत- ९।२१।१२

आपके चरण कमलों का मकरन्द नहीं है- जहां आपकी कीर्ति कथा सुनने का सुख नहीं मिलता । इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे १० हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपके लीला गुणों को सुनता ही रहूं ।[१] पुण्य कीर्ति प्रभो ! आपके चरण कमल मकरन्द रुपी अमृत कणों को लेकर महापुरुषों के मुख से जो वायु निकलती है, उसी में इतनी शक्ति होती है कि वह तत्व को भूले हुये कुयोगियों को पुनः तत्व ज्ञान करा देती है । अतएव हमें दूसरे वरों की आवश्यकता नहीं ।[२]

२८- सनत्कुमारादि ऋषि बालकों के उदगार:-

यह द्वादश भक्ति के आचार्यों में एक हैं । परमहंस विरागी तथा पांच वर्षीय अवस्था वाले चिरकालीन बालक हैं । यह दिगम्बर वेश में ही सिद्ध महापुरुषों की भांति विचरण करते हैं । इनका स्थान जन लोक है यह भगवान ब्रह्मा के विशुद्ध सत्वगुण से उत्पन्न हुए ऋषिकुमार हैं । अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत इनका संकल्प है । अतः इनके उदगार अवलोकनीय है -- "शास्त्रों का यह भी कहना है कि गुरु और शास्त्र के वचनों में विश्वास रखने से, भागवत धर्मों का आचरण करने से, तत्व जिज्ञासा से, ज्ञानयोग की निष्ठा से, योगेश्वर श्रीहरि की उपासना से, नित्यप्रति पुण्यकीर्ति श्री भगवान की पावन कथाओं को सुनने से, जो लोग धन और इन्द्रियों के भोगों में ही रत है उनकी गोष्ठी में प्रेम न रखने से, उन्हें प्रिय लगने वाले पदार्थों का आसक्ति पूर्वक संग्रह न करने से, भगवद्गुणानुवाद

१- श्रीमद्भागवत- ४।२०।२४

२- ,, - ४।२०।२५

का पान करने के सिवा अन्य समय आत्मा में ही सन्तुष्ट करते हुये एकान्त सेवन में प्रेम रखने से किसी भी जीव को कष्ट न ह देने से, निवृत्ति निष्ठा से, आत्महित का अनुसंधान करते रहने से श्रीहरि के पवित्र चरित्र रूप श्रेष्ठ अमृत का आस्वादन करने से, निष्काम भाव से यम नियमों का पालन करने से -f कभी किसी की निन्दा न करने से, योग क्षेम के लिए प्रयत्न न करने से, शीतोष्णादि द्वन्दों को सहन करने से, भक्त जनों के कानों को सुख देने वाले श्री हरि के गुणों का बारम्बार वर्णन करने से और बढ़ते हुये भक्ति भाव से मनुष्य का कार्य कारण रूप सम्पूर्ण जड़ प्रपन्च से वैराग्य हो जाता है और आत्म स्वरूप निर्गुण ब्रह्म में अनायास ही उसकी प्रीति हो जाती है।[1] परब्रह्म में सुदृढ़ प्रीति से पुरुष सद्गुरु की शरण लेता है। फिर ज्ञान वैराग्य के प्रबल वेग से वासना शून्य होकर अविधादि पंच क्लेश तथा अहंकारात्मक लिंग शरीर भस्म हो जाता है और परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए निष्काम भगवद्गुणानुवाद भवसागर से पार जाने का जहाज है।[2]

१६- ध्रुव:-

ध्रुव राजा उत्तानपाद के पुत्र थे। अपनी विमाता सुनीति के वाग्वाणो से विद्ध होकर वन को चले गये। वहां उन्होंने नारद जी के आदेशानुसार तपस्या की अन्त में उन्होंने साक्षात् विष्णु के दर्शन हुये भगवान की स्तुति करते हुये उन्होंने ये उद्गार व्यक्त किये।

१- श्रीमद्भागवत ४।२२।२४-२५

२- ,, ४।२२।२६

जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मेरे अन्तः में बैठकर मेरी वाणी, इंद्रियाँ और मन को सक्रिय करता है उसे मेरा प्रणाम, भगवन् तुम अपनी माया से इस जगत को बना कर इसी में प्रविष्ट हो गये हो । भक्त तुम्हारे दिये ज्ञान से ही तुम्हें पहचानता है । फिर वह तुम्हें कैसे भूल जायगा । सचमुच वे मन्द बुद्धि है जो तुम्हें पाकर भी शरीर सुख का वरदान मांगते हैं । भक्तों को जो आनन्द आपको पाकर मिलता है वह साक्षात् ब्रह्म में भी नहीं है । मुझे तो अभी ऐसा वरदान दो कि आपके भक्तों का सत्संग प्राप्त करता रहूं और आपकी कीर्ति गाथा का श्रवण करता रहूं। जैसे गाय अपने बछड़े को व्याघ्रादि से बचाने के लिए प्राणपण से सदा तत्पर रहती है वैसे ही आप भक्तों की रक्षा करते हो ।[1]

२०- अजामिल:-

भगवद् भक्ति पापिष्ठों को भी पवित्र बना देती है इसके निदर्शन रूप में अजामिल का उपाख्यान छठे स्कन्ध में आया है । अजामिल था तो ब्राह्मण पर दासीगामी होकर उसी का दास बन गया था । बूढ़े मा-बाप और सती- साध्वी पत्नी को उसने छोड़ दिया था। दासी से उसको दस पुत्र हुए सब से छोटे पुत्र का नाम नारायण था, वही अजामिल को विशेष प्रिय था । मृत्यु के समय यमदूत उसे लेने आगये उसने डरकर उसने नारायण को पुकारा नाम संकीर्तन के प्रभाव से विष्णुदूत भी उसकी सहायता को आ गये । दोनों में विवाद हुआ कि यह नरक ले जाने लायक है या स्वर्ग, विष्णु दूतों की विजय हुई । वे अजामिल को मृत्यु से भी मुक्त कर वापिस विष्णुलोक चले गये ।

१- श्रीमद्भागवत- ४।६।६-१०

इस आश्चर्य की घटना से अजामिल को बड़ी ग्लानि हुई। यह स्वस्थ बुद्धि का बनगया। भगवान् का माहात्म्य जान कर अनुताप करने लगा। " मैंने बड़ा पाप किया कि ब्राह्मण होकर दासी के मोह में अपना ब्रह्मणत्व गंवा दिया। अपनी सती भार्या को छोड़कर मदिरा पीने वाली दासी का दास बनगया। अपने माता-पिता के प्रति भी मैंने कृतघ्नता की है कहां मैं पापी और कहां भगवान् नारायण कि जिनके नामोच्चारणमात्र से मेरा उद्धार होगया। अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करुंगा।

२१- प्रह्लाद :-

असुर हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद स्वभाव से ही ईश्वर भक्त था। पिता ने बहुत प्रयत्न किया कि वह ईश्वर का नाम लेना छोड़ दे। पर प्रह्लाद अपनी आस्था पर अडिग रहा। पिता ने क्रुद्ध होकर प्रह्लाद से पूछा कि तेरा ईश्वर कहां है।[२] प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि वह सर्वत्र विद्यमान है। इसपर हिरण्यकशिपु खड्गलेकर प्रह्लाद की ओर बढ़ते हुए पूछने लगा कि क्या इस खंभे में भी वह है। ऐसा कहकर उसने खंभे में घूंसा मारा तभी उसमें से नरसिंह भगवान् प्रकट होगये। उन्होंने देहली पर ले जाकर अपने घुटनों पर हिरण्यकशिपु को रख लिया और नाखूनों से पेट फाड़कर उसे मार दिया।

१- श्रीमद्भागवत- ६।२।१-२६

~~२- ,, ,, ७।८।११~~

नृसिंह का रूप बड़ा भयानक था । पर प्रह्लाद ने निर्भीक होकर अपना सर उनके चरणों पर रख दिया नृसिंह भगवान् ने अपना रक्तरंजित हाथ उसके सर पर रख कर अभयदान दिया । प्रह्लाद ने दर्शनाश्रित स्तुति करते हुये कहा --" जिस परमेश्वर की स्तुति ब्रह्मादि भी पूर्णतया नहीं कर पाते वह मुझ असुर की स्तुति से क्या प्रसन्न होंगे ? पर भगवान् की सेवा के लिए धन, कुल, रूप, तप, ज्ञान आदि पर्याप्त नहीं है वह तो भक्ति से संतुष्ट होते हैं । परमेश्वर तो स्वतः पूर्ण है । भक्त जो उनका यशोगान करता है उससे भक्त की ही महिमा होती है जैसे मुख के सौन्दर्य से मुख प्रतिबिम्ब की शोभा बढ़ती है ।"[1]

२२- गजेन्द्र :-

मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी भगवत्प्रेमी बनकर उसके अनुग्रह के पात्र बन जाते हैं और भगवान् की शरण में जाकर उसकी रक्षा प्राप्त कर लेते हैं, गजेन्द्र का उपाख्यान भक्तों की इसी मान्यता को निदर्शित करता है । यह उपाख्यान भागवत के आठवें स्कन्ध में दिया है ।

गजेन्द्र के पूर्व जन्म का वृत्तान्त भी भागवतकार ने उपाख्यान के अन्त में दिया है । पूर्व जन्म में वह द्रविड़ देश का इन्द्रद्युम्न नामक राजा था, बड़ा आस्तिक, बड़ा भक्त । कभी जब वह पूजा में भक्तचित्त था तो अगस्त्य अपनी मण्डली के साथ उधर जा निकले । राजा उठकर उनका स्वागत न कर सका । इस पर उसे शाप दियागया कि अगले जन्म में हाथी बनो ।

१- श्रीमद्भागवत- ७।९।५-११

कभी गजेन्द्र अपनी पत्नियों और साथियों के साथ क्षीर सागर में जलक्रीड़ा करने लगा तो ग्राह ने उसे टांग से पकड़ लिया । गजेन्द्र को भीतर जल में ~~इस प्रकार~~ खींचता और गजेन्द्र ग्राह को बाहर खींचता इस प्रकार वर्षों उनका आकर्षण विकर्षण चलता रहा । साथियों में से कोई उसकी सहायता न कर सका । अन्त में गजेन्द्र ने भगवान को पुकारा, उनकी रक्षा की याचना की भगवान् विष्णु गरुड पर चढ़ कर वहां पहुंचे और पहले गज और ग्राह दोनों को खींच कर किनारे पर लाये फिर चक्र से ग्राह का मुंह फाड़कर गज को मुक्ति दी ।

मुक्त होकर गजेन्द्र ने भगवान् की स्तुति की । यह स्तुति पूरे एक सर्ग में तैंतीस श्लोकों में उपनिबद्ध है । इसे 'गजेन्द्रमोक्ष' स्तोत्र भी कहा जाता है । यह दर्शनाश्रित गंभीर प्रकृति का स्तवन है ~~जिसे गजेन्द्र के अनुकरण नहीं कह सकते ।~~

गजेन्द्र ने कहा- जिसमें यह विश्व समाया है, जिससे इसकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह जीवित है और जो स्वयम् विश्वरूप है । साथ ही जो इन सब से परे है मैं उसी स्वयंभू की शरण मांगता हूं । जो नट की भांति नाना प्रकार के रुप धारण करता और चेष्टाएं करता है । उसके सत्यरूप को देव, ऋषि और मुनि भी नहीं जान सकते, मैं अबोध जन्तु कैसे जान सकता हूं । वह अनंत अरूप बहुरुप बनकर आश्चर्य कर्मा है । उसे मेरा प्रणाम है । वह आत्मप्रदीप साक्षी है । वह मन, चित्त और वाणी से परे है । उसे प्रणाम करता हूं । जैसे काष्ठ में अग्नि तिरोहित रहती है उसी प्रकार आप गुणों में स्वयम् को छिपा लेते हो। भक्त ज्ञानियों के हृदय आप ही स्वयम् भासमान हो जाते हो । न वह देव है, न असुर, न मनुष्य न पक्षी, न वह स्त्री है न पुमान् और न नपुंसक, न वह गुण है, न कर्म न सत् है न असत्, समस्त निषेधों के बाद जो शेष बच रहता है वह वही है ।[1]

- [illegible] ८।३।२०-२४

२३- बलि :-

यह पितामह प्रह्लाद का पौत्र तथा विरोचन का पुत्र था । असुर जाति के राजा बलि ने इतना बड़ा यज्ञ किया था कि देवता लोग डर गये थे। उन्हें आशंका होगयी कि यह स्वर्ग पर अधिकार कर लेगा और देवताओं को वहां से बाहर निकाल देगा उनकी प्रार्थना पर भगवान् विष्णु वामन (बौना) वटुका वेष बनाकर यज्ञ में गये । बलि से उन्होंने साढ़े तीन पग पृथ्वी अपने लिये मांगी। गुरु शुक्राचार्य के मना करने पर भी बलि ने भूमि देने का वचन दे दिया । भूमि का संकल्प हो जाने पर विष्णु ने विराट् रूप धारण कर लिया और दो पगों में आकाश, और पृथ्वी को नाप डाला । अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए बलि ने भगवान् का तीसरा पग अपने सर पर रख लिया और स्वयम् पाताल लोक चले गये । यह सब करते हुये बलि ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति का सुख अनुभव करते हुये कहा --

" मुझे नरक में जाने का एवं अपने राज्य से च्युत होने का तनिक भी भय नहीं है, मैं पाश में बंधने अथवा अपार दुख में पड़ने से भी नहीं डरता मेरे पास कुछ भी धन न रहे - इसका भी मुझे डर नहीं मैं डरता हूं तो केवल अपनी अपकीर्ति से । अपने पूज्य व्यक्तियों से यदि दण्ड मिले तो वह वांछनीय है क्योंकि माता-पिता आदि मोह वश वैसा नहीं करते ।आप है तो प्रच्छन्न रूप पर हम असुरों को शिक्षा देते हैं । हम जब अभिमान में अन्धे हो जाते हैं तो आप हमारा अभिमान दूर कर हमें निर्मल दृष्टि देते हैं । जो सिद्धि योगी लोग अनन्य भाव से योग करने पर प्राप्त करते हैं वह हमें वैर करने पर भी आपने दी । आपकी बड़ी कृपा है।आपने मुझे पाश में बांधा है और दण्ड दिया है । इसकी मुझे कोई लज्जा नहीं ।[1]

१- श्रीमद्भागवत- ८।२२।१-७

२४- वसुदेव:-

उग्रसेन की पुत्री और कंस की बहन देवकी का यादवकुल के वसुदेव के साथ विवाह हुआ था विदा के समय कंस उक्त रथ को चला रहा था जिसमें वसुदेव -देवकी बैठे थे।अकस्मात आकाशवाणी हुई कि कंस, तू जिसे रथ में बिठाकर ले जारहा है इसका आठवां बालक तुझे मारेगा। कंस ने अपनी बहिन का वध करना चाहता पर वसुदेव के अनुनय -विनय करने पर मारा तो नहीं लेकिन कारागार में डाल दिया उनके सात बालक उसने मार दिये। आठवां बालक श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए। जन्म के समय उन्होंने अपने विष्णु रुप का वसुदेव को दर्शन दिया। इस पर प्रसन्न होकर वसुदेव ने अपनी स्तुति में ये भावोद्गार व्यक्त किये --

' आप प्रकृति से परे साक्षात् पुरुषोत्तम हैं, आप स्वरुपत: केवल आनन्द और अनुभव हैं, सत्व, रजस, तमस् गुणों से आपने जगत् की सृष्टि की है पर आप गुणों से परे हैं। आप त्रिलोकों की रक्षा के लिए सत्व मय शुक्लवर्णधारण कर विष्णु बन जाते हैं, उत्पत्ति के लिए रजो-गुण ब्रह्मा और प्रलय के लिए तमो मयरुद्र बनते हैं। आज कल असुर राजा बन बैठे हैं। उनकी बड़ी बड़ी सेनाएं हैं। आप अब उन सबका संहार करेंगे, प्रभो !'[१]

२५- देवकी:-

देवकी श्रीकृष्ण की माता हैं पर अपने शिशु को विष्णु का अवतार मानकर - भक्त रुप से उनकी स्तुति इस प्रकार की --

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।३।१३-२२

" हे प्रभो , वेद आपको अव्यक्त बताते हैं । आप जगत् के कारण हैं । ज्योतिस्वरुप, निर्गुण , निर्विकार ब्रह्म हैं । आप अध्यात्मदीप हैं ।

जब सम्पूर्ण संसार प्रलय में नष्ट हो जाएगा तब आप ही अकेले बचेंगे काल आपकी चेष्टा है । उसी के द्वारा सारा जगत् चेष्टावान् है, प्रभो ? मनुष्य मृत्यु से डर कर कहीं भी निर्भय नहीं होपाता । केवल आपके चरणों में आकर वह निर्भय स्वस्थ बनता है । आप भक्त भयहारी हैं । हम कंस से भयभीत हैं । हमारी रक्षा करो । आपका यह चतुर्भुज रुप तो भक्तों के ध्यान की वस्तु है । साधारण मानव के सामने इसे प्रकट न कीजिये । पापी कंस को यह पता भी न चले कि मेरे गर्भ से आपका जन्म होगया है । अपने इस रुप को छिपा लीजिये ।[१]

२६- <u>यमलार्जुन:-</u>

नन्द बाबा के द्वार पर दो अर्जुन के वृक्ष खड़े थे । पूर्व जन्म के वे यक्ष थे । नारद के शाप से वृक्ष बन गये थे । यशोदा ने एक दिन- श्रीकृष्ण को दूध बिलोने की रस्सी (नेती) और उलूखल से बांध दिया । कृष्ण उलूखल को उखाड़ कर द्वार तक चले गये और दोनों वृक्षों के बीच में उलूखल की लकड़ी अड़ा कर आगे को बढ़े तो दोनों वृक्ष धराशायी होगये । वृक्ष यक्ष रुप में प्रकट होकर श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति करने लगे । --

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।३।२४-२८

" हे कृष्ण, तुम आदि पुरुष हो । इस व्यक्त और अव्यक्त विश्व को विद्वान तुम्हारा रूप बताते हैं। आप ही सब प्राणियों के देह, प्राण, आत्मा, इन्द्रियाँ और ईश्वर हो । आप ही अव्यय काल हो । रजस्, तमस् और सत्व गुण रूपा प्रकृति भी तुम्हीं हो , उसके न अव्यक्त पुरुष भी आपही हो । ऐसा वरदान दो कि आज से हमारी वाणी आपका गुणानुवाद करती रहे , कान कथा श्रवण करते रहें ,हाथ आपकी सेवा में और मन आपके चरणों में लगा रहे । हमारी दृष्टि आपके ही शरीर सन्तों का दर्शन करती रहे ।"[१]

२७- ब्रह्माजी:-

श्रीकृष्ण की अलौकिक लीलाएं देखकर ब्रह्मा जी ने उनकी परीक्षा लेनी चाही । उन्होंने माया से ग्वाले और बछड़ों को छिपा लिया । श्रीकृष्ण पहचान गये । उन्होंने स्वयम् बछड़ों और ग्वालों के रूप में बदल लिया । किसी को इसकी भनक भी नहीं लगी, एक वर्ष व्यतीत होने को आया । हार कर ब्रह्मा ने सब को छोड़ दिया और हार मान ली । श्रीकृष्ण को साक्षात् ब्रह्म मानकर ये भाव अपनी स्तुति में व्यक्त किये --

" हे कृष्ण, आपका शरीर मेघश्याम है, वस्त्र विद्युत के समान हैं, गुंजा फलों के आभूषणों से भूषित हो।वन के फूलों की माला पहनते हो । आप को प्रणाम है । जो लोग ज्ञान के प्रयत्न छोड़ कर केवल भक्तों की सत्संगति करते हैं और आपकी कथा सुनते हैं आप उनके अधीन हो जाते हो। हे प्रभु, जो आपकी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान प्राप्ति में ही लगे रहते हैं उन्हें परिणाम में क्लेश ही मिलता है ।-

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।१०।२६-३१-३८

जैसे भूसी कूटने वाले को भूसी के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता । जिन लोगों ने अनेक जन्मों तक परिश्रम कर पृथ्वी का एक-एक परमाणु, आकाश का एक-एक हिमकण एवम् नक्षत्र भी गिन लिये हों वे भी आपके अनन्तगुणों का पार नहीं पा सकते । मैं तो आपका पुत्र हूं । प्रलयकाल में आपकी ही नाभि के कमल से मेरा जन्म हुआ है । आपही एकमात्र सत्य हैं । पुराण पुरुष आप विकारों से रहित हैं । आप स्वयं प्रकाश हैं । अविनाशी और नित्य हैं, आप पूर्ण हैं , एक हैं, मुझे आशीर्वाद दो कि इस जन्म या दूसरे जन्म में आपके दासों में से एक दास बनूं ।[१]

२८- नागपत्नियां:-

कालियानाग यमुना के जल को अपने विष से इतना विषाक्त कर देता था कि पीकर गाय-बछड़े मर जाते थे । गेंद निकालने के बहाने श्रीकृष्ण यमुना में कूद गये और कालिया नाग को पैरों से कुचल-कुचल कर अधमरा कर दिया उसकी मृत्यु से आशंकित होकर नाग पत्नियों ने भगवान् से अपराध की क्षमा मांगते हुये ये भाव व्यक्त किये --

'अपराधी इस नाग को आपने जो दण्ड दिया है वह न्यायोचित है । आपका तो अवतार ही खलों को नष्ट में करने के लिए हुआ है ।आपकी दृष्टि में शत्रु और पुत्र सामान हैं । आपने तो इसे दण्ड देकर कृपा की । इसका कल्मश धुल गया । जाने कितने पाप इसने किये थे कि यह विषैला सांप बना। इसने तो कोई तप किया होगा कि आज आप इसपर प्रसन्न हैं । इसका कोई पुण्य ही रहा होगा कि आपके चरणों के स्पर्श का अधिकार इसे मिलाया । इसके लिए तो लक्ष्मी ने भी चिरकाल तक तपस्या

१- श्रीमद्भागवत- १०।१४।१-३०

की थी । आप तो वह सत्ता हैं जिनके चरणरज के प्रपन्न लोग स्वर्ग सार्वभौम राज्य अथवा ब्रह्मपद भी नहीं चाहते । प्रभो, आप की सृष्टि में शान्त, अशान्त एवम् मूढ़ सभी प्रकार के जीव हैं। यह ठीक है कि आपको शान्तकोटि के जीव विशेष प्रिय हैं पर स्वामी, अन्य भी आपकी अनुकम्पा के पात्र हैं । अब आप इतनी कृपा करो कि हमारे सुहाग की माँग बची रहे । इसे जीवनदान दे दो । अबलाजन तो सब के अनुकम्प्य होते हैं, हम पर कृपा करो ।[१]

२८- ब्रजबालाएं :-

गोपिकाएं भागवतकार की और कृष्णभक्ति परंपरा की सर्वश्रेष्ठ भक्त मानी जाती हैं। भक्ति ईश्वर विषयक प्रेम का ही रूप है । प्रेम की सघनता, अनन्यता और तन्मयता गोपिकाओं में ही अभिव्यक्त हुयी है । उनके साथ रास लीला करते करते जब कृष्ण ने देखा कि उन्हें अपने प्रेम का अभिमान होगया है तो वे नाचते नाचते अकस्मात अन्तर्धान हो गये । गोपिकाओं ने उनके विरह में जो मर्मोद्घाटन किया है वह भक्तों की अमूल्य निधि है । भक्तों में यह प्रसंग भगवद् विरह का प्रतीक माना जाता है । भागवत में इस पर तीन सर्ग लिखे गये हैं । गोपिकाओं के भावोद्गार संक्षेप में इस प्रकार हैं --

विरहोन्माद में गोपिकाओं ने लताओं, वनस्पतियों और पशु पक्षियों से पूछा कि -' हे पीपल, पाकर और बरगद, नन्दनन्दन अपनी मुस्कान से हमारा मन चुराकर कहीं चले गये हैं, क्या तुम लोगों ने उन्हें देखा है ? तुलसिके, तुमतो कृष्ण को विशेष प्रिय हो। भौंरे कितना ही

१- श्रीमद्भागवत- १०।१६।३३-५०

कष्ट दें पर वह तुम्हारी माला कभी नहीं उतारते। तुमने तो उन्हें नहीं देखा ? मल्लिका, जूही, तुम इतनी पुलकित हो, लगता है कृष्ण ने तुम्हें स्पर्श किया है। बताओं, वे कहां हैं? धरतीमाता, तुमने कौन सा तप किया है कि इतनी पुलकित हो ये तृण, लता और पौधे तुम्हारे पुलक ही तो हैं। विष्णु ने वामनावतार में तुम्हें चरण से नापा था, वराहावतार में ऊपर उठाया था, और कृष्णावतार में तुम पर चले फिरे और नाचे हैं, उस चरण स्पर्श से तुम पुलकित हो। गोपिकाओं ने कृष्ण को संबोधित कर ये भाव व्यक्त किये।-- "आपके जन्म से बृज भूमि धन्य होगयी। आपके कारण यहां सदा लक्ष्मी का निवास रहता है। पुरुष शिरोमणि, हमारी आपने यमुना के विषैले जल से, अघासुर से, इन्द्र की अतिवृष्टि, बिजली एवम् दावानल से बार बार रक्षा की आपके चरण समस्त सौन्दर्य का खान हैं। उन्हीं चरणों से आप गाय- बछड़ों के पीछे भागते हो। सांप के फन पर रखने से भी संकोच नहीं करते, इससे हमारा हृदय पीड़ित होता है।[1] इत्यादि।

३०- अक्रूर :-

अक्रूर को कंस ने कृष्ण बलराम को मथुरा ले जाने के लिए बृज में भेजा था। उन्हें रथ पर बिठा कर मथुरा जाते समय वह मार्ग में यमुना में स्नान करने लगे तो उन्होंने जल में भी और बाहर भी कृष्ण ही कृष्ण देखे इससे वह आश्चर्य चकित होगये। आकर भगवान् की स्तुति करने लगे।

"प्रभो, आप सब कारणों के कारण हैं, परम पुरुष नारायण हैं। जिन ब्रह्मा जी ने समस्त चराचर की सृष्टि की है वे भी आपके ही नाभि-कमल से उत्पन्न हुये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, मन, इन्द्रियां,

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।२६।३०-३१

और उनके सब विषय आप से ही उत्पन्न हुये हैं । तुम्हारे सत्यस्वरुप को ब्रह्मादि भी नहीं जान सकते । तुम्हें योगी जन योग साधना से, याज्ञिक यज्ञविधि द्वारा ,सन्यासी त्याग से, प्राप्त करते हैं । तुम्हारे अनन्तरूप, अनन्तमार्ग । आपको प्रणाम है ।[1]

३१- रुक्मिणी:-

रुक्मिणी विदर्भ के राजा भीष्मक की पुत्री और रुक्मि की बहिन थी । रुक्मि उसका विवाह शिशुपाल से करना चाहता था पर रुक्मिणी कृष्ण को चाहती थी । उसने अपना प्रेम पत्र श्रीकृष्ण को भेजा । वह आकर बलपूर्वक उसका हरण कर लेगये और द्वारका में विवाह कर लिया ।

किसी दिन राजा महल में रुक्मिणी पति की सेवा में थी तो श्रीकृष्ण ने परिहास बुद्धि से रुक्मिणी को कहा, - वैदर्भी, हम तो अकिंचन, अकिंचनलोग हैं , तुम राज पुत्री हो। तुम्हारे प्रेमपत्र पर मैं तुम्हें ले तो आया हूं पर अनुभव करता हूंकि मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूं । तुम किसी अन्य राज पुत्र से विवाह कर लो ।

यह सुनकर रुक्मिणी व्यथित होक गई । हाथ से पंखा छूट गया । रोने लगी । यह देखकर श्रीकृष्ण ने सन्त्वना देते हुये उन्हें कहा कि मैंने तो परिहास किया था । गृहस्थ में पति-पत्नी के बीच ऐसा चलता ही रहता है । तुम दुखी न हो, इस पर आश्वस्त होकर रुक्मिणी ने अपने भावोंद्गार इस प्रकार व्यक्त किये ।

१- श्रीमद्भागवत- १०।४०।१-२५

" भगवन्, आपने ठीक ही कहा है कि आप मेरे योग्य नहीं हो, कहां अपनी ही महिमा में मग्न आत्माराम आप और कहां काम, क्रोधादि में लिप्त मूढ़ मैं ? आपने स्वयम् को अकिंचन कहा है, इसका अर्थ दरिद्रता नहीं है। आपके अतिरिक्त और कुछ जगत् में है ही नहीं। इसलिए आप अकिंचन है। जगत के जीवों के लिए जितने वांछित पदार्थ हैं- जैसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, वे सब आपके ही रूप हैं, जो भक्त आपको पाने के लिए अपना सब कुछ छोड़ देते हैं, आप उन्हीं के साथ रहते हैं। उनके साथ नहीं जो इन्द्रिय सुख में डूबे रहते हैं। जो स्त्री आपके चरण कमलों के मकरंद की सुगन्ध नहीं सूंघ पाती वही चमड़ी, दाढ़ी- मूंछ, रोम, नख और केशों से ढका स्वम् मांस, हड्डी, खून, मल, मूत्र से भरा हुआ यह शरीर प्रियमान कर इसकी सेवा करती है। मेरी तो एक मात्र अभिलाषा यही है कि मैं सदा आपका भजन करने वालों की संगति प्राप्त करुं और आपके चरणों की शरण में रहूं।"[१]

३२- भक्त सुदामा के उद्गार:-

" पुरुष के लिए स्वर्ग की, पृथ्वी की, तथा पाताल की समस्त सम्पत्ति, मोक्ष, स्वम् समस्त सिद्धियों का मूल उन परमपुरुष पुरुषोत्तम के चरणों की पूजा ही है।"[२]

सुदामा श्रीकृष्ण के सहपाठी सखा थे। दरिद्र ब्राह्मण पत्नी के आग्रह पर द्वारका में श्रीकृष्ण से मिलने गये वहां उनका बहुत आदर सत्कार हुआ लेकिन कृष्ण ने उस समय उन्हें कुछ दिया नहीं। लौटते समय मार्ग में सोचने लगे --

---

१- श्रीमद्भागवत- १०।३७।१०-४४

२- ,, -१०।८१।१९

आज मैंने देखा कि श्रीकृष्ण कितने ब्राह्मण भक्त हैं। उन्होंने मुझे अपने हृदय से लगा लिया। कहां मैं दरिद्र ब्राह्मण और कहां लक्ष्मी के स्वामी श्रीकृष्ण, फिर भी उन्होंने मुझे हृदय से लगाया। उन्होंने मुझे अपने पलंग पर सुलाया। पटरानी रुक्मिणी ने पंखा कर मेरी सेवा की। कृष्ण तो अखिल सम्पत्ति के स्वामी हैं। उन्होंने मुझे इसीलिए धन नहीं दिया कि कहीं धन के मद में भगवान् को न भूल जाऊं।

सुदामा घर पहुंचे तो देखा कि उनकी प्राचीन झोंपड़ी की जगह सुन्दर महल खड़ा है। उसमें सब प्रकार के धन धान्य और रत्न हैं। पत्नी आभूषणों से भूषित मुस्करा रही हैं। सुदामा सोचने लगे --

"मैं तो जन्म का दरिद्री हूं। मेरी यह समृद्धि निश्चित रूप से भगवान् कृष्ण की करुणा की देन है। वे बहुत देते हैं पर कहते नहीं। वे उस मेघ के समान हैं जो किसान के सो जाने पर रात में उसके खेतों को जल से भर देता है। अब भगवान् से यही प्रार्थना है कि अपने शेष जीवन में मैं सत्संग सेवी और भगवान् का भक्त बना रहूं।"[1]

--

१- श्रीमद्भागवत- १०।८१।१५-३८

षष्ठम्-अध्याय

भक्ति के पात्र और उनके उद्गार

(अ) तुलसी साहित्य के अनुसार:-

तुलसी साहित्य के अनुसार भक्त तुलसी ने अपने समस्त ग्रन्थों में श्री सीताराम की भक्ति को ही अपनी वाणी एवं बौद्धिक लेखन का आधार बना दिया है। सभी ग्रंथों की कथावस्तु के संघटनात्मक स्तर पर पात्र चाहे पृष्ठभूमि के निर्माणार्थ प्रस्तुत किए गये हों अथवा उदाहरण, प्रतीक, उपदेश नीति या अर्थ की विशेष अभिव्यक्ति के रूप में अनुप्रयुक्त किए गये हों, सभी ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राम भक्ति का ही यशोगान किया है। क्योंकि काव्य या लेखन कवि का मानस चित्र कहलाता है इसलिए उनके जीवन का उद्देश्य मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की लीला, चरित्र एवं कथा का गायन करना ही रहा है। 'रामचरित मानस' की कथा वस्तु के संघटनात्मक धरातल पर मानस का प्रत्येक पात्र भगवान राम की आन्तरिक भक्ति से जुड़ा हुआ है चाहे देववर्ग के अन्तर्गत अवतार सम्बन्धी पात्र हों, चाहे देवता, दैत्य मानव, ऋषि, राजा या अन्य वर्ग के अन्तर्गत भाव और प्रकृति सम्बन्धी पात्र हों, इन सबका ध्येय निराकार अविनाशी एक रस सच्चिदानन्द सर्व शक्तिमान् ब्रह्म वैष्णवतार सगुण रूप श्री दाशरथिनन्दन राम की भक्ति का आराधन या स्तुति करना अभीष्ट है।

अब हम तुलसी साहित्य में अनुप्रयुक्त भक्ति के पात्रों का उद्गार प्रस्तुत करेंगे - उद्गार का शाब्दिक अर्थ भावावेश में स्वभावतः स्फुरित होने वाली युक्तियां हैं। जिसका सम्बन्ध परमसत्ता के अवतारी रूप के नाम, रूप, गुण लीला, मौलादि के स्वरूप एवं तत्त्व का अन्वेषण एवं महिमा का गायन करना। ध्येय है, इसी में भक्त की एक निष्ठता, अनुराग, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास द्वारा भगवान के प्रति स्तरीय पराकाष्ठा का आकलन किया जाता है।

१- भगवान शिव :-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत भगवान शिव का वर्णन तीन रूपों में विश्लेषित किया गया है। प्रथम- श्री शिव को गुरु, आचार्य, शिव को भगवान राम के भक्त रूप में भक्ति के अनुसंधान हेतु दिखाया गया है। तृतीय भगवान शिव नरवेशावतार श्री राम के आराध्य के रूप में प्रस्तुत किए गये है।

सर्व प्रथम हम भगवान शिव के भगवत्स्वरूप पर विहंगम दृष्टिपात करेंगे तत्पश्चात इनकी राम भक्ति में अनुरक्त भक्त की चर्या का विश्लेषण करेंगे :-

कविवर तुलसी के प्रभृति ग्रंथो में भगवान शिव को सहज समर्थ[1] ज्ञानगिरा गोतीत भगवान माना है।[2] विनयपत्रिका, रामचरितमानस एवं कवितावली तथा पार्वतीमंगल में की गयी स्तुतियों में भगवान राम की भांति इनकी भी महिमा काम्य निर्दिष्ट की गयी है।[3] वह वेदपाद[4] सच्चिदानन्दघन[5] कूट स्वरूप[6] भगवान[7] है। वह करोड़ों सूर्यों के साथ प्रकाशमान, विज्ञानघन, ओंकार मूलक, एक रस, तुरीय निर्वाण रूप व्यापक और विभु ईश्वर स्वरूप है।[8]

१- रा०मा०- १।६६।३, विनयपत्रिका शिव स्तुति -३,४

२- विनयपत्रिका-१२।३ पार्वती मंगल- १२१, रा०मा०७।१०८।२

३ - कवितावली- ७।१६०, विनयपत्रिका - १२।३, पार्वती मंगल-१२१, भागवतपुराण-८।७।२१, (स्तुतिसंग्रह) विनय पत्रिका-३।१२, ४८, कवितावली ७।१४८-५८, रा०मा० १।१-श्लोक दो, २।१श्लोक १, ६।१ श्लोक २-३, ७।१ श्लोक ३, ७।१०८।स्तुति

४- रा०मा० ७।१०८।२

५- कवितावली- ७।१५० (सच्चिदानन्दघन), विनयपत्रिका १२।२

६- रा०मा० ७।१०८।१, विनयपत्रिका- १०।७, भागवतपुराण- ८।७।२४

७- विनयपत्रिका- ३।१ कवितावली- ७।१५२

८- रा०मा०- ७।१०८।१-२,५, विनयपत्रिका १०।४,६-७

वही विश्व की आत्मा[1] विश्वरूप[2] और सब भूतों में उनका अधिकार है।[3] वही जगदीश एवं सर्वज्ञ है।[4] वही जगत के पिता या जनक हैं, यह विश्व उनके अंश से उद्भूत होता है।[5] इसके साथ-साथ वे विश्व के संहारक एवं महाकाल के भी काल स्वरूप कहे जाते हैं।[6] वही निर्गुण, निराकार, कालातीत निर्विकार, विरज, निरंजन, निरुपाधि और निर्विकल्प है।[7] वही अच्युत, अकाल अखण्ड, अज अमित और अविच्छिन्न है।[8] वह अकाम अभोगी, अनघ तथा अनवद्य है।[9] वह निर्गुण होते हुए भी गुणों के निधान है वह सर्व सौभाग्य मूलक कल्याण राशि तथा करुणामय है।[10] वह परम कृपालु आशुतोष औढरदानी दीन बन्धु और अशरण शरण है।[11] वह मंगलप्रदायक, सर्वहित कारी, एवं आनन्ददायक स्वरूप है।[12] भगवान शिव जगत्कर्ता जनरंजन और दुष्ट नाशक है।[13] वे कामादि, अज्ञान, संशय, पाप एवं त्रिताप के निवारक है।[14] वह भाव गम्य, भाववल्लभ, चतुर्वर्ग दाता, और त्रिभुवन गुरु गरिष्ठ है।[15]

१- रा०मा० १।६४।२, जगदात्मा महेशु पुरारी। जगत जनक सबके हितकारी।।
२- विनयपत्रिका- १०।७
३- रा०मा०- ७।१०८।७
४- विनयपत्रिका- ३।१,१०।६,११।६,१२।४,४६।२ श्रीमद्भागवत-८।७।२२,२४
५- रा०मा०-१।६४।२, विनयपत्रिका १०।६, भागवतपुराण- ८।७।२५
६- विनयपत्रिका-११।७,१२।४, रा०मा० ७।१०८।२,६
७- विनयपत्रिका- १०।७,१२।३-४,१३।२,४६।८, रा०मा० ७।१०८।१-२
८- विनयपत्रिका- १०।६-७,४६।३,८, रा०मा० ७।१०८।५
९- रा०मा०-१।९०।२, विनयपत्रिका ४६।३, कवितावली- ७।१५०-५१
१०-गीतावली १।८०।१, रा०मा०- १।१।सो०४, विनयपत्रिका- १२।५,१०।५, ४६।२,६।१
११- रा०मा०- ३।१।सो०ख,१।५७।४, विनयपत्रिका-१०।१,६।२, पा०मं०३१, दो २३८
१२-कवितावली ७।१६४, विनयपत्रिका-४६।८,१२।१,१३।१ रा०मा०१।६४।३
१३- कवितावली- ७।१५२, वि०प० १२।५,११।१, रा०मा०-१।७०।४,६।१।श्लोक ३
१४- विनयपत्रिका १२।१,५,१३।४ कवितावली ७।१५१, रा०मा०६।१।श्लोक २, - ७।१०८।५
१५- रा०मा० १।१११।२, कवितावली ७।१५२,७।१५६ वि०प०१२।१

भगवान शिव भक्तजनों के माता, पिता, बंधु सुहृद एवं सब कुछ हैं।[1] चराचर जगत के प्राणी या जीव उनके दास भक्त हैं।[2] उनका नाम भक्तों के लिए कल्पवृक्ष के सदृश है।[3] अपनी महिमा से मण्डित होने के कारण ब्रह्मा, विष्णु द्वारा भी आराधनीय है, वन्दनीय है।[4] शिव की आराधना के बिना सब आराधनाएं अपूर्ण है।[5] बिना शिव की कृपा के भवविवेक और संतापनाश सम्भव नहीं। शिव से द्रोह करने वाले को सुख, शान्ति तथा अभीष्ट फलों की प्राप्ति स्वप्न में भी प्राप्त नहीं हो सकता उनके बिना ऐश्वर्य की कामना करना अल्पज्ञता एवं मूढ़ता है।[6] इसी लिए भगवान राम को शिव जी के सम्बन्ध में कहना पड़ा :-

१- औरौं एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।।[7]

२- शिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर मोहि सपनेहु नहि भावा।।[8]
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।।[8]

१- विनयपत्रिका- बंधु गुरु जनक, जननी विधाता, ११।८

१- कवितावली- ७।१६८ " मेरे माय बाप गुरु संकर भवानियै"

२- रा०मा० १।१०७।४, विनयपत्रिका- १२।२

३- रा०मा० १।१०७, जोग ज्ञान, वैराग्यनिधि प्रनत कल्प तरु नाम।"

४- विनयपत्रिका १२।२, रा०मा० १।१०७।४

५- रा०मा०- १।७०।४, इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें।

६- रा०मा० ७।१०८।७, रा०मा० १।२६७।१, विनयपत्रिका -२३।८

७- रा०मा० ७।४५

८- रा०मा० ६।१।४, ६।२

यह हुआ भगवान शिव का भगवत्स्वरूप चित्रण, अब हम भी शिव के भक्त रूप की चर्चा की मीमांसा करेंगे जो प्रस्तुत अध्याय का लक्ष्य है --

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत दोहावली ग्रंथ में भक्तवर तुलसी ने रामभक्ति के रहस्य को जानने वाले ४ भक्तों को प्रमुख माना है जिनमें राम- शंकर, हनुमान, लखन, और भरत जी हैं, इन्होंने ही वास्तव में रामभक्ति के महत्व को ही समझा है --

" जानो है संकर हनुमान, लषन, भरत, रामभगति ।
कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लागति ।[१]

रामचरित मानस में भी शिव को भगवान राम का महान भक्त बताया है ।[२]

मानस में जब हम उनकी चर्या पर विहंगम दृष्टिपात करते हैं तो महान् आश्चर्य होता है कि विशुद्ध धर्मधारी वृषकेतु जब संशय युक्ता अर्धांगिनी सती कृत सीता के वेश में राम के ब्रह्मत्व की परीक्षा लेती हैं, तो अपने इष्ट देव की परीक्षा के अपराध को न सहन कर सती जैसी नारी का परित्याग कर देते हैं ।[३] ~~इनके~~ भक्ति जैसी विशुद्ध आराध्या सीता को शिरोधार्य कर भक्तिमार्ग की रक्षा करते हुए कहते हैं कि -

जौ अब करउँ सती सन प्रीती । मिटइ भगति पथ होइ अनीती ।।[४]

१- गीतावली - २८२
२- रा०मा०- (१।५१।८ पू) : १।५७।५(उ)
३- रा०मा०- १।१०४।७-८
४- रा०मा० - १।५६।८

भक्ति मार्ग की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने में या प्रतिष्ठित करने में भगवान शिव ही प्रशंसनीय हैं। जिन्होंने सीता कृत वेष में सती सह प्रीति करने का भाव ही छोड़ दिया, क्योंकि सीता के वेष में मातृत्व भाव अभिव्यञ्जित होता है। मातृत्व भाव में वात्सल्यात्मक प्रीति निन्दनीय विचारणा है। भी शिव सर्व समर्थ होते हुए भी श्रीहरि की सन्तुष्टि में अपनी रुचि मानते हैं और हरि की इच्छाओं को शिरोधार्य कर उनके आदेशात्मक मार्ग का अनुसरण करते हैं।[1] अपने अनुभव में सार्वभौम मत अपने इष्टदेव 'हरि भजन' का ही यथार्थ गायन करते हैं और कहते हैं कि यह सृष्टि का नाम प्रपञ्च स्वप्न वत एवं मिथ्या है।[2] इसीलिए भगवान राम शिव पर प्रसन्न रहा करते हैं बिना शिव की कृपा के राम की भक्ति प्राप्त करना असम्भव है।[3]

मानस में शिव को मानसकार भगवान राम का सखा, सेवक स्वामी स्वजात के जितने भी नाम रूपात्मक सम्बन्ध हैं - सभी बताते हैं।[4] जब सती ने अपने पिता के यज्ञ में योगाग्नि से अपना शरीर भस्म कर लिया तब वे विरक्त होकर निरन्तर भगवान राम का नाम जप करते हुए यत्र तत्र उनके गुणों का गान श्रवण करते रहते थे।[5] जब राम प्रकट होकर उन्हें हिमालय के घर पार्वती रूप में अवतीर्ण सती से पुनः परिणय करने का

१- रा० मा० १।५६।६(पू०)

२- रा०मा० ३।३६।५

३- रा०मा० १।३८।६-७

४- रा०मा० बा०-१।१५।४(पू०)

५- रा०मा०बा० १।७५।७

निवेदन करते है, तब वे उसे उचित नहीं समझते हुए भी परमधर्म मानकर उनके आदेश को शिरोधार्य करते है।[1] भगवान राम के चरणों में उनकी ऐसी प्रगाढ़ भक्ति है कि राम जन्म महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए काग भुशुण्डि जी के साथ मनुष्य रूप धारण कर वे अयोध्या चले जाते हैं।[2] और उनकी कथा सुनने के लिए मराल वेष धारण कर नीलगिरि स्थित काग भुशुण्डि के आश्रम में निवास करते हैं।[3] ऐसे तो वे आशुतोष और अवढ़रदानी हैं।[4] किन्तु राम के पर ब्रह्मत्व के सम्बन्ध में आशंका प्रकट करने वालों के प्रति ये अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं[5] और रामभक्ति रहित प्राणी को तो मृतक के समान ही समझते हैं।[6] वे भगवान के यथार्थ स्वरूप के सबसे बड़े ज्ञाता भक्त है। तभी तो भगवान के अन्वेषण में प्रयत्नशील देवताओं के समाज में उन्होंने कहा था कि--

> 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।
> देसकाल दिसि बिदिसिहुमाहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाहीं।
> अग जग मय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।[7]

१- रा०मा०बा० - १।७७।१-४
२- रा०मा०बा० - १।१९६।४-५
३- रा०मा०उ० - ७।५७ (पू०)
४- रा०मा० २।४४।८(पू०)
५- रा०मा० १।११४।७- ११५।४
६- रा०मा० १।११३।५
७- रा०मा० १।१८५।५-७

राम और सीता के विवाह के अवसर पर भी आश्चर्य चकित ब्रह्मा और देवताओं को कामारि शिव ने ही उनके वास्तविक स्वरूप का हृदयङ्गम कराया था ।[1] वस्तुत: शिव भगवान राम की प्रभुता से पूर्ण परिचित हैं।[2] यही कारण है कि महामोह ग्रस्त पक्षिराज गरुड़ की शंका निवारण के लिए चतुरानन ब्रह्मा ने उन्हीं के पास भेजा था।[3] श्री शिव माहेश्वरी पार्वती जी से कहते हैं कि हे प्रिये ! मैं काशी में मरते हुए प्राणियों की मुक्ति भगवान राम की ही कृपा से पूर्ण करता हूं ।[4]

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि भगवान् राम के चरणों में भी शिव की भक्ति अक्षुण्ण है । भक्त शिव के मन मानस में भगवान राम का निवास है इनके बाल रूप राम इष्टदेव हैं और शिव अपने इष्ट से यही याचना करते हैं कि मुझे आपकी भक्ति और सत्संग अनवरत प्राप्त होता रहे --

बार-बार बर मागयुं हरषिदेव श्रीरंग
बस विचार अनपायिनी भगति सदा सतसंग ।[5]

1- रा०मा० बाल० १।३१४।८,३१५-३(पू०)

काकभुशुण्डि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानहि नहिं कोऊ ।
परमानन्द प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ।।

2- रा०मा० उ० १।७।५०।६(उ०)

3- रा०मा० ७।५०।७- बैनतेय संकर पहिं जाहू। तात अनत पूछहु जनि काहू ।

4- रा०मा०- १।११६।१-२

5- रा०मा० - ७।१४(क)

श्रीमद्भागवत में भक्ति के द्वादश आचार्यों में भगवान शिव का प्रधान दूसरा आता है कि इन्होंने ही वैष्णव भक्ति का प्रचार प्रसार किया ।[1] इसी लिये भागवतकार वैष्णवों में भगवान शिव को प्रमुख मानते हैं ।[2] क्योंकि इन्होंने ही राम नाम की महिमा को जाना, समझा और पहिचाना है ।

महिमा राम नाम के जान महेश ।
देत परम पद काशी करि उपदेश ।।[3]

२- <u>भगवती भवानी (पार्वती) :-</u>

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत विशेषकर राम चरितमानस की कथावस्तु में भगवती पार्वती को श्रोता रूप में तथा उनके लीलात्मक चरितांश को राम कथा के साथ जोड़ा है । राम भक्ति के भक्त पात्रों में तुलसी भगवती भवानी की गणना सिद्ध करते हैं कि श्रद्धा रूपी भवानी के बिना अन्तरंग भक्ति के हृदय को प्राप्त करना असम्भव है ।[4] सर्वप्रथम हम तुलसी के प्रमुख ग्रंथों में भगवती पार्वती का वास्तविक स्वरूप सिद्ध करके राम भक्ति के भक्त की उपादेयता प्रमाणित करेंगे ।

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस में भगवान शिव की शक्ति या माया को भवानी बताया गया है ।[5] वे अजा, अनादि,

---

१- श्रीमद्भा० - ६।३।२०-२१

२- श्रीमद्भा० - १२।१३।१६

३- बरवै रामायण- ५३

४- रा०मा० - १।श्लोक

५- रा०मा० - १।८१ तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु ।

अविनाशिनी और शक्ति स्वरूपा है तथा वह स्वेच्छा से लीला शरीर धारण करती हैं।[1] पार्वती के रूप में शरीर धारण करना उनका अवतरण है।[2] वे अन्तर्यामिनी, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र एवं समस्त लोकों की स्वामिनी तथा अधिष्ठात्री है।[3] साकार रूप में वह शम्भु की अर्धांगिनी तथा महामूल माया है। यह असंख्यनाम- रूपात्मक जगत उन्हीं की अभिव्यक्ति है। अतएव वह अनेक नाम रूप धारी हैं।[4] वे विश्व का सृजन पालन एवं संहार करने वाली आधारशक्ति है।[5] वे जगन्मूला विश्व संरक्षिका एवं जगज्जननी है।[6] भगवती पार्वती आदि मध्य और अन्त से परे ब्रह्म की शक्ति है जिनकी महिमा का गान वेदों की सामर्थ्य से परे की बात है।[7]

१- रा०मा० - १।६८।२

"अजा अनादि शक्ति अविनासिनी। सदा सम्भु अरधंग निवासिनी।
जग सम्भव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीलावपु धारिनि।।

२- रा०मा०- १।६४, जगदंबा जहं अवतरी सो पुर बरनि कि जाइ।

३- रा०मा०- १।७२।४, गीतावली- १।७२।२, विनयपत्रिका-१६।३, रा०मा० १।२३५।४

४- विनयपत्रिका- १५।१,-विश्वमूलासि.... महामूल माया।

५- विनयपत्रिका- १६।३- अनेक रूपनामिनी।

५- रा०मा०- १।२३५।४- भव भव विभव पराभव कारिनि।
विस्व विमोहनि स्ववस बिहारिनि।।

६- रा०मा०- १।६८।१, विनयपत्रिका १५।१,१५।३

७- रा०मा०- १।२३५।३

यह प्रपंचात्मक विश्व उन्हीं से विकसित होता, उन्हीं से पल्लवित होता और उन्हीं में लय हो जाता है, उन्हीं की कृपा प्रसाद से विधि सृष्टि करते, विष्णु पालन करते तथा शिव संहार करते हैं।[1] उनका एक रूप जग जननी कहलाने से विद्यामाया और विश्वमोहिनी भी होने से अविद्या माया का रूप भी वही है। वही मोदमंगल की राशि, करुणामयी, कृपावती, जनानुकूल, प्रणतपालिका एवं विनय प्रेम की वशवर्तिनी हैं।[2] वे भक्त भय हारिणी हैं। भक्तों को पीड़ित करने वाले शुंभ, निशुंभ, महिष आदि दानवों का दलन करने के लिए भीमाकराल, कालिका हैं। भगवती उमा पुरारि प्रिया वरदायिनी चतुर्वर्ग फलदात्री है। उनके चरण कमलों की पूजा सिद्ध, मुनि देवता मनुष्य सुखेच्छार्थ करते हैं।[3] भगवती उमा मुक्ति और भुक्ति की साक्षात वरदायिनी होने के साथ-साथ जगदम्बा एवं भगवती सीता की भी पूजित वंदनीया हैं।[4]

यह रहा भवानी पार्वती का आदि शक्ति स्वरूप। अब हम उनके राम भक्ति में अनुरक्त चर्या का विश्लेषण करेंगे :-

---

१- कवितावली- ७।१७३

" रचत विरंचि, हरि पालत, हरत हर, तेरे ही प्रसाद जग,
अग जग पालिके।
तेहि में विकास विश्व, तोहि में विलास सब, तोहि में समात,
मातु भूमिधर बालिके।।"

२- कवितावली- ७।१७३-७४, रा०मा० १।२३६।३, विनयपत्रिका-१५।१

३- विनयपत्रिका- १५।३-४,१६।१-२, रा०मा०- १।२३६।१

४- कवितावली- ७।१७३, विनयपत्रिका-१६।१, रा०मा०-१।२२८।३,

राम चरित मानस के बालकाण्ड के अन्तर्गत भगवती पार्वती का प्रथम प्रवेश सती शरीर में धारण किये हुये जब भगवान शंकर कुंभज ऋषि के आश्रम से लौटते हुये सीता हरण के प्रसंग में भगवान राम साधारण मनुष्य की ही अवस्था में वियोग करते हुए सती जी को मालूम पड़ते हैं। तो सती जी साधारण मनुष्य के रूप में राम के पर ब्रह्मत्व पर सन्देह करती हैं।[1] और राम के पर ब्रह्मत्व की परीक्षा लेने के लिए मार्ग में सीता कृत वेष में परिचय होता है तब भगवान राम अपने पर ब्रह्मत्व का अमित प्रभाव दिखाकर सती के सन्देह का निराकरण करते हैं।[2] इसी अवस्था को भगवान शंकर जब योगबल से सती द्वारा किये आराध्या भगवती सीता कृत वेष में राम के पर ब्रह्मत्व की रहस्यमयी परीक्षा के दृश्य को देखकर पवित्र भक्ति के मार्ग में बाधक सती का परित्याग कर देते हैं।[3] तब सती को अपने कृत्य का भयंकर पश्चाताप होता है।[4] और अन्त में भगवान राम से दीनता एवम् शरणापन्न भाव में कारुणिक प्रार्थना करती हुई कहती हैं कि:--

> जौप्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन बेद जसु गावा।
> तौ मैं बिनय करउं कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी।
> जौ मोरें सिव चरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू।
> तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु करउ सो बेगि उपाइ।
> होइ मरनु जेहि बिनहिं श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ।[5]

1- रा०मा०-१।५१।१-४

2- रा०मा०-१।५२,१।५५।८

3- रा०मा०-१।५६।८,१।८८।६

4- रा०मा०-१।५७।१-२

5- रा०मा०-१।५६।५,१।५६

उसी समय दैव वश दक्ष के यहां यज्ञ होता है। वहां अपने स्वामी का भाग न देखकर योगाग्नि के माध्यम से शिव द्रोही पिता दक्ष शरीर के रज से उत्पन्न शरीर का त्याग कर देती है, और पर्वताधिराज हिमालय के घर में पार्वती रूप में अवतरित होती है। और देवर्षि नारद द्वारा बताये गये मार्ग से भगवान शिव की भक्ति कर अर्धांगिनी भाव को सुशोभित करती है। पार्वती जन्म में भी उन्हें पूर्व जन्म की स्मृति बनी रहती है।[1] लेकिन उनके मन का सन्देह नहीं मिटता[2] बस पूर्व जन्म जैसा अविवेक नहीं था। भगवान राम की कथा श्रवण में उनकी विशेष रुचि दृष्टव्य हुयी है।[3] आर्त होकर भगवती पार्वती ज्ञानेश्वर शिव से अज्ञान निवारणार्थ राम कथा को विस्तार से एकाग्र चित्त श्रवण करती हैं। श्रोता एवं वक्ता रूप में सविस्तारित रामकथा के श्रवण भाव से ज्ञात होता है कि पार्वती जी भगवान की प्रियतम भक्त हैं- इनकी साधना त्याग एवं विश्वास की अखण्डात्मक अनुरक्ति अनुपम है। युगल रूपा भगवान शिव एवं भगवती पार्वती रामकथा के गूढ़तत्व मर्मी भक्त हैं।[4]

"सुनि सब कथा हृदय अति भाई।
गिरिजा बोली गिरा सुहाई।।

नाथ कृपा मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा
मै कृत कृत्य भइउं अब तव प्रसाद विश्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस।।[5]

१- रा०मा० -१।१०७।४

२- रा०मा० -१।१०८।५(पू०)

३- रा०मा० -१।१०८।७

४- रा०मा० -१।१०८।१-२,१।११०।३,

५- रा०मा०- ७।१२८।४,७।१२६

२- श्री ब्रह्माजी :-

श्रीमद्भागवत और तुलसी साहित्य प्रभृति ग्रंथों में ब्रह्मा जी को महान भक्त के रूप में दर्शाया गया है। इन्हीं से भक्ति के आचार्य परम्परा की उत्पत्ति का हेतु श्रीमद्भागवत में निर्दिष्ट किया गया है।[1] लौकिक जगत का जितना भी मायात्मक विलास है वह सब ब्रह्मा द्वारा ही निर्मित हुआ है। इनकी उत्पत्ति आदि नारायण के कमल से निर्दिष्ट की गयी है।[2] यह देवताओं में वयोवृद्ध पितामह हैं। वे अपनी तपस्या के बल पर संसार का सर्जन करते हैं।[3] विषम स्थिति उत्पन्न होने पर देवताओं को शुभ सम्मति देकर कृतार्थ करते हैं।[4] पृथ्वी पर अत्याचार जब अपनी मर्यादा से तोड़ कर धर्म का लोप कर देता है तो दुखिता पृथ्वी धेनुरूप धारण कर देवता, सिद्ध, मुनि एवं गन्धर्वों के साथ वयोवृद्ध पितामह के यहां ही जाते हैं और पितामह ब्रह्माजी सभी को धैर्य एवं सान्त्वना देकर अविनाशी श्रीहरि के चरणकमलों का ध्यान कर उनके अवतरण का हेतु बनते हैं।[5] इस प्रकार की प्रक्रिया इन्हें भक्त के रूप में सिद्ध करती है। मानस की मोह ग्रस्त पक्षिराज गरुड़ को देवर्षि नारदने ब्रह्मा के पास राम के ब्रह्मत्व की शंका को दूर करने के लिए संप्रेषित किया था।[6] ब्रह्माजी ने राम के बल एवं प्रभाव को समझकर प्रेम में निमग्न होकर गरुड़ को भगवान शिव के पास प्रेषित किया।[7]

१- श्रीमद्भागवत- ६।३।२०-२१

२- श्रीमद्भागवत- ३।८।१४-१५-१६

३- रा०मा० - १।१६३।२छं

४- रा०मा० - १।८२।५-,१।८२

५- रा०मा० - १।१८३,१।८४

६- रा०मा० - ७।५६।८

मानस के लंकाकाण्ड में रावण वध के पश्चात आप भगवान की स्तुति करते हुये दिखाई देते हैं।[1] और कहते हैं बिना आपसे प्रेम लगाये देवताओं का जीवन भी निरीह एवं पशुतुल्य है।[2] और मुझे आप अपने चरण कमलों की सन्निधि का ही अभीष्ट वर प्रदत्त करने की कृपा करें।[3] आपके शोभासिन्धु रूप को देखकर मेरे नेत्र अतृप्त बने रहते हैं।[4]

४- इन्द्र :-

राम चरित मानस में इन्द्र को भी भक्त के रूप में देखागया है वैसे यह सात्त्विक कार्य में व्यवधान डालने वाले सुरपति हैं महर्षि नारद को तपोभ्रष्ट करने में आपने ही कामदेव को भेजा था।[5] तथा चित्रकूट की सभा में आपने ही देवमाया से उच्चाटन क्रिया द्वारा व्यवधान उपस्थित किया था।[6] इसके अतिरिक्त आपने ही राम और भरत से भेंट न होने का षड्यंत्र गुरु बृहस्पति के द्वारा प्रयत्न सोचा था।[7] पर बृहस्पति जी ने मुस्कराकर भक्तों के अपराध पर राम की क्रोधाग्नि द्वारा अवगत कराते

१- रा०मा०- ६।१११(पू०)

२- रा०मा०- ६।१११।१८ धिक जीवन देव शरीर हरे।
तव भक्ति बिना भव भूलि परे।।

३- रा०मा०- ६।१११।२२

४- रा०मा०- ६।१११(उ०)

५- रा०मा०- १।१२५।५,१।१२५

६- रा०मा०- २।२९५, २।२९५।१,२।३०२।३-४, २।३१५(उ०)

७- रा०मा०- २।२१७।७, २।२१७

हुये इस आग्रह को अस्वीकार किया था।[1] तदनन्तर भरत की मति को फेरने के लिए आपने माँ सरस्वती का आह्वान किया, पर माँ सरस्वती भी इस घृणित कार्य पर इन्द्र को फटकारती हुई ब्रह्म लोक को चली जाती जाती है।[2] वस्तुत: इनकी करनी लोक निन्दनीय है। यह स्वार्थवश आतुरता का भाव ही स्वयं का मंगल समझते हैं।[3] महाकवि तुलसीदास जी इनकी ~~कटोक्तियें~~ भर्त्सना करते हुये कहते हैं --

> कपट कुचालि सींव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू।
> काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुं न प्रतीती।[4]

भगवान राम भी इनकी करनी और कथनी से पूर्णतः परिचित हैं।[5] लेकिन इनका संक्षिप्त चरितांश रामभक्त के होने को उजागर करता है--

भगवान राम के अवतरण मंगलोत्सव के पुष्प वृष्टि करने में आपकी महती भूमिका उजागर होती है।[6]

जनकपुर में राम विवाह के अवसर पर गौतम के शाप को अपने लिए परम हितमानकर अपने हजार नेत्रों से राम दर्शन का सुन्दर लाभ लेने में आप सौभाग्य शाली दिखाई देते हैं।[7] जनकपुर में रामदर्शन के प्रसंग में इन्द्र की सभी देवताओं ने भूरि भूरि प्रशंसा की थी कि यह भी सौभाग्यशाली है।[8]

१- रा०मा- २।२१८।१,२।२१८

२- रा०मा०-२।२६४।२।२६५।१-८

३- रा०मा०-२।३०१(उ०)

४- रा०मा०-२।३०२।१-२

५- ,, ,,-२।३०२।८

६- रा०मा०- १।१६१।७(पू०)२५४२२०।४

७- रा०मा०- १।३१७।६

८- रा०मा०- १।३१७।७

लंका में राम-रावण युद्ध के समय पैदल राम के पास आकाश दिव्य अनुपम एवं तेज पुंज रथ भेजकर[1] इन्द्र ने अपनी राम भक्ति का सुन्दरतम परिचय प्रदान किया है। इतना ही नहीं, वहीं पर रावण वध के पश्चात भगवान से आज्ञा लेकर उनके आदेशानुसार[2] उन्होंने अमृत की वृष्टि करके वानर भालुओं को जिलाकर भी अपनी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय दिया है।[3] तदनन्तर रावण के निधनोपरान्त राम की स्तुति करते हुए निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण ब्रह्म कोसलराज भगवान राम सीता तथा लक्ष्मण के चरणों में अपनी प्रीतिभाव निवेदित करते हुए अपने हृदय में तीनों (श्रीराम, सीता लक्ष्मण) शक्तियों के निवास की प्रार्थना करते हुये सामने आते हैं।[4] इससे स्पष्ट होता है कि सुरपति इन्द्र भगवान राम के परमभक्त हैं। यथा--

राम लखन सीता सहित सोहत परम निकेत
जिमि बासव बसा अमरपुर सची जयंत समेत ।।

~~१-- रा०मा०-- ६।८९।१-२--६।~~

१- रा०मा०- ६।११४।१-२

२- रा०मा०- ६।११४।५

३- रा०मा०- ६।११३।१३-१७

४- रा०मा०- रा०-२।१४१

५- सनकादि ऋषि कुमार:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत सनक सनन्दन सनत्कुमार और सनातन इन चारों नैष्टिक ब्रह्मचारियों को परमतपस्वी तथा ज्ञान मूर्ति के रूप में भगवान श्री हरि के अवतारी रूप श्री राम का भक्त घोषित किया गया है। यह ब्रह्मा जी के विशुद्ध सत्वगुण से उत्पन्न मानस पुत्र कहे जाते हैं। इन चारों मुनियों की अवस्था ५ वर्षीय शिशु स्वरूप ही रहती है। श्रीमद्भागवत में भक्ति के द्वादश आचार्यों में इनका भी स्थान परिगणित किया गया है।[1]

यह परम भागवत स्वरूप एवं भक्ति के साक्षात प्राण कहे गये हैं। इनका चित्त निरन्तर भगवद्भजन में ही एकाग्र रहता है भगवच्चरणों में इनकी भाव वृत्ति सदा ही एकाकार या अनुरक्त रहती है।[2] भगवान राम जब असुरों का संहार करके अपनी नगरी अयोध्या में राज्य का संचालन करते है तो यह प्रतिदिन भगवान राम की कीर्ति एवम् गाथाओं के श्रवण हेतु भगवान के दर्शनार्थ अयोध्या आते थे।[3] जहां-जहां भगवान की चरित्र गाथाएं एवं कथाओं का गायन होता है आप वहां- वहां जाकर भगवद्गुणों को सुना करते हैं यह ही उनका मानसिक वृत्ति का व्यसन है।[4]

१- श्रीमद्भागवत - ६।३।२०-२१ , ३।८।६

२- रा०मा०- ७।३२।२-३-४,

विनय पत्रिका- पद ८६,पंक्ति -४

"सुक सनकादि मुक्त विचरत तेउ भजन करत अजहूं।"

३- रा०मा०- ७।२७।१-२(पू०)

४- रा०मा०- ७।३२।६

मानस में यह मुनिवर अगस्त्य के श्रीमुख से बहुत सी कथाओं का श्रवण कर[1] भगवान राम के दरबार में प्रवेश करते हैं।[2] त्रिलोकेश्वर भगवान राम का वैभव एवं ऐश्वर्य देखकर एवं उनका अलौकिक सौन्दर्य देखकर आश्चर्य चकित रह जाते हैं और अपलक नेत्रों से विह्वल स्थिति की पराकाष्ठा में भगवान राम का साक्षात्कार करते हैं। इस निर्निमेष नयनों एवं प्रेम विह्वल अवस्था को देखकर भगवान का शरीर पुलकित हो जाता है और मुनियों को देखकर प्रेम के अश्रुपात होने लगते हैं।[3] तदनन्तर चारों मुनिसगुण एवं निर्गुण स्वरूपराम से कामादि षडविकार के नष्टक राम से हृदय में निवास करने की प्रार्थना करते हैं।[4] और `अनपायिनी` और प्रेम भक्ति की [5] याचना कर चारों मुनिवर भगवान गुणगान करते हुए ब्रह्मलोक चले जाते हैं।[6] महामुनि नारद के बार-बार अयोध्या जाने पर भगवान के अनुपम सौन्दर्य एवम् ऐश्वर्य को देखकर जब आप ब्रह्मलोक में भगवान की राज्याभिषेक की चर्चा का बखान करते हैं तो सनकादि मुनिवर निर्गुण इष्ट प्रेमी ब्रह्मलीन ध्यान एवं समाधि का विस्मरण करके भगवान के गुणानुवाद को एकाग्र चित्त से श्रवण करते हैं।[7] अत: स्पष्ट हो जाता है कि परम ज्ञानी भक्ताचार्य चारों मुनिगण भगवान राम के अनन्य प्रेमी भक्त हैं।

१- रा०मा०- ७।३२।७-८

२- रा०मा०- ७।३२।८(पू०)

३- रा०मा०- ७।३३।२-५

४- रा०मा०- ७।३४।१-८

५- रा०मा०- ७।३४

६- रा०मा०- ७।३५।१,७।३५

७- रा०मा०- ७।४२।४, ७।४२(पू०)

८- नारद जी :-

श्रीमद्भागवत में नारद जी को बादश भक्ति के आचार्यों में परिगणित किया गया है ।[1] भक्ति सूत्र एवं नारद पाञ्चरात्र आपके ही अद्वितीय महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं । तुलसीसाहित्य के अन्तर्गत विशेषकर मानस में धीर बुद्धि से मण्डित एवं अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रती बताये गये हैं ।[2] आप ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं। भगवान के नाम संकीर्तन में वीणा हाथ में लिए निरन्तर गाया करते हुये मानस में आपकी चर्चा दिखाई गयी है ।[3] आप अयोध्या में जाकर भगवान राम के दर्शनों द्वारा अपने को कृतार्थ करते हैं ।[4] सुरम्य वन प्रांतों को देखकर तो नारद का मन तो भगवान के चरणों से और भी अधिक अनुरक्त हो जाता है । उस समय उन्हें अनायास ही समाधि लग जाती है। इस और एक स्थान पर दो घण्टे से अधिक देर तक कहीं ठहर सकने का दक्ष प्रजापति प्रदत्त अभिशाप की गति भी कुण्ठित हो जाती है । विष्णुभक्त एवं ज्ञानी नारद के महान रक्षक साक्षात भगवान हैं। अतः उनकी सीमा पर अधिकार कर लेना किसी के भी वूते की बात नहीं है ।यही कारण है कि इन्द्र के द्वारा भेजे गये कामदेव की कला का उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। हां जब उनके मन में कामदेव को जीतने का अहंकार होगया । तब उनके कल्याण के लिए निश्चय ही 'सेवक हितकारी' करुणा निधान भगवान ने कौतुक करके उसे समूल नष्ट कर दिया। इससे भगवान की भक्तवत्सलता एवं नारद के ऊपर उनकी असीम कृपा का ही परिज्ञान नहीं होता अपितु भगवान के चरणों में नारद की भक्ति की प्रगाढ़ता का परिचय मिलता है।

१- श्रीमद्भागवत - ६।३।२०-२१

२- रा०मा०- १।१२६।२

३- रा०मा०- १।१२८।३, ३।४१।८-६,७।५०,७।५१,७।५६(पू०)

४- रा०मा०- ७।२७।१-२(पू०) ,७।८२।८(पू०)

नारद भगवान राम के नाम और प्रभुता के परम ज्ञानी एवं ज्ञापक हैं ।[1] उन्होंने अरण्य में भगवान राम से सर्वाधिक प्रभाव शाली राम नाम का वरदान प्राप्त किया था ।[2] वहाँ पर आपने राम के श्रीमुख से अपने विवाह रोकने के कारणों को[3] सुनकर और उससे अपना कल्याण समझ कर उनका शरीर पुलकित हो जाता है और प्रेमाश्रुओं के जल से आँखें आल्हादित हो जाती हैं ।[4] श्री नारद मानस के भगवद्विमुखों का भर्त्सना करते हुये दिखाई देते हैं।[5] अतः नारद भगवान राम के परम भक्त के रूप में मानस में अवतरित हुये हैं ।

७- मुनि अत्रि:-

तुलसी ने रामचरित मानस के अन्तर्गत महर्षि अत्रि को भक्त रूप से सिद्ध किया है । जब भगवान राम सीता तथा लक्ष्मण सहित महर्षि अत्रि के आश्रम में प्रवेश करते हैं तो अत्रि का हृदय आराध्य को देखकर प्रसन्न एवं गद्गद हो जाता है ।[6] हृदय की पुलकित अवस्था एवं प्रेमाश्रुओं से राम लक्ष्मण सीता भक्त की सी अवस्था के स्वरूप अत्रि जी हृदय से लगाते हैं। तत्पश्चात नेत्रों को आनन्द देने वाले भगवान, राम सीता तथा लक्ष्मण का अविछुप्त सत्कार कर स्तुति करने लगते हैं ।[7]

१- रा०मा०- १।२६।२(पू०)

२- रा०मा०- ३।४२।७,३।४२(क)

३- रा०मा०- ३।४३।४, ३।४४

४- रा०मा०- ३।४५।१

५- रा०मा० ३।४५।२-३

६- रा०मा०- ३।३।४

७- रा०मा०- ३।३।५, ३।३

महर्षि ने अपनी स्तुति में भगवान की कृपा लुटा एवं भक्त वत्सलता को ही सविस्तारित करके संसार सागर से पार होने की याचना की है।[१] और कहा कि भवच्चरणों के आश्रय से ही भक्त इस अजेय संसार सागर से पार हो सकता है। और आपने भवच्चरणों में भक्ति का ही अभिलाषा की है:--

> प्रसीद मे नमामि ते। पदाब्ज भक्ति देहि मे।
> बिनती करि मुनि नाइ सिरु कह कर जोरि बहोरि।
> चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुं तजै मति मोरि।।[२]

८- वाल्मीकि:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत महर्षि वाल्मीकि को भक्त के रूप में सिद्ध किया गया है। आप त्रिकालदर्शी[३] होने के साथ-साथ भगवान राम के अनन्य भक्त हैं। अपने आश्रम में भगवान के दर्शन कर आप भावविभोर हो जाते हैं। तथा नेत्रों से आनन्दातिरेक के आंसू उमड़ आये थे।[४] भगवान की मंगलमूर्ति स्वरूप का अतिथ्य सत्कार करके अपने को अहोभाग्य स्वरूप सराहने लगे थे।[५] महर्षि वाल्मीकि भगवान की प्रभुता से पूर्णपरिचित थे जब भगवान ने अपने ठहरने का स्थान महर्षि से पूछा[६] तब वाल्मीकि जी

१- रा०मा०- ३।४।१-१२

२- रा०मा०- ३।४

३- रा०मा०- २।१२५।७

४- रा०मा०- २।१२५।५

५- रा०मा०- २।१२५।२-३

६- रा०मा०- २।१२६।५-६

सीता लक्ष्मण सहित प्रभु की सर्वत्र व्यापकता का परिचय देते हैं।[1] तथा भगवती सीता और लक्ष्मण सहित उनके निवास के लिए १४ स्थानों का निर्दिष्ट करते हैं।[2] एवं तात्कालीन परिस्थिति की आवश्यकता को देखते हुये आप चित्रकूट पर्वत पर ठहने का परामर्श देते हुये दिखाई देते हैं।[3] महर्षि वाल्मीकि भगवान के उल्टे नाम जप के बल पर ही ब्रह्म के समान आदरणीय एवं ख्याति सम्पन्न हुये थे[4] जबकि इनकी पूर्व अवस्था की करणी दस्युभाव से प्रभावित हिंसात्मक थी। महर्षि वाल्मीकि भगवान के नाम जप की प्रमुखता में महान् करणीय भक्त हैं।

६- शरभङ्.जी:-

रामचरित मानस में शरभङ्.के मुनि भगवान राम के परम भक्त के रूप में दिखाई देते हैं- जब भगवान राम,सीता तथा लक्ष्मण सहित अरण्य वैण में शरभङ्.जी के आश्रम में पहुंचते हैं[5] उस समय शरभंग जी अपने जन्म को सार्थक सराहना करते हुये अपने को अहोभाग्यशाली समझते हैं यथा- देखि

१- रा०मा०- २।१२६।६,२।१२८

२- रा०मा०- २।१२७।३,-२।१३१

३- रा०मा०- २।१३२।३

४- रा०मा०- १।१६५-

जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू।।

रा०मा०-२।१६३।८-

उलटा नाम जपत जग जाना।+ वाल्मीकि भए ब्रह्मसमाना।।

५- रा०मा०- ३।७।८

पूर्ण चन्द्रमा को देखकर अनुरक्त हो जाता है।[1] एक प्रसंग जनकपुर का भी है-- जिस समय जनकपुर की सभा में धनुर्भंग होने पर विश्व विजयी असाधारण योद्धा परशुराम राम के प्रभाव एवं पर ब्रह्मत्व से अपरिचित होने के कारण उनको अनुच आक्रमण से आवश्यक प्रलाप कर रहे थे उस समय महर्षि विश्वामित्र ने हृदय में हंसकर जो विचार व्यक्त किया था[2] उससे भी स्पष्ट होता है कि व राम के पर ब्रह्मत्व से वे पूर्णत: अवगत जानपड़ते हैं। महर्षि विश्वामित्र को राम से इतना स्नेह था कि वे राम विवाह के पश्चात अयोध्या से चले जाने की इच्छा रखते हुवे भी उनके स्नेह एवं विनय से झुक जाते थे।[3] अयोध्या से विदा होते हुवे मन ही मन महाराज दशरथ की भक्ति, चारों भाइयों के विवाह का आनन्द एवं उत्साह की सराहना करते हुए सर्व प्रथम राम के रूप की ही प्रशंसा एवं सराहना करते हुए दिखाई देते हैं।[4] अत: सिद्ध है कि आप भगवान राम के परम भक्त हैं।

१५- काकभुशुण्डि:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत विशेषकर रामचरित मानस में काकभुशुण्डि जी राम कथा के आचार्य एवम् वात्सल्य राम के परम भक्त के रूप में व्याहृत किये गये हैं। यह विगत कलियुग में अयोध्या के शूद्र थे।[5]

१- रा०मा०- १।२०७।५-६

२- रा०मा०- १।२७५ - गाधि सूनु कह हृदयं हंसि मुनिहि हरिअरइ सूझ।
अयमय खाँड न ऊखमय अजहुं न बूझ अबूझ ।।

३- १।३६०।३

४- रा०मा०- १।३६०

५- रा०मा०- ७।९६(ख), ७।९७।१

वृत्ति से मनसा वाचा कर्मणा भगवान राम का चरणानुरागी हो जाय।[1]
अतः उक्त प्रसंग परम भक्त के भाव को सिद्ध करते हैं।

१८- <u>विश्वामित्र जी:-</u>

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत- महर्षि विश्वामित्र गाधि जी के पुत्र, भगवान राम एवं लक्ष्मण के गुरु होने के साथ-साथ आप भगवान के परम भक्त के स्वरूप भी हैं। भगवान राम की प्रभुता को उजागर करने में आपका ही प्रारम्भिक क्रियात्मक योगदान है।[2] आप याज्ञिक अनुष्ठान की सम्पूर्ति के उपाय हेतु भगवान राम और लक्ष्मण को लेने के लिए अयोध्यापति महाराज दशरथ से याचना करते हैं कि लोक कल्याणार्थ भगवान का अवतरण है, मारीच सुबाहु तथा अन्यान्य राक्षसादि ऋषि कृत कर्म के व्यवधान कारक हैं[3] अतः मेरी इस उत्कट अभिलाषा एवं आकांक्षा की पूर्ति कीजिएगा। विश्वामित्र जी जब भगवान राम और लक्ष्मण के स्वरूप की कल्पना करने लगे तो दिव्य ज्ञान वैराग्य युक्त गुणों के धाम प्रभु के नेत्रों को देखकर उनके नेत्रों में अश्रुपात हो आया और शरीर पुलकित होगया।[4] जब अयोध्यापति ने चारों पुत्रों को मुनि के चरणों में डाल दिया तब वह राम को देखकर वे अपनी देह की सुधि भी भूल गये वे राम के मुख की शोभा देखते ही ऐसे मग्न हो गये मानों चकोर

१- रा०मा०- २।१०७

२- रा०मा०- १।२०८।७-८,१।२५४।५-६,१।२३१ (उ०)-१।२६५।७(पू०)

३- रा०मा०- १।२०६।~~[illegible]~~ -२-४

४- रा०मा०- १।२०६।५,१।२०६

अपने आश्रम में अरण्य वेशधारी भगवान राम के दर्शन कर उन्होंने मानों अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करते हुए अपने को परम सौभाग्य शाली समझा था।[1] और अपने को उपकृत्य मानकर सराहना करते थे कि आज पुण्यों के फलों का अभीष्ट सिद्धि, स्वर्ग साध्य - भगवान, राम सीता तथा लक्ष्मण के दर्शन से प्राप्त कर लिया है।[2] भगवान का सप्रेम पूजन एवं आतिथ्य सत्कार कर[3] आह्लादित होकर यों निवेदन करते हैं कि आज मेरे जप तप तीरथ त्याग और वैराग्य सभी शुभ साधन आपके साक्षात्कार से सिद्ध हो गये --

> " आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू।
> आजु सुफल जप जोग बिरागू।।
> सफल सकल सुभ साधन साजू।
> राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।।[4]

उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण मनोरथ एवं अभिलाषाओं की सम्पूर्ति मात्र भगवान का दर्शन प्राप्त करना अभीष्ट है।[5] इसी लिये उन्होंने भगवान के चरण कमलों में सहज स्नेह स्वरूपा अहैतु की भक्ति की ही याचना की थी।[6] वस्तुतः उनकी धारणा थी कि मनुष्य करोड़ों यत्न करें भगवत्जनित सुख तभी प्राप्त कर सकता है जब वह निश्छल भाव

१- रा०मा०- २।१०६।८

२- रा०मा०- २।१०६

३- रा०मा०- २।१०७।१-४

४- रा०मा०- २।१०७।५-६

५- रा०मा०- २।१०७।७

६- रा०मा०- २।१२७।७

इससे स्पष्ट होता है कि महर्षि अगस्त्य की भावभूमि में ब्रह्म के सगुण रूप राम सीता और लक्ष्मण के प्रति पूर्ण शरणागत प्रपन्नता एवम् आत्मरति विधायक निवेदन भाव भक्ति के लक्षण को सिद्ध करता है।

१३- भरद्वाज जी:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस प्रबन्धकाव्य में भरद्वाज जी श्रोता के रूप में व्यवहृत हुये हैं। भरद्वाज जी रामकथा के मर्मज्ञ भक्त हैं। महर्षि भरद्वाज प्रयाग निवासी- जितेन्द्रिय ,परमार्थपथ के अनुयायी ,दया निधान एवम् निरीहित चित वाले महान तपस्वी हैं।[1] मकर संक्रान्ति के अवसर पर आये हुए परमज्ञानी याज्ञवल्क्य मुनि को अपने आश्रम में ठहराकर चरणागत होकर राम कथा के स्वरूप जानने की प्रार्थना करते हुये मानस में दिखाई देते हैं।[2] महर्षि याज्ञवल्क्य मुस्कराते हुये भरद्वाज जी से कहते हैं कि--

जाग बलिक बोले मुसुकाई ।
तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई ।
राम भगत तुम मन क्रम बानी ।
चतुराई तुम्हारि मैं जानी ।
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा ।
कीन्हिहु प्रश्न मनहुं अति मूढ़ा ।।[3]

१- रा०मा०- १।४४।१-२

२- रा०मा०- १।४४।५,१।४५।४ ,१।४६।६,१।४७।८,१।४७

३- रा०मा०- १।४७।२-४

अब सो मन्त्र देहु प्रभु मोहा ।
जेहि प्रकार मारौ मुनि द्रोहा ॥[1]

अन्त में महर्षि अगस्त्य इस प्रश्न के उत्तर में उपालम्भ[2] करते हुये प्रगाढ़ भक्ति वैराग्य एवम् सत्संग से समन्वित चरण कमलों में प्रेम तथा निज हृदय मानस में सीता लक्ष्मण सहित निवास करने के लिए अभीष्ट वर की प्रार्थना करते हैं ।[3]

ऋषि वर अगस्त्य जी निर्गुण ब्रह्म के ज्ञाता होने के साथ-साथ भगवान के सगुण रूप से पुलकित एवम् विह्वल भाव से रति होना श्रेष्ठ समझते हैं —

जदपि ब्रह्म अखण्ड अनंता ।
अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ।
अस तव रूप बखानउं जानउं ।
फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउं ॥[4]

१- रा०मा०- ३।१२।२

२- रा०मा०- ३।१३।५-६ मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी । पूंछेहु नाथ मोहि का जानी ।

~~३- रा०मा०- ३।१३।१०-११~~

६०

-+-+-+-+-+-

ते तुम्हें सकल लोकपति साईं । पूंछेउ मोहि मनुज की नाईं ॥

३- रा०मा० ३।१३।१०-११

४- रा०मा० ३।१३।१२-१३

नाथ एक वर मांगउं राम कृपा करि देहु ।
जनम जनम प्रभु राम पद कमल कबहुं घटै जनि नेहु ।। [१]

१२- महर्षि अगस्त्य जी :-

भगवान श्री राम सीता तथा लक्ष्मण के स्वरूप का अहर्निश जप करने वाले भक्तवर सुतीक्ष्ण जी के आत्म ज्ञानी गुरु महर्षि अगस्त जी दिन बर्षा भगवान के भक्त होने में सिद्ध करती है ।[२] अपने शिष्य सुतीक्ष्ण के बताये जाने पर कि भगवान आश्रम की ओर अभिमुख हो रहे हैं, तो आप आतुर एवम् प्रेम विह्वल अवस्था में अश्रुपात करते हुये प्रगाढ़ भक्ति का परिचय देते हुये दिखाई देते हैं ।[३] भगवान का आदर आलिंगन एवम् सेवा आतिथ्य सत्कार कर एवं उनके चरण कमलों का स्पर्श कर अपने को परम भाग्यवान एवं सौभाग्यशाली रूप में अनुभूत होते हैं ।[४]

भगवान राम सभी ऋषि मुनियों से साधारण मनुष्य की भाँति अनुग्रहात्मक प्रश्न किया करते थे ।[५] पर महर्षि अगस्त्य की दर्शिता को देखकर कुछ नहीं कहा ।[६] उपवृत्ति में "मनुज की नाई" वह प्रश्न करते है कि:—

१- रा०मा०- ७।४६

२- रा०मा०- ३।१२।८

३- रा०मा०- ३।१२।७-६

४- रा०मा०- ३।१२।१२

५- रा०मा०- २।१०।६-१ (उ०)- २।१२६।५

६- रा०मा०- ३।१३।१-२

आप भगवान राम के गुरु[1] तथा रघुवंश के गुरु के रूप में जाने जाते हैं।[2] इन्होंने भगवान ब्रह्मा के आदेश को इस लिए हृदयंगम किया था कि तुम्हें उपरोहित्य कर्म के माध्यम से ही भगवान राम नर देह के रूप में इस रघुवंश में अवतार लेंगे और आपके अभीष्ट की सिद्धि होगी जो याग यज्ञ व्रत दान द्वारा प्राप्त होने योग्य परमात्मा है। आपको पुरोहित कर्म द्वारा ही प्राप्त हो जायेगा।[3] क्योंकि उनकी दृष्टि में वेदपुराणों एवं स्मृति शास्त्रों द्वारा प्रमाणित उपरोहित्य कर्म निन्दक था। आपने महाराज दशरथ से राम के नामकरण के समय ही स्पष्ट कर दिया था कि यह पुत्र वेद के तत्व से परे साक्षात् पर ब्रह्म है।[4] महर्षि वशिष्ठ की दृष्टि में संसार के जितने प्रकार के धर्म, आचार एवं विचारें बताये गयी हैं उन सबका एक मात्र फल भगवच्चरणानुराग ही है। उनका सिद्धांत विवेचित है:-

> सोई सर्वग्य तग्य सोई पण्डित। सोई गुन गृह-विग्यान अखण्डित।
> दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाकें पद सरोज रति होई॥[5]

अत: वे जन्म जन्मान्तर से ही उनके चरण कमलों से प्रेम भक्ति की याचना करते हैं :--

---

१- रा०मा०- २।६।२,७।४८।१-२

२- रा०मा०- ७।८।६(पू०)

३- रा०मा०- ७।४८।६,४।४८

४- रा०मा०- १।१९८।१

५- रा०मा०- ७।४६।१-४ -

> जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति सम्भव नाना शुभ कर्मा।
> ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहं लगि धरम कहत श्रुति सज्जन।
> आगम निगम पुरान अनेका। पढ़सुनेकर फल प्रभु एका।
> तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर॥

६- रा०मा०- ७।३६।७-८

इस अभिलषित वर की याचना पर रमानिवास राम एवमस्तु कहते है।[1] इसी प्रसंग के अन्तराल में जब भगवान राम भूप रूप छिपाकर चतुर्भुज रूप को प्रगट करने पर सुतीक्ष्ण जी का हृदय अधीर हो जाता है वैसे ही सुखधाम सीता, राम लक्ष्मण को सामने देखते हैं तो सुतीक्ष्ण जी प्रेममग्न होकर आत्मसुधि खोकर चरणों पर गिर पड़ते हैं तब भगवान राम अपनी विशाल भुजाओं से हृदय से लगा लेते हैं।[2] तदनन्तर धैर्यधारण करके चरणों का स्पर्श करके आश्रम में आतिथ्य सत्कार कर पूजा अर्चन करते हैं।[3] इसके पश्चात स्तुति में अपनी दीनता एवं भगवान की अनुपम सौन्दर्यता का बखान करते हुए भाव विह्वलता निवेदित करते हैं।[4] भक्त सुतीक्ष्ण यहाँ अभीष्ट वर की याचना करते हैं कि प्रभो। आप लक्ष्मण सीता सहित धनुषबाण धारण किये मेरे हृदय में सदैव निवास करें।[5] सेव्य स्वरूप राम की सन्निधि में सेवक का रहना परम सौभाग्य स्वरूप फल सुतीक्ष्ण जी मानते हैं।[6]

११- श्रीवशिष्ठ:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत विशेषकर रामचरित मानस में महर्षि वशिष्ठ का चरित्र भक्ति पक्ष की साधना को घोतित कर रहा है।

१- रा०मा०- ३।११।१पू० -"एवमस्तु करि रमा निवासा"

२- रा०मा०- ३।१०।२०-२२

३- रा०मा०- ३।१०

४- रा०मा०- ३।११।१-१८

५- रा०मा०- ३।११।२२, ३।११

६- रा०मा० रा०मा०- ३।११।२१

दर्शन पाकर वे पुलकित हो मार्ग में ही बैठ जाते हैं। बैठने में ही अचल समाधि लग जाती है। भगवान के जगाने पर उन्हें भान नहीं होता। तब भगवान 'भूपरूप' दिखाकर 'चतुर्भुज रूप' दिखाते हैं। इष्ट भगवान के अन्तर्धान होने पर सुतीक्ष्ण मणि अपहृत फणि के तुल्य व्याकुल हो जाते हैं।[1]

श्री सुतीक्ष्ण जी के इष्ट स्वरूप राम द्विभुज दाशरथी राजा राम थे उसी रूप में अनन्य उपासक होने के कारण इस तत्स्वरूप में विशेष आसक्ति थी। इसीलिए वह अपहृत मणि फणी की तरह व्याकुल हो उठे थे। श्री सुतीक्ष्ण जी अपने गुरु अगस्त्य[2] की तरह ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की यथापेक्षा से पूर्ण परिचित थे लेकिन सगुण स्वरूप में अत्यधिक अनुराग एवं स्पृहा जनक ममत्व था।[3] इसलिये उन्होंने निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में स्तुति[4] करके सगुण रूप की ही याचना की --

अनुज जानकी सहित प्रभु चापबान धरि राम।
मम हिय गगन इन्दु इव: बसहु सदा निहकाम।।[5]

१- रा०मा०- ३।१०।१५-१६

२- रा०मा० - ३।१२।१२-१३

३- रा०मा०- ३।११।११-१२- निर्गुण विषम सम रूप।
ज्ञान गिरा गोतीतमनूप।।
अमल मखिल मन वद्यम पारं।
नौमि राम भंजन महि भारं।।

५- रा०मा०- ३।११

१०- सुतीक्ष्ण जी:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत विशेषकर मानस में सुतीक्ष्ण जी का आत्मनिवेदन भाव या शरणागतप्रपन्नता भक्ति लहरी को द्विगुणित रूप दे रहा है। यह महर्षि अगस्त के शिष्य तथा मनसा वाचा कर्मणा से भगवान के अनन्य भक्त के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं। इनका भगवान के चरणों में अविचल प्रेम एवं अडिग विश्वास, एक निष्ठ भरोसा[1] दासता, नम्रता, प्रतीक्षा में विकलता एवं मिलन के हर्ष का अद्भुत पूर्ण चित्रण अन्यत्र देखी में नहीं आता है।[2] राम के आने का समाचार सुनकर उनके हृदय की क्या दशा होती है निम्न पंक्तियों द्वारा मार्मिकता चित्रित की जारही है--

"निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी।
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।।
कबहुंक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुंक नृत्य करइ गुन गाई।।[3]

वस्तुत: ऐसा परिलक्षित होता है कि भक्ति के अन्तर्गत ज्ञान और प्रेम दोनों एकाकार होकर अनिर्वचनीयता की स्थिति को प्रकट कर रहे हैं। निर्भर प्रेम में मग्न इस ज्ञानी मुनि की अनिर्वचनीयता अन्यत्र दुर्लभ है। भगवान के प्रति अपनी प्रगाढ़ प्रेमाभक्ति के कारण उन्हें दिशा विदिशा आदि का कुछ भी भान नहीं हो रहा है। मैं कौन, कहाँ जा रहा हूं इसकी भी सुध नहीं है। वे कभी पीछे घूमकर आगे चले जाते हैं तो कभी भगवान के गुणगान में मस्त होते हुये दीखते हैं, इस प्रेम और भक्ति की चरमावस्था को देखकर भगवान राम हृदय में प्रकट हो जाते हैं।[4] हृदय में

१- रा०मा०- ३।१०।१-२

२- रा०मा०- ३।१०।३-६

३- रा०मा०- ३।१०।१०-१२

४- रा०मा०- ३।६।१४

देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृङ्ग।
सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभङ्ग।। [1]

श्री शरभङ्ग जी अपनी योग साधना के बल से ब्रह्मलोक की यात्रा तय करने का ही विचार बना रहे थे कि इसी अन्तराल में भगवान के शुभागमन का समाचार पाते ही आप अहर्निश उनके दर्शन का उत्कट अभिलाषा से निरत रहने लगे। जब भगवान को सम्मुख देखलिया तो उनका हृदय शीतलता से परिचित होने के कारण आत्म शरणापन्न भाव से स्तुति करते हुये कहते हैं कि--

शान्त हो गया। २ भगवान की प्रभुता से

नाथ सकल साधन मैं हीना।
कीन्हीं कृपा जानि जन दीना। [2]

तत्पश्चात उन्होंने योग जप, जप तप व्रत आदि को समर्पित करके प्रभु के चरणों की अखण्ड भक्ति का वरदान मांगा। [4] क्योंकि वे जानते थे कि भक्ति का परम लक्ष्य जगत की आसक्तियों से रहित होना ही है। [5] इसी भक्ति के आश्रय से आपने योगाग्नि मुद्रा को चैतन्य कर शरीर को त्याग दिया और प्रभु के स्वर्गधाम सिधार गये। [6] क्योंकि शरभङ्ग जी भगवान के सगुण रूप में शील एवं सौन्दर्य का दर्शन करना चाहते थे इसीलिए उन्होंने परम निर्वाण धाम त्यागकर भेदभक्ति के भाव को अपनी वृत्ति का आधार बनाया। [7]

१- रा०मा० ३।७
२- रा०मा०-३।८।२-३
३- रा०मा०-३।८।४
४- रा०मा०-३।८।७, ३।८
५- रा०मा०- ३।८।८(ख)
६- रा०मा०-३।६।१
७- रा०मा०- ३।६।२

उस समय इनकी पूर्ण निष्ठा मन, वचन और कर्म से भगवान शिव में अनुरक्त थी। लेकिन आप अन्य देवताओं के निन्दक थे। दूसरे देवताओं के निन्दक होने के कारण हृदय में दम्भ भाव अधिक था। वास्तव में यह भगवान राम की प्रभुता एवं प्रताप अमित महिमा से अपरिचित थे।[1] एक बार अयोध्या में अकाल पड़ने पर आप उज्जयिनी प्रस्थान कर गये।[2] वहाँ पर एक परम उदार शिवभक्त वैदिक ब्राह्मण से शिव मंत्र की दीक्षा लेकर शिव मन्दिर में वे मंत्र जाप करने लगे।[3] लेकिन पापमयी वृत्ति एवं मलिन स्वभाव वश तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण आप भगवान विष्णु एवम् उनके ब्राह्मण भक्तों से द्वेष किया करते थे।[4] एक बार इसी दम्भ पूर्ण आचरण को अपना कर आपने परम शान्त एवं उदार मना गुरु का भी अपमान कर दिया।[5] जिस अपमान से क्रुद्ध होकर भगवान शंकर ने हजार जन्मों तक सर्पयोनि में पड़े रहने का अभिशाप दे दिया।[6] पर परम कृपालु उनके गुरु द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान शंकर ने उक्त योनि में ज्ञान स्मृति को अक्षुण्य रहने का वरदान दे दिया। जिससे कारण राम भक्ति की प्राप्ति सम्भव हो सकी।[7]

१- रा०मा०- ७।९७।२-४

२- रा०मा०- ७।१०४।(ख), ७।१०५।१

३- रा०मा०- ७।१०५।२-४

४- रा०मा०- ७।१०५।७-८

५- रा०मा०- ७।१०५(क)

६- रा०मा०- ७।१०६(क)

७- रा०मा०- ७।१०६(ख)

परन्तु राम भक्ति की प्राप्ति के अनुसंधान हेतु गुरु दीक्षा के लिए महर्षि लोमश जी के पास पहुंचते हैं और तर्क वितर्क करने के कारण महर्षि लोमश ने चाण्डाल पक्षी कौवा की योनि में रहने का अभिशाप दे दिया ।[१] पर भगवान राम के प्रति अखण्ड विश्वास एवं श्रद्धा से प्रभावित होकर आपने स्वयं भगवान राम का मंत्र देकर शम्भु प्रसाद ' रामचरित मानस की रहस्यात्मकता से अवगत कराया ।[२]

काकभुशुण्डि जी ने बालक रूप राम को अपना इष्टदेव किया[३] और महर्षि लोमश जी ने बालक रूप राम के ध्यान की दीक्षा देकर इन्हें आशान्वित किया ।[४] इस लिए जब-जब भगवान राम अपनी लीला परिकर सहित अयोध्या में अवतार लेते हैं तब तब वे उनकी बाल लीलाओं के दर्शनार्थ अयोध्या में पहुंचते हैं और पांच वर्ष तक अलौकिक प्रेमानन्द द्वारा भगवान की रसमयी लीला का रसास्वादन करते हैं ।[५] शिशुपन में भगवान जहां-जहां क्रीड़ा करते हैं आप वहां-वहां सब्बर रूप में रहकर उनकी अवशेष जूठन को खाकर तृप्ति का अनुभव करते हैं ।[६]

काकभुशुण्डि जी रामकथा के गूढ़त्व मर्मभिज्ञ है ।इनके नि. निधान में अहर्निश राम कथा का परायण होता ही रहता है ।[७] भगवान शंकर भी मराल वेष में श्री काकभुशुण्डि जी के मनोरम आश्रम में राम कथा

१- रा०मा०- ७।११२।१२-१५

२- रा०मा०- ७।११२।४-५,७।११२।८-१२

३- रा०मा०- ७।७५।७

४- रा०मा०- ७।११३।७

५- रा०मा०- ७।७५।२-४,७।८२।३-४

६- रा०मा०- ७।७५(स)

७- रा०मा०- ७।५७।८

के रसपान हेतु पहुंचे थे ।[1] भगवान राम के पर ब्रह्मत्व में संदेह करने वाले पक्षिराज गरुड़ को भी राम कथा की कोकिलता एवं सत्संग से संदेह के निराकरण हेतु भगवान शंकर इन्हीं के यहां भेजते हैं ।[2]

रामकथा के मर्मी आचार्य काकभुशुण्डि जी आज भी भुशुण्डि नीलगिरि पर काक वेश में निवास करते हैं।[3] गरुड़ जी के सन्देह का निवारण इसी नीलगिरि के आश्रम में सम्पन्न हुआ था तब इनका २७वां कल्प बीत चुका था ।[4] पक्षिराज गरुड़ को संसृति के क्लेशों से छुटकारा पाने का श्रेय मात्र हरि भजन ही बताते हैं ।[5] और स्पष्ट करते हैं कि बिना भक्ति के किसी भी सुख एवं गुण की वास्तविकता सम्भव नहीं हो सकती यह उसी प्रकार असम्भव है जिसप्रकार नमक के बिना भोज्य पदार्थ ।[6] भगवान राम द्वारा अत्यधिक प्रसन्न होने पर विविध वरों का प्रलोभन देने के फलस्वरूप आपने भगवान राम के चरणों में अर्पित भक्ति के वर को ही अपना लक्ष्य माना था।[7] आज भी काक शरीर से राम की भक्ति प्राप्त होने के कारण इसे शिरोधार्य किये हुए हैं जबकि काक शरीर को त्यागने का इनमें बल एवम् प्रभुता है।[8] उक्त प्रसंगों के प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है कि काक भुशुण्डि जी श्रेष्ठ भक्त के रूप में मानस प्रयुक्त किये गये हैं ।

१- रा०मा०- ७।५७

२- रा०मा०- ७।६२।२-५

३- रा०मा०- ७।६२।२

४- रा०मा०- ७।११४।१०

५- रा०मा०- ७।८९।५

६- रा०मा०- ७।८४।५

७- रा०मा०- ७।८४(क)- ७।८४(ख), ७।८३(ख), ७।८४।२

८- रा०मा०- ७।९५।७, ७।९६।४-५

१६- श्रीदशरथ :-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत भक्ति के पात्रों में श्री दशरथ का अनन्य प्रेम भगवान राम के चरणों में अद्वितीय रहा है। उन्होंने वात्सल्य भाव भक्ति में ही अपनी प्रतिष्ठा एवं लोक ख्याति विस्तारित की है। आप भगवान राम के पिता होने के साथ-साथ उनके परमभक्त भी दिखायी देते हैं। महाराज स्वायम्भुव मनु के शरीर से घोर तपस्या के फलस्वरूप आपने भगवान के चरणों में अपनी पुत्र विषयक रति का ही वरदान मांग कर[1] प्रेमभक्ति को ही उजागर किया है। और उन्होंने यह भी याचना की थी कि मेरा जीवन आपके बिना वैसे ही न रह सके जैसे मणि के बिना सर्प और जल के बिना मछली नहीं रह सकती है।[2] महाराज मनु ही दशरथ के रूप में अवतीर्ण होकर पुत्र राम का अपने घर में पुत्र रूप में जन्म सुनकर वह भक्ति से विह्वल हो जाते हैं।[3] वैसे उन्हें सभी पुत्र प्राण के समान प्यारे थे लेकिन भगवान राम उनके आंखों के तारे सदृश थे। इस तथ्य की पुष्टि महर्षि विश्वामित्र यज्ञों की निर्विघ्न रक्षार्थ हेतु राम और लक्ष्मण के मांगने पर होती है।[4] महर्षि विश्वामित्र[5] और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ[6] जैसे भक्ति के आचार्यों के प्रति व्यवहार पूर्ण आचरण असाधारण भक्त होने के भाव उजागर करता है। लोक धर्म एवं परमार्थ की आशा से

१- रा०मा०- १।१५१।५ "सुत विषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ।।

२- रा०मा०- १।१५१।६

३- रा०मा०- १।१६३।३,१६३।५

४- रा०मा०- १।२०८।५

५- रा०मा०- १।२०७।१-८

६- रा०मा०- १।१८६।१-२, १।२६३, १।२०१, २।३।५-६

राम- लक्ष्मण का वियोग भी उन्होंने सहन किया।[1] पर माता कैकयी ने १४ वर्ष राम के वनवास जाने के वर को न सहन कर तृण के समान अपने प्राणों को त्याग देते हुये दिखाई देते हैं।[2] इसीलिए कविवर तुलसी महा-राज दशरथ की राम भक्त के रूप में वन्दना करते हैं कि सत्य प्रेम की रक्षा के लिए आपने प्राण को तृण के समान राम के वियोग में त्याग दिये।[3] उनकी दृष्टि में जीवन और मरण दोनों छोरों का लक्ष्य 'राम पद' स्मरण था।

श्री दशरथ जी के व्यक्तित्व में जैसी राम भक्ति की प्रगाढ़ता है वैसी ही कर्तव्य पालन में दृढ़ता थी। भक्ति की प्रगाढ़ता एवं कर्तव्य का समानान्तर स्थिति में जीवन का निर्वाह उनका परम लक्ष्य दिखता है- क्योंकि कैकयी के वचनों को पूर्ण करना उनके कर्तव्य पालन का अभीष्ट प्रतीक है[4] और राम को वनवास देकर सत्य की रक्षा के साथ-साथ इष्ट स्वरूप राम विरह में प्राणान्त करना रामभक्ति की चरम परा-काष्ठा का परिचय है। क्योंकि वशिष्ठ[5] और राम[6] ने भरत को

१- रा०मा०- १।२२७।

२- रा०मा०- २।१५५, १।१६(उ०)

३- रा०मा०- १।१६(पू०)

४- रा०मा०- २।२८।४-६

५- रा०मा०- २।१७१।६- भूप परम प्रभु सत्य सराहा।
जेहिं तनु परिहरि प्रेमु निबाहा।

६- रा०मा०- २।२४८।६ - राखेउ रायं सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥

समझाते हुये श्री दशरथ के जीवन में कर्तव्य और प्रेम के सफल निर्वाह का स्पष्टीकरण घोषित किया है। इसके साथ महर्षि भरद्वाज ने भी प्रयाग राज में भरत से महाराज दशरथ का अद्वितीय महापुरुषों सत्य की रक्षा करने वाला संसार में दुर्लभ बताया है।[1] इस प्रकार वह राम के विरह में शरीर त्यागकर सुरधाम प्रस्थान किये थे।[2] अतः उक्त प्रसंग उनके भेदभक्ति का परिचायक है क्योंकि राम के सगुनोपासक भक्त मोक्ष की आकांक्षा नहीं करते।[3] जब राम ने रावण का वध किया था उस समय भी दशरथ जी सुरधाम से आकर राम को जब तापस वेश में देखा और कैकयी के वर का स्मरण हो आया तो वहां बहुत दुखी हुए और आंखों से अश्रुपात एवम् शरीर रोमान्चित हो गया था।[4] तब भगवान राम ने उनके पुत्र विषयक अनन्य प्रेम को देखकर विशुद्ध ज्ञान द्वारा उनको कृतार्थ किया था।[5] जिसके कारण उनको भगवान की ऐश्वर्यात्मक प्रभुता का परिज्ञान होकर सुरधाम चले गये थे।[6]

१- रा०मा०- २।२०६।८,२।२०६

२- रा०मा०- २।१५५।(पू०)

३- रा०मा०- ६।११२।६-७-

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुं राम भगति निज देहीं।।

४- रा०मा०- ६।११२।१-४-

तेहिं अवसर दसरथ तहं आए। तनय बिलोकि नयन जल छाए।

सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावली ठाढ़ी।।

५- रा०मा०- ६।११२।५- रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना।

चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना।।

६- रा०मा०- ६।११२।८- बार बार करि प्रभुहिं प्रनामा।

दसरथ हरषि गए सुरधामा।।

उक्त प्रसंगात्मक चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि महाराज दशरथ भगवान राम के अनन्य भक्त थे। इसीलिए दोहावली में भी दशरथ की महिमा का गान करते हुये तुलसीदास जी कहते हैं -- कि जन्म और मृत्यु जो जीवन के दोनों चरण हैं वह दशरथ जी के ही धन्य हैं जिन्होंने जन्म में भगवान को खिलाया है और उनके विरह में मृत्यु को प्राप्त किया।[1] जिन्होंने सत्य और प्रेम के धर्म को जीवन्त रखा।[2]

१- जीवन मरन सुनाम जैसे दसरथ राय को।
जियत खिलाए राम राम बिरहं तनु परिहरेउ॥[1]

२- राम बिरह दसरथ मरन मुनि मन अगम सुमीचु।
तुलसी मंगल मरन तरु सुचि सनेह जल सींचु॥[2]

३- तुलसी जान्यो दसरथहिं धरमु न सत्य समान।
रामु तजे जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान॥[3]

४- दसरथ नाम सुकामतरु फलइ सकल कल्यान।
धरनि धाम धन धरम सुत सदगुन रूप निधान॥[4]

१- दोहावली - २२१

२- दोहावली - २२०

३- दोहावली - २१९

४- दोहावली - २१८

१७- कौशल्या :-

कौसल्या कल्यान मइ मूरति करत प्रनाम ।
सुमन सुमंगल काज सुभ कृपा करहिं सियराम ।।[१]

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत अयोध्यापति महाराज दशरथ की राज महिषी कौशल्या ने अपने पति स्वायम्भुव मनु और शतरूपा के शरीर से ही कठोर तप करके पुत्र रूप में भगवान राम के वर की याचना की थी।[२] पर शतरूपा जी अपने पति से वर याचना में दो कदम आगे निकल गयीं:- और भगवान से कहती हैं कि--

जे निज भगत नाथ तव अहहीं ।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ।।[३]

भगवान ने माता शतरूपा की सभी मनोरथों की संपूर्ति करके यह भी वरदान प्रदान किया कि मेरे अनुग्रह से तुम्हारा अलौकिक विवेक सदा स्मृति जन्य एवं अक्षुण्ण रहेगा ।[४] इसी विवेक केवल पर माता कौशल्या ने भगवान के १४ वर्ष कालीन दीर्घ वियोग को भी सहन करने

१- दोहावली - २१२
२- रा०मा०- १।१४०।३-४
३- रा०मा०- १।१४०।८,१।१५०
४- रा०मा०- १।१५१।२-३

में समर्थ हुवा ।[१] पुनश्च इसी विवेक के बलपर माता कौशल्या ने भगवान के चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए स्वरूप को पहचान कर "परम अनुरागी" और "भाग्यवती" जैसी स्तुति भाव में तत्पर हो गयीं।[२] माता के ज्ञान सम्पन्न स्तुत्य भाव को देखकर भगवान प्रसन्न हुए। वे बहुत प्रकार से लीला एवं चरित करना चाहते थे अतः उन्होंने माता को पुत्र विषयक वर को पूर्व जन्म की कथा का स्मरण कराया जिससे उनकी वृत्ति वात्सल्य प्रेम के भाव में समाविष्ट होगयी।[३] भगवान के समझाये जाने पर माता की मति में परिवर्तन होगया। और भगवान बाल रूप में रुदन करने लगे।[४] भगवान ने सोचा कि माता कौशल्या मात्र पुत्र भाव में ही न समझें बल्कि मैं जगत का ईश्वर भी हूं, इस भाव से उन्होंने अपना परम योगेश्वर विराट रूप का भी दर्शन कराया।[५] इस प्रकार भगवान ने इस रहस्य को दूसरों को बताने के लिए माता को प्रतिबन्धित किया।[६] इससे स्पष्ट होता है कि कौशल्या का भगवान के प्रति वात्सल्य प्रेम के साथ साथ अलौकिक अनन्यता का अनुराग भी सन्निहित था। माता कौशल्या का राम प्रेम पूर्णतः विवेक से अनुशासित लगता है वन गमन के अवसर पर जब राम उनसे आज्ञा मांगते हैं तब धर्म और स्नेह दोनों उनकी बुद्धि को आच्छादित कर लिया लेकिन अन्त में लोकधर्म के मार्ग को श्रेष्ठ समझकर उन्होंने राम को वन गमन के

१- रा०मा०- अयोध्या से लंका का

२- रा०मा०- १।१९२।५-८

३- रा०मा०- १।१९२।११-१२

४- रा०मा०- १।१९२।१३-१६

५- रा०मा०- १।१९३।१-६

६- रा०मा०- १।२०१।१, १।२०२।८

लिए प्रोत्साहित किया इसीलिए उनकी दृष्टि में राम और भरत-भ्रातृत्व भाव में कोई अन्तर नहीं था और न कैकयी तथा स्वयं में पृथकता समझती थी । राम को पिता ने राज की जगह वन दे दिया उसकी भी चिन्ता नहीं थी बल्कि चिन्ता उन्हें भरत, भूपति एवं प्रजा के भविष्य की संरक्षिका की थी। जो प्रचण्ड क्लेशों से दुखी हो रहे थे ।[१] भगवान के चरणों में राजा दशरथ के पुत्र विषयक सत्य प्रेम की वे प्रभूत प्रशंसा करती है ।[२] और पश्चाताप करती हुई राम के प्रति अपने स्नेह को झूठा बतलाती है ।[३] राम को सुख पूर्वक वन गमन का आदेश प्रदान कर बहुत तरह से विलाप करती हुई अपने को परम अभागिनी जानकर वे उनके चरणों में लिपट जाती है । और उनके (कौसल्या के) हृदय में भयानक दुःसह संताप छा जाता है।[४] राम का वन गमन उनकी आंखों के सामने सम्पन्न हुआ फिर भी उनके अभागे प्राण शरीर से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सके, इसी लिए वे क्षुब्ध हैं।[५] इतना ही नहीं, चित्रकूट के प्रसंग में जब अवध और मिथिला के रनिवास सम्मिलित हुआ तब सीता की माता के समक्ष कौसल्या जी कर्म की गति एवं विधाता के प्रपन्च का विवेचन करती हैं वह अध्यात्मवाद से सर्वथा बोझिल है।[६] अतः उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है कि माता कौसल्या निर्विवाद श्रेष्ठ भक्त के रूप में चरितार्थ हुयी है ।

१- रा०मा०- २।५५।३,२।५६।२

२- रा०मा०- २।१६६।८ - जियै मरै भल भूपति जाना ।
मोर हृदय सत कुलिस समाना ।

३- रा०मा०- २।५६।(पू०)-यह बिचारि नहिं करउं हठ झूंठ सनेहु बढ़ाइ ।।

४- रा०मा०- २।५७।४ ,६।७

५- रा०मा०- २।१६६।५-६

६- रा०मा०- २।२८२।३-७

१७- <u>कैकयी</u> :-

तुलसीसाहित्य के अन्तर्गत राम चरित मानस में अयोध्याधिराज दशरथ की पत्नी कैकयी राम भक्ति की अनन्य पात्रा है। जिन्होंने भरत सरीखे पुत्र को जन्म देकर प्रेम और भक्ति के मानदण्ड को द्विगुणित शोभा से विभूषित किया है।[१] माता कैकयी को राम प्राण सदृश प्यारे थे।[२] पर प्रारब्ध या दैववश [३] कुटिल हृदया मंथरा की कुसंगति [४] में पड़कर वह अपने प्राण प्रिय राम को बनवास के लिए प्रस्थान करा देती है। और अनन्त काल तक अपयश एवं कलंक के टीका की भाजन बनती है। जब वह कुसंगति के प्रभाव से पृथक हो जाती है तब ग्लानि एवम् पश्चाताप के माध्यम से तड़फती है।[५] और आजीवन राम

१- साकेतकार- सौवार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।।
सर्ग-८, पंक्ति ५-६, पृष्ठ- १८०

रा०मा०- २।२६१।४ - फरइ कि कोदव बालि सुसाली।
मुक्ता प्रसव कि संबुक काली।।

२- रा०मा०- २।१५।८(पू०)
३- रा०मा०- २।१६।१,
४- रा०मा०- २।२४।८(पू०)
५- रा०मा०- २।२७३।१, ७।६(क)(उ०), ७।१०।१(पू०)

इससे द्रोह के फल को भोगता रहता है।[1] यदि वास्तविकता से पराक्षण किया जाय तो देवताओं एवम् सरस्वती के षाडयंत्र से मंथरा की मति फेरने से यह क्रिया कलाप एवं घटना चक्र गति शील होता है,[2] सत्य के धरातल पर कैकयी निर्दोष एवम् अपराधरहिता है। तुलसी की दृष्टि में कैकयी से कराया गया उक्त आचरण देवताओं द्वारा नियाजित क्रिया योग है। इसी तरह राम वन गमन में भी दैव माया का ही षाडयंत्र अन्तर्भूत होता है। जब दासी मंथरा अपने वचनों द्वारा कैकयी को आकर्षित करती है[3] तब कैकयी मन्थरा को 'घर फोरी' शब्द से फटकारती हुई कठोर चेतावनी से आगाह करती है। कि भविष्य में इस प्रकार का कुमति जनक बात सुनायी तो मैं तेरा जीभ निकलवा लूंगी।[4]

कैकयी उसी दिन को मंगलमय एवं शुभ दिन मानती हैं जिस दिन भगवान राम का राज्य तिलक सम्पूरित हो।[5] वास्तव में यदि भगवान राम के राजतिलक का दिन कल ही निश्चित किया गया है तो मैं इस संवाद के संप्रेषण में मनोकूल वस्तुएं (मन्थरा) तुम्हारे लिए प्रदत्त करती हूं।[6] माता कैकयी की हृदय से कामना हैं कि यदि विधाता पुन: जन्म दें तो भगवान राम सरीखा पुत्र और वैसी सीता जैसी पुत्र बधु के रूप में मेरी याचना अवश्य स्वीकार करें।[7] इससे स्पष्ट होता है कि माता

१- दोहावली- २१६,२१७,

२- रा०मा०- २।१२,

३- रा०मा०- २।१४।२-६

४- रा०मा०- २।१४।८

५- रा०मा०- २।१५।२

६- रा०मा०- २।१५।४

७- रा०मा०- २।१५।७

कैकयी को मातृाभिव्यन्जना भगवान के प्रति वात्सल्य प्रेम को उभारता हुआ दृष्टिगोचर होता है। भक्ति एवम् प्रेम से चरितार्थ उक्त कथन राम भक्ति से अनुप्राणित एवम् समीचीन है। इसी लिये अयोध्यावासी स्त्रियां इसी तथ्य की पुष्टि करती हुई कहती हैं कि :-

> भरतु न मोहि प्रिय राम समाना।
> सदा कहहु यहु सब जग जाना।
> करहु राम पर सहज सनेहू।
> केहिं अपराध आजु बन देहू ॥[1]

यथार्थता में देखा जाय तो कैकयी संसार के कल्याणार्थ ही भगवान राम को वन के लिए प्रस्थान कराता है। यदि वह भगवान को वन के लिए प्रस्थान न कराती तो प्रभु राम का भूभार- भंजन के अवतार की कल्पना एवम् संकल्प पूरा न होता। इस दृष्टि से उन्होंने लोक के अपयश का परवाह न करते हुये प्रकारान्तर से भगवान राम को वन भेजकर कठोर भक्ति का भी प्रदर्शन किया है। कविवर तुलसी ने माता कैकयी की भर्त्सना करने वालों के लिए स्वयं भगवान राम के श्री मुख से संकेत निर्दिष्ट कराया है।

> दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
> जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई।[2]

१- रा०मा०- २।४८।५-६

२- रा०मा०- २।२६३।८

अतः भगवान राम चित्रकूट में आये हुए अवध-समाज की माताओं में सर्व प्रथम कैकयी माता से ही मिलते हैं।[1] वन की अवधि समाप्त होने पर भी भगवान राम सर्व प्रथम माता कैकयी के ही महल में जाते हैं और होनहार प्रेरित अपराध एवं भरत के आत्मग्लानि विषयक संकोच को नष्ट करके माता कैकयी को प्रसन्न करते हैं। अतः इससे स्पष्ट होता है कि कैकयी भी राम की अनन्य भक्त हैं।

१६- <u>सुमित्रा</u>:-

सुमिरि सुमित्रा नाम जग जे तिय लेहिं सनेम।
सुअन लखन रिपुदवन से पावहिं पतिपद प्रेम ।।[2]

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत माता सुमित्रा के प्राणनाथ अयोध्यापति दशरथ जी एवं सुपुत्र प्रभुता लक्ष्मण एवम् शत्रुघ्न हैं। जिनके पति ने सत्य और प्रेम की रक्षा निमित्त राम की वियोगात्मक स्मृति में तृण के समान प्राण का त्यागोत्सर्ग कर दिया। जिनके सुपुत्र लक्ष्मण सरीखे अनन्य भक्ति की गाथा को इतिहास एवं रामायण सदा दुहराते रहते हैं। वही माता सुमित्रा तुलसी साहित्य के अन्तर्गत राम भक्त के रूप में अपनी जीवन चर्या द्वारा भक्ति तथा अनुरागात्मक प्रेम प्रकट करती हुयी दीखती है। राम चरित मानस में उनका ही आप्त वाक्य है कि युवती लोक वही पुत्रवती कहलाने की अधिकारिणी है जिसका पुत्र राम भक्त के भाव को उजागर कर रहा हो।[3] उनकी दृष्टि में 'राम विमुख सुत'

१- रा०मा०- २।२४४।७- प्रथम राम भेंटीं कैकयी।
सरल सुभायँ भगति मति भेईं।

२- दोहावली -२१३, पृष्ठ-७४

३- रा०मा०- २। - पुत्र वती युवती जग सोई
रघुपर भगत जासु सुत होई।

को जन्म देने से अच्छा वन्ध्या बन में रहना श्रेष्ठ है।[1] श्रीराम के राज्याभिषेक के अवसर पर मणियों द्वारा चौक इत्यादि पुरना इनकी प्रगाढ़ भक्ति एवं निष्ठा भाव को द्योतित करता है।[2] भगवान राम के वन गमन करते समय जब लक्ष्मण आशीष हेतु माता सुमित्रा के पास जाते हैं उस घड़ी का सार गर्भित उपदेश एवम् लोकोत्तर शिक्षाएं इनकी राम भक्ति के साथ एवम् उदार मातृत्व भाव को सुशोभित करती हुयी परिलक्षित होती है। एवं आह्लादित होकर पुत्र श्री लक्ष्मण के सत्संकल्प की सराहना करती हुई अपने को गौरवशाली मानती हैं।[3] उनकी दृष्टि में भगवान राम चराचर जगत के जीवन एवं प्राणों के प्राणेश्वर है। तथा निस्वार्थ भाव से हित करने वाले शुभचिन्तक हैं। संसार के जितने भी सम्बन्ध एवं नाते हैं उन सब की पराकाष्ठा भगवान राम हैं।[4] माता सुमित्रा की दृष्टि में सभी पुण्यों एवं पुरुषार्थों की चरम परणति का फल भगवान राम के चरणों में नित्यतया अभिलषित प्रेम होना ही निर्दिष्ट किया गया है।[5] जब भगवान राम लक्ष्मण एवं सीता सहित वन से अयोध्या को आगमन करते है तो माता सुमित्रा लक्ष्मण से तभी मिलना चाहती है जब भगवान प्रसन्न होकर अनुरागी लक्ष्मण के भ्रातत्व प्रेम की सराहना करते हैं।[6] इससे स्पष्ट होता है कि माता सुमित्रा प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष रूप से भगवान राम की भक्त एवं अनुरागिनी हैं।

१- रा०मा०- २।७५।१-२

२- रा०मा०- २।८।३ - चौकैं चारु सुमित्रा पूरी ।
मनिमय विविध भाँति अति रूरी ।

३- रा०मा०- २।७४।२-४,२।७५।३,२।७४

४- रा०मा०- २।७४।५-७

५- रा०मा० २।७५।४

६- रा०मा०- ७।६(क) पूर्वार्द्ध

दोहा वली में यहां तक कहाला है कि सीता, सुमित्रा और भरत के प्रेम को रघुनाथ जी के अलावा और कोई नहीं जान सकता ।

सीय सुमित्रा सुवन गति भरत सनेह सुभाव ।
कहि बे को सारद सरस जनिवे को रघुराउ ।।[1]

२०- अहल्या :-

रामचरित मानस में गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का नाम भगवान की कृपा साध्य भक्ति को प्राप्त करने के रूप में अंकित किया जाता है ।[2] दैव वशात अपने पातिव्रत्य धर्म से पतित होने के कारण पति के अभिशाप से प्रस्तर रूप में वह परिणत हो गया था । महर्षि विश्वामित्र के साथ जनकपुर में धनुष यज्ञ देखने की अभिलाषा से जाते हुये प्रभु के प्रश्नात्मक आग्रह से गौतम नारी की कथा को महर्षि द्वारा बतलाये जाने पर कृपा करने का अनुरोध किया था।[3] भगवान के पवित्र चरण कमलरज के स्पर्श होते ही प्रेम मे विह्वल होकर तपोमूर्ति अहल्या प्रकट हो जाती है। भक्तों के सुखदाता भगवान के दर्शन कर करबद्ध उनके सन्मुख खड़ी होगया । आनन्द की चरम पराकाष्ठा में शरीर पुलकित होता जा रहा था, प्रेमाभाव से वाणी अवरुद्ध हो गयी थी और विह्वल भाव में भगवान के चरणों में लिपटकर तत्पश्चात धैर्यता के भाव में दृढ़ होकर भगवान की स्तुति करने लगी।[4] स्तुति में भगवान के चरणों में सदा रहने वाली अविचल भक्ति की वर याचना करके वह सानन्द अपने पति लोक को चली गयी।[5]

१- दोहावली - २०२

२- रा०मा०- १।२११।५ - धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुं चीन्हा ।
रघुपति कृपा भगति पाई ।।

३- रा०मा०-१।२१०।६,१।२१०

४- रा०मा०-१।२११।१-४

५- रा०मा०- १।२११-५-२६

२१- <u>भगवती सीता:-</u>

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत भगवान राम के सम्पूर्ण लीला परिकर की धुरी भगवती सीता पर आधारित है।[1] यह साक्षात भक्ति स्वरूपा होते हुये[1] भगवान राम के चरण कमलों की परमानुरागिनी हैं।[2] भगवान राम के बिना जिन्हें सारा जगत निशा तुल्य दिखाई देता है।[3] जिनकी अनवरत भाव प्रवणता भगवान के दिव्य गुणों का स्मरण करती ही रहती हैं,[4] जो साक्षात ध्यान मग्ना तपःस्वरूपिणी प्रतिमूर्ति है-[5]

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जन्त्रित जाहिं प्रान केहि बाट।।

जिनके नाम और चरण कमल की भावात्मक स्मृति से ही भारतीय जगत की नारी अपने पातिव्रत धर्म का अनुसरण करने लगती है तथा अपने अभीष्ट प्रियतम का अनुराग प्राप्त कर लेती हैं।[6] जिनकी महिमा

१- रा०मा०- २।२३६

२- रा०मा०- ५।८(पू०) निज पद नयन दिये मन राम पद कमल लीन।
गीतावली - ४७

३- बरवै रामायण- सुन्दर काण्ड(३७) -
जगत बरत बस लागु मोहि बिनु राम।

४- रा०मा०- ५।७।४- तनु सीस जटा एक बेनी।
जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।।
गीतावली- ४८

५- रा०मा०- ५।-

६- दोहावली - २१४

का गान करने में शारदा के अतिरिक्त कोई भी चराचर का प्राणी समर्थ नहीं हो सकता, भगवान राम भी उनके लौकिक प्रेम से परिचित होते हुये बखान करनेमेंअसमर्थ है।[1] वह सीता मानस के भक्त पात्रों में अद्वितीय है। भगवती सीता का मानस में तपश्चर्या भक्ति एवं भागवत्तत्व के दोनों स्वरूपों को उजागर करता हुई दिखाई देता है। भगवती सीता का तत्त्वार्थ मानस में किस रूप में अंकित किया गया है सर्वप्रथम उस पर विचार करेंगे।

रामचरित मानस में सीता का वर्णन भिन्न भिन्न रूपों में परिलक्षित होता है- प्रथम- आदिशक्ति स्वरूपिणी सीता के दर्शन उस प्रसंग से दृष्टिगोचर होते हैं जब राजा मनु और सत रूपा से प्रसन्न होकर श्री हरि ने पर ब्रह्म राम और आदि शक्ति सीता के स्वरूप में इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया था।[2]

द्वितीय रूप में सीता को मानस में मूल प्रकृति के रूप में चित्रित किया गया है - जो जगत की उत्पत्ति स्थिति और संहार का हेतु बनती है।[3]

१- दोहा०- कुमक्क २०२

२- रा०मा०- १।१४८-

बाम भाग सोभति अनुकूला। आदि सक्ति छबि निधि जगमूला।
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।।

रा०मा०- १।१५२- आदि शक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।।

३- रा०मा०- १।५ - उद्भव स्थिति संहारकारिणीं, सीता नतोऽहं
राम बल्लभाम्।।

२।१२६- श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।।

तृतीय भूमिका में भगवती सीता का निरूपण आदि-नारायण भगवान राम की 'योग माया' स्वरूप में किया गया है-- यह योग माया रूपी सीता उसी प्रकार अभिन्न है जिसप्रकार वाणी से अर्थ का, जल से लहर का संयोजन होता है।[1]

चतुर्थ स्तर पर यह अविनाशी परमात्मा का परम शक्ति के स्वरूप में दृष्टि गोचर होती है- यह प्रसंग उस समय का है जब देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार करके भगवान ने स्वयं आकाशवाणी के स्वर में कहा था।[2]

इस प्रकार यह चराचर जगत की नाम रूपात्मक सृष्टि राम (परमात्मा) है। सीता (मूलप्रकृति) के गुण स्वरूप में ही व्याप्त है। इसलिए तुलसी जगत में गुण रूप से व्याप्त सीता राम की स्तुति करते हैं।[3]

१- रा०मा०१।१८- गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउं सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥

२- रा०मा०बाल०- नारद बचन सत्य सब करिहउं।
परम सक्ति समेत अवतरिहउं ॥

रा०मा० ७।१३- अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनत पाल दयाल प्रभु संयुक्त शक्ति नमामहे ॥

३- रा०मा०- १।८ सीय राम मय सब जग जानी।
करउं प्रनाम जोरि जुग पानी।

मानस में सीता के पर्याय नामों में लक्ष्मी[1] रमा[2] का प्रयोग भी देखने को मिलता है। यह भगवती सीता अपरिवर्तनशील तथा अनादि शक्ति स्वरूपिणी है जिसकी पुष्टि मानस में सती संशय प्रसंग से परिपुष्ट होती है।[3]

इन्हीं परमशक्ति स्वरूपा भगवती सीता के अंश मात्र से क्रमशः लक्ष्मी, उमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती है[4]—

१- रा०मा०- १।२८६- बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि नर वेषु।
तेहि पुर के सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु।।

२- रा०मा०- २।१३६- पय पयोधि तजि अवध बिहाई।
जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।।

रा०मा०- ६।१०७- अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।

३- रा०मा०- १।५४-५५- सती बिधात्री इन्दिरा देखीं अमित अनूप।
जेहिं जेहिं वेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप।

अवलोके रघुपति बहुतेरे।
सीता सहित न वेष घनेरे।
सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता।
देखि सती अति भई सभीता।।

४- रा०मा०- १।१४८- जासु अंश उपजहिं गुन खानी।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।

भृकुटि बिलास जासु जग होई।
राम बाम दिसि सीता सोई।।

इस लिए यह उमा रमा और ब्रह्माणी द्वारा भी वन्दनीय हैं।[1] यह भगवती पार्वती की जननी एवं वन्दनीया होते हुये उनकी स्तुति भी करने वाली दीखती हैं।[2] इस विरोधाभास का समाधान डा० सियाराम शरण सक्सेना ने अपनेशोध प्रबन्ध 'रामचरित मानस पर आगमप्रभाव' में इस प्रकार किया है ~~कि~~ कि --

'ब्रह्म की अंगा अनादि आद्याशक्ति भगवती सीता से त्रिदेव की शक्तियां (उमा रमा ब्रह्माणी) उत्पन्न हुई हैं। इस स्वरूप में वे लक्ष्मी, पार्वती, आदि के लिए वन्दनीया हैं। त्रिदेवान्तरगत विष्णु की शक्ति लक्ष्मी के रूप में पार्वती से समकक्ष है। किन्तु जब हम पार्वती की भावना परात्पर ब्रह्म शिव की परा शक्ति के रूप में करते हैं, तब त्रिदेवान्तर्गत विष्णु की शक्ति लक्ष्मी के लिये पार्वती पूजनीया हैं। जनक पुत्री सीता द्वारा पार्वती पूजा का यही हेतु है।'[3]

मानस के प्रारम्भिक मंगलाचरण प्रकरण में राम वल्लभ सीता का अभिवादन करते हुये तुलसी ने उन्हें संसार का सर्जन पालन, एवं संहार करने वाली शक्ति के रूप में देखने के साथ साथ भगवान राम के मन, वचन कर्म से चरणों में अनुरक्त हुए भक्त की श्रेणी में भी देखा है।[4] भगवान के बिना उन्हें कुछ भी वस्तु सुखास्पद नहीं दीखती।[5] राम की वनयात्रा के

१- रा०मा०-७।२४- उमा रमा ब्रह्मानि वन्दिता ।
जगदम्बा संततम निन्दिता ।

२- रा०मा०- १।१४८।२, १।२८६, ६।१०७ छन्द, ७।२४।५

३- रा० मा०-पर आगम प्रभाव - पृष्ठ-१०२

४- रा०मा०- ५।३१।४ (पू)

५- रा०मा०- २।६५।६

में परम कर्तव्य है ।[1] अतः इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि सीता की राम भक्ति में त्याग ,संयम, कष्ट- सहिष्णुता, गृहिणीत्व, पातिव्रत्य आदि गुणों का समष्टि रूप दृष्टि गोचर होता है । यही कारण है कि जनक सुता का जानि उनको करुणानिधान भी सुविशय प्रिय है ।[2] उनकी राम भक्ति की अनन्यता को प्रकट करने के लिए निम्न पंक्तियां ध्यातव्य हैं --

"जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितय न सोइ ।
राम पदारविन्द रति करति सुभावहि खोइ ।।"[3]

"जानकी जग जननि जन की किये बचन सहाय ।[4]

सीता चरन प्रनाम करि सुमिरि सुनाम सुनेम
होहिं तीय पति दैवता प्रान नाथ प्रिय प्रेम।।[5]

१- रा०मा०- ७।२४।५-७

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी ।
विपुल सदा सेवा बिधि गुनी ।
निज कर गृह परिचरजा करई ।
रामचन्द्र आयसु अनुसरई ।
जेहिं बिधि कृपा सिन्धु सुख मानइ ।
सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ।।"

२- रा०मा० - १।१८।७

३- रा०मा०- ७।२४

४- विनयपत्रिका - (४१)

५- दोहावली -(२१४)

प्रसंग में उनके वियोग जनित माध्यम दुख का सम्भावना करके उनके साथ जाने का उत्कट भाव प्रेम अवस्था में सूचित करता है। उनसे उनकी प्रगाढ़ भक्ति की स्थिति दृष्टव्य होती है।[1] लोक धर्म की मर्यादा में एवं गार्हस्थ्य जीवन के पवित्र सम्बन्धों में आप पूर्णतया सफल हुई इस प्रसंग में मालूम होती है जब भगवान वन गमन करते हैं तब आप पीछे पीछे चलकर भगवान के पगचिन्हों को बचाकर अपने पैर बीच में रखकर प्रेम की उत्कट मर्यादा का निर्वाह करती हुई दीखती है।[2] रावण ने जब उन्हें अपहृत करके अशोक वाटिका में बन्दिनी बना लिया तब वे अहर्निश भगवान के ध्यान में मग्न होकर उनका नाम रटती हैं।[3] रावण के असंख्य प्रलोभनों[4] एवम् आतंकों[5] के बावजूद वे राम प्रेम पथ से विचलित नहीं होती। तुलसी ने तो उन्हें भक्ति का प्रतिरूप ही माना है और मानस के अनेक स्थलों पर उन्हें भक्ति से उपमित भी किया है।[6] वन से अयोध्या लौटकर राजरानी बनने पर भी उनकी भक्ति में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता दिखाई देता है। उनकी दिनचर्या पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो राम की अनन्य भक्ति के दर्शन इस रूप में पाते हैं कि अनेक दास दासियों के उपस्थित रहने के बावजूद प्रभुराम के लिए आप अपने हाथों से ही कार्य का सम्पादन करती हैं भक्ति का शाब्दिक अर्थ सेवा ही होता है और राम की सेवा ही सीता का

१- रा०मा०- २।६५,२।६७।६

२- रा०मा०- २।१२३।५

३- रा०मा०- ३।२६(ख), ५।३० (पू)

४- रा०मा०- ५।६।३-७

५- रा०मा०- ५।१०।१-४

६- रा०मा०- २।२३६ , २।३२१

२२- भक्तिमती शबरी:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस,[1] कवितावली[2], गीतावली,[3] विनयपत्रिका,[4] दोहावली आदि में भक्तिमती शबरी की संक्षिप्तांश एवं सार गर्भित चर्चा का वर्णन मिलता है। यह स्वभावतः मैली कुचैली, निकम्मी, असभ्य, मतिमन्द, अधम जाति एवं गंवार, एवम् नीच जाति की शूद्रा नारी शबरी को तुलसी ने जिस स्थान पर पदासीन किया है वह विद्वत समाज के लिए एक चुनौती है।[5]भक्तिमती शबरी अपने निवृत्ति मार्गी मुनि मतंग से गुरुदीक्षा और गुरु की सेवा में निरत रहती थी। जब मुनि ने प्रसन्न होकर शबरी को आश्रम में ही भगवान राम के दर्शन होने का वर प्रदान किया। उक्त वचनों की स्मृति में वह अहर्निश भगवान के आगमन की बड़ी विकलता के साथ प्रतीक्षारत रहती थी। वह मन वचन और कर्म से भगवान राम के चरण कमलों की अनुरागिनी थी। जब भगवान राम कबन्ध को परमगति प्रदान कर उनके आश्रम में प्रवेश करते हैं तो वह गुरु के सत्य वचनों को स्मरण करती हुई प्रसन्न मन से प्रेम में विह्वल होकर भगवान राम के चरणों में लिपट जाती है। और प्रेमातिरेक के कारण उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है तथा वह बार बार भगवान के चरण कमलों में नत मस्तक होती रहती है।[7]

१- रा०मा०- ३

२- कवितावली- उत्तरकाण्ड पद १८, पंक्ति ३,४

३- गीतावली- अरण्य काण्ड पद १७ भाग ७ पंक्ति ४

४- विनयपत्रिका- पद २१५, पंक्ति ७

५- रा०मा०- ३।३५।२-३

६- गीतावली-अरण्यकाण्ड पद-१७, भाग१, पंक्ति ५, भाग-२, पंक्ति १, भाग३, पं०१-५

७- रा०मा०- ३।३४।५-६

जाति पाँति का ध्यान न करने वाले भगवान राम ने शूद्रा नारी शबरी की दीनता भरी प्रेमदशा को देखकर एक मात्र भक्ति[1] का ही आधार मानकर उसे नवधा भक्ति[2] का उपदेश देकर विश्वास दिलाते हैं कि इन नवों भक्तियों में से एक भी जिसे प्राप्त हो जाय वह ही मेरे लिए अतिशय प्रिय है। फिर भला शबरी का कहना ही क्या। जिसने साक्षात ६ भक्तियों की प्रत्यक्ष मूर्ति का दर्शन किया हो। उसमें तो उक्त सभी भक्तियां परिपक्वता रूप में समाहित हो चुकी हैं।[3] इसीलिए शबरी को वह मुक्ति अनायास सुलभ हो गयी जिस गति को बड़े बड़े योगिजन दुर्लभ रूप से प्राप्त कर पाते हैं।[4] अर्थात उनके सामने ही वह योगाग्नि से शरीर त्याग कर उस दुर्लभ हरि पद में लीन हो जाती है जहां पुनः लौटना नहीं पड़ता है[5] अतः स्पष्ट है कि भक्तिमती शबरी ने लोक वेद की मर्यादा से इतर निम्न जाति की मूढ़ स्त्री स्वभाव से निष्कपट एवं निश्छल प्रेम भाव की परिपक्व दृढ़ता से ही योगी वृन्द दुर्लभ गति एवं सहज स्वरूप गति प्राप्त की। यह भगवान राम के नाम की एवं भजन स्मरण की महिमा का ही परिणाम है। जब राम नाम के प्रभाव से पत्थर जल में उतरा सकते हैं तो भगवत स्मरण और भजन से शबरी के पुण्योदय एवम् भाग्यवती होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।[6] जिसके अनन्य प्रेम से भगवान भी स्वतः ही –

१- रा०मा०- ३।३४।४-६

२- रा०मा०- ३।३५।७,३।३६।५

३- रा०मा०-३।३६।६-७

४- रा०मा०- ३।३६।८

५- रा०मा०- ३।३६।१४-१५

६- विनयपत्रिका पद- १६६, पंक्ति -११-१२

कृतार्थ मैं पड़ा जिनके अनुपम दर्शन से ही जीव अपना वास्तविक स्वरूप सहज ही प्राप्त कर लेता है।[1] वह शबरी ही वास्तव में सुलक्षणी है। भक्तिमती शबरी ने वास्तव में वात्सल्यमयी[2] भक्ति द्वारा ही तो भगवत्प्राप्ति में अपनी चरम पराकाष्ठा का मितुलीकरण किया है। जब वह जल लेकर सादर भगवान के चरणों को पखारती है और आसनों पर बैठाकर कन्द मूल फल खिलाती है जिनकी भगवान बार-बार प्रशंसा कर जाते हैं।[3] तत्पश्चात वह प्रभु के सामने खड़ी हो जाती है--

> पानि जोरि आगे भई ठाढ़ी।
> बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी।[4]

तब ऐसा लगता है मानों भगवान अपने पुरुषोत्तम एवम् मर्यादित स्वरूप को विस्मरण कर भामिनी, कविवर गामिनी के सम्बोधनों द्वारा उसकी अनन्य भक्ति को घोषित करते दीखते हैं।[5]

अतः वास्तविकता में देखा जाय भक्तिमती शबरी की शरणागति, प्रपत्ति और भगवान राम की सौम्यता एवं कृपालुता का जितना भी गायन श्रवण किया जाय और उसे जितना ही बुद्धि से सोचा जाय उतनी ही हृदय में भगवच्चरणों के प्रति नित्य नूतन भक्ति की उत्पत्ति होती रहेगी।[6]

१-रा०मा०-३।३६।९

२- गीतावली पद-१७, भाग ३ पंक्ति ३-४ भाग ४ पंक्ति ५, भाग ८ पंक्ति ४

३- रा०मा०- ३।३४।१०, ३।३४

४- रा०मा० ३।३५।१ ५- रा०मा०-३।३६।१०

६- गीतावली- अरण्य काण्ड पद १७, भाग ८ अंतिम पंक्तियां-

> तुलसी भनित, सबरी प्रनति, रघुबर प्रकृति करुना मई।
> गावत सुनत समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित नई ।।

जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।

महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि ।।[1]

२३- <u>श्री भरत:-</u>

तुलसी साहित्य में श्री भरत का चरित्र राम कथा का मेरुदण्ड है अथवा रीढ़ है। सम्पूर्ण कथा का संचालन श्री भरत पर आधारित है। अगर भरत का चरित्र कथा से विलग कर दिया जाय तो लोकमत और वेदमत का अन्त स्वाभाविक ही हो जायेगा। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास जी अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य रामचरितमानस के प्रणयन में सर्वप्रथम श्री भरत के चरणों की वन्दना करते हुये कहते हैं कि इन्हीं से (रामभक्ति की धारा एवम् साधन) नेमव्रत प्रादुर्भूत हुआ, जो अवर्णनीय है और यह भी संकेत करते हैं कि इनका मन मधुप भगवान श्रीराम के चरणों में में अनुरक्त रहता है और कभी वह उनसे विरक्त भी नहीं होना चाहता है।[2] दोहावली में श्री भरत के स्मरण मात्र से मनुष्य या जीव का कल्याण होना निर्दिष्ट किया है।[3]

१- रा०मा०३।३६

२- रा०मा०- बालकाण्ड- १।१६।४-५

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना ।

जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ।।

राम चरन पंकज मन जासू ।

लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।। - रा०मा०-१।१६।४-५

३- दोहावली- २०६ - भरत स्याम तन राम सम सब गुन रूप निधान ।

सेवक सुख दायक सुलभ सुमिरत सब कल्यान ।।

पृष्ठ- ७१ (दो०-२०६)

गीतावली में गोस्वामी जी ने यहां तक कह डाला है कि श्री-भरत का जैसा रहना और करना रहा है वैसा भाई इस संसार में न है और न भविष्य में होगा।[1] अर्थात उनका चरित्र साधुता का प्रतिमूर्ति तथा त्याग की कौतोहर साधना का ज्वलन्त प्रमाण है। क्योंकि भरत जी के द्वारा ही भक्ति और भलाई की रक्षा और मर्यादा की पुष्टि हुई है। स्वारथ परमारथ के वास्तविक तत्व को स्पष्ट करने में श्री भरत की भाव वृत्ति ही आदरणीय है।[2] तुलसी ने शंकर हनुमान, लक्ष्मण और भरत इन चारों को रामभक्ति के भक्त के रूप में बताया है और कहा है कि यही रामभक्ति के मर्म को जानने वाले हैं।[3]

'विनयपत्रिका' में श्री भरत भगवान श्री राम के चरणकमलों के मकरन्द का पान करने वाले रसिक भ्रमर के समान दिखाया देते हैं।[4] जिनका

१- गीतावली- २।७६- तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तनु त्यों त्यों प्रीति अधिकाई।
[illegible] भए न हैं न होहिंगे कबहुं भुवन भरत से भाई ।।
पृष्ठ- २५८

२- गीतावली- २।८०,- राखी भगति भलाई भली भांति भरत।
स्वारथ परमारथ पथी जय जय जग करत ।।
पृष्ठ- २५६

३- गीतावली-२।८२- जानी है, शंकर, हनुमान, लखन, भरत रामभगति।
कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लागति ।।

४- विनयपत्रिका- भरत स्तुति-३६-
जयति भूमिजा रमण पद कंज मकरंद रस
रसिक मधुकर भरत भूरि भागी।

प्रेम श्रीराम के चरणों में समाहित हैं जो अनुपम एवम् अद्वितीय है ।[1]

जिन्होंने इन्द्र कुबेर लोकपालों को भी दुर्लभ होने वाला साम्राज्य को ठुकराकर भगवान के चरणों का आश्रय लिया ।[2] जिनका सेवा नेम व्रत लोकोत्तर है । जिनके भक्ति भाव में वासना एवम् काम की गन्ध भी नहीं दीखती, सर्वत्र निष्काम का भाव उमड़ता हुआ दिखाई देता है ।[3] धर्म की धुरी के स्वरूप आपकी सैद्धान्तिक साधना परिलक्षित होती है ।[4] जिनका शौर्यवीर, पराक्रम गन्धर्वों को परास्त करने की तथा लक्ष्मण शक्ति के उपचार निमित्त आये हुए हनुमान जी को रामादल में पहुंचाने हेतु

१- भुवन भूषण भानुवंश भूषण,
भूमिपाल मणि राम चन्द्र अनुरागी । पृष्ठ- ६७

२- विनय पत्रिका- ३७ जयति विबुधेश धनदादि दुर्लभ महा
राज संम्राज सुख पद विरागी ।

३- वही- धाराव्रती प्रथम रेखा प्रकट
शुद्ध मति युवति पति प्रेम पागी ।
पृष्ठ ६७, विनयपत्रिका- ३७

४- जयति निरुपाधि भक्ति भाव यन्त्रित हृदय,
बंधुहित चित्रकूटाद्रि- चारी ।
पादुका- नृप सचिव पुहुमि- पालक परम्
धरम धुर धीर, वर वीर भारी ।।
पद- ३८, विनयपत्रिका- पृष्ठ- ६७

जाता है। जिनके महात्मा तुलसीदास वन्दना करते हुये कहते हैं कि भरत जी मुझे अभयदान प्रदान करते हुए मेरी शरणागति स्वीकार करें।[1]

अब हम रामचरित मानस में आये हुए श्री भरत के चारित्रिक परिवेश को उजागर करेंगे जिनके चरित्र में नवधा भक्ति अनुस्यूत है। इनका सम्पूर्ण जीवन साधना पथ के भक्त, जिज्ञासुओं एवम् ज्ञानियों के लिए प्रेरक एवम् पथ प्रदर्शक का पाठ अदा करता है।

राजा स्वायम्भुव मनु और सतरूपा की आराधना से प्रसन्न होकर भगवान राम का अवतार अंशों के सहित हुआ।[2] इन अंशों में श्री भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न प्रमुख हैं। वही भरत विश्व के धारण पोषणकर्ता हैं यह उनके नामकरण संस्कार से स्पष्ट हो जाता है।[3] अध्यात्म रामायण

१- जयति संजीवनी समय संकट हनूमान
धनुमान महिमा बखानी।
बहुबल विपुल परमिति पराक्रम अतुल
गूढ़ गति जानकी जानि जानी।।
जयति रण अजिर गन्धर्व गण गर्वहर
फिर किये राम गुण गाथ गाता।
माण्डवी चित्त चातक नवांबुद बरन
बरन तुलसी दास अभय दाता।। वि०प०३०, पृ०४७

२-रा०मा० १।१५२, अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउं चरित भगत सुखदाता।।
रा०मा०१।१८७-अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउं दिनकर बंस उदारा।।

३-रा०मा०१।१९७-विश्व भरण पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।।
वि०प०-३६।२ पादुका, नृप सचिव पुहुमि पालक परमवीर गम्भीर वीर वर धारी।

में श्री भरत को विश्व का पोषक ही माना गया है, साथ-साथ भगवान नारायण (भगवानविष्णु) के अंश के रूप में अंशावतार कहा है ।[1] उनका चरित्र कलिमित उत्पातों को शान्त करने वाला तथा उट पर किये जाने वाला जय यत बताया गया है ।[2] जिसकी पुष्टि मानस में उपलब्ध से स्पष्ट होती है ।

श्री भरत के चरित्र का मूल्यांकन किया जाय तो सम्पूर्ण चरित्र के आदि, मध्य और अवसान में भगवान राम के चरणों में प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित की गयी है । जब भरत ननि हाल में थे । उस समय भगवान राम का बन गमन की परिस्थिति सामने आती है । महाराज दशरथ के वचन की रक्षा करने के उपरान्त राम के वियोग में उनका निधन होता है ननिहाल से श्री भरत को बुलाया जाता है । यहाँ से इनके चरित्र का शुरुआत होती है । माता कैकयी द्वारा पिता मरण तथा श्री राम के बन गमन की जानकारी होते ही वे अपने को सम्पूर्ण पापों का अघ कारण मानते हुए मौन होकर सन्न हो जाते हैं ।[3] और उनकी मानसिकता की आधि व्याधि कारण श्री राम को बन देना और अपने को राज्य भोग करना यह उसी प्रकार जान पड़ा जिस प्रकार पेड़ काटकर पल्लव का सिंचन करना या मछली को जाने के लिए सरोवर के जल को उलीच डालना प्रतीत हुआ ।[4]

१- आध्यात्म रामा० -२।३।८९, २।८।१८

२- रा०मा० अयो०- २।१४०

३- रा०मा० अयो०- २।१६१।८

४- रा०मा० १।४१ - समन अमित उतपात सब भरत चरित जप जाग ।
कलि अघ खल अवगुन कथन ते जल मल बग काग ।।

उनका भाव भूमि में जो मातृत्व अभिव्यन्जित होता था वह कठोर वज्रकारी वचनों में परिवर्तित हो गया ।[१] और मां कैकयी की कुटिलता में मां कौशल्या के प्रति आशंका दूर करने हेतु तथा अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए शपथ को प्रमाण मानते हैं ।[२] तथा गुरु वशिष्ठ[३] द्वारा स्वम् सचिवगण[४] और माता कौशल्या[५] जो पिता के बाद राज्यसिंहासन के लिए बाध्य करती हैं पर भरत जी किसी के अनुमोदन को स्वीकार नहीं करते वरन् भगवान श्रीराम के प्रति पूर्ण निवेदन की प्रगाढ़ भक्ति भाव को प्रदर्शित करते हुए दीनता पूर्ण उचित उत्तर देते हैं । और सभी को निरुत्तर कर देते हैं ।[६] और उनका दृढ़ संकल्प प्रभु के समीप चलना भाव प्रस्तुत करते हैं:--

एकहिं आंक इहइ मन माहीं ।
प्रातकाल चलिहउं प्रभु पाहीं ॥[७]

उपर्युक्त वचन भगवान राम की भक्ति में प्रेमामृत स्वरूप सबको प्रिय लगते हैं ।[८]

१- रा०मा०- २।१६१।२, २।१६२।८

२- रा०मा०- २।१६७।५-२, २।१६८।८

३- रा०मा०- २।१७४।१-२, २।१७५।८

५- रा०मा०- २।१७५।१-६

६- रा०मा०- २।१७७।१-२, २।१८२

७- रा०मा०- २।१८३।१

८- रा०मा०- २।१८४।१

वन प्रवेश के पूर्व राजकीय व्यवस्था का सुरक्षा करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं।[1] वे भक्ति के आवेश में अपने कर्तव्य मार्ग का अवलम्बन करते है। उनकी मानसिकता का आधार सम्पूर्ण दृष्टि का वैभव ईश्वर जन्य है और उनकी रक्षा करना भक्त का परमधर्म है। इस ध्येय को आधार बनाकर वे माता कौशल्या के समक्ष कसम खाते है और श्रीराम के पास चित्रकूट के लिए आतुर होकर पहुंचते है। यहां उनके अतिशय प्रेम का रहस्यात्मक प्रयोजन है कि वे दोनों स्थितियों में संसार के समक्ष अपने को दोष रहित प्रमाणित करना चाहते हैं भक्त अपने आपको तो शुद्ध एवं पवित्र बनाए रखता ही है। पर अपने सम्बन्ध में संसार की धारणा को भी विकृत नहीं होने देता। लोग प्राय: कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है तो संसार के कहने से क्या होता है। यह बात श्रेष्ठ साधका की एकान्तिक दृष्टि से ठीक है। लोक संग्रह का दृष्टि से निषेधात्मक है।[2]

भरत की भक्ति की पराकाष्ठा तो वन मार्ग में गमन करते हुए उस समय दृष्टिगोचर होता है। जिस समय उनको अंग प्रत्यंग अपने आराध्य के सम्पर्क प्राप्त पदार्थों को परमपवित्र जानकर अत्यन्त प्रेममग्न हो जाते हैं। और वे सादर दण्डवत प्रणाम करके उनकी परिक्रमा करने लगते हैं।[3] वे राम के चरण चिन्हों की रज को अपनी आंखों में लगाते हैं और सीता के वस्त्राभूषणों से गिर- पड़े दो चार स्वर्णकणों को साक्षात् सीता के ही समान समझकर सिर पर ही धारण कर लेते हैं।[4]

१- रा०मा०-२।१८८।२-८
२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- गोस्वामी तुलसीदास- पृ० १२०,२१

३- रा०मा०-२।१९७।१-२,२।१९७।४, २।१८८।२,१९९।१,२।१९८।७
२।२२१।८, २।२२८।१-४ ,

४- रा०मा० २।१९९।२-३

अपने इष्ट से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तुओं के प्रति भक्तों की वैसी ही पूज्य बुद्धि होती है। यह सब भरत रामो को विश्राम कराकर पथ प्रदर्शक निषादराज के साथ एकान्त जाकर वार्ता करते हैं। उन्हें सबों के समक्ष अपनी इस प्रगाढ़ भक्ति का प्रदर्शन अभीष्ट नहीं है।

गंगापार करने के बाद गंगा को प्रणाम करके लक्ष्मण सहित सीता राम का स्मरण कर वे पाँव पैदल ही चल देते हैं। उनके साथ बिना सवार के घोड़े बागडोर से बंधे हुए चल रहे थे और उनके सेवक बार-बार घोड़े पर सवार होने के लिए उनसे आग्रह कर रहे थे।[1] यद्यपि उनके पैरों में छाले पड़ गये थे।[2] तथापि वे पैदल चलना नहीं छोड़ते। जिस मार्ग से उनके आराध्य पैदल ही गये थे उस मार्ग से रथ हाथी एवं घोड़े पर जाने की तो बात ही क्या, पैदल जाना भी उन्हें अनुचित प्रतीत हो रहा है। उन्हें तो यथार्थत: सिर के बल पर ही जाना चाहिये था। क्योंकि सेवक का धर्म सर्वाधिक कठिन होता है।[3]

प्रयाग में पदार्पण करने पर त्रिवेणी के संगम पर जाकर जब भरत जी ने यमुना की श्याम एवम् गंगा की धवल लहरों को देखा तो उनका शरीर पुलकित हो उठा। उस समय आर्तवश अपने क्षत्रिय धर्म का परित्याग करते हुये उन्होंने हाथ जोड़कर समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले तीरथराज से भीख मांगा था —

१- रा०मा०- २।२०३।३-४

२- रा०मा०- २।२०४।१

३- रा०मा०- २।२०३।६-७

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउं निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ।।[१]

उनका प्रेम चातक की तरह अनन्यता के भाव को पुष्ट करता है ।[२] प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम में प्रवेश करने पर उनको आज्ञा से अपने स्वागत के लिए प्रस्तुत भोग सामग्रियों के साथ रातभर रहते हुए भी वे मन से भी उनका स्पर्श तक नहीं करते ।[३] इस प्रकार कठोर व्रत का पालन करते हुये भरत मार्ग में चले जा रहे है । उनकी प्रेममयी दशा देखकर मुनि और सिद्ध लोग भी सिहाते है । उनके प्रेम जब वे `राम` का नाम लेकर `लम्बी` सांस लेते है तब मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है । उनके प्रेम पूर्ण और दीनता से ओतप्रोत वचनों को सुनकर वज्र और पत्थर भी पिघल जाते हैं ।[४] वे अपनी माता कैकयी के कृत्यों को स्मरण कर संकोच में पड़ जाते है और मन में करोड़ों कुतर्क करते हुए सोचने लगते है कि मेरा नाम सुनकर राम, लक्ष्मण और सीता कहीं अपने स्थान को छोड़कर दूसरी जगह उठकर न चले जायं ।[५] उन्हें अपनी माता के कुकृत्य लौटाते हैं पर अपनी भक्ति के बलपर ही वे मार्ग में अग्रसर होते हुए वे चले जा रहे हैं । जब वे भगवान राम के स्वभाव को स्मरण करते है तब मार्ग में उनके पैर जल्दी जल्दी पड़ने लगते है ।[६] वस्तुत: भरत अपनी कुटिलता[७] एवम् भगवान की भक्त वत्सलता[८] को कभी नहीं भूलते हैं ।

१- रा०मा०- २।२०४
२- रा०मा०- २।२०५।१-५
३- रा०मा०- २।२१५
४- रा०मा०- २।२२०।५-७
५- रा०मा०- २।२२३।७-८
६- रा०मा०- २।२३४।५-६
७- रा०मा०- २।१७६।३,२।१७६।५
८- रा०मा० २।१८२।३, २।१८३, २।२६०।५-७, १।१

चित्रकूट में भगवान राम के समस्त सुमंगलों के धाम सुन्दर एवम् पवित्र आश्रम पर पहुंचते ही उनका दुख और दाह मिट जाता है।[1] वे भगवान को देखते ही 'पाहि नाथ' 'पाहि-गोसाईं' कहते हुए पृथ्वी पर दण्ड की तरह गिर पड़ते हैं।[2] भरी सभा के बीच जब वे अपने अन्तःकरण की बात भगवान राम के सम्मुख सोचकर रखने के लिए खड़े होते हैं तब उनका शरीर पुलकित हो जाता है और आंखों में प्रेमाश्रुओं की बाढ़ आ जाती है।[3] वे राम को बचपन की बातों को स्मरण कराते हैं जब वे खेल में हारे हुए भरत को विजयी बनाते थे।[4] भरत के भक्ति से परिपूरित एवम् करुणा-पूर्ण निवेदन को सुनकर राम का अन्तःकरण भी द्रवित हो उठता है और अन्ततः उन्हें कहना पड़ता है --

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।[5]

भरत भगवान राम की आज्ञा पालन करना शिरोधार्य समझते हैं वे स्वयं की रुचि को भगवान की रुचि में मिलाकर चलना चाहते हैं। उनकी आज्ञा का पालन करना ही स्वार्थ एवम् परमार्थ का सार समझते हैं। समस्त पुण्यों का फल और सम्पूर्ण शुभ गतियों का श्रृंगार मानते हैं।[6] अतः उनकी दृष्टि में जगत का कल्याण प्रमुख और स्वयं का हित स्वार्थ भाव से कलुषित हुआ समझते हैं।[7] कहते हैं कि --

---

१- रा०मा०- २।२३९।२-३

२- रा०मा० - २।२४०।२

३- रा०मा०- २।२६०।३

४- रा०मा०- २।२६०।८-९

५- रा०मा०- २।२६८। (पू०)

६- रा०मा०- २।२[illegible]।५-६

७- रा०मा०- २।२६६।८ (उ०)

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब ।
सो सिर धरि धरि करिहि सब मिटिहि अनट अवरेब ।[1]

भगवान उन्हें १४ वर्षों तक भारी संकट सहकर भी प्रजा और परिवार को प्रसन्न रखते हुये अयोध्या का राज्य संभालने का आदेश देते हैं और वे उनकी चरण मद पादुका लेकर सानन्द अयोध्या चले जाते हैं । राज्य का परित्याग करके वे अपने जिस आराध्य की ओर अग्रसर हुए थे, उसी आराध्य के द्वारा वे पुनः राज्य के संरक्षण में नियोजित कर दिए गये पर इससे उनका भव्य चरित्र और भी अधिक प्रदीप्त हो उठा । राम से अधिक राम के दास की प्रशंसा होने लगी । नन्दी ग्राम में तपस्वी का कठोर जीवन यापन करने वाले भरत के सम्बन्ध में जन जन के कण्ठ से यही ध्वनि निःसृत हो रही थी --

"लखन राम सिय कानन बसहीं ।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ।।
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू।
सब बिधि भरत सराहन जोगू ।।[2]

यही नहीं, भगवान को मनाने के लिए वन जाते समय भी यह भक्त भगवान से अधिक बढ़ गया था।[3]

चित्रकूट से भगवान की चरण पादुका लेकर प्रसन्नचित्त अयोध्या लौटने पर उनको एक शुभ मुहूर्त में राजसिंहासन पर अभिषिक्त

१- रा०मा०- २।२६६

२- रा०मा०- २।३२५।२

३- रा०मा०- २।२१६।८-२१, २।२१७।२

करके भरत नन्दि ग्राम में पर्ण कुटी बनाकर अपनी एकान्तिक प्रेम साधना में तल्लीन हो जाते हैं। उनके कठिन ऋषिधर्म के सप्रेम आचरण का तुलसी ने अयोध्या काण्ड की अन्तिम पंक्तियों में जिस मनोयोग के साथ मूल्यांकन किया है वह सर्वथा अपूर्व है।[१] भरत के व्रत एवम् नियमों को सुनकर साधु सन्त भी सकुचा जाते थे। और उनकी उस स्थिति को देखकर मुनिराज भी लज्जित हो जाते थे।[२] तभी तो साधारण जन से लेकर ऋषि महर्षियों तक एक स्वर से भरत के अलौकिक गुणों की प्रभूत प्रशंसा की गयी है। यह दूसरी बात है कि भक्त प्रवर भरत उस प्रशंसा को उनकी उदारता एवं महानुभावता मात्र समझते हैं। भरद्वाज की दृष्टि में तो सब साधनों का सुन्दर फल लक्ष्मण, राम और सीता का दर्शन है पर उस महान फल का परम फल भरत का दर्शन है।[३] सुरगुरु बृहस्पति के विचार में तो भरत के समान राम का कोई भक्त हो ही नहीं सकता। क्योंकि सारा संसार राम को जपता है और राम भरत को जपते हैं।[४] रघुकुल गुरु वशिष्ठ ने तो उनके सम्बन्ध में अपना यह उद्गार व्यक्त किया है कि:--

समुझब कहब करब तुम जोई।
धरम सारु जग होइहि सोई।।[५]

और साक्षात् भगवान राम ने श्रीमुख से उन्हें तीनों कालों और तीनों लोकों

१- रा०मा०- २।३२३।२ , २।३२६।१

२- रा०मा०- २।३२६।४

३- रा०मा०- २।२१०।४-५

४- रा०मा०- २।२१८।७

५- रा०मा०- १।३२३।८

के पुण्यात्मा पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है ।[१] ऐसे पुण्य श्लोक के नाम के स्मरण मात्र से ही समस्त पापों के प्रपंच और अमंगलों के समूह नष्ट हो जाते हैं और संसार में सुन्दर यश और परलोक में सुख प्राप्त होते हैं ।[२] शिव की साक्षी लेकर राम को यहां तक कहना पड़ा कि यह पृथ्वी भरत से रक्षा पाकर ही रक्षित है ।[३] इतना ही नहीं दशरथ[४] जनक[५] कौशल्या[६] देवगण[७] आदि भी उनके प्रेम भक्ति, धर्म-प्रवणता, सौम्यता आदि गुणों की भूरिभूरि प्रशंसा करते हैं । यहां तक कि त्रिवेणी की धारा ने भी उनके साथ राम चरणानुराग का अनुमोदन किया था।[८] यथार्थतः मानस में भरत ही एक ऐसे भक्त हैं जिनमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन वन्दन, दास्य, सख्य एवम् आत्म निवेदन इन नवों प्रकार की भक्तियों का समावेश है ।[९] मानस में प्रयुक्त उदाहरणों द्वारा नवधा भक्ति की पुष्टि करेंगे ।

१- रा०मा०- २।२६३।६

२- रा०मा० २।२६३

३- रा०मा०- २।२६४।१

४- रा०मा०- २।३६।१, २।२८३।५

५- रा०मा०- २।२८८।२।२८६।८

६- रा०मा०- २।१६६।१-४

७- रा०मा०- २।२३३।१

८- रा०मा०- २।२०५।६-८

८-(क)- कल्याण, भक्तिअंक, वर्ष ३२, अंक १-पृ० ४२१ ।

९- रा०मा०- २।३२६

यही कारण है कि उनके दिव्य चरित्र के गौरव को व्यक्त करते हुए तुलसी ने उसे निश्चित रूप से सांसारिक विषाद रस से विरक्त करके राम भक्ति की ओर आकृष्ट करने का महान साधन माना है--

'भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं ।
सीय राम पद प्रेमु, अवसि होइ भवरस बिरति ।।'

अब हम भरत के चरित्र में समाहित नवधा भक्ति से सम्बन्धित तथ्यों को संकलित करते हैं --

१- श्रवणभक्ति:- सुनत बचन बिसरे सब दूखा ।
तृषावंत जिमि पाइ पियूषा ।

+++++++++++++

मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता ।
नयन स्रवत जल पुलकित गाता ।
कपि तव दरस सकल दुख बीते ।
मिले आजु मोहि राम पिरीते ।।
बार-बार बूझी कुसलाता ।
तो कहुं देउं काह सुनु भ्राता ।
एहिं सन्देश सरिस जग माहीं ।
करि विचार देखऊं मन माहीं । रा०मा०
नाहिन तात उरिन मैं तोही ।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ।
तब हनुमंत नाइ पद माथा ।
कहे सकल रघुपति गुन गाथा ।
भरत शत्रुघ्न दोनउ भाई
सहित पवन सुत उपवन आई ।

बूझहिं बैठि राम गुन गाहा ।
कह हनुमान सुमति अवगाहा ।।
सुनत विमल गुन अति सुख पावहिं ।
बहुरि बहुरि करि विनय कहावहिं ।।

२- कीर्तन भक्ति -

भरत तीसरे पहर कहं कीन्ह प्रवेसु प्रयाग ।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग ।।

(I) पुलक गात हिय सिय रघुबीरू ।
जीह नामु जप लोचन नीरू ।।

(II) बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात ।।

(I) देखत हनुमान अति हरषेउ ।
पुलक गात लोचन जल बरषेउ ।

(II) मन महं बहुत भांति सुख मानी ।
बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी ।
जासु विरह सोचहु दिन राती।
रटहुं निरन्तर गुन गन पाती ।
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता । आयउ कुशल देव मुनि त्राता।।

३- स्मरण भक्ति:-

(I) मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू ।
राम विरहं सबु साजु बिहालू ।।

(II) प्रभु गुन ग्राम गनत मन माहीं ।
सब चुपचाप चले मग जाहीं ।।

(III) भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार ।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार।।

(iii) रहेउ एक दिन अवधि अधारा ।

समुझत मन दुख भयउ अपारा ।

कारन कवन नाथ नहिं आयउ ।

जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ।।

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी।

राम पदारविन्दु अनुरागी ।

कपटी कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा ।

ताते नाथ संग नहि लीन्हा ।

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी ।

नहिं निस्तार कलप सत कोरी ।

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ ।

दीन बन्धु अति मृदुल सुभाऊ ।

मोरे जियं भरोस दृढ़ सोई ।

मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ।

बीतें अवधि रहहिं जौ प्राना ।

अधम कवन जग मोहि समाना ।

राम बिरह सागर मह भरत मगन मन होत ।

विप्र रुप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत ।।

४- पाद सेवन भक्ति:-

चरन रेख रज आंखिन्ह लाई ।

बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ।।

हरषहिं निरखि राम पद अंका ।

मानहुं पारसु पायउ रंका ।

रजसिर धरि हिंय नयनन्हि लावहिं ।

रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ।

देखि भरत गति अकथ अतीवा ।

प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा ।।

प्रभु करि कृपा पांवरी दीन्ही ।

सादर भरत सीस धरि लीन्ही ।।

५- अर्चन भक्ति:-

निज पुलक प्रभु पांवरी प्रीति न हृदय समाति ।

मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भांति ।।

६- वन्दन भक्ति:-

सखा बचन सुनि बिटप निहारी ।

उमगे भरत बिलोचन बारी ।।

(I) करत प्रणाम चले दोउ भाई ।

कहत प्रीति सारद सकुचाई ।।

-++- -++- -++-

कहत सप्रेम नाइ महि माथा ।

भरत प्रनाम करत रघुनाथा ।

सानुज भरत उमगि अनुरागा ।

धरि सिर सिय पद पदुम परागा ।

पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए ।

सिर कर कमल परसि बैठाए ।

(II) अस कहि प्रेम बिबस भए भारी

पुलक सरीर बिलोचन बारी ।।

प्रभु पद कमल गहे अकुलाई ।

समउ सनेहु न सो कहि जाई ।।

--+++++++++---

(III) प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई ।

चले सीस धरि राम रजाई ।।

(IIII) गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।

नमत जिन्हहिं सुर मुनि संकर अज ।।

परे भूमि नहिं उठत उठाए ।

बर करि कृपा सिन्धु उर लाए ।।

स्यामल गात रोम भए ठाढ़े ।

नव राजीव नयन जल बाढ़े ।।

७- दास्य भक्ति:-

(१) अस करुनाकर का जिय होई ।

जनहित प्रभु चित छोभु न होई ।

जो सेवकु साहिबहिं संकोची ।

निज हित चहइ तासु मति पोची ।

सेवक हित साहिब सेवकाई ।

करै सकल सुख लोभ बिहाई ।

(२) सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना । सुनहु नाथ प्रनतारति हरना ।
करहुं कृपा निधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई ।

---++++++++++++++---

(३) हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई ।

गए जहाँ सीतल अवँराई ।।

भरत दीन्ह निज बसन डसाई ।

बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ।।

८- सख्य भक्ति:-

(I) प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी ।

पूज्य परम हित अन्तर जामी ।

-+++++- सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि ।

आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि ॥

जन्मे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ।

करन बेध उपबीत बिआहा ।

संग संग सब भए उछाहा ।

बिमल बंस यहु अनुचित एकू ।

बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ।

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई ।

हरउ भगत मन कै कुटिलाई ।

(II) कृपा सिन्धु सनमानि सुजाना ।

बैठाए समीप गहि पाना ॥

९- आत्मनिवेदन:-

(I) भरत न देखन पायउं तोही ।

तात न रामहि सौंपेहु मोही ॥

(II) कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी । बोले पानि पंकरुह जोरी ।

नाथ भयउ सुखु साथ गए को । लहेउं लाहु जग जनमु भए को ।

अब कृपालु जस आयसु होई । करौं सीस धरि सादर सोई ।

सो अवलंब देव मोहि देई । अवधि पार पावौं जेहि सेई ॥

(III) तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू ।

धरें देह जनु राम सनेहू ॥

२[illegible]- श्री लक्ष्मण :-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामभक्ति के मर्म को यथार्थ जानने में शंकर, हनुमान, भरत की भाँति लक्ष्मण का नाम भी सम्पृक्त है।[1] वास्तव में ये राम भक्ति के गूढ़त्व के मर्मी भक्त हैं। यह भगवान राम के चतुर्व्यूह स्वरूप में से एक स्वरूप श्री लक्ष्मण को भी गिना जाता है। देवताओं की प्रार्थना प्रसन्न होकर श्री हरि ने अंशों सहित मनुष्य रूप में अवतार अयोध्यापुरी के उदार वंश रघुवंश में प्रगट किया।[2] जिसमें माता सुमित्रा के उदर से लक्ष्मण जी का जन्म रामचरित मानसानुसार निश्चित किया गया।[3] महाराज दशरथ के कुलगुरु वशिष्ठ जी ने भगवान राम के अभिन्न प्रिय जगत के आधार शेष स्वरूप में लक्ष्मण नाम नामकरण संस्कार से निश्चित किया।[4] कविवर तुलसी ने वैराग्य संदीपनी के मंगलाचरण में भगवान के दायीं ओर विराजमान लक्ष्मण के ध्यान को कल्पवृक्ष के समान मानते हैं। और इनका ध्यान सर्व सिद्धिकारी एवं मंगलदायी है।[5]

१- गीतावली- २।८२ जानी है शंकर,हनुमान,लखन भरत रामभगति ।

२- रा०मा०- १।१८७- अंसन्ह सहित मनुज अवतारा ।

लेहउँ दिनकर बंस उदारा ।

३- रा०मा० - विनय पत्रिका- लक्ष्मण स्तुति- ३८

"जयति दासरथि समर समरथ सुमित्रा-सुवन ।"

४- रा०मा०- १।१९७- लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार ।

गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ।।

५- वैराग्य संदीपनी- १, राम बाम दिसि जानकी,लखन दाहिनी ओर।

ध्यान सकल कल्यान मय,सुर तरु तौर ।।

श्री राम चरित मानस में श्री लक्ष्मण जी के निम्नलिखित पर्याय नामों का संकेत मिलता है। श्री लक्ष्मण जी महीधर,[1] अनन्त[2] पयपयोधि[3] राम के वाम में निवास करने वाले जगदाधार[4] शेष[5] चराचर के स्वामी[6] त्रिभुवन धनी[7] विश्व की उत्पत्ति के हेतु,[8] प्रभृति

१-रा०मा०- २।१२६- जो सहस सीसु अहीसु महीधरु लखन चराचर धनी ।
सुरकाज धरि नर राज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।

२- रा०मा०-६।५४-।-कोप वंत तब भयउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता।
नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राच्छस भयउ प्रान अवसेषा।।

।।-६।१००- सुनुसुत सद गुन सकल तव हृदय बसहुं हनुमंत ।
सानुकूल कौसलपति रहहु समेत अनन्त ।।

।।।-६।७६- प्रभु कहं छांडेसि सूल प्रचण्डा। सर हति कृत अनन्त जुगखंडा ।

।।।।-६।७५- रघुपति चरन नाइ सिरु चलेउ तुरन्त अनंत ।

३- रा०मा०- २।१३८- पयपयोधि, तजि अवध बिहाई ।
जहं सिय लखनु राम रहे आई ।।

४- रा०मा०-६।५४ जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआई ।

५- रा०मा० १।१७ शेष सहस्र सीस जगकारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ।
बरवैरामायण- (२७) एक बोम कर लछिमन दूसर सेष - पृष्ठ- ७

६- रा०मा० २।१२६ - जो सहस सीसु अहीसु महिधरु लखनु -चराचर धनी ।।

७- रा०मा० ६।८३, ब्रह्माण्ड भवन बिराज जाके, एक सिर जिमि रज कनी ।
तेहि चहं उठावन मूढ़ रावन जान नहि त्रिभुवन धनी ।

८- रा०मा०- १।१७- सेष सहस्र सीस जग कारन, जो अवतेउ भूमि भय टारन।।

नामों से सिद्ध हो जाता है कि लक्ष्मण भगवान राम के लीला परिकर के अभिन्न अंश हैं और अंशी का अंश में एक रहना अंश की स्वाभाविकता है। विनयपत्रिका - में भी कविवर तुलसी ने भी धरनिधर, शेष आदि पर्याय नामों द्वारा भी श्री लक्ष्मण की वन्दना करते हुये कहा है कि हे लक्ष्मण आप भक्तों को सुख देने वाले पृथ्वी का भार हरण करने वाले तथा जानकी नाथ के गुणों का गायन करने वाले धनुर्धर चातक सदृश राम की भक्ति में अनुराग रखने वाले सीता सुमित्रा के दुलारे मैं आपकी स्तुति करता हूं--

धरन धरन हरि, भंजन भुवन भार, अवतार साहसी सहस फन, के।

++++++++++--

सेवक सुखदायक सबल सब लायक गायक जानकी नाथ गुन गन के।

भावते भरत के, सुमित्रा सीता के दुलारे, चातक चतुर राम स्याम घन के।[1]

श्रीराम की लीला के साथ युक्त होने के कारण आप परिवर्तन शील[2] होते हुये भी अपरिवर्तन शील हैं।[3]

अब हम रामचरित मानस में वर्णित श्री लक्ष्मण की चर्चा प्रस्तुत करेंगे। श्रीरामचरित मानस के भक्त पात्रों में श्री लक्ष्मण का स्थान सर्वोपरि है।

१- लक्ष्मण स्तुति- ३७, पृ० ६८

२- रा०मा०७।८१- लोक लोक प्रति भिन्न विधाता।

(परिवर्तनशील) भिन्न विष्णु सिव मनु दिसित्राता।

नर गंधर्व भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला।

अवधपुरी प्रति भुवन निहारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी।

दसरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता।

प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखेउ बाल बिनोद उदारा।

भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति विचित्र हरि जान।

अगनित भुवन फिरेउं प्रभु राम न देखे आन।।

३- रा०मा०(१।५४-५५)

अपरिवर्तन-शील- देखे सिव विधि विष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका।

~~पूजहिं~~ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। विविध वेष देखे सब देवा।

[illegible]

है । आप शेष के अवतार[१] होते हुए आजीवन भगवान राम का सान्निध्य में रहकर मन वचन कर्म से प्रभु की सेवा में अपना सौभाग्य समझा और सांसारिक सुख वैभव की उपेक्षा कर भगवान की कीर्ति में उज्ज्वल पताका सदृश यश प्रकाशित किया ।[२]

आपने बचपन में ही प्रभु राम के परम हितैषी बनकर उनके श्री चरणों में श्रद्धा अनुरक्त कर ली थी ।[३] राम के वन गमन का समाचार श्रवण करते ही लक्ष्मण की प्रगाढ़ भक्ति का ज्वलंत उदाहरण स्पष्ट दीखता है -- कि उनका शरीर पुलकित हो रहा था, नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी एवम् उनका हृदय प्रेम से अधीर होकर प्रभु के चरणों में जैसे जल से निष्कासित मीन की तरह दीन हीन हो रहे थे ।[४] भगवान राम के धर्म और नीति से अनुप्राणित - माता पिता गुरु, प्रजा और सुहृद जनों की सेवा का उपदेश एवम् सुझाव[७] देने पर भी लक्ष्मण किस प्रकार भगवान राम से शरण्य एवं अनन्यता पूर्ण भाव भक्ति से निवेदन करते हैं- यह दृश्य अवलोकनीय है:—

-----पिछले पृष्ठ की शेष पादटिप्पणी देखें-

अवलोके रघुपति बहुतेरे । सीता सहित न भेष घनेरे ।।
सोइ रघुवर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता ।।

१- रा०मा०- १।१७।७, २।१२६-११-१२

२- रा०मा०- १।१७।६

३- रा०मा०- १।१९८।३

४- रा०मा०- २।७०।१-३

५- रा०मा०- २।७०।८-, २।७१।७(पू०)

नर बर धीर धरम धुर धारी ।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ।
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला ।
मंदर मेरु कि लेहिं मराला ।
गुरु पितु मातु न जानउं काहू ।
कहउं सुभाउ नाथ पति आहू ।
जहं लगि जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी ।
दीन बन्धु उर अन्तर जामी ।।
धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाहीं ।।
मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपा सिन्धु परिहरिअ कि सोई ।।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में श्री लक्ष्मण द्वारा भगवान राम के प्रति शरणप्रपन्नता, आत्मनिवेदन एवम् आत्म समर्पण का भाव विनयावनत किया गया है ।

वन मार्ग में श्री लक्ष्मण ने अपने आराध्य राम और आराध्या भगवती सीता के पग चिन्हों से हटकर दायीं ओर चरण अग्रसर करते हुए भक्ति भाव के मर्यादा की रक्षा करते हुए दिखाई देते हैं ।[2] अरण्य मार्ग में आप कहाँ भगवान के लिए कन्द मूल फल लाते हैं।[3]

१- रा०मा०- २।७२।२-८

२- रा०मा०- २।१२३।६

३- रा०मा०- २।१२३ (पू०)

कहीं प्रभु के शयन करते समय चरण चापन करते हैं[1] तो कहीं पहरा के कार्य में संलग्न भूमिका निभाते हुये दिखाई देते हैं।[2] कहीं आप भगवान के बैठने के लिए स्वतः अपने हाथों से वृक्षों के कोमल पत्ते और सुन्दर फूल सजाकर उस पर मृगछाला बिछाते हुए सेवा का कार्य करते हुये दिखाई देते हैं।[3] जब निषाद राज ने भगवान राम को भूमि पर शयन करते हुए देखा तो वे माता कैकयी पर दोषारोपण लगाते हुये निषाद कहने लगे तब श्री लक्ष्मण ने जिन आध्यात्मिक विचारों से निषाद को सान्त्वना दी वह भक्ति साहित्य के मूल भूत सिद्धान्त है। और उनकी दृष्टि भगवान के सर्वज्ञता से पूर्ण परिचित हुई जान पड़ती थी। इसलिए वे मन वचन और कर्म से निरत भगवान के चरणों में प्रेम को ही परमार्थ समझते थे। उन्होंने निषाद राज को भी मोह का परित्याग करने का उपाय-श्री सीताराम के चरण कमलों में प्रेम होने को ही बताया।[4]

इसके अनन्तर आप भगवान से भक्ति तत्व विषयक प्रश्न करते है ताकि भगवान के चरणों में रति भाव जागृत हो सके और भगवान राम की चरण रज की सेवा से कृतार्थ हो सकें। तथा भक्तों के हृदय में अनुशासन भाव के संस्कार दृढ़ बन सके।[5]

१- रा०मा०- २।८९।(उ०)

२- रा०मा०- २।९०।१-२

३- रा०मा०- ३।११।३४

४- रा०मा०- २।९१, २।९४-९

५- रा०मा०- ३।१४।७-८, ३।१४

अन्य प्रसंगों में लक्ष्मण की भाव वृत्ति दयालुता, करुणा, उग्रता एवम् चपलता के भी दर्शन से व्यक्त जानपड़ती है- उदाहरणस्वरूप जब रावण द्वारा प्रेषित शुक और निशाचर दूतों को सुग्रीव के आदेश से सभी बन्दर अंग भंग करने में तत्पर हुए तो लक्ष्मण जी दयावश उन्हें बन्दरों से मुक्त करा देते हैं।[१]

मानस में उग्रता एवम् चपलता का स्वभाव श्री लक्ष्मण जी का व्यक्तिगत कारणों पर नहीं दिखाई देता बल्कि जहाँ जहाँ भगवान की प्रभुता, प्रतिष्ठा, विनय एवम् भक्ति में किसी के द्वारा कमी की गयी तभी इष्ट निष्ठा के कारण उग्रता एवम् रोष प्रगट हुआ है चाहे वनक परशुराम, दशरथ, भरत, शूर्पनखा, सुग्रीव, समुद्र आदि के प्रसंगों। इसी लिए उनकी उग्रता एवम् चपलता पूज्य बन गयी। तत्पत: मानस कार श्री भरत के मुख से लक्ष्मणको बड़भागी कहलवा देते हैं कि लक्ष्मण का भगवान के चरणकमलों में दिव्य अनुराग है।[२] इसीलिये मानसकार कृपा सिन्धु सौमित्र गुनाकर[३] अनुकूलता की कामना करते हैं।

सभी दृष्टियों से श्री लक्ष्मण तुलसी के भक्त पात्रों में अद्वितीय है। क्योंकि इनके प्रेम से ध्यान मात्र से सुख, सम्पत्ति, कान्ति विजय और सद्गुण अनायास ही सुलभ हो जाते हैं।[४]

१- रा०मा०- ५।५२।७

२- रा०मा०- २।१८२।७ , ७।१।३

३- रा०मा०- १।१७।८

४- दोहावली - २१०, पृष्ठ ७३

२५- श्री शत्रुघ्न:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस में ही इनकी चर्चा का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। यह सुमित्रा माता के पुत्र के रूप में जाने जाते हैं एवम् लक्ष्मण के लघु भ्राता एवम् भरत जी के अनुचर प्रेमी भाई के रूप में विख्यात हैं। दोहावली में श्री भरत जी शोभा और शील की साकार प्रतिमूर्ति हैं। इनके नाम का भजन और स्मरण करने से ही अभीष्ट फलों की प्राप्ति होना निर्दिष्ट किया गया है।[१] गीतावली में चारों भाइयों के नामकरण में चारों पुरुषार्थों के प्रदाता के रूप में सिद्ध किया गया है।[२] विनयपत्रिका में महाकवि तुलसी वन्दना करते हुए कहते हैं कि आप अमंगल कारी रिपुओं के लिए केसरी के तुल्य शत्रुघ्न स्वरूप हैं।[३] मानस में जिनके स्मरण मात्र से अमंगलकारी शत्रुओं का नाश होना विवेचित किया गया है। जिनकी महिमा वेदों द्वारा प्रमाणित की गयी है।[४] वह भरत जी रामभक्ति से प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष रूप से जुड़े हुये हैं साथ ही भगवान के लीला परिकर के अंशों से उद्भूत विशिष्ट अंश हैं।[५] श्री शत्रुघ्न जी राम के जन्म जात भक्त हैं। भरत के साथ ननिहाल से लौटने पर माता कैकयी की कुटिलता पर इनके सारे अंग क्रोध से भभक उठे थे लेकिन उनका वश न चल सका।[६] लेकिन वाहयन्त्रा वैरी मन्थरा की कूबड़ में लात मार कर झोंटी खींचकर लौटघसीटा।[७] इससे स्पष्ट होता है कि

१- दोहावली- २११

२- गीतावली- नामकरण(६)पद का २५ वां

३- विनयपत्रिका- (४०) शत्रुघ्न स्तुति

४- रामचरितमानस: १।

५- रा०मा०-

६- रा०मा०-२।१६३।१

७- रा०मा०-२।१६३।२-७

इनकी प्रीति भगवान राम के चरणों में अनुरक्त थी । राम को मनाने के लिये चित्रकूट जाते समय आप और भाई भरत बेहा कठोर तपश्चर्या का व्रत पालन मार्ग में करते चले जा रहे थे ।[1] आपका राम के परम भक्त भरत जी के चरणों में अनन्य प्रेम एवं दिव्य अनुराग था। [2]आप श्री भरत जी के साथ उपवन में जाकर हनुमान जी से राम के गुणों की कथाएं पूंछते थे और उन्हें सुन-सुन कर पुन: कहने के लिए प्रार्थित एवम् वाध्य होकर आनन्द मग्न हो जाते थे ।[3]

इन सबका ऊपय इनका भगवान के चरणों में अनुराग होना सिद्ध करता है। जो भक्त का लक्षण है।

राम बन्धु सुदन सुभग सुषमा सील निकेत ।
सेवत सुमिरत सुलभ सुख सकल सुमंगल देत ॥[4]

—

१- रा०मा०- २।२२१ ।६

२- रा०मा०- १।१९८।४

३- रा०मा०- ७।२६।४-६

४- दोहावली- २१०

२६- निषाद राज गुह:-

राम चरित मानस में निषाद राज गुह की चर्चा भगवान के भक्ति भाव से अनुप्राणित दीखती है। आप भगवान राम के सखा एवम् परम भक्त है। भगवान राम के अरण्य यात्रा के समय जानकी सीता लक्ष्मण एवम् सचिव सहित श्रृंगवेरपुर में जो भगवान का आदर सत्कार किया वह अनुपम है। फल फूल कन्द को लाकर अत्यन्त पुलकित अवस्था में भगवान के दर्शन का लाभ उठाकर चिर सहज स्नेह से भगवान का स्तवन किया वह गुह की भक्ति को उजागर कर रहा है। भगवान के कुशल क्षेम पूंछने पर[1] आप भगवान के चरण कमलों के अनुराग भाव को ही अपनी कुशलता बतलाते हैं।[2] तथा अपने नगर को कृतार्थ करने हेतु भगवान से चलने की याचना करते हैं तब भगवान १४ वर्ष के वनवास की प्रतिज्ञा में अपनी विवशता बताकर संबोधित करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में आप दुख का अनुभव करने लगते हैं।[3] आप भगवान के शयन के लिए अशोक के वृक्ष के नीचे कोमल पत्ते बिछाकर शय्या का प्रबन्ध करते हुये दिखाई देते हैं।[4] भगवान राम और सीता को भूमि पर लेटते देखकर अत्यधिक स्नेह के कारण विषाद उत्पन्न होता है, शरीर पुलकित होता जाता है तथा नेत्रों से प्रेम के

१- रा०मा०- २।८८।१-४

२- रा०मा०- २।८८।५-६ - नाथ कुसल पद पंकज देखें।
भयउं भाग भाजन जन लेखें।

३- रा०मा०- २।८८।७, २।८८

४- रा०मा०- २।८६।४, २।८६।७

अश्रुपात प्रवाहित होने लगते हैं ।[1] वे विधाता के कर्म की गति एवम् कैकेयी की कुटिलता के प्रति विद्रोही स्वर में भभक उठते हैं ।[2] सुप्त रूप भगवान की सुरक्षा के लिए जगह जगह पहरेदारों की नियुक्ति करके स्वयं धनुष बाण एवम् तरकस को कसकर सुरक्षा स्वरूप अनुज श्री लक्ष्मण के पास बैठ जाते हैं।[3] और उनसे भगवान का गुण संवाद करते करते रात्रि को बिता देते हैं ।[4] आप भगवान राम की निःस्वार्थ सेवा के निमित्त गंगापार कराकर प्रभु के साथ चलते हुये बहुत ही आह्लादित एवम् प्रसन्न होते हैं ।[5] भगवान राम ने इसकी अनन्य भक्ति को देखकर प्रयागराज के माहात्म्य को अपने श्रीमुख से ही मुखरित किया था ।[6] यमुना पार करके भगवान ने इन्हें तापस मिलन के प्रसंग के बाद स्नेह वश विदा करने का आग्रह किया ।[7] जब निषाद राज गुह भगवान राम सीता तथा लक्ष्मण सहित यमुना पार तक पहुंचा कर लौटते हैं तो मार्ग में व्याकुल मंत्री सुमन्त्र की दशा देखकर बहुत ही अधीर हो जाते हैं ।[8] और उन्हें धैर्यता एवम् सान्त्वना देकर जबरदस्ती रथारूढ़ करा देते हैं ।[9] और अपने

१- रा०मा०- २।९०।५-६(पू०)

२- रा०मा०- २।९१।७,२।९१

३-रा०मा०- २।९०।४

४- रा०मा०-२।९४।२(पू०)।

५- रा०मा०-२।१०४।२-७

६-रा०मा० -२।१०६।३

७- रा०मा०- २।१११

८- रा०मा०- २।१४२।५-६

९- रा०मा०- २।१४२।३,१-२

ऊ कुशल सैनिकों के साथ अयोध्या तक मंत्री सुमन्त्र को पहुंचाने का व्यवस्था करते हुये दीखते हैं।[१]

एक प्रसंग में निषाद राज की भक्ति भाव की श्रेष्ठता सिद्ध होती है जब श्रीभरत अपने परिजन एवम् पुरवासियों के साथ भगवान राम को वापिस लिवाने हेतु मार्ग में जाते हैं तो निषाद राज संदेह वश अपने समस्त सैनिकों को लेकर श्रीभरत पर चढ़ाई करने पर बाध्य हो जाता है। संदेह निराधार होने के कारण भरत के शोक और स्नेह को देखकर वे भगवान के स्नेह से सराबोर हो जाते हैं।[२] और आप सम्पूर्ण रात्रि में सभी नावों को इकट्ठा कर प्रातःकाल सभी पुरजन वासियों को यमुना पार करा देते हुए दिखाई देते हैं।[३] भरत सरीखे भक्त शिरोमणि भी इनका अतुलनीय राम भक्ति के कारण इनके सामने रथ पर नहीं चढ़ते।[४] और इनको जातिगत भेद को भूलकर पुलकित भाव से हृदय में लगा लेते हैं।[५] महर्षि वशिष्ठ भी भूल में बिसरे निषाद राज के स्नेह के सदृश बरबस हृदय से लगा लेते हैं।

१- रा०मा०- २।१४३

२- रा०मा०- २।१९५।३-५

३- रा०मा०- २।२२०।३

४- रा०मा०- २।१९३।७

५- रा०मा०- २।१९३।, २।१९२।३-४

२७- भक्त केवट:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत राम चरित मानस, कवितावली, गीतावली एवं दोहावली में केवट की चर्चा का संक्षिप्तांश वर्णन किया है लेकिन तुलसी ने मानस में केवल दो ही पात्रों को भगवान की कृपा द्वारा अनुगृहीत दिखाया है जिसे भगवान ने स्वयं ही भक्ति का वरदान प्रदत्त किया वह है प्रथम शिलाकृति में ऋषि नारि अहिल्या और द्वितीय नौका चालक भक्त केवट। जिस भगवान के मर्म को विधि हरि शम्भु भी नहीं जानते[1] लेकिन उसी मर्म को चरणोदक पान करने वाला केवट भगवान की महिमा से पूर्ण परिचित है। श्रृंगवेरपुर से गंगा के किनारे[2] आने पर भगवान राम लक्ष्मण सीता नाव से पार जाने के लिए केवट से नाव मांगते हैं। पर केवट भगवान के नाव मांगने पर नाव लाने को तैयार नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि उनकी चरण रज मनुष्य बना देने वाली कोई जड़ी है। जिनकी चरणरज के स्पर्श से पत्थर की शिला सुन्दर स्त्री बन गयी थी। अत: पत्थर की तुलना में काठ तो हल्का होता है। उसका अंतिम निश्चय है कि वह अपनी नाव पर उनकी चरणरज कदापि पड़ने नहीं दे सकता अन्यथा भगवान के चरणरज पड़ने से कहीं उसकी नौका भी मुनि की स्त्री बनकर उड़ गयी तो उसका बड़ा अहित होगा। उसके परिवार की जीविका भी चली जायेगी। इस भाव से भगवान से कहता है कि पहले मुझे चरण कमलों को पखारने की अनुमति प्रदान करें तत्पश्चात आपको गंगा पार उतारने ले चलूंगा।

१- रा०मा०- २।१२७।१-२

२- रा०मा०- २।१००।२

यह भक्त भगवान से मात्र इतना ही चाहता है इसके बदले में उसे किसी भी अभीष्ट या उतराई की आकांक्षा नहीं। अतः उक्त कथन की पुष्टि के लिए भगवान का ही नहीं बल्कि भगवान राम के पिता की सौगन्ध प्रमाणित करता है भले ही लक्ष्मण उसे तीर मारकर धराशायी कर दें लेकिन उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा पद प्रक्षालन के भाव को अवश्य संपूरित करेगी। केवट के प्रेम लपेटे अटपटे वचनों को सुनकर भगवान राम ने प्रसन्न हो मुस्कराकर उसे पांव पखारने की अनुमति प्रदान कर दी।[१] क्योंकि भगवान भाव को ही ग्रहण करते हैं उन्हें विधा युक्त विद्वान अभीष्ट नहीं जितना सरल हृदय एवम् भोला भाला निश्छल स्वभाव वाला भक्त प्यारा है। भगवान की आज्ञा को शिरोधार्य कर केवट कठौते में जल लाकर प्रेमानन्द की समाधि में मग्न होकर भगवान के चरणों को पखारता है वो दृश्य एवम् भाव दशा अवर्णनीय है। जिसने पहले उन चरण कमलों को धोकर परिवार सहित चरणोदक पीकर तथा उस चरणोदक से पितरों को भवसागर से पार कराकर प्रेमानन्द दशा में भगवान को गंगापार ले जाता है।[२] जिस बड़भागी की भाव भक्ति को देखकर आकाश से देवता पुष्पवृष्टि द्वारा सराहना करते हैं।

गंगापार करने के पश्चात भगवान राम सीता की मणि मुद्रिका को नाव उतराई हेतु केवट को देते हैं वह प्रेम विह्वल अवस्था में भगवान के चरण कमलों को पकड़कर कहता है कि हे भगवन्! मुझे आज भरपूर मजदूरी

१- रा०मा०- २।१००।२, २।१०१।२

२- रा०मा०- २।१०१।४, २।१०१

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।

पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।

प्राप्त हो गयी है मेरे सारे दोष, दुख दारिद्रय सदा के लिए नष्ट हो गये है। यदि आपको इस अकिंचन पर कृपा करना ही है तो लौटते समय आपका प्रसाद शिरोधार्य कर लूंगा।[1] भगवान राम लक्ष्मण एवं सीता के बार बार कहे जाने पर वह विह्वल हो जाता है। अन्त में भगवान राम ने स्वयं अपनी निर्मल भक्ति का वरदान देकर विदा किया।[2]

इससे स्पष्ट होता है कि केवट भगवान राम की भक्ति का परम भक्त है।

२८- <u>जटायु:-</u>

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत राम चरित मानस प्रबन्ध काव्य में गृधराज जटायु की कथा का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इनका प्रसंग अरण्य काण्ड के अन्तर्गत रावण द्वारा अपहृता भगवती सीता के प्रसंग में चरितार्थ होता है। जब जटायु भगवती सीता को छुड़ाने में रावण को अपनी चोंच के प्रहार से बेहोश कर देता है। तत्पश्चात रावण अपनी तलवार के प्रहार से जटायु के पंख काट कर धराशायी कर देता है। उस मरणासन्न अवस्था में सीता के चरणों में ध्यान रमाये भगवान राम को जटायु मार्ग में पड़ा मिलता है।[3] भगवान राम उसे उठाकर कर सरोज के स्पर्श से उसकी सर्व प्रथम पीड़ा का हरण करते हैं।[4] तत्पश्चात जटायु

१- रा०मा०- २।१०१।८- फिरती बार मोहिं जो देबा
सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा ।।

२- रा०मा०- २।१०२।२, २।१०२

३- रा०मा०- ३।३०।१८

४- रा०मा०- ३।३०

दुष्ट रावण की इस निन्दनीय कदम- सीता हरण एवम् सीता के कारुणिक विलाप के प्रसंग में भगवान राम को बताता है।[1] वह भगवान के दर्शन एवम् वृतान्त बताने के लिए ही अपने मन एवम् प्राणों को केन्द्रित किये था।[2] जब भगवान द्वारा उसके प्राण को शरीर में रखने का आग्रह किया गया तब जटायु मुस्कराता हुआ भगवान से असार संसार की नश्वरता के प्रति वैराग्य मय वाणी से प्रतिउत्तर देता है और आत्म निवेदन द्वारा भगवच्चरणों की उत्कट अभिलाषा एवम् भगवत्प्रेम को घोषित करता है।[3] इससे स्पष्ट होता है जटायु की मन, वाणी एवम् कर्मादि से सभी क्रियायें भगवच्चरणों में एकाग्र हुयी दीखती है। इसीलिए भगवान राम सजल नेत्रों द्वारा अपने श्री मुख से कहते हैं कि --

जल भरि नयन कहहिं रघुराई ।

तात कर्म निजतें गति पाई ।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं ।

तिन्ह कहुं जग दुर्लभ कछु नाहीं ।

तनु तजि तात जाहु मम धामा । देऊं काह तुम्ह पूरन कामा।।[4]

१- रा०मा०- ३।२१।२-३

२- रा०मा० - २।३।४

३- रा०मा०- ३।३१।५-७ -- राम कहा तनु राखहु ताता ।

मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता ।।

जाकर नाम मरत मुख आवा ।

अधमउ मुकुत होई श्रुति गावा ।।

सो मम लोचन गोचर आगे ।

राखौं देह नाथ केहि खांगे ।।

४- रा०मा०- ३।३१।८-१०

वास्तव में गृद्धराज जटायु भगवान राम का परमभक्त एवम् प्रशंसनीय है, क्योंकि जिसके मरण की सम्पूर्ण क्रियाएं भगवान के द्वारा सम्पूरित हुयी हो।[1] भला ऐसा कौन सा भक्त पात्र है जिसको भगवान ने अपने अंक में लेकर, अपने अश्रुधाराओं से स्नान एवम् मुख कमल का दर्शन कराकर अपना वचनामृत वाणी से कृतकृत्य किया हो जिसने भगवान के हाथों में ही क्षणभंगुर शरीर को ही त्यागकर उनके धाम में पहुंचा हो। जिसकी अन्त्येष्टि क्रिया त्रिलोकेश्वर द्वारा सम्पन्न की गयी हो।[2]

इसीलिए भक्त तुलसी दोहावली में कहते हैं कि--

मुए मरत मरिहैं सकल घरी पहर के बीच।
लहू न काहुं जाग लौं गीधराज की मीच ।।[3]

निर्विवाद रूप से हम कह सकते हैं कि भक्त जटायु ने अपने पवित्र कर्मों के बल पर भगवत् कृपा के संरक्षण से देह त्याग करके, सजल नेत्रों द्वारा भगवान की स्तुति करके[4] अखण्ड भक्ति का वरदान प्राप्तकर हरिधाम को प्रस्थान किया। यह योगि दुर्लभ गति भक्ति के प्रभाव से ही अधम मांसाहारी गीध को सम्पन्न करा सकी[5] जिसने परोपकार को ही अपने धर्म की अन्तिम साधना समझी थी।

अतः जटायु पूर्णतः भक्त श्रेणी में अपनी चर्या का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत करता है।

१- रा०मा० दोहावली- २२२,२२३,२२५

२- रा०मा०- ३।३२

३- दोहावली- २२४

४- रा०मा०- ३।३२।१-२

५- रा०मा०- ३।३३।२

२८- श्रीबालि:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस में इन्द्र के अंश से बालि का जन्म होना निश्चित किया गया है ।[1] यह वानरराज विश्व विश्रुत योद्धा और सुग्रीव का अग्रज भ्राता तथा भगवान राम का परमभक्त उसकी जन्म जात क्रियाओं से मालूम होता है । जब सुग्रीव और बालि के द्वन्द्व युद्ध में भगवान राम ने बाण मारकर उसे आहत कर दिया[2] और उसके समक्ष तपस्वी वेश में शरचाप धारण किए हुए (राम) उपस्थित होते हैं तब वह भगवान राम के अनुपम रूप लावण्य का दर्शन कर तथा अपने मन और चित्त की क्रियाओं को भी चरणों में एकाग्र करके अपने सफल जन्म की सराहना करता हुआ कहता है कि --

श्याम गात सिर जटा बनाएं ।
अरुन नयन सर चाप चढ़ाएं ।
पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा ।
सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा ।[3]

उक्त चौपाई के उत्तरार्द्ध में 'प्रभु चीन्हा' से स्पष्ट हो जाता है कि बालि प्रभु के अपौरुषेय स्वरूप से निश्चित परिचित हो गया था । जिस समय भगवान राम सुग्रीव को अपना अंश भूत बल देकर

१- रा०मा०- किष्किन्धाकाण्ड-

इन्द्र अंश ते बालिभा, महावीर बलधाम ।
दिनकर ते सुत दूसर भयो तेहि सुग्रीवहि नाम ।।

२- रा०मा०- ४।८(उ०)- ४।६।१(पू)

३- रा०मा०- ४।६।२-३

युद्ध के लिए अग्रसर करते हैं,[1] उसी समय बालि पत्नी तारा ने राम की अतुलनीय शक्ति का स्मरण कराते हुये युद्ध करने से रोका था ।[2] लेकिन बालि ने अपनी पत्नी तारा से उनकी समदर्शिता पर बल देते हुये उनके हाथों मरने पर अपने को सौभाग्यशाली एवम् सनाथ होना सम्बोधित किया था ।[3] जब भगवान राम ने बालि को बाण मारकर हताहत कर अचेत कर दिया तब भी उसकी स्मृति भगवान के श्रीचरणों में एक निष्ठ भाव से अनुरक्त जान पड़ती थी ।[4] सचेत अवस्था में आकर वह भगवान से दो प्रश्नों का उत्तर पूछता है प्रथम आपका अवतार धर्म की स्थापना हेतु होता है लेकिन आपने मुझे व्याध की तरह क्यों मारा?[4] द्वितीय मेरे द्वारा कौन सा अपराध आपके प्रति बन पड़ा जिसके कारण आपने मेरा जीवन लीला समाप्त कर दी ।[4] बालि ने भगवान से सन्तुष्टिजनक उत्तर प्राप्त कर अपनी शरणागत प्रपन्नता एवम् दीनहीनता निवेदित करने लगा।[5] उसकी कारुणिक याचना को सुनकर करुणासागर उसे अचल जीवन देने के लिये तत्पर हो जाते हैं और अपने कर कमलों का उसके सिर पर स्पर्श

१- रा०मा०- ४।७।२६

२- रा०मा०- ४।७।२६-२८

३- रा०मा०- ४।७

४- रा०मा०- ४।८।४

५- रा०मा०- ४।८।५-६

६- रा०मा०- ४।८।७-१०

करते हुए उसके शरीर को प्राणवान करने के लिए सचेष्ट हो जाते हैं।[1] तब बालि भगवान राम से प्रसन्न भाव में प्रार्थना करता है कि करोड़ों मुनि अहिर्निश आपका ध्यान एवं नाम जप करते रहते हैं और जीवन के उत्तरार्द्ध अवस्था में आपका राम नाम स्मृति में नहीं रह पाता। जिस राम नाम के आश्रय से भगवान शिव अविनाशिनी मुक्ति काशी में जीवों को प्रदान किया करते हैं वही साक्षात् भगवान मेरे आँखों के सम्मुख खड़े दर्शन दे रहे हैं। इससे अच्छा जीवन का सफल अवसर कहा हो सकता है।[2] ऐसी स्थिति में इस नश्वर शरीर की कामना करना मानो कल्पवृक्ष को त्यागकर बबूल के बाग को तैयार करना है।[3] इसलिए बालि भगवान से प्रार्थना करता है कि --

जेहिं जोनि जन्मौं कर्मबश तहँ राम पद अनुरागऊँ।

भक्त बालि ने अपना जीवन कृतकृत्य करके अपने पुत्र का जीवन भी कृतार्थ कर दिया।[4] क्योंकि अपने पुत्र अंगद को भगवान के श्रीचरणों का आश्रय पकड़ाकर अपने पितृ धर्म की गरिमा को चरितार्थ किया। तदन्तर भगवान के श्री चरणों में अखण्ड प्रेम का संयोजन कर बालि ने अपना शरीर त्याग दिया।[5]

१- रा०मा०- ४।९- सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहुँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।।

२- रा०मा०- ४।१०।१-२ (पू०)

३- रा०मा०- ४।१०।५

४- रा०मा०- ४।१०।६

५- रा०मा०- ४।१०।११+१२-१३

इससे स्पष्ट होता है कि भक्त बालि की जीवन चर्या से लेकर मृत्यु के अन्तिम छोर तक भगवान का स्नेही, प्रिय एवम् दास स्वरूप परिलक्षित होती है। जिसकी अन्तिमा मृत्यु के समय सांसारिक, पुत्र परिवार, स्त्री, ऐश्वर्य आदि से हट कर भगवच्चरण मुखी हो चुकी थी।[1]

30- सुग्रीव:-

भगवान श्रीहरि ने भगवान राम के अंशी सहित अवतार की आकाश वाणी से अश्रुत कर आदि ब्रह्मा ने सभी देवताओं से भगवान की सेवा एवं सहायतार्थ जन्म लेने हेतु आदेश देकर उसी शृंखला में सूर्यदेवता ने भी सुग्रीव वानर के रूप में अवतार ग्रहण किया।[2] यह विश्व विजेता महायोद्धा बालि का अनुज भ्राता तथा भगवान राम के अभिन्न सखा एवम् परम भक्त के रूप में तुलसी ने अपने कृतित्व में उभारा है। रामचरित मानस में अपने अग्रज भ्राता बालि से प्रताड़ित होकर आप ऋष्यमूक पर्वत पर निवास करने लगे थे। वहाँ पर इनके मंत्री हनुमान ने भगवान राम और लक्ष्मण के दर्शन से सुलभ कराया था।[3] भगवान राम और लक्ष्मण के दर्शन पाकर अपने अन्त को सार्थकता एवम् चरणकमलों में नत मस्तक होकर अपने

1- रा०मा०- ४।१० (पू०)

2- इन्द्र अंश से बालि भा, महावीर बलधाम।
दिनकर से सुत दूसर भयौ जौहि सुग्रीवहिं नाम।।
रा०मा०-किष्किन्धाकाण्ड- दोहा

3- रा०मा०- ४।१।१-२

जीवन को धन्य एवम् सौभाग्यशाली माना था।[1] वहीं पर मंत्री हनुमान जी के अथक प्रयास से अग्नि को साक्षी मानकर मैत्री सम्बन्धों की दृढ़ता प्रतिपादित हुई थी ।[2] और माता जानकी की खोज के लिए आप दृढ़ संकल्पित हुए थे । इन्होंने ही माता जानकी द्वारा आकाश मार्ग से गिराए हुए वस्त्रों को भगवान राम और लक्ष्मण को दिखाया था । भगवान राम इनके वन में रहने का कारण भी पूछते हैं[3] इनके द्वारा सविस्तार से बालि भय का कारण बताए जाने पर भगवान राम की दोनों विशाल भुजाएं फड़क उठती हैं और एक ही बाण से बालि को मारने का संकल्प भी ले लेते हैं ।[4] और सुग्रीव को चिन्ता से मुक्ति दिलाते हुये यह घोषणा करते हैं कि --

सखा सोच त्यागहु बल मोरें ।
सब बिधि घटब काज मैं तोरे ।[5]

जब सुग्रीव द्वारा दुन्दुभि राक्षस की हड्डियां एवं ताल वृक्षों को दिखलाये जाने पर भगवान राम अनायास ही धराशायी कर देते हैं, उस अपौरुषेय बल को देखकर उनका भगवान पर अखण्ड विश्वास हो जाता है[6] और अखण्ड विश्वास हो जाने पर पारमार्थिक

१- रा०मा०- ४।४।६-७ (पू०)

२- रा०मा०- ४।४

३- रा०मा०- ४।५।२, ४।५

४- रा०मा०- ४।६।१, ४।६

५- रा०मा०- ४।७।१०

६- रा०मा०- ४।७।१२+१४

ज्ञान की स्मृति अक्षुण्ण हो गया और भगवान के चरणों में अनुराग की प्रबल वैराग्य मयी भावना से संसार की वस्तुएं उन्हें नश्वर दीखने लगीं तभी वह भगवान राम से कहने लगते हैं कि अब मैं सुख सम्पत्ति परिवार और बड़ाई को छोड़कर आपकी ही सेवा करूंगा ये सभी आपकी भक्ति के बाधक तत्व हैं। संसार में जहां भी दृष्टिगत होता है वह सब मायाकृत एवम् अज्ञान कल्पित है वास्तविक सत्ता का सत्य ही आपका शाश्वत स्वरूप है। आज मैं अग्रज बालि को ही अपना परम हितकारक भ्राता समझ रहा हूं जिसके प्रसाद से विषाद को शमन करने वाले भगवान का दर्शन सुलभ हो सका। इसलिये हे प्रभो। आप मुझ पर ऐसी कृपा करें जिससे मैं संसार को विस्मृत कर अहर्निश आपका ही भजन कर सकूं।[1]
इस प्रसंग से निश्चित होता है कि सुग्रीव भगवान राम के भक्त श्रेणी में गिने जा सकते है। कहां यह सुग्रीव दिवारात्र सुख, सम्पत्ति, परिवार बड़ाई की प्राप्ति के लिए तत्पर रहता था लेकिन अब सत्संगति के प्रभाव की धारणा से मन उपरत होकर भगवच्चरणों में एक निष्ठ होकर उन्हीं को बाधक तत्व समझने लगता है। पर भगवान भक्त के लिए प्रदत्त वचनों को सत्य करते हैं।[2] आपने बालि का वध करके सुग्रीव को राज्यसिंहासन पर आरूढ़ किया। लेकिन प्रभु की माया के विस्तार से राज्य वैभव एवम् सुख विलासिता के कारण सुग्रीव का मन सांसारिकता में विचरण करने लगा और भगवान राम की मैत्री में भगवती सीता की खोज के प्रस्ताव को विस्मृत कर दिया।[3] लेकिन भगवान राम ने क्रोध

१- रा०मा०- ४।७।१५-२१

२- रा०मा०- ४।७।२१-२३

३- रा०मा० ४।१८।४

प्रदर्शन की लीला करने के फलस्वरूप सुग्रीव को भय दिखाने के लिये अपने अनुज लक्ष्मण को राजधानी किष्किन्धापुरी में भेजा।[1] वहाँ मंत्री हनुमान ने भी मैत्री भाव की शर्त का स्मरण दिलाते हुये भगवान की प्रभुता से भयभीत कराया।[2] रौद्र स्वभाव वाले श्री लक्ष्मण[3] के क्रोध को शान्त कराने के लिए श्री सुग्रीव ने अपनी पत्नी तारा और मंत्री हनुमान को एक साथ भेजा और अन्त में विस्मृत कर्तव्य को यादकर श्री लक्ष्मण के चरणों में गिरकर क्षमायाचना की।[4] तदनन्तर भगवान राम के पास जाकर दीनता भरी कारुणिक शब्दावली द्वारा विनती करके क्षमायाचना माँगी।[5] तब भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें भरत के समान अपना प्रियस्थ भाव से अपनाया।[6]

अतिशय प्रबल देव तव माया ।
छूटइ राम करहु जौ दाया ।।
विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी ।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी।
नारि नयन सर जाहि न लागा ।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।

१-रा०मा०- ४।१८।५, ४।१८

२- रा०मा०- ४।१६।१-५

३- रा०मा०- ४।१६ (पू०)

४- रा०मा०- ४।२०।१-७

५- रा०मा०- ४।२१।१-६

६- रा०मा०- ४।२१।७

लोभ पांस जेहिं गर न बंधावा ।

सो नर तुम्ह समान रघुराया ।

यह गुन साधन तें नहिं होई ।

तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई ।।

वैसे सुग्रीव भी भगवान की शाश्वत प्रभुता से परिचित होकर वे रात दिन प्रभु के भजन का ही संकल्प ले चुके थे।[1] लेकिन भगवान की आज्ञा वश वह विषयों में प्रवृत्त हुए थे।[2] परन्तु वह स्वयं अपने को अज्ञानी सदोषायुक्त एवं विषयी तथा कामी बताते हैं।[3] जो भक्त का लक्षण होता है। उन्होंने तभी से भगवत्सेवा का लक्ष्य अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था। और सभी वानरों को बुलाकर उन्होंने मनसा, वाचा और कर्मणा से भगवती सीता जी की खोज का सदुपदेश प्रदान किया था।[4] यदि इस भगवत्सेवा के कर्तव्य मार्ग से च्युत होते हों तो सभी वानरों को मृत्युदण्ड से दण्डित किया जायेगा। इससे स्पष्ट होता है कि सुग्रीव की मनः स्थिति भगवन्मुखी हो चुकी थी तभी तो वह कहते हैं कि --

देह धरे कर यह फलु भाई ।

भजिअ राम सब काम बिहाई ।

सोई गुनग्य सोई बड़ भागी ।

जो रघुबीर चरन अनुरागी।[5]

१- रा०मा०- ४।७।१५-१७, ४।७।२१

२- रा०मा०- ४।७।२३

३- रा०मा०- ४।२१।१(छं)

४- रा०मा०- ४।२२।१-२

५- रा०मा०- ४।२२।६-७

इसी लिए भगवान राम भी अपने अनन्य भक्त वानरराज सुग्रीव से हर प्रकार का परामर्श और कार्य का संचालन करते हैं।[1] अपने भक्त सुग्रीव की गोद में सिर रखकर विश्रान्ति लेते हैं।[2] रावण वध के पश्चात भगवान राम के राज्याभिषेक के अवसर पर स्वयं भगवान राम वस्त्राभूषण पहनाकर भक्त की गरिमा में चार चाँद लगाते हुये दिखते हैं।[3] इससे स्पष्ट होता है कि भक्त सुग्रीव भी भगवान राम की भक्ति के अनुरागी दास है तथा परामर्शदाता सखा है।

३१- भक्ति के पात्र श्री हनुमान जी :-

जयति निर्भरानन्द संदोह कपि केसरी, केसरी सुवन भुवनैक भर्ता।
दिव्य भूम्यंजना मंजुलाकर- मणे भक्त-संताप चिन्ताप हर्ता।
जयति धर्मार्थ कामापवर्गद विभो ब्रह्मलोकादि वैभव विरागी।
वचन मानस कर्म सत्य व्रती जानकी नाथ- चरनानुरागी ।।[3]

मन वचन कर्म से सत्य पथ के व्रती, कपिकेसरी माँ अन्जनी के सुपुत्र भक्तों को सुख देने वाले एवं अभयदाता श्रीसीताराम के अनन्य चरणानुरागी भक्त रुद्रावतार[4] श्री हनुमान जी को कौन सा चराचर का भक्त

१- रा०मा०- ४।४३।४-७   २- रा०मा०- ६।११।५ (पू०)
३- रा०मा०- ७।१७।६   ४- विनयपत्रिका-पद-२६, पृष्ठ- ५७
५- हनुमान बाहुक- ८, पृष्ठ-११, दोहावली- १४२ :-

जेहि शरीर रति राम सों,
सोई आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेह बस,
शंकर भे हनुमान ।।

प्रेमी मनुष्य इनसे नाम और रूप से परिचित नहीं होगा।[१] इनकी सम्पूर्ण जीवन की यात्रा का भान आराध्य भगवान राम और भगवती सीता के भजन, ध्यान, स्मरण सेवा, अर्चन दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण एवम् भावकर्मों में व्यतीत हुआ। आज भी जहाँ-जहाँ राम कथा का परायण होता है आप वहाँ सूक्ष्म रूप से उपस्थित कथा का रसानन्द लेते हैं।

अब हम तुलसी साहित्य में प्रयुक्त इनकी चर्चा पर विचार करेंगे-- रामचरित मानस के बालकाण्ड के अन्तर्गत श्रीहरि द्वारा अंशो सहित नर रूप में भगवान राम के अवतीर्ण होने की आकाशवाणी[२] सुनकर ब्रह्मा ने देवताओं को पृथ्वी पर वानरों का शरीर धारण करने का एवम् उनकी सेवा करने का आदेश प्रस्तुत किया।[३] इसी अवस्था में एकादश रुद्र भगवान शंकर ने हनुमान रूप वानर में अवतरण किया।[४] इनका प्रथम दर्शन हमें मानस के किष्किन्धा काण्ड में ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव के सचिव के रूप में होता है।[५] भगवान राम से प्रथम मिलन के वार्तालाप में ही स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहनुमान का भगवान राम के कोमल चरणों के प्रति जन्मान्तर का स्वाभाविक प्रेम जुड़ा था।[६] वे भगवान को पहचानकर उनके चरणों में लिपट कर आनन्द मग्न हो जाते हैं, प्रेमातिरेक से उनका शरीर पुलकित

१- विनयपत्रिका- हनुमतस्तुति-३३, पृष्ठ- ६३

२- रा०मा०- १।१८६।१, १।१८७।२

३- रा०मा०- १।१८७

४- दोहावली- १४२,१४३

५- रा०मा०- ४।१, ४-१-२

६- रा०मा०- १।१।८, ४।१

हो जाता है और वाणी अवरुद्ध हो जाती है।[1] पुनः धैर्य धारण करके वे भगवान की संस्तुति करते हैं।[2] उससे उनकी गहरी दीनता निश्छल शरणागति एवम् प्रगाढ़ प्रेम का पता चलता है:--

एक मन्द मैं मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबन्धु भगवान ।।
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे ।
सेवक प्रभुहिं परै जनि भोरें ।
नाथ जीव तव मायाँ मोहा ।
जो निस्तरइ तुम्हेहि छोहा ।।
ता पर मैं रघुबीर दोहाई ।
जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ।
सेवक सुत पति मातु भरोसें ।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ।
अस कहि परेउ चरन अकुलाई ।
निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ।।[3]

तत्पश्चात भगवान ने श्रीहनुमान को हृदय से लगाकर अपने नेत्रों के प्रेमाश्रुओं से सिंचित कर कृतकृत्य किया और लक्ष्मण से भी द्विगुणित प्रिय होने का आश्वासन दिया ।[4]

१- रा०मा०- ४।२।५-६(पू०)
२- रा०मा०- ४।२।७ (पू०)
३- रा०मा०- ४।२, ४।३।५
४- रा०मा०- ४।३।६-७

श्री हनुमान जी भगवत्स्मरण और भजन को ही सम्पत्ति समझते थे और उनके विस्मरण होने को विपत्ति मानते थे।[1] और सम्पूर्ण चराचर जगत के जीवों को भगवान का दास ही मानते थे। लंका काण्ड में चन्द्रमा के कालापन को देखते देखते सभी लोग अपनी बुद्धि से अनुमान लगाकर उसे काला इत्यादि कहते लेकिन श्री हनुमान जी भगवान ~~के भ~~ का दास कहकर इति श्री करते।[2] भक्त हनुमान जी भगवान की भक्त वत्सलता से पूर्ण परिचित थे - इसी लिए वह विभीषण जी से कहते हैं कि--

कहहु कवन मैं परम कुलीना ।
कपि चन्चल सब ही विधि हीना ।
प्रात लेइ जो नाम हमारा ।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ।
अस मैं अधम सखा सुनु मोहु पर रघुवीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे विलोचन नीर ।।[3]

यही कारण है कि उनके हृदयागार में धनुष बाण धारण किये हुये भगवान राम निरन्तर निवास करते हैं।[3] यथार्थ में कपीश्वर हनुमान कवीश्वर वाल्मीकि की तरह सीता राम के गुण समूह रूपी पवित्र वन में विहार करने वाले विशुद्ध विज्ञान सम्पन्न हैं।[4] श्री हनुमान

१- रा०मा०- ५।३२।२

२- रा०मा०- ६।१२।४

३- रा०मा०- ५।७।७, ५।७

४- रा०मा०- १।१७(ख)

५- रा०मा०- १।श्लोक- ४

का अवतार भगवान राम के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए ही हुआ था ।[१] अतः उन्हें राम के कार्यों के सम्पादन की चिन्ता एवम् तत्परता बनी रहती थी । राम के कार्य किये बिना उन्हें विश्राम कहां था ।[२] जब राम की कृपा से राज्य की प्राप्ति हो जाने पर सुग्रीव राम के सीतान्वेषण सम्बन्धी कार्य को विस्मृत कर देते हैं तो हनुमान जी ही उन्हें समझाते हैं।[३] और उनकी अनुमति से दूतों को बुलाकर वानरों को लाने के लिये यत्र तत्र भेजते हैं ।[४] भगवान के कार्यसाधन में उन्हें अपने मान अपमान का जरा भी ध्यान नहीं रहता । जब अशोक वाटिका विध्वंश एवं अक्षयकुमार आदि राक्षसों के वध के दोष में उन्हें नागपाश में बाँधकर मेघनाद रावण के पास ले जाता है ।[५] और उन्हें देखकर दुर्वचन कहता हुआ कुछ हंसता है ।[६] तो वे उससे स्पष्ट कहते हैं कि मुझे अपने बांधे जाने की कुछ भी लज्जा नहीं है । मैं तो अपने प्रभु का कार्य सम्पन्न करना चाहता हूं ।[७] भगवान राम को भी इन जन की सेवा बल-बुद्धि एवम् ज्ञान पर इतना विश्वास था कि उन्होंने इन्हें ही अभिज्ञान के रूप में अपने हाथों की मुद्रा उतार कर दी थी और सीता के लिये सन्देश भी कहा था ।[८]

१- रा०मा०- ४।३०।६ (पू०)

२- रा०मा०- ५।१ (उ०)

३- रा०मा०- ४।१६।१-२

४- रा०मा०- ४।१६।६-७

५- रा०मा०- ५।२०।१ (उ०)

६- रा०मा०- ५।२० (पू०)

७- रा०मा०- ५।२२।६

८- रा०मा०- ४।२३।६-१०

भक्त हनुमान के हृदय में अभिमान का तो नामोनिशान भी नहीं था। अपने अभिमान राहित्य के कारण ही (अतुलित बलधामं) होकर भी वे अपने अतुलित बल को भूले रहते थे। समुद्र पार करने के समय ऋक्षराज जाम्बवान को उनको अपार शक्ति की याद दिलानी पड़ी थी।[1] वे समुद्र संतरण कर सीता का अन्वेषण करते हैं, नभ जल थल की क्रमशः सुरसासिंहिका एवम् लंकिनी जैसी बाधक स्त्रियों को पराजित करते हैं। अक्षयकुमार जैसे असंख्य श्रेष्ठ योद्धाओं का बध करते हैं, रावण पालित लंकापुरी का दहन करते हैं और सीता के चिन्ह के रूप में चूड़ामणि प्राप्त कर नमस्तक भाव से और सुग्रीव के समक्ष उपस्थित होकर पाहि ~~~ रहते है। इतने महान कार्यों को सम्पन्न करके भी उनके हृदय में अभिमान का जरा भी आविर्भाव नहीं हुआ। और जब भगवान ने उनसे यह प्रश्न पूछा कि तुमने किस प्रकार लंका जलाई तो उन्होंने अभिमान रहित होकर अपनी जातिगत दीनता एवम् भगवान की अनुकूलता को ~~~ अपार शक्ति को व्यक्त करते हुये अपनी सफलता को उनकी कृपा का ही प्रसाद बतलाया।[2] सुतीक्ष्ण[3] की तरह हनुमान को यही बहुत बड़ा अभिमान था कि मैं भगवान का सेवक हूं और ये मेरे स्वामी है। रावण सभा में हनुमान को पकड़ कर ले जाने में निर्भीकता का परिचय देते हैं।[4] वेदशास्त्र की मर्यादा का किसी भी स्थिति में अतिक्रमण उन्हें अभीष्ट नहीं- मेघनाद द्वारा

१- रा०मा०- ४।३०।३-५

२- रा०मा०- ५।३३।५,५।३३

३- रा०मा०- ३।११।२१

४- रा०मा०- ५।२०।६-७

ब्रह्मास्त्र चलाये जाने पर मर्यादा का पालन करते हुये नागपाश में आबद्ध हो गये ।[1]

हनुमान जी का रसिक भक्तों में शीर्षस्थ स्थान है[2] विभीषण के यहां भी गुणानुवाद में तुरन्त तल्लीन हो गये ।[3] अयोध्या में रामवियोग में भरत की स्थिति को देखकर विह्वलता पूर्वक पुलकित होगये ।[4] और अविरल अश्रुधारायें प्रवाहित हो उठीं ।[5] इस प्रकार हनुमान जी की जीवन चर्या भगवद्भक्ति से समाविष्ट दृष्टिगोचर होता है । अन्त में वह भगवान से अनपायिनी भक्ति की ही कामना करते हैं ।[6]

नाथ भगति अति सुख दायिनी ।
देहु कृपा करि अनपायिनी ।

इस लिए जाम्बवन्त[7] सुग्रीव[8] और शिवजी पार्वती से राम भक्ति की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि--

---

१- रा०मा०- ५।१९।५, ५।२०।१

२- विनयपत्रिका- पद- २९, पंक्ति(९)

३- राम०मा०- ५।६

४- रा०मा०- ७।१ (ख)

५- रा०मा०- ७।२।१

६- रा०मा०- ५।३२।१

७- रा०मा०- ५।३०।५

८- रा०मा०- ७।१९।९

हनुमान सम नहिं बड़ भागी ।
नहिं कोउ राम चरन अनुरागी ।
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई ।
बार बार प्रभु निज मुख गाई ।।[१]

दोहावली में इसीलिए महावीर जी के स्मरण मात्र से भी पुरुषार्थ एवम् कामना की सिद्धि बताया गया है ।[२]

स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से भक्त हनुमान को निष्ठात्मक सेवा से ऋणी होना भाव घोषित किया है --

तुलसी रामहु तें अधिक राम भगत जियँ जान ।
रिनिया राजा राम भे धनिक भये हनुमान ।।[३]
कियो सुसेवक धरम कपि प्रभु कृतग्य जियँ जानि ।
जोरि हाथ ठाढ़े भए बरदायक बरदानि ।।[४]

१- रा०मा०- ७।५०।८-९

२- दोहावली- २२९, २३०, २३१, २३२, २३३

३- दोहावली- १११

४- दोहावली- ११२

२२- <u>जाम्बवन्त जी:-</u>

दोहावली के आधार पर भगवान ब्रह्मा जी के अवतार हैं :--

जानि राम सेवा सरस, समुझि करब अनुमान ।
पुरुखा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान ।
दोहावली- १४२

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत वयोवृद्ध ऋक्षराज जाम्बवन्त जी भगवान राम के परम भक्त दिखाई देते हैं । भगवान की प्रभुता का ज्ञान होने के साथ-साथ सेवक होने का भी उन्हें गौरव एवम् नाज था ।[1] वयोवृद्ध जाम्बवन्त जी ने ही रामकार्य के लिए अवतरित पवन पुत्र हनुमान जी के प्रसुप्त बल का स्मरण दिलाकर सीता की खोज के लिए अग्रसर कर अंगद को समुद्र पार जाने से रोका था ।[2] श्री हनुमान जी की परामर्शदायी मंत्रणा में आपका अमूल्य पूर्ण योगदान है ।[3] आपने ही अंगद के निराशात्मक मन को भगवन्मुखी कथाओं का आश्वस्तकर आशान्वित किया था ।[4] भगवान राम के दुर्दिन के साथी के रूप में आपकी भूमिका मंत्रणायुक्त दिखाई देती है ।[5] अपनी यौवनावस्था (तरुणावस्था) में दो घड़ी में ही त्रिविक्रम भगवान की सात प्रदक्षिणाएं करके श्रद्धा और उत्साह के फलस्वरूप भक्ति भाव को उजागर किया था।[6]

१- रा०मा०- ४।२६।१२, ४।२६
२- रा०मा०- ४।३०।१-६
३- रा०मा०- ४।३०।१०-११
४- रा०मा०- ४।२६।११
५- रा०मा०- ६।१७।१-४
६- रा०मा०- ४।२६।८ , ४।२६

वयोवृद्ध होने के नाते समुद्र पार जाने में असमर्थ श्री जाम्बवन्त जी ने शुभ परामर्श का दायित्व निभाकर विशेषता जाहिर की थी ।[1] द्वापर में श्रीमद्भागवतानुसार भगवान कृष्ण मणि की चोरी के फलस्वरूप द्वन्द्व युद्ध करके अपनी पुत्री जाम्बवन्ती का विवाह कर संतोषित कर भगवान के चरणों में अनुपम भक्ति की याचना की थी ।[2] अत: जाम्बवन्त जी का चरित्र भक्त भाव की भूमिका निभाने में सक्षम है ।

३३- अंगद :-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस में युवराज अंगद भगवान के अनन्य भक्त के रूप में परिलक्षित होते हैं । क्योंकि इन्हें शक्ति, बल, प्रभुता एवं भगवच्चरणों में प्रीति अपने पैतृक उत्तराधिकार से प्राप्त हुई थी । इनके पिता बालि ने प्रयाण वेला में इनके हाथ को पकड़कर प्रभु के चरणों में सौंपकर अपनी जीवन लीला समाप्त की थी ।

भगवती सीता की खोज में तत्पर सभी वानरों एवम् प्रमुख सेनापतियों ने भगवान राम के दूत रूप में राक्षस राज को समझाने हेतु अंगद को ही कुशाग्र बुद्धि बल, शक्ति पराक्रम से सम्पन्न समझकर उपयुक्त पात्र चुना था ।[3] इससे स्पष्ट होता है कि इनका बल बुद्धि

१- रा०मा०४।२६।७

२- श्रीमद्भागवत -

३- ६।१७।४-५

रा०मा०-६।१७।६-७- बालि तनय बुधि बल गुन धामा ।
लंका जाहु तात मम कामा ।
बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ।
परम चतुर मैं जानत अहऊँ ।।

एवम् वाङ्मय आचरण तथा भावच्छरणों में प्राप्ति एवं अनन्यता इनकी भक्ति भावना को द्योतित करता है।[1] अंगद रावण संवाद में अंगद ने भगवान राम का दूत रूप में अपना परिचय प्रस्तुत किया था।[2] रावण अंगदवार्ता के सिलसिले में जब रावण भगवान राम की निंदा पर उतारू हो जाता है[3] तब अंगद राम की निंदा को न सह सकने वाले क्रोधावेश में[4] राम के प्रताप की महिमा का स्मरण करते हुए भरी सभा में प्रण करके पैर रोप देते दिखाई देते हैं --

जौं मम चरन सकसि सठ टारी ।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी ।।[5]

१- रा०मा०-(I)- ६।१७(क)- प्रभु अग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ ।
सोइ गुन सागर ईस राम कृपा जा पर करहु ।।

(II)-रा०मा०-६।१७(ख)- स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियउ ।
अस बिचारि जुबराज तन पुलकित हरषित हियउ।।

(III)- रा०मा०-६।१८।१-
बंदि चरन उर धरि प्रभुताई ।
अंगद चलेउ सबहिं सिरु नाई ।।

३- रा०मा०- ६।३०।१७

४- रा०मा०- ६।३२

५- रा०मा० ६।३४।६

उक्त प्रसंग में इस प्रकार की प्रतिज्ञाजनक प्रणभाव भगवच्चरणों में अखण्ड विश्वास का द्योतक है।[१]

इस प्रकार का अद्भुत वीरता जनक कौशल से प्रतिवादियों के मद को चूरकर अंगद भगवान राम की अखण्ड प्रभुता को ध्यान में रखकर पुलकित शरीर स्वम् सजल नेत्रों से भगवान राम के चरणों में आकर नतमस्तक हो जाते है।[२] जब राम रावण के चार मुकुट के फेंके जाने के प्रसंग में प्रश्न करते हैं[३] तब अंगद द्वारा उक्त प्रश्न के उत्तर में विनम्रता स्वम् आत्म निवेदन के रूप में परिचय प्रस्तुत करते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि अंगद की भक्ति भगवच्चरणों में एक निष्ठ [illegible] भगवन्मुखी होता है।[४]

मृत्यु के समय पर बालि ने उसे भगवान के आश्रय सौंपकर दासत्व भाव ग्रहण कराया था।[५] इसीलिए भगवान ने उसे अपना दास मानकर सुग्रीव की भाँति युवराज पद प्रदत्त किया था।[६] अंगद को भगवान राम के कार्य को सम्पन्न करने की अपार चिन्ता थी क्योंकि वह भगवान को अपना आश्रय भूत परम कारण समझता था। स्वामी सेवक भाव की मर्यादा का पालन करना उनकी दृष्टि में अभीष्ट था।[७] भगवान राम ने अपने अनन्य

१- दोहावली- दोहा- १६७

२- रा०मा०- ६।३५ (क)

३- रा०मा०- ६।३८।६-७

४- रा०मा०- ६।३८।८, ६।३८(क)

५- रा०मा०- ४।१०।१२+१३

६- रा०मा०- ४।११ (ख)

७- रा०मा०- ४।२६।३-५

सैनिकों में इसे भी हनुमान के तुल्य माना है, क्योंकि हनुमान सरीखे भक्त को चरण चापन का जो सौभाग्य प्राप्त था वह अंगद से भी अछूता नहीं रह सका ।[1] भक्त जाम्बवन्त ने भगवान राम के परब्रह्मत्व का पूर्ण ज्ञान अंगद को सर्वप्रथम ही करा दिया था--

तात राम कहुं नर जनि मानहु ।
निर्गुण ब्रह्म अजित अज जानहु ।।[2]

अंगद रावण के संवाद में अंगद ने बार बार भगवान के अतुलनीय प्रताप का ही बखान किया था ।[3]

उनकी वृत्ति भगवान के कार्य को संपूरित करने के लिए मनसा वाचा एवम् कर्म से तथा प्राणोत्सर्ग की बाजी लगाने में भी तत्पर था। जटाऊ का भगवत्कार्य के प्रति प्राणोत्सर्ग उनके लिए जीवन का प्रेरक पथ रहा ।[4]

भगवत्कार्य को ही जीवन का ध्येय मानकर आप ही समुद्र पार जाने के लिए तत्पर हुये थे ।[5] परन्तु जाम्बवन्त द्वारा रोके जाने पर तथा हनुमान जी को तैयार किए जाने पर विवशता में आप रुके थे ।[6] श्री हनुमान जी द्वारा सीता जी की खोज का समाचार लेकर लंका से लौटने पर वानर दल को `मधुवन` के मधुर फलों को खिलाने मे

१- रा०मा०- ६।११।७

२- रा०मा०- ४।२६।१२

३- रा०मा०- ६।२६।५(क), ६।२७।२, ६।३३।८, ६।३३(ख)(छं)

४- रा०मा०- ४।२७।७-८

५-रा०मा० - ४।३०।१

६- रा०मा०- ४।३०।२-६

में राजबाग को उजाड़ने से, राम कार्य की पूर्ति पर अंगद की अपार प्रसन्नता का परिचय प्राप्त होता है।[1] भगवान राम के राज्याभिषेक के पश्चात भगवान राम अपने भक्त सखाओं की विदाई का क्रम लगाते हैं[2] तो भक्त अंगद की प्रेम दशा देखकर भगवान राम अपार दुखी हो जाते हैं और अंगद से कहने में अपनी विवशता जाहिर करते हैं।[3] जाम्बवन्त नीलादि भगवान राम के चरणों में नतमस्तक होकर प्रस्थान करने लगे,[4] तब अंगद प्रेमविह्वल अवस्था में दीनता भरी कारुणिक भावना करता है,[5] जो वर्णनीय हैं:--

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो ।
दीन दयाकर आरत बन्धो ।।
मरती बेर नाथ मोहि बाली ।
गयउ तुम्हारेहि कोंछे घाली ।।
असरन सरन बिरदु संभारी ।
मोहि जनि तजहु भगत हितकारी ।
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता।
जाउं कहां तजि पद जलजाता ।
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा ।
प्रभु तजि भवन काज मम काहा ।।

१- रा०मा०- ५।२८।७-८, ५।२८

२- रा०मा०- ७।१६

३- रा०मा०- ७।१७।८

४- रा०मा०- ७।१७(क)

५- रा०मा०- ७।१७(ख)

बालक ग्यान बुद्धि बल हीना ।
राखहु सरन नाथ जन दीना ।।
नीचि टहल गृह कै सब करिहउं ।
पद पंकज बिलोकि भव तरिहउं।
अस कहिं चरन परेउ प्रभु पाहीं ।
अब जनि नाथ कहहु गृह जाहीं ।।[1]

इस करुणाभरी विनती को सुनकर भगवान राम के हृदय में वात्सल्य प्रेम उमड़ आया, उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगा तदनन्तर भगवान अंगद को उठाकर हृदय से लगा लेते हैं।[2] फिर अपने गले की माला तथा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर बहुत प्रकार से समझा बुझाकर विदा करते हैं।[3] लेकिन अंगद बार- बार पीछे मुड़ते हैं और दण्डवत प्रणाम करते हैं कि भगवान मुझे सेवा के निमित्त रोक लें। पर भगवान के कृपा का रुख देखकर उनके चरण कमलों को हृदय में धारण कर अन्ततः विदा हेतु प्रस्थान कर जाते हैं।[4] और अन्त में भगवान की स्मृति में इस अकिञ्चन के कृतार्थ हेतु महावीर जी से करबद्ध अनुरोध करते हुए अपने गृह के लिए प्रस्थान कर जाते हैं।[5] जब श्रीहनुमान जी द्वारा अंगद की प्रेम दशा का बखान करने पर भगवान राम उस कारुणिक याचना को सुनकर प्रेम मग्न हो जाते हैं, नेत्र सजल होकर उस भक्त की सराहना करने लगते हैं।[6]

इससे स्पष्ट होता है कि श्री अंगद भगवान राम के अनन्य प्रेमी भक्त हैं।

१- रा०मा०- ७।१८।१-८ २- रा०मा० ७।१८(क)
३- रा०मा०- ७।१८(ख) ४- रा०मा०-७।१९।२-५
५- रा०मा०- ७।१९(क) ६- रा०मा०-७।१९(ख)

३४- रावण:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस ग्रंथ में कविवर तुलसी ने रावण को प्रति नायक के रूप में असद् प्रवृत्तियों का साक्षात् प्रतिमूर्ति स्वरूप ठहराया है। कहीं कहीं सद्प्रवृत्तियों का अध्येता भी मालूम होता है। वह नीति कुशल, पण्डित तपस्वी एवं धीर वीर भी है। लेकिन तुलसी के निरूपण में वह मदी, हठी, व्यसनी, अभिमानी एवम् अनाचार परायण आततायी असद् प्रवृत्तियों का रूप अधिक लिए हुये है। जिसके अत्याचार से पृथ्वी दुःखित होकर धेनुरूप में देवताओं के साथ भगवान से धर्म रक्षा एवम् परित्राण की प्रार्थना करती है। इसी आततायी के प्रपीड़न से भगवान राम को अवतार लेना पड़ता है। यह भगवान राम का आमरण प्रबल शत्रु होने के साथ-साथ परमभक्त भी दिखाई देता है। इसने वैर भक्ति के ही माध्यम से ही योगि दुर्लभ भक्ति को ही प्राप्त किया था। उसे भगवान राम के अवतार का पता लगने पर वह दृढ़ निश्चय करके कहता है कि --

सुर रंजन भंजन महि भारा।
जौं जगदीश लीन्ह अवतारा।।
तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ।।
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मन्त्र दृढ़ एहा।।[१]

१- रा०मा०- ३।२३।३-५

उक्त छन्द से स्पष्ट हो जाता है कि रावण ने दृढ़ निश्चय के द्वारा वैरभाव ठानकर भक्ति का निर्वाह करता हुआ दीखता है। वैरभाव मय भक्ति का परिणाम स्वयं को हठ पूर्वक श्रेष्ठ मानना और वास्तविक सत्य को गौण समझना। इसीलिये रावण पर कुछ महत्त्व राम से विरोध न करने वाले मारीच, शुक, विभीषण, माल्यवान प्रहस्त, कालनेमि, कुम्भकर्ण, मन्दोदरी आदि के नेक सुझावों को स्वीकार नहीं करता वरन् बलात् पूर्वक द्रोह करने का ठानता था। वैरभाव से भी स्मरण करने वाले भक्तों को वह ही परिणाम मिलता जो योगी मुनियों को अभीष्ट साधना से उपलब्ध होता है। इसी वैर भाव की भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान राम ने भी अन्ततः उसे वह गति प्रदान की जो योगि वृन्द को भी दुर्लभ रहती है।[1] क्योंकि रावण का मरणोपरान्त तेज भगवान के मुख में समाहित हो गया था।[2] इसी लिए आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि --

खल से निकलकर जो शक्ति अखल रूप में हो गयी थी वह फिर खल में विलीन हो गयी।[3]

यथार्थ में देखा जाय तो रावण शिव और ब्रह्मा का श्रेष्ठ भक्त दीखता था क्योंकि उसने कठोर तपस्या के बल पर ही उनसे मनुष्य एवम् वानर के अतिरिक्त किसी के हाथ से न मारे जाने का वर प्राप्त किया था।[4]

१- रा० मा० - ६।१०४।(छं०), ६।११८।१०

२- रा०मा० ६।१०३।६(पू०)

३- गोस्वामी तुलसी दास- आचार्य शुक्ल, पृष्ठ- १२६

४- रा०मा०- १।१७७।२-५

राम के प्रति वैर भाव की भक्ति के कारण ही रावण में हमें दीनता के दर्शन नहीं दिखाई देते । यहां तक कि वैर भाव की भक्ति के कारण ही वह अपने मुख से भगवान राम का नाम नहीं लेकर उन्हें "नृपबालक" या "तापसी" शब्द सम्बोधित करता है । मृत्यु के समय भी वह भगवान के हाथ से मारे जाने पर भी वैर को विस्मृत नहीं होने देता ।[1] मेघनाद और कुम्भकरण के निधन के पश्चात भी उसका वैराभिमान बढ़ता हुआ ही परिलक्षित होता है --

जिस भुजबल मैं बयरु बढ़ावा ।
देहउं उतरु जौं रिपु चढ़ि आवा ।[2]

भगवान राम से वैरभाव की भक्ति करने के साथ साथ वह जगज्जननी सीता के चरणों में अपार श्रद्धा एवं भक्ति अर्पित करता था । भगवती सीता के अपहरण करते समय दृढ़ पातिव्रत को देखकर वह मन ही मन प्रसन्न होकर उनके चरणों की वन्दना करता है।[3] और हृदय मन्दिर में बसा लेता है । इसीलिए भगवान को उसके हृदय में बाण मारने में कठिनाई होती था।[4] इससे स्पष्ट होता है कि आततायी एवं हिंसक त्रिलोक विजेता राजा रावण के समान भक्त एवं पूज्य कभी नहीं हो सकता । क्योंकि उसे हिंसा वृत्ति का आश्रय लेकर त्रिलोक को प्रताड़ित किया था। पूजनीय एवं प्रशंसनीय तो वह महर्षि गण हैं, जिन्होंने अहिंसा धर्म का पालन करते हुये राक्षसों को शरीर भी न्यौछावर कर दिये। उन्हीं के कर्म लोक शिक्षा के लिए पथ प्रदर्शक एवम् आदरणीय है ।

१-रा०मा०-६।१०३।४- गर्जेउ मरत घोर रव भारी ।
कहां रामु रन हतौं पचारी ।।

२- रा०मा०- ६।७८।६ ३- रा०मा०३।२८।१६ (छ०)

४- रा०मा०- ६।९९।१३

३५- भक्त कुम्भकर्ण:-

भक्तवर तुलसी ने रामचरित मानस में रावण भ्राता कुम्भकर्ण को भक्त रूप में सिद्ध किया है। जब रावण उसके शयनागार में प्रगाढ़ निद्रा में प्रसुप्त कुम्भकर्ण को भगवान राम से संग्राम हेतु जगाने जाता है। और जगाने पर सीता हरण इत्यादि के सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत कराता है तो कुम्भकर्ण रावण के इस कुकृत्य की भर्त्सना करता है।[१] वह जगज्जननी के अपहरण को श्रेष्ठ कार्य नहीं बताता वरन् निन्दनीय कार्य को समझकर रावण को नेक सलाह भी देता है। और उनके कल्याणार्थ अभिमान त्याग कर राम भजन का सत्परामर्श भी देता है।[२] वह राम के परब्रह्म स्वरूप से पूर्ण परिचित था इसीलिए वह अपने भ्राता रावण से कहता है कि--

हैं दससीस मनुज रघुनायक।
जाके हनुमान से पायक।।
अहह बन्धु तैं कीन्हि खोटाई।
प्रथमहिं मोहिं न सुनाएहि आई।
कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक।
सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।।[३]

रावण से विदा लेकर संग्राम क्षेत्र में त्रयताप मोचन भगवान राम से द्वन्द्व युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय उनके साक्षात्कार की उत्कट अभिलाषा से वह गद-गद हो जाता है।[४] और उनके अलौकिक रूप एवम् अनुपम

१- रा०मा०- ६।६२

२- रा०मा०- ६।६३।१-२

३- रा०मा०- ६।६३।३-५ ४- रा०मा०- ६।६३।७-८ :-

भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मैं जाई।

सौन्दर्य का स्मरण कर वह क्षण भर के लिए प्रेम मग्न भी हो जाता है ।[1] उसकी प्रेम मग्नता भगवान शिव की प्रेम मग्नता से कम नहीं दीखती ।[2] वह रणभूमि में विभीषण को भगवान का शरणागत भक्त स्वयं भक्त कुम्भकर्ण रूप में देखकर उन्हें अनेकानेक आशीर्वचन से विभूषित करता है कि तुम्हारा राक्षस कुल के दैदीप्यमान कुल शिरोमणि भक्त हो ।[3] और मन कर्म वचन से कपट त्यागकर भगवच्चरणों की भक्ति का नेक परामर्श भी देता है ।[3] पर वह वैर भाव से ही भगवान की भक्ति करता है । रणभूमि में मरणोपरान्त उसकी वैरभक्ति का क्या सुपरिणाम होता है कविवर तुलसी कहते हैं कि उसका तेज भगवान के बदन में विलीन हो जाता है जिसको देखकर देवता, मुनि और दृश्य समाज आश्चर्यचकित हो जाते हैं--

> तासु तेज प्रभु बदन समाना ।
> सुर मुनि सबहिं अचम्भा माना ।[5]

इससे स्पष्ट होता है कि कुम्भकर्ण का राम का भक्त वैरभाव से प्रकट होता है ।

१- रा०मा०- ६।६३ (पू०)
२- रा०मा०- १।१११
३- रा०मा०- ६।६३।८-९
४- रा०मा०- ६।६३।(पू०)
५- रा०मा०- ६।७१।८

३६- मन्दोदरी:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस में कविवर तुलसी ने रावण की परिणीता पत्नी मन्दोदरी को सत्य, धर्म, नीति एवं न्याय जैसे उदात्त गुणों को प्रश्रय देने वाली एवम् अखण्ड पातिव्रत धर्म के निर्वाहिका के रूप में तथा राम के पर ब्रह्मत्व से परिचित होने वाली भक्त नारी के रूप में चित्रित किया है। भक्त मन्दोदरी सीताहरण के निन्दनीय कुकृत्य के विषय में रावण की भर्त्सना करती है, साथ ही साथ सदुपदेशों द्वारा भी राम से द्वेष न करने का आग्रह भी करती है। पर रावण उसकी एक भी सदुपदेश जनक बात नहीं मानता। वह क्रोधावेश में उठकर अपशब्दों[1] एवम् कटु वाक्यों द्वारा राम से विरोध न करने के विषय में अपमानित भी करता है पर विभीषण की तरह रावण से सम्बन्ध विच्छेद कर राम के पक्ष में सम्मिलित नहीं होती वरन् उसका अन्तर धारणा भगवान राम में अनुरक्त हुयी जान पड़ती है। उसके व्यक्तित्व में राम एवं रावण दोनों के प्रति प्रेम की विरोधी मनोवृत्तियों का सफल निर्वाह दृष्टिगोचर होता है। उसका चरित्र पातिव्रत धर्म की अखण्डता से अनुप्राणित एवं विश्व रूप भगवान के प्रेम में अनुरक्त हुआ दीखता है। पर रावण पत्नी मन्दोदरी की सत्परामर्शदायी विचारों एवम् तर्कों तथा उक्तियों को हंसकर टाल देता है परन्तु वास्तविकता में उसके प्रश्न के उत्तर देने में निरुत्तर सा ही दीखता है।

१- रा०मा०- ६।३६।९

एक प्रसंग में रावण की भक्त मन्दोदरी भगवान राम के विराट रूप का स्मरण तब कराती है[1] जब भगवान राम के बाणों से रावण के छत्र, मुकुट एवं ताटंक के धराशायी होकर स्वयम् चारों ओर अपशकुन होने लगे थे। वह वास्तव में मनस्वेश में साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर स्वरूप भगवान राम की भगवत्ता से पूर्ण सुपरिचित थी। तभी तो रावण के मारे जाने पर मन्दोदरी ने अपने विलाप[2] में और उसके पहले[3] भी राम को स्पष्ट शब्दों में " अग जग नाथ " ही स्वीकार किया है। जन्म जात मद्रोहरत स्वयम् पापमय रावण को स्वधाम प्रदान करने वाले निर्विकार राम ब्रह्म के समक्ष मन्दोदरी सदा नतमस्तक रहती थी।[4] वह समझती थी कि भगवान राम अहैतुक कृपा के सागर हैं।[5] इसलिए वह भगवान राम के निर्विकारी गुणों का अहर्निश गुणगान करती रहती थी।[6]

अतः मन्दोदरी भगवान राम भक्ति की सफल पात्रा है।

१- रा०मा०- ६।१४।६, ६।१५ (क)

२- रा०मा०- ६।१०४।१३ -

काउ बिबस पति कहा न माना।
अग जग नाथु मनुज करि जाना॥

३- रा०मा०- ६।३६।८ -

पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु।
अग जग नाथ अतुल बल जानहु॥

४- रा०मा०- ६।१०४।१४-१७

५- रा०मा०- ६।१०४ (पू०)

६- रा०मा०- ६।१०५

३७- त्रिजटा :-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस ग्रंथ में कविवर तुलसी ने राक्षसी नारी त्रिजटा को भी भगवान राम की भक्ति से समादरणीय माना है।[1] यह नारी त्रिजटा अशोक वन में निवास करने वाली विरहणी सीता की विपत्ति की सहचर्या एवं संगिनी रही है। विपत्ति की संगिनी होने के कारण महारानी सीता उसे माता शब्द से सम्बोधित करती थी।[2] राक्षसराज रावण सीता को भयभीत कराने के लिए राक्षसियों को आदेश करता है उस समय बहुत सी राक्षसियां भयावनी विकराल रूपों से भगवती सीता को डराने हेतु आती है तब त्रिजटा ने ही उन सभी को भयावह स्वप्न से अवगत कराकर सीता जी के चरणों पर गिराकर क्षमायाचना मंगवाया था।[3]

भगवान राम के असह्य विरह में जब सीता ने अपने प्राणान्त करने का निश्चय कर त्रिजटा को चिता सजाने का आग्रह करती है तब त्रिजटा ने ही भगवती सीता के चरणों को पकड़कर भगवान राम के प्रताप,बल एवं सुयश का बखान कर समझाया था।[4]

१- रा०मा०- ५।११।१-

त्रिजटा नाम राक्षसी एका। राम चरन रति निपुन बिबेका ।।

२- रा०मा०- ५।१२।१-

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनी तैं मोरी ।।

३- रा०मा०- ५।१०,५।११।८

४- रा०मा०- ५।१२।१-६

रणभूमि में रावण के न मारे जाने पर जब सीता जी नाना प्रकार से विलाप करने लगीं[1] तभी त्रिजटा ने सीता जी को रावण वध के विलम्ब के रहस्य का उद्घाटन कराया था।[2]

त्रिजटा ही भगवती सीता को राम रावण के द्वन्द्व युद्ध की स्थिति को अवगत कराती थी। इससे स्पष्ट होता है कि राक्षसी त्रिजटा राम भक्ति की भक्त पात्रा है।

२८- विभीषण:-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस, गीतावली, कवितावली तथा विनयपत्रिका में विभीषण को भगवान राम भक्ति का आदर्श भक्त के रूप में चित्रित किया है। क्योंकि यह असुर वंश में उत्पन्न राक्षस रावण का सौतेला भाई एवम् पूर्वजन्म में राजा प्रतापभानु का धर्मरुचि नामक सचिव था। यह बाल्यावस्था से ही वैष्णव भक्त तथा ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता एवम् अध्येता था।[3] इसने तरुणावस्था में अखण्ड तप करके भगवान ब्रह्मा से भगवच्चरणों में निर्मल प्रेम अनन्य अनुरक्ति एवम् भक्ति का ही वरदान माँगा था।[4] इसी लिये यह लंका में भी अपने भवन में धनुषबाण धारण किए चिन्हों से अंकित एवम् उसके पास नवीन तुलसी के वृक्ष समूह से सुशोभित भगवान राम का मन्दिर बनाए था।[5] यह भगवान राम का अनन्य भक्त होने के कारण बिना हरिमन्दिर एवम् भगवत्पूजा के

१- रा०मा०- ६।९९।२-११

२- रा०मा०- ६।९९।१२, ६।१००।१

३- रा०मा०- १।१७६।४-५

४- रा०मा०- १।१७७

५- रा०मा०- ५।५।८, ५।५

नहीं रह सकता था । उनकी रसना अहिर्निश राम नाम का स्मरण करता रहती थी ।[१] भगवती सीता की खोज में भी हनुमान विभीषण की कुटिया में प्रवेश करते है, जो अपने आराध्य का मन्दिर देख वहीं शान्ति एवम् राहत का अनुभव करते हैं वे सोचते हैं कि कोई राम भक्त यहाँ अवश्य है । जब विभीषण और भक्त हनुमान का परिचय होता है तो विभीषण अपनी रहनी उसी प्रकार की बताते हैं जिस प्रकार बत्तीस दांतों के बीच में जीभ विवश रहती है । विभीषण भक्त हनुमान से प्रेम विह्वल दशा में कहते हैं कि इस तामस देह से मैं भगवान की चरण सेवा के योग्य ही नहीं हूं । न मेरा मन ही लगता है और न मेरी भगवानुरक्ति ही है । भगवान ने स्वयं इस अकिन्चन पर कृपा कर संत स्वरुप में आपके दर्शन करा दिये ।[२] अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि भगवान के अनुपम सौन्दर्य एवं चरण कमलों का दर्शन लाभ अवश्य होगा । क्योंकि बिना संत के भगवद्दर्शन असम्भव है । इसीलिये भक्त हनुमान ने हठपूर्वक अपना दर्शन देकर उन्हें प्रथम भगवान के दर्शन की सूचना से कृतार्थ किया । भगवान की महती कृपा यही है कि अकारण ही भक्तों पर महती कृपा करते हैं । अत: स्पष्ट है कि विभीषण राक्षस कुल में रहता हुआ भी परम भक्त है ।

वैसे विभीषण पर राष्ट्रद्रोही पन, कुल एवम् समाज के परित्याग का संकट की बेला में प्रस्थान कर रामादल में जा मिलने का आरोप लगता है पर यथार्थत: में देखा जाय तो यह आरोप निराधार एवम् अप्रामाणिक है क्योंकि उनकी सच्ची भगवद्भक्ति लोक धर्म एवम्

१- रा०मा०- ५।६।२ (क)

२- रा०मा०- ५।६, ५।७।७

राजनीति के साथ अनुकूल है। क्योंकि तुलसी का सार्वभौम सिद्धान्त है कि श्रेष्ठ व्यक्ति वही है जिसकी भगवच्चरणों में अनुपम प्रीति हो।[1] अतः तुलसी लोक भक्ति का सबसे बड़ा नाता भगवान राम से मानते हैं और जिसके माता, पिता, गुरु, बन्धु राष्ट्र कुल राम भक्ति के प्रतिकूल है यदि वे आत्मीय क्यों न हो तो भी कोटि बैरी सम त्याज्यनीय ही है।[2] अतः ऐसी विषम स्थिति में विभीषण के सम्पूर्ण त्याज्यनीय क्रियात्मक व्यापार भगवद् भक्ति की दृष्टि से आदरणीय हैं। पर विभीषण धर्म राजनीति युक्त मंत्रणा से अपने ज्येष्ठ भ्राता रावण को समझाता है और अन्त में यह भी अनुरोध करता है कि माता सीता को भगवान के चरणों में सौंप कर तथा उनके चरणों का आश्रय लेकर नरक में ले जाने वाले इन काम क्रोध लोभ मोह इन प्रबल शत्रुओं को भजन से नष्ट करो। वह निश्चय ही तुम्हें अपना लेंगे। विभीषण ने पुष्टि में वंशज पुलस्त्य मुनि की भी सम्मति को भी स्मरण कराया पर इस शुभ मंत्रणा का पुष्टि मंत्री प्रबल माल्यवान ने धर्मयुक्त समझकर की। पर रावण क्रोधान्ध होकर दोनों को सभा से निष्कासित कर देता है। पर विभीषण के बार बार निवेदन करने पर वह कटु वाक्यों का प्रयोग करके विभीषण पर लात का प्रहार करके सभा से निकाल देता है। पर विभीषण रावण के पैर पकड़ कर यही प्रार्थना करता है कि आप पिता समान हैं यदि मुझे मारा तो अच्छा ही किया लेकिन तुम्हारा कल्याण भगवद्भजन से ही सम्भव होगा।[3] पर भक्त विभीषण की यही उत्कट अभिलाषा थी कि

१- रा०मा०- ७।४६।७-८, ७।१२७-१-२

२- विनयपत्रिका - पद - १७४

३- रा०मा०- ५।३८।५,५।४१।८

वह भगवान का भक्त हो जाय। और कुल का सत्यानाश न हो। विभीषण को तनिक भी मानापमान एवं राज्य का लोभ भी नहीं था वह वस्तुत: भगवती सीता को लौटाने के लिए अनवरत रावण से प्रार्थना स्वम् शुभ मंत्रणा द्वारा निवेदन करता था। क्योंकि विभीषण को विदित था कि सीता को न लौटाने का प्रयोजन लंका का सर्वनाश निश्चित ही है। इसी लिए अन्तिम शरण दाता भगवान राम की शरण में जाता है जो वास्तव में अभयदाता स्वम् करुणा के सागर हैं। और विभीषण जाते समय भ्राता रावण से कहता है कि मुझे आप राष्ट्रद्रोही, ... लेने का ... देना - क्योंकि निम्न छन्द में 'देहु जनि खोरि' का यही आशय है।

राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउं देहु जनि खोरि ।।[१]

अत: रावण ने विभीषण को लंका से लात मार कर निकाल दिए जाने पर वह मार्ग में भगवान राम का शरण जाने में जितने भी मनोरथों की कल्पना करता है वह सब राम भक्ति के भाव से अनुप्राणित एवं समादरणीय है।[२] उनकी राम के प्रति इस उत्कट प्रेमाभिलाषा को

१- रा०मा०- ५।४१

२- रा०मा०- ५।४२।५,५।४२

देखिहउं जाई चरन जल जाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता।
जे पद परसि तरी रिषि नारी। दण्डक कानन पावन कारी।
जे पद जनकसुता उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए।।
हर उर सर सरोज पद जेई। अहो भाग्य मैं देखिहउं तेई।
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउं इन्ह नयनन्हि अब जाइ।।

सुग्रीव भी रोकने में सफल नहीं हो सके ।[1] जब विभीषण ने दोनों भाइयों के अपूर्व रूप सौन्दर्य को देखा तो अपलक नेत्रों से देखते ही रह गये ।[2] उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी , शरीर पुलकित हो गया , फिर धैर्य धारण कर दीनतामयी शब्दावली से शरणागत वत्सल भगवान की स्तुति करने लगे --

नाथ दसानन कर मैं भ्राता ।
निसिचर बंस जनम सुर त्राता ।।
सहज पापप्रिय तामस देहा ।
जथा उलूकहि तम पर नेहा ।।
श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ।।[3]

विभीषण ने अपना दीनता[4] भरा ~~निवेदन~~ विरुदावली से पश्चात राम की भक्त वत्सलता[5] को स्मरण कर त्राहि-त्राहि करते हुए प्रभु के चरणों में गिर पड़े । शरणागत वत्सल भगवान ने उठाकर हृदय से लगा लिया । और लंकेश शब्द से सम्बोधित कर कुशल क्षेम पूंछने लगे ।[6] भगवान के कुशल पूंछने पर विभीषण ने राममक्ति मय उद्गारों द्वारा निवेदन किया । तब भगवान ने अपना प्रिय सखा मानकर प्राण प्रिय सदृश अपनाया ।

१- रा०मा०- ४।४३।२-८
२- रा०मा०- ५।४५।१-२
३- रा०मा०- ५।४५।७, ५।४५
४- रा०मा०- ५।७।२-३
५- रा०मा०- ५।२६।१-५
६- रा०मा०- ५।४६।१-४

वास्तव में विभीषण धर्मपरायण, सहिष्णु, न्याय प्रिय एवम् विनम्र भक्त है ।[1] यह राक्षस कुल का देदीप्यमान भक्त शिरोमणि है । ऐसे सन्तों का अपमान का आशय अखिल कल्याण की हानि की पूर्ण सम्भावना निश्चित है उनके जाते ही लंका एवम् पुरवासी राक्षस आयु हीन हो जाते हैं ।

उक्त प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है कि विभीषण भगवान राम के परम भक्त है इसीलिए उन्होंने अपने श्रीमुख से प्रशंसा करते हुये कहा है —

धन्य धन्य तैं धन्य विभीषण ।
भयहु तात निशिचर कुल भूषन
बन्धु बंस तैं कीन्ह उजागर ।
भजेहु राम शोभा सुख सागर ।।
बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर ।
जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउं काल बस बीर ।।[2]

1- रा०मा० - ५।२४।७

2- रा०मा०- ६।६४।८, ६।६४

२६- देवगण :-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत रामचरित मानस, गीतावली, विनयपत्रिका, आदि में विविध देवगण भी रामभक्त के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं। पर उनका चरित्र विकसित नहीं किया गया। पर भक्तवर तुलसी वन्दना में उनका अवश्य स्मरण कर लेते हैं।[1] परन्तु रामचरित मानस में यह देवगण सपत्नीक नाचते गाते एवम् दुन्दुभि बजाते हुए भगवान राम पर एवं उनके भक्तों पर पुष्प वृष्टि करते हुए उनकी जय जयकार करते हुये चित्रित किये गये हैं।[2] एवम्- वे मानस में अनेक स्थलों के अन्तर्गत भगवान[3] एवम् उनके भक्तों की प्रभूत प्रशंसा ही नहीं करते परन्तु मोहान्ध होकर पथभ्रष्ट होते हुये भक्त को आकाशवाणी द्वारा करणीय, अकरणीय का विवेक भी प्रदान करते हैं।[5] इससे स्पष्ट होता है कि भगवान राम का एक प्रमुख कारण 'सुररंजन'[6] भी था। इसलिये पहले ही देव समुदाय को अपने भावी कार्यक्रम का सविस्तार निर्देश भी कर दिया था।[7] अतः देवताओं को भगवान का परम भक्त होना स्वाभाविक ही है। परन्तु तुलसी ने इन्हें सदा का स्वार्थी घोषित कर उनकी बड़ी भर्त्सना

१- रा०मा०- छन्द- १।१, गणेश तथा सरस्वती की स्तुति।

२- रा०मा०- १६१। ५-७, १।३१८।१-३, १।३२५।७, १।३१५,
१।३१७।२-१०

३- रा०मा०- २।२३२, ७।११०।७-८

४- रा०मा०- २।२३३।१

५- रा०मा०- २।२३०।१, २।२३१।५

६- रा०मा०- १।१३६ (उ०), ३।२३।३, ६।११३।१६

७- रा०मा०- १।१८७।१-८

की है ।[1] उनके विचार से देवताओं का निवास तो उच्च है किन्तु उनकी करतूत नीचतामय है । वे दूसरों की विभूतियों को देख नहीं सकते ।[2] वे स्वार्थी एवम् मलिन होने के साथ-साथ वह मनुष्यों के लिए प्रपंच एवम् माया रचकर भय भ्रम, शोक आदि का संचार करते रहते हैं ।[3]

चित्रकूट में राम भरत मिलाप में इनका निम्न स्तरीय कार्य ही दीखता है ।[4] यथार्थता में तुलसी इनके वैदिक रूप को न लेकर पौराणिक रूप को ही दिखाकर भर्त्सना करते हैं । रावण की मृत्यु के पश्चात भगवान राम की स्तुति[5] में अपने स्वार्थी पन पर भी क्षोभ प्रकट कर शरणागत भाव को पुष्ट किया है ।[6]

अतः स्पष्ट है कि सत्व गुण प्रधान देवत्व भी भगवान भक्त दीखते हैं ।

१- रा०मा०- ७।११७।२

२- रा०मा०- २।१२।६

३- रा०मा०- २।२६५

४- रा०मा०- २।२८१।७

५- रा०मा०- ७।११०।२-८

६- रा०मा०- ७।११०।११-१२

सप्तम-अध्याय

भक्ति एवं दार्शनिक सिद्धांत

क- जगत् एवं माया का स्वरूप

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

ख- जीव का स्वरूप

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

ग- परम सत्ता का स्वरूप

१- भागवत में

२- तुलसी-साहित्य में

सप्तम अध्याय

भक्ति एवम् दार्शनिक सिद्धान्त

" दृश धातु का अर्थ है 'देखना'-- स्थूल नेत्र से स्थूल तत्वों को देखना, सूक्ष्म नेत्र (प्रज्ञाचक्षु) से सूक्ष्म तत्वों को देखना । करण व्युत्पत्ति से दर्शन का अर्थ है -- जिसके द्वारा देखा जाए अर्थात ज्ञान प्राप्त किया जाए , भाव व्युत्पत्ति से उसका अर्थ है-- ज्ञान ।[1] ऐन्द्रिय प्रेक्षाण ,परि-कल्पनात्मक ज्ञान अथवा सहज अनुभव द्वारा ही दर्शन की आधार पीठिका स्तम्भित है । अतः भारतीय दर्शन आत्म ज्ञान, तत्व ज्ञान परमात्म ज्ञान का प्रकाशक है । दर्शन सहज ज्ञान की समीक्षा है और काव्य जीवन की, दोनों ही अव्यवस्थित तथ्यावली को व्यवस्थित रूप प्रदान करते हैं ।... दोनों की ही रचना प्रतिभा एवम् अनुभव पर आश्रित है । एक विचार प्रधान है दूसरा भाव प्रधान । दोनों ही विश्व के साथ हमारे सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करते है । एक विवेक पर आश्रित हैं , दूसरा राग पर । दोनों ही जीवन के दर्पण है , जीवन के ऊपरी तल के नहीं उसके अन्ततम् एवम् सुन्दरतम पक्ष के । दर्शन की भाँति काव्य का लक्ष्य मुक्ति है ।[2] काव्य भक्ति और दर्शन की त्रिवेणी 'भागवत्' और तुलसी- साहित्य में समान रूप से प्रवहमान है । भक्ति और काव्य का सम्बन्ध हृदय से तथा दर्शन का बुद्धि से है । इन तीनों की चरम परिणति सहजानुभूति में होती है, इसीलिए इन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर इनका विवेचन विश्लेषण सम्भव नहीं प्रतीत होता । कालरिज़ ने कहा है कि गम्भीर दार्शनिक बने बिना कोई व्यक्ति

१- तुलसी दर्शन मीमांसा - पृष्ठ- १७

२- तुलसी दर्शन मीमांसा - पृष्ठ-२६

कवि नहीं बन सकता अर्थात कवि का दार्शनिक होना सहज-स्वाभाविक है। चिन्तनमनन का पर्यवसान भावानुभूति में होता है। इसी प्रकार भक्त व्यक्ति में दार्शनिक चिन्तन - मनन की तरंगों का उठना सहज प्रक्रिया है। भक्त अपने आराध्य- उपास्य के स्वरुप का वर्णन किए बिना रह सकता। वह जिस परमसत्ता से प्रेम करता है, उसके विषय में कुछ कहता सुनता भी है। परमचेतना के परमानुराग से अनुप्राणित भक्त उसके स्वरुप का चिन्तन मनन किए बिना नहीं रहता। स्वरुप का ज्ञान होने पर प्रेम बढ़ता है और प्रेम के बढ़ने पर प्रेमास्पद के स्वरुप की जिज्ञासा बढ़ती है। परमोपास्य के सम्बन्ध से भक्त कवि की दृष्टि जीव, जगत् , माया तथा मोक्षादि पर भी चली जाती है अर्थात दार्शनिक बनना भक्त कवि का लक्ष्य नहीं होता, पर वह वैसा हुए बिना नहीं रह सकता।

परमसत्ता के प्रति परमानुरक्ति 'भक्ति' की संज्ञा से अभिहित की जाती है। 'दर्शन' का सामान्य अर्थ 'देखना' है, किन्तु विशिष्टार्थ में तात्विक ज्ञान को 'दर्शन' कहा जाता है। यह ज्ञान ऐन्द्रिय बोध तथा तार्किक विश्लेषण से भिन्न होता है, यद्यपि उसे इन सोपानों से गुजरना पड़ता है। ऐन्द्रिय प्रेक्षण, तथ्यात्मक निरीक्षण, तार्किक - बौद्धिक विश्लेषण की चरम परिणति परमानुभूति के रुप में होती है। ब्रह्म , जगत् , जीव , माया तथा मोक्षादि के सम्बन्ध में बौद्धिक चिन्तन मनन को सामान्यत: 'दर्शन' की संज्ञा प्रदान की जाती है, किन्तु विशिष्टार्थमें परम तत्व के सहज बोध को 'दर्शन' का अभिधान दिया जाता है। इस 'सहज ज्ञान' को 'आध्यात्मिकानुभूति' भी कहते हैं। तुलसी [१] और

१- रा०मा०- ७।१२२।६, १।१४२।४, १।४४

'भागवतकार'[1] का दर्शन' भी इसी अर्थ में ग्राह्य है अर्थात् तुलसी और व्यास बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। विश्व के अन्तराल में परमरहस्य के रूप में विद्यमान अनिर्वचनीय शाश्वत सत्ता- विषयक ज्ञान या उसका साक्षात् अनुभव 'दर्शन' कहा जा सकता है। मन-वाणी- इन्द्रिय ,बुद्धि से असंवेद्य परमसत्ता का अपरोक्षानुभव' 'आत्मज्ञान', 'आध्यात्मिक बोध' , 'ब्रह्मज्ञान' आदि संज्ञाओं से भी अभिहित किया जाता है। 'दर्शन' का वास्तविक अर्थ यही है। यहां आकर दर्शन और अध्यात्म का भेद विलुप्त हो जाता है।

भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु आध्यात्मिक तत्व ही है। आध्यात्मिक तत्व से विहीन 'दर्शन' को बौद्धिक विलास कहा जाता है। भारतीय दर्शनों का लक्ष्य सांसारिक बन्धनों-क्लेशों से मुक्ति तथा परमतत्व परम चेतना की उपलब्धि की प्रेरणा भारतीय दर्शनों के मूल में क्रियाशील दिखायी पड़ती है। जीव- जगत् की उत्पत्ति, जीवन मरण के रहस्य , दु:ख-सुख के मूल कारण, पुरुष- प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान 'आध्यात्मिक बोध' कहा जाता है। 'दर्शन' का वास्तविक अर्थ यही है। जीव- जगत् , प्रकृति- माया, मन-बुद्धि आदि विकारों या परिवर्तनों के मूल में एक शाश्वत अपरिवर्तनीय सत्ता का साक्षात्कार या चरम बोध 'दर्शन' कहा जा सकता है। डा० भगवानदास के शब्दों में --'दीख पड़े, जिससे सब देश, सब काल, सब अवस्था में अपना ही, आत्मा का ही, स्व का ही' मैं ' का ही प्राधान्य, राज्य, वंश ,देख पड़े , जिससे दु:ख के मूल का उच्छेद हो जाय, सब सुख का रूप बदल कर असीम्य शान्ति में परिणत हो जाय वह सच्चा दर्शन है।'[2]

१- श्रीमद्भागवत- १।६।३४, १।३३परमतत्व के साक्षात्कार को दर्शन कहा है।
२- दर्शन का प्रयोजन, पृष्ठ- २०

आध्यात्मिकता- दार्शनिकता प्रत्येक भारतीय के रुधिर में प्रवहमान है ।[1] हर भारतीय के जीवन का लक्ष्य कण- कण में व्याप्त परम् चेतना का साक्षात्कार रहा है + ,इसीलिए इस देश में अनादिकाल से ही इस तत्व की उपलब्धि के लिए विविध प्रयत्न होते रहे हैं । ऐसे ही प्रयासों को 'दर्शन' की संज्ञा क दी गयी - है ।

परम सत्य को प्राप्त करने के विविध साधनों -- ज्ञान, योग, कर्म आदि- में भक्ति का स्थान अति महत्वपूर्ण है । ज्ञान, योग, कर्म और भक्ति आदि का विवेचन- विश्लेषण दार्शनिक विषय माना जाता है । साधन और साध्य की चर्चा दर्शन का अंग होती है । साधन और साध्य का सम्बन्ध जीव, जगत् , प्रकृति एवम् माया से होता है, अतएव इनकी चर्चा भी दर्शन की परिधि में आता है । भक्त हो या कवि अथवा भक्त कवि हो, दर्शन उसके कृतित्व में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रवेश कर ही जाता है । 'दर्शन' को बुद्धि तक सीमित मानने पर भी उसे कविता और भक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में यह बुद्धि (दर्शन) और हृदय (भक्ति एवम् कविता) का समन्वय है । काव्य में भावतत्व की प्रधानता होने पर भी विचार तत्व की उपेक्षा नहीं होती । भक्ति काव्य या कविता का जीवन अथवा रस है और दर्शन इसका अंग कहा जा सकता है । इससे स्पष्ट है कि भक्तिपूर्ण काव्य दार्शनिक चर्चा से अस्पृष्ट नहीं रह सकता । भक्त कवि जीव और जगत् की अनित्यता - नश्वरता से विषण्ण -विरक्त होकर भगवान् की शरण में जाता है अथवा समस्त सृष्टि को अपने आराध्य के रूप में देखने लगता है । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के हृदय का

१- किसी विदेशी ने कहा है --

सम्बन्ध ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् से स्थापित हो जाता है, वह जीव और जगत् को भी गहरायी से देखने- समझने लगता है। परम सत्य और परम सत्य के साथ जीव- जगत् की वास्तविकता का साक्षात्कार एवं कथन "दर्शन" कहा जाता है। भक्त कवि इस दर्शन वर्णन से तटस्थ नहीं रह सकता। भगवद्भक्ति में मग्न व्यक्ति दार्शनिक तर्क- वितर्क में नहीं पड़ना चाहता और न यह उसकी साधना का लक्ष्य होता है, किन्तु वह इससे बच नहीं पाता। भक्त्यात्मक काव्य में दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति "ईश्वर में परानुरक्ति" की प्रेरणा से सहज ही हो जाती है। भक्त कवि को यह उपलब्धि सायास नहीं, अपितु अनायास होती है। तुलसी और व्यास की दार्शनिकता इसी परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है। हमारा अभीष्ट इतना ही है कि "भागवत" और "तुलसी साहित्य" दोनों में प्रधानता भक्ति की है, किन्तु दार्शनिकता दोनों में अनुपस्थित या उपेक्षित नहीं है। यह उनकी भक्ति का अविभाज्य अंग है। जहाँ भक्ति की सहजाभिव्यक्ति होती है, वहाँ दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा अनायास ही आ जाती है।

भारतीय धर्म, चिन्तन एवम् दर्शन का केन्द्र आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार है। वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक साहित्य तक में दर्शन का यही रूप अभिव्यक्त हुआ है। भारतीय दर्शन जीव-ब्रह्म के ऐक्य पर बल देता है। इस ऐक्य का प्रतिपादन दर्शन और काव्य की मिली जुली शैली में हुआ है। दूसरे शब्दों में दर्शन और काव्य का मिश्रण भी भारतीय चिंतन का वैशिष्ट्य रहा है। वेदोपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, तथा गीता, आदि में दोनों धाराओं का संगम स्पष्ट है। तुलसी और व्यास ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है। भारत में शुष्क- नीरस, तथ्यात्मक, स्थूल एवम् तार्किक चिन्तन को महत्व नहीं दिया गया है अर्थात् यहाँ दर्शन को भी रागात्मक रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा रही है। तुलसी

ने भी दार्शनिक- आध्यात्मिक चिन्तन को राग का विषय बना कर प्रकट किया है। पाश्चात्य दर्शन ( ) ऐंद्रिय प्रत्यक्ष या तथ्यात्मक निरीक्षण तक सीमित है, जब कि भारतीय दर्शन का लक्ष्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष रहा है। "फिलासफी" का अर्थ विद्यानुराग(अनुराग तथा = विद्या) है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में -- पश्चिम का तत्वज्ञ उस नाविक के समान होता है, जो बिना किसी गन्तव्य स्थान का निर्धारण किये ही अपने नौका विचार-सागर में डाल देता है।"[१] पाश्चात्य दर्शन रहस्यमय वस्तुओं की जिज्ञासा के शमन तक सीमित है, जब कि भारतीय दर्शन आत्मा की मुक्ति तक विस्तीर्ण दिखायी पड़ता है। भारतीय दर्शन वस्तुत: मोक्षशास्त्र, निर्वाणदायिनी विद्या या आत्मविज्ञान कहा जा सकता है, जबकि पश्चिमी "फिलासफी" एक प्रकार की "भूतविद्या" ही है। पश्चिम में काव्य और दर्शन का वह सामन्जस भी परिलक्षित नहीं है, जो भारतीय साहित्य में पग- पग पर मिलता है। अनुभूतिजन्य ज्ञान की जिस काव्यात्मक प्रस्तुति के दर्शन तुलसी साहित्य में होते हैं, उसका स्रोत वेदों, उपनिषदों, "रामायण" "महाभारत" तथा कालिदास के ग्रन्थों में उपलब्ध है। अनुभवगम्य विषय-विषयी की भावात्मक अभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

अब हम श्रीमद्भागवत के उन सैद्धान्तिक एवम् दार्शनिक मान्यताओं को प्रस्तुत करेंगे। जिनका प्रभाव तुलसी साहित्य पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावजन्य रहा है। अस्तु इसी भागवतीभक्ति दर्शन अथवा वैष्णव धर्म-दर्शन का प्रवाहित रूप हिन्दी जगत् में रामभक्ति काव्य धारा और कृष्ण भक्ति काव्य धारा में रूपान्तरित होगया है। क्योंकि श्रीमद्-भागवत वैष्णव अवतारों की लीलात्मक चर्या का कथा बृहत् पुराण है।

१- भारतीय दर्शन, पृष्ठ- ६

(क)- जगत का स्वरूप:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

श्रीमद्भागवत में ब्रह्म द्वारा जड़ चेतनात्मक जगत की उत्पत्ति का आधार सिद्ध किया गया है कि उनसे ही जड़ एवम् चेतन दो पदार्थ आविर्भूत हुए।[1] प्रधान चेतन पदार्थ को जीव या पुरुष कहाजाने लगा और जड़ पदार्थ को जगत।[2] यह दोनों पदार्थ माया के त्रिगुणात्मक संयोग का ही परिणाम हैं। इसीलिए सांख्यकार, त्रिगुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं।[3] जगत का शाब्दिक अर्थ - गति युक्त, परिवर्तन शील, एवम् प्रवाहमान युक्त है, संसार शब्द का अर्थ भी इसका समशील है अतः जगत और संसार एक ही प्रवाह के दो पहलू हैं।

भारतीय दार्शनिकों ने जगत के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार अभिव्यक्त किए हैं। कुछ दार्शनिक जगत को असत्य, मिथ्या, एवम् झूठा बताते हैं तो कुछ सत्य एवम् ईश्वर रूप मानते हैं। जगत को असत्य मानने वालों में अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादक आचार्य शंकर प्रमुख हैं। जिन्होंने जगत को ब्रह्म की सत्ता से स्फूर्तिमान न मानकर गतिशील माना है, तत्वतः यह असत्य है, माया के त्रिगुणात्मक अवस्थाओं का विकार है। जिस प्रकार ब्रह्म की सत्ता के बिना माया अस्तित्व हीन है, उसी प्रकार यह जगत ब्रह्म की इच्छा के बिना गतिहीन है। यह उनका आप्त मत-ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। निष्कर्षतः की कसौटी पर सत्य है।

१- श्रीमद्भागवत- २।५।२२,३।२६।१६, ३।२६।१०,११।२४।३, ३।१०।१२, २।५। ३।५-६, ३।१०, ३।१२,११।२२,११।२४-२५

२- श्रीमद्भागवत- ११।२४।४

३- श्रीमद्भागवत- ३।२६।१०

भागवतकार भी जगत को मिथ्या स्वीकार करते हुये निम्नांकित श्लोक में अपनी मान्यता प्रतिपादित करते हुये लिखते हैं कि--

ये तै तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ।[१]

आशय यह है कि वही तत्व ज्ञान रूप दिव्य दृष्टि द्वारा झूठे भवसागर से पार हो सकता है जिसपर आपकी अनन्य कृपा भानु दृष्टि सदृश हो ।

श्रीमद्भागवतकार सत्यासत्य जगत को अज्ञान स्वम् अविद्या से उत्पन्न भ्रम सही मानते हैं -- जो पुरुष परमात्मा को आत्मा के रूप में नहीं -जानते हैं, उन्हें उस अज्ञान के कारण ही इस नाम रूपात्मक निखिल प्रपन्च की उत्पत्ति का भ्रम ही कारण बनता है। ज्ञान होते ही ये असत्य हीन जगत का प्रलय मिट जाता है। जैसे - रस्सी में भ्रम के कारण ही सांप की प्रतीति होती है और भ्रम के निवृत्त होते ही उसकी निवृत्ति हो जाती है। ठीक उसी प्रकार अविद्या के कारण जगत को सत्यासत्य कहना भ्रम मात्र है।[२] यह जगत सत्य तब भासित होने लगता है जब भगवत्स्वरूप सत्ता का पूर्ण ज्ञान सिद्ध हो जाता है। भेद प्रतीति की सम्भावना नहीं रह जाती है, तब वही जगत सिय राम मय सब जगत जानी के सदृश सत्य प्रतीत होने लगता है अन्यथा भेद बने रहने पर असत्य स्वम् दुखदायी ही प्रतीत होता है। भगवान की विराट शरीर की उत्पत्ति का यही सिद्धान्त है।

१- श्रीमद्भागवत- १०।१४।२४

२- श्रीमद्भागवत-१०।१४।२५- आत्मानमेवात्मतया विजानतां,
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते ।
रज्ज्वा महेर्भोगभवाभवौ यथा ।।

३- श्रीमद्भागवत-१०।१४।२२- तस्मादिदं जगद् शेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुख दुःखम्
त्वय्येव नित्य सुख बोध तनाव नन्ते
मायात् उधदपि यत् सदिवावभाति ।।

श्रीमद्भागवत में स्थान - स्थान पर उभयविध प्रपंच को भ्रम, मृषा, माया भान मात्र इत्यादि शब्दों में यह अभिव्यञ्जित किया गया है कि यह जगत की प्रतीतियां भ्रम के कारण ही प्रतीयमान हैं -- उदाहरण स्वरूप पृथ्वी भगवान से प्रार्थना करती हुई कहती हैं --

" भगवन् मैं (पृथ्वी) जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्राएं मन, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृ देवता, अहंकार और महत्तत्व कहां तक गिनाऊं यह सम्पूर्ण चराचर जगत आपके अद्वितीय स्वरूप में भ्रम के कारण ही पृथक् प्रतीत हो रहा है।

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ।"[१]

इस जगत में जो कुछ मन से सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता है, नेत्रों से देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान है, सपने की तरह मन का विलास है, इसलिये माया मात्र है, मिथ्या है।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ।।"[२]

१- श्रीमद्भागवत- १०।५६।३०,
अन्यत्र देखिये- १०।१६।३०, १०।८७।२५

२- श्रीमद्भागवत- ११।७।७
अन्यत्र देखिये- १२।४।२३-३०

भागवतकार ने वृक्ष के रूपक द्वारा संसार का चित्रण किया है। जिस प्रकार वृक्ष एक सूक्ष्म बीज का वृहत् एवम् विविध रूप है, वह चतुर्दिक फैल कर दूर दूर तक आकाश को आक्रान्त कर लेता है उसी प्रकार जगत या संसार सूक्ष्माति सूक्ष्म प्रकृति के तीन गुणों से विकसित होकर सब ओर फैला है। इसका आश्रय अर्थात् मूल एक है प्रकृति। इसके दो फल हैं-- सुख और दुःख, इसकी तीन जड़ें हैं - तीन गुण सत्व, रजस् और तमस्। चार रस हैं-- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पांच साधनों से इसे जाना जा सकता है, वे हैं पांच ज्ञानेन्द्रियां- श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका, छै इसके स्वभाव हैं-- उत्पन्न होना, अवस्थित रहना, बढ़ना, परिवर्तित होना, क्षय होना और अन्त में नष्ट हो जाना। सात इसकी छाल हैं। शरीर की सात धातुएं - रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, और शुक्र। आठ इसकी शाखाएं हैं-- पंचमहाभूत- पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन- बुद्धि एवम् अहंकार, इसके नौ द्वार हैं- मुख, दो नासिका छिद्र, दो कर्ण छिद्र, दो चक्षु, गुदा और मूत्रेन्द्रिय। दस इसके पत्ते हैं -- दस प्राण। इस वृक्ष पर दो पक्षी बैठते हैं -- जीव और ईश्वर। इस संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति का मूलाधार परमेश्वर ही हैं, इसकी रक्षा और नाश भी परमेश्वर के कारण होते हैं।[१] संसार की सत्यता का भान अज्ञान जन्य है क्योंकि सृष्टि से पहले और प्रलय के अनन्तर यह नहीं रहता। बीच में ही इसकी सत्ता का भान होता है। किसी वस्तु की परमार्थसत्ता तभी मानी जा सकती है जब वह तीनों कालों में विद्यमान रहे। संसार ऐसा नहीं है। इसीलिए वेदान्त में यह वाक्य प्रसिद्ध है- ब्रह्म सत्यम्, जगत् मिथ्या। भागवतकार ने इसी आशय का निम्नलिखित श्लोक लिखा है।

१- श्रीमद्भागवत- १०।२।२७-२८

मयद् पुरस्तात् उत यन्न पश्चात्
मध्ये च तन्न व्यपदेश मात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेणतत् स्यात् ।
तदेव तत्स्यारिति मे मनीषा ।।[१]

अर्थात् जो वस्तु पहले नहीं थी और जो बाद में भी न रहेगी तो मध्य में भी वह कहने भर के लिए है । परमार्थ सत्ता उसकी नहीं है । वह जो सत् प्रतीत होता है वह परमसत्ता के कारण है । जिस प्रकार अग्नि के कारण लौह पिण्ड उष्ण प्रतीत होता है वास्तव में उष्णता अग्नि की होती है उसी प्रकार जगत् की सत्ता का भान परमसत्ता के कारण है । परमसत्ता जगत् में अधिष्ठित है इसीलिए वह सत् प्रतीत होता है।

जगत की सृष्टि किस प्रकार हुई इस पर भी भागवतकार ने सांगोपांग विचार किया है । सृष्टि ,प्रलय आदि -सन्दर्भ सभी पुराणों में गणित- विचारित होते हैं । उनमें अपने अपने सम्प्रदाय का प्रभाव रहता है । भागवत भी इसका अपवाद नहीं है । पर मुल विचारणा सांख्य सिद्धान्तों पर आधारित है । वह इस प्रकार है--

प्रकृति कोई पृथक् स्वतंत्र तत्व नहीं है । वह परमेश्वर की ही शक्ति है । उसके गुण सत्व ,रजस् और तमस् भी परमेश्वर के ही गुण हैं । भगवान् है वह माया के गुणों से रहित और अनन्त । पर माया के द्वारा सृष्टि , स्थिति और प्रलय के लिए उपर्युक्त तीन गुणों की उनमें कल्पना करली जाती है । ये ही गुण अपने स्वभाव ,ज्ञान (सत्वगुण) क्रिया (रजस्) और द्रव्य (तमस्) के द्वारा मायातीत को कार्य, कारण और कर्तापन के अभिमान से आबद्ध कर लेते हैं ।

१- श्रीमद्भागवत- ११।२८।२१

पर ब्रह्म अपनी यह इच्छा जगाने पर कि " मैं एक से अनेक बनूं " अपने स्वरुप में ही स्वयं प्राप्त काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार कर लेता है। काल उपर्युक्त तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर देता है। स्वभाव उन्हें रुपान्तरित कर देता है और कर्म महत्तत्व को जन्म देता है। फिर रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होने पर महत्तत्व से ही ज्ञान, क्रिया और द्रव्य का विकार उत्पन्न हो जाता है। यह विकृत महत्तत्व ही अहंकार कहलाता है जिसके तीन भेद हैं - वैकारिक, राजस और तामस्। इनमें क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रिया शक्ति और द्रव्यशक्ति की प्रधानता होती है। तामस् अहंकार से आकाश, उसकी तन्मात्रा और शब्द उत्पन्न हुए। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी की क्रम उत्पत्ति हुयी। यह हुई तामस् अहंकार की सृष्टि।

वैकारिक अहंकार से मन और दस इन्द्रियों के दस अधिष्ठातृ देवताओं की सृष्टि हुई। तैजस अहंकार से दस इन्द्रियां उत्पन्न हुयी। साथ ही ज्ञान शक्ति रुप बुद्धि एवम् क्रियाशक्ति रुप प्राण की उत्पत्ति भी तैजस अहंकार से ही हुई। यह सृष्टि का सूक्ष्म रुप है।

भगवदिच्छा से ही ये जब आपस में मिल गये तो पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माण्ड पहले सहस्रों वर्ष पर्यन्त निर्जीव पड़ा रहा भगवान ने उसे काल, कर्म और स्वभाव के कारण सजीव कर दिया समस्त दृश्यमान जगत् इस सजीव ब्रह्माण्ड के ही भिन्न भिन्न अवयव हैं।

इस प्रकार यह जगत् चिच्छक्ति, जो परम् सत्ता भी है उस का ही विवर्त है। इसमें सत्यता की अनुभूति परमसत्ता के आधार पर है। स्वयम् जगत् अध्यासमात्र हैं, विशुद्ध मानसी परिकल्पना।[1]

--

१- श्रीमद्भागवत- २।४

(क)- जगत का स्वरूप :-

तुलसी- साहित्य में -

कविवर तुलसी ने जगत के विषय में ३ प्रकार की उक्तियाँ को प्रस्तुत किया है :--

१- राम से ही जगत् प्रादुर्भूत हुआ अर्थात राम ही जगत के परम कारण हैं।

२- जगत, झूठा, असत्य, मिथ्याजनक, प्रपंचात्मक एवम् माया का विलास है।

३- जगत सत्य भी है और असत्य भी, या दोनों रूपों में अभिव्यक्त हुआ है, अथवा तीनों स्तर अविद्या के कारण भ्रमात्मक है।

प्रथम - राम ही जगत के परम कारण हैं:-

तुलसी की दृष्टि में राम ही जगत के परम कारण है।[1] यह जगत उन्हीं से आविर्भूत हुआ अत: उन्हें ही जगदाधार कहा गया है।[2] उन्हीं से माया अव्यक्त प्रकृति काल, स्वभाव कर्म, गुण, महत्तत्व, अहंकार चित्त, मन, आकाशादि पंचमहाभूत, तन्मात्राएं अष्टधा प्रकृति, परमाणु चिच्छक्ति, इन्द्रियां, अधिष्ठातृ देवता, प्राण, ब्रह्माण्ड तीनों लोकों चौदह भुवनों, सप्तावरण त्रिविध सृष्टि, विविध प्रकार के सृष्टि विस्तार

१- वि०प०- ५३।७, रा०मा०- ६।१०३ छंद -१,

२- रा०मा०- ३।१२।४, १।१६७।३,

का कार्य सम्पादित हुआ ।[1] इसलिए उन्हें परेश[2] भुवन निकाय पति,[3] चराचर नायक[4] आदि- मध्य और अवसान के रामक[5] उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार की त्रिशक्तिमान शक्ति के परम शक्तिमान[6] कारण के भी

१- दोहावली- २००, विनयपत्रिका- ५४।२-३, २०३।१-२, २४६।३-४
रा०मा०- ७।१३। छन्द -५,
वि०प०-५४।२-३ - "प्रकृति महत्तत्व सब्दादि गुन देवता व्योम - मरुदग्नि अमलांबु उर्वी ।
बुद्धि मन इन्द्रिय प्रान चित्तातमा काल परमानु- चिच्छक्ति गुर्वी ।।
सर्वत्रमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तम व्यक्त- गत भेद विष्णो ।।"

२-रा०मा०- १ ।११६।४

३- रा०मा०- १।५१।छं०, वि०प०-६८।४, श्रीमद्भागवत- ८।१२।४,

४- रा०मा०- ६।१०२।२, कवितावली- ७।१०१,

५- वि०प०-५४।४-
आदि मध्यान्त भगवंत त्वं सर्वगतमीश पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी ।
यथा पटतंतु घट मृत्तिका, सर्पस्रग दारुकरि कनक कट कांगदादी।।
श्रीमद्भागवत- ६।१६।३६, वि०प- ७८।३-
आदि, अन्त मध्य राम साहिबी तिहारी ।।

६- कवितावली- ७।१२६, १।१५, रा०मा०- १।२०६।२, १।२४६।२,
रा०मा०- १।२००।१, १।५०।३ , विनयपत्रिका - ७७।२,
रा०मा०- २।२८।२ - "भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई ।।"

कारण [1] अर्थात निमित्त और उपादान दोनों कारण करण है। [2] वे ही जगत के कारण कार्य हैं, [3] अतः उन्हें ही सृष्टि और सृष्टा दोनों ही कहा जाता है। [4] वही, भगवान [5] स्वामी, [6] परमात्मा [7] प्रभु [8] एवं परमेश्वर [9] है।

१- कवितावली - ७।१२६-

काल्हु के काल, महाभूतन के महाभूत, कर्म हू के कर्म, -
निदान के निदान हौ।

२- वि०प०- ५५।६, रा०मा०- १।२०८

३- श्रीमद्भागवत- ५।१८।५

४- वि०प०- ५३।७,

५- रा०मा०- २।५४।१,७।७२।२, वि०प०-५६।२, दोहा० ११३

६- रा०मा०- १।१५०।३, ३।३६।१,

७- रा०मा०- १।११६।३, वि०प०- ५२।७,
श्रीमद्भागवत- ३।३२।२६

८- रा०मा०- ३।४।६, वि० प० - १०७।५,
रामाज्ञा प्रश्न- ५।५।६,

९- रा०मा०- ३।४।६, ५।३६।१,
कवितावली- ७।१२७ ,

इसीलिये डा० उदय भानुसिंह अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहते - " यह नाम रूपात्मक जगत भगवान का आयतन है, भगवत- रूप है । कालवादियों का काल, वैशेषिकों का परमाणु, शैवों की चिच्छक्ति, सब इसी के अन्त-र्भूत है । भगवान से प्रकृति, अन्तःकरण चतुष्टय, पंच तन्मात्राएं, अपंचीकृत पंचमहाभूत, देवता, पंच प्राण दस इन्द्रियां और स्थूल जगत उत्पन्न हुए । विष्णु राम ही इन तत्वों के अव्यक्त रूप कारण भी हैं ।"[१क]

१-क- तुलसीदर्शन मीमांसा- पृ०- १४६- ४७

ख- नोट- तुलसी ने चराचर जगत के सभी रूपों का अपने साहित्य में उल्लेख किया है । कतिपय उद्धरण द्रष्टव्य है:-

(I)- अन्तःकरण चतुष्टय- रा०मा०- ६।१५क -

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।

(II)- पंच तन्मात्राएं- विनयपत्रिका- २०३।६-

पांचइ पांच परस, रस सब्द गन्ध अरु रूप ।

(III)- पंचमहाभूत- रा०मा०- ५।५६।१-२, -

गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ।

तव प्रेरित माया उपजाए । सृष्टि हेतु सब ग्रंथहि गाए ।

(IV)- देवता- रा०मा०-१।११७।३- बिषय करन सुर जीव समेता ।

(V)- पंचप्राण- पंचाच्छरी प्रान मुद माधव- वि०प०-२२।७

(VI)- दस इंद्रियां- वि०प० २०३।११-

दसइं दसहु कर संजम जो न करिअ जिय जानि ।

(VII)- स्थूलजगत- रा०मा०- ३।१३।३- ऊमरि तरु बिसाल तव माया ।

फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया ।।

तुलसी ने इस जगत की सृष्टि प्रक्रिया को उपनिषदों[1] पुराणों[2] एवम् सांख्य[3] तथा वेदान्त[4] ग्रन्थों से ग्रहण किया है। सांख्य वर्णन तो ऐसा जान पड़ता है कि इन्होंने श्रीमद्भागवत के कपिल द्वारा प्रतिपादित माता देवहूति को उपदिष्ट प्रवचन से अनुकृत किया हो।[5] डा० उदयभानुसिंह के मतानुसार- तुलसीदास के उत्तमर्ण उपनिषदों, पुराणों और सांख्य, वेदान्त ग्रन्थों में सृष्टि प्रक्रिया की अनेक प्रकार से सांगोपांग मीमांसा की गयी है। सांख्य शास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्व विचार निपुन भगवाना। -- राम चरित मानस की यह उक्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदास को सांख्य दर्शन शास्त्र और विशेष कर भागवतपुराण के कपिल द्वारा प्रतिपादित तत्व निरूपण मान्य हैं। तुलसी समन्वयवादी है। तत्व विभाग वर्णन में भी उन्होंने समन्वय बुद्धि से काम लिया है।[6]

१- छांदोग्योपनिषद- ६।३, बृहदारण्यक उपनिषद-१।४, मु०उ०-
- १।१।६-८, २।१, श्वे०उ०अ०-१, प्र०उ०-६।४-५, ऐतउ०-अध्याय-१,

२- विष्णु पुराण-१।२, १।४-८,
श्रीमद्भागवत- २।५, ३।५-६, ३।१०, ३।१२, ११।२२, ११।२४-२५,
कूर्मपुराण- १।४-८,

३- सांख्य कारिका- २२-५३, सांख्या सार- १।३,

४- वेदान्त सार- पृ०४-७, पन्चदशी- १-३,

५- श्रीमद्भागवत-३।२६-
रा०मा०- १।१४२।४- सांख्य शास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना।
तत्व विचार निपुन भगवाना॥

६- तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ- १४७

अतः स्पष्ट है कि यह जगत् राम से ही प्रादुर्भूत हुआ। सृष्टि के पूर्व केवल राम ही थे।[१] उन्हीं के संकल्प से जड़ चेतनात्मक विश्व का उदभव हुआ जो कुछ रह जायेगा वह केवल राम ही बचेगा।[२] अतः वही सर्व उर-वासी है[३] विश्वात्मा[४] और विश्वायतन[५] रूप है। वही व्यापक[६] विभु[७] और अन्तर्यामी[८] है।

१- श्रीमद्भागवत- २।६।३८,

२- श्रीमद्भागवत- १०।४७।३०, ६।४।३०

३- रा०मा०- ५।५०।२, ६।१७।२,
श्रीमद्भागवत- १।८।१४, १।६।१०

४- वि०प०- ५६।३,
रा०मा०- ६।३५।३,
श्रीमद्भा०- ३।२६।२१

५- वि०प०-५४।१,

६- रा०मा०- १।१३।२, १।२३।२,
वि०प०- ५३।८,
श्रीमद्भा०- ८।१२।४

७- रा०मा०- ३।४।६,
वि०प० - ५३।३

८- रा०मा०- २।२०१,
वि०प०- ११७।५,१७१।३
जानकी मंगल- ११५

दूसरी मान्यता जगत को असत कहने वाले अद्वैत सम्प्रदाय के प्रतिपादक आचार्य शंकर है। जिन्होंने ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या कहा है -- ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। इनके इस अद्वैत सिद्धान्त का मूल लक्ष्य ब्रह्म ही परम सत्य है जिनके संकल्प से जड़ चेतनात्मक प्रकृति स्वरुपा माया की सृष्टि हुयी। सृष्टि माया का कार्य है, अतः प्रपन्चनात्मक होने से मिथ्या है।

तुलसी ने जगत को असत्य[1] असत[2] अविद्यमान[3] झूठा[4] तथा

१- रा०मा०- १।११८।१-

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई।।

२- वि०प०- १२०।४-

श्रुति गुरु साधु समृति- संमत यह दृश्य असत दुखकारी।

३- वि०प०- १२०।२-

ज्यों अविद्यमान जानिय संसृति नहि जाइ गोसाईं।

४- वि०प०- १२१।५-

तुलसिदास सब विधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।।

रा०मा०- १।११२।१-

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।।

कवितावली- ७।३६-

झूठो है झूठो है, झूठो सदा जगु, संत कहंत जे अन्तु लहाहै।
ताको सहै, सठ! संकट कोटिक, काढत दंत, करंत हहाहै।।

मृणा के प्रयोग एक ही समशील अर्थों में अभिव्यन्जित किए हैं। तुलसी ने अपने साहित्य में जगत के मिथ्यापन को समझाने के लिए अनेक प्रकार के उपमानों या दृष्टान्तों की योजना को व्यहृत किया है-

१- रजत सीप महुं मास जिमि जथा मानुकर वारि।

२- जग नभ वाटिका रही है फलि फूलि रे।

३- बूढ़यो मृग बारि खायो जेवरी को सांप रे।

४- मृग भ्रम- वारि सत्य जिय जानि।
तहं तू मगन भयो सुख मानी ।।

५- स्रग महं सर्प विपुल भयदायक, प्रगट होइ अबिचारे।

६- सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला।

७- मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।

८- उमा कहउं मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।

९- सब फोकट साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन द्वै ।।[1]

१- रा०मा०- १।११७,
वि०प०- ६६।४, वि०- ६३।२, १३६।२ , १२२।३
रा०मा०- ३।३६।२, ३।६३।१, ३।३६।३
कविता- ७।४१
अन्यत्र च- वि०- ७४।२, ११६ ।३-४, १२०।३, १२१।२ १४०।२,१८८।३,
रा०मा०- १।११८।१, २।६२ ,
दोहावली- २४५-४७

उपर्युक्त उपमानों एवं दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि जगत असत्य एवं मिथ्या है, केवल भ्रम के कारण ही व्यक्ति अनेकों क्लेशों का सामना करता है, तुलसी दास विनयपत्रिका में उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं --

'जो जग मृषा ताप त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे ।
कहि न जाय मृग वारि सत्य,भ्रम ते दुख होइ बिसेखे ।
सुभग सेज सोवत सपने, वारिधि बूढत भय लागे ।
कोटहुं नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागे ।।[१]

अतः स्पष्ट है कि जगत मिथ्या है, मायिक है, वह माया की रचना[२] होने के कारण उसे माया ही कहा जायेगा ।[३] अतः आचार्य शंकर द्वारा उपस्थापित मान्यता तर्क संगत एवं प्रामाणिक है ।

१- वि०प० १२१।२-३

२- रा०मा०- २।२४७।१ -

कहि जग गति मायिक मुनि नाथा ।
कहे कछुक परमारथ गाथा ।।

३- रा०मा०- ३।१५।२-

गो गोचर जहं लगि मन जाई ।
सो सब माया जानेहु भाई ।।

रा०मा०- ३।१३।३- ऊमरि तरु बिसाल तव माया ।
फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया ।।

रा०मा०- ३।१५।३- एक रचै जग गुन बस जाकें ।

तृतीय मान्यता - तुलसी ने जगत को सत्य और प्रामाणिक भी सिद्ध किया है उनका उद्देश्य जगत का अनित्यत्व बतलाकर संसार विषयासक्त जीव को उदबोधन देकर उसे परमार्थ रूप रामभक्ति की ओर प्रेरित करना है।[१] इसलिए जगत की सत्यता व्यावहारिक दृष्टि से सापेक्ष है। प्रातिभासिक अलीक सत्ताओं की तुलना में जगत ही सत्य है। वह केवल परमप्रकाशक राम की तुलना में गौण है। इसलिए कि राम परमार्थ रूप है और जगत परमार्थ न होकर व्यावहारिक है। तुलसी साहित्य में नाना प्रसंगों में जगत की सत्यात्मक अभिव्यक्ति हुयी है केवल व्यावहार पक्ष के लिए।[२] मानस में शंकर एवम् लक्ष्मण के प्रसंगों में बड़ी ही विलक्षणता एवम् रोचकता के साथ तुलसी ने सत्य जगत की अभिव्यन्जना की है।

कतिपय पंक्तियां दृष्टव्य है-

(1) जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।।
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।

१- वि०प०- १४०।२- नहिं सत्संग भजन नहिं हरि को,
श्रवन न राम- कथा अनुरागी।
सुत वितदार भवन ममता, निसि सोवत अति, न कबहुं मति जागी।।

२- वि० ५६।२, ६९।८, ६२।१, ११७।५, १२६।३, १४१।६,
१४२।११, १७३।६, ५६।८, १४३।५, १८५।५, ७४।४,
२०२।२, ७२।१, १०५।१, ११६।३

रजत सीप महुं भास जिमि जथा भानुकरि बारि ।
जदपि मृषा तिहुं लोक सोइ भ्रम न सकै कोउटारि ।।
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई ।
जदपि असत्य देत दुख अहई ।

(11)- जोग वियोग भोग भल मंदा ।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ।
जनमु मरनु जहं लगि जग जालू ।
संपति बिपति करमु अरु कालू ।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू ।
सरगु नरकु जहं लगि व्यवहारू ।
देखिअ सुनिअ मनमाही ।
मोहमूल परमारथु नाहीं ।[1]

दूसरी दृष्टि में तुलसी ने जगत को सत्य मानने की स्वीकृति इसलिए की है कि इस जगत का सृष्टि प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है । अत: वह अनन्त राम की रचना होने से अनन्त है । इसलिए तुलसी ने जगत को संसार विटप, जन्म मरण रूप संसार कहा है ।[2] तृतीय बात यह भी उल्लेखनीय है कि तुलसी के आराध्य राम का विश्व में वास होने से तथा

१- रा०मा०- १।११७।४, १।११८।१, २।६२।३-४

२- रा०मा०- ७।१३। छन्द -५,
विनयपत्रिका- २०२।२ ,

जगत राम मय होने से भी नित्य है।[1] क्योंकि राम जगत के उपादान एवं निमित्त कारण भी है। जब साधक को जगत्कारण राम का ज्ञान हो जाता है, तो वह जगत ही राम रूप में परिवर्तित हो जाता है।[2]

तृतीय प्रस्थापना में कविवर तुलसी जगत को सत्यासत्य भ्रम या अज्ञान का कारण बताते हैं यथा:--

> कोइ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै ।
> तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ।।[3]

कहने का तात्पर्य यह है आत्म तत्व का परिज्ञान न होने के कारण जगत को कोई सत्य, कोई असत्य बतलाते हैं। यह निर्णय अविधा का कार्य है, वास्तव में विद्या में इसकी भेद प्रतीति ही नहीं है।

१- रा०मा०- १।१२।२.... व्यापक विश्वरूप भगवाना ।
   रा०मा०- ६।१४ - -मनुज- बिस्व रूप रघुवंश मनि ।
   रा०मा०- ६।१५ क- मनुज वास सचराचर रूप राम भगवान ।
   रा०मा०- १।१४६।४- बिस्व वास प्रगटे भगवाना ।
   रा०मा०- १।७ग- जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि ।
   रा०मा०- १।८।१- सीय राम मय सब जग जानी ।
   वि०प० - ५४।१ - बिस्व-विख्यात, विश्वेश, विश्वायतन ।
   रा०मा०- ६।११।८- सब रूप सदा सब होइ न सों ।
   वि०प० - ५४।२- भुवन भवदंग कामारि वंदित
२- रा०मा०- १।८।१- सीय राम मय सब जग जानी ।
   रा०मा०- ३।३६।२- सातवं सम मोहिमय जग देखा ।
   रा०मा०- ७।११०।८- ईश्वर सर्वभूत मय अहई ।
   रा०मा०- ७।११२ ख- निज प्रभु मय देखहिं जगत ।
३- वि०प०- १११।४

माया का स्वरूप:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार-

श्रीमद्भागवत में ब्रह्म की अजा शक्ति को ही माया कहा गया है।[1] जब ब्रह्म को लीला करने की इच्छा हुई तभी उन्होंने योगमाया को आधार बनाकर जड़ एवम् चेतन दो पदार्थ रूप में चेतन जीव एवम् जड़ जगत की उत्पत्ति की।[2] यही विश्व की प्रपन्च भूता ब्रह्म की अभिन्न शक्ति हैं,[3] इसी को ईश्वर की कारयित्री शक्ति कहा जाता है।[4] यही माया ब्रह्म के सगुण रूप में नाना अवतारों में लक्ष्मी, सीता, एवम् राधा इत्यादि के रूप में प्रगट होती हैं।[5]

१- श्रीमद्भागवत -११।३।३ - एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्म प्रसिद्धये।।

आदि पुरुष परमात्मा जिस शक्ति से सम्पूर्ण भूतों के कारण बनते हैं और उनके विषय भोग तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए अथवा अपने उपासकों की उत्कृष्ट सिद्धि के लिए स्वनिर्मित पंचभूतों के द्वारा नाना प्रकार के देव, मनुष्य, और शरीरों की सृष्टि करते हैं, उसी को माया कहते हैं।

२- श्रीमद्भागवत- ३।१०।१२- "विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णु मायया।"
श्रीमद्भागवत- ११।२४।३- आद्यन्तं वीर्यं सासूत महत्तत्वं हिरण्मयम।।"
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं विपा सम भवत बृहत्।।
क्रमशः देखिए- ३।२६।१०-७२, ११।३।४-१६, ११।२४।४-६

३- श्रीमद्भागवत- ३।२६।१०

४- श्रीमद्भागवत- ११।३।१६- एषा माया भगवतः सर्ग स्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।।

५- श्रीमद्भागवत- ६।१६।६- विष्णुपत्नि महामाये महा पुरुष लक्षणे।"

यही शक्ति महा अवतारों के स्वरुप में अवतीर्ण महा-पुरुषों या भगवान की परमप्रिया कहलाती है।[1]

प्राचीनों ने इस माया के दो रुप निर्दिष्ट किये हैं- प्रथम विद्या माया और द्वितीय अविद्यामाया। विद्या माया ब्रह्म की प्रेरक शक्ति है, आत्मा ज्ञान की प्रसाधिका है। इसी से विश्व का सृजन होता है।[2] और अविद्या माया जीव को भवबन्धन में गतिशील करने वाली ईश्वर की भ्रामक शक्ति है[3] दुष्ट रुपा है, इसी अविद्या माया से आवृत मूढ़ जीव स्वरुप एवम् भगवत्स्वरुप को भूल कर भवबन्धन ग्रस्त हो गया है,[4] यही जीव की मोहित शक्ति है[5] अज्ञान, असत्, भ्रान्तिकारिणी जीव, भ्रामक शक्ति आदि कई समशील नाम है।

१-ऋ०रा०- १।१।१८
१-श्रीमद्भागवत- ६।१६।६- विष्णुपत्नि महामाये महापुरुष लक्षणे।
प्रयेथा मे महाभागे लोकं मातर्मोहस्तु ते।।

२-श्रीमद्भागवत- ४।२४।६१
"यो माययेदं पुरु रुप या सृजद् विभूर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः।
येभेद्द बुद्धिः सद्विवात्मदुःस्थया, तमात्म तन्त्रं भगवन् प्रतीमहि।।"

३- श्रीमद्भागवत-१।८।१६- माया जवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजम व्ययम्
न लक्ष्यसे मूढ दृशा नटो नाट्य धरो यथा।।"

श्रीमद्भागवत- १०।८४।१६- यन्मायया तत्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः।
यदीशित व्यायति गूढ ईहया।
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम्।।

४- श्रीमद्भागवत- ३।२६।५

५- श्रीमद्भागवत-१०।७०।३७-३-८
दृष्टामया ते बहुशो दुरत्यया।
माया विभो विश्व सृजश्च मायिनः।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्व शक्तिभिर्वह्वे रिवच्छन्न रुचो न मेहत्भुतम्।
"व तवेहितं कोहर्हति साधु वेदितुं।
स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः।
यद्विद्यमानात्म तयाव भासते तस्मै नमस्ते स्व-विलक्षणात्मने।

भागवतकार ने माया शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में किया है सामान्यतः माया वह शक्ति है जो अघटित घटना परीयसी तथा विचित्र कार्यकारण शीला है। तथा जिसकी निश्चयात्मिका प्रतीति तथा निरुपण मानव बुद्धि के लिए अत्यन्त दुःसाध्य है। अतः इस दुरत्यया माया का प्रभाव अपार है, सुर असुर, नाग नग, चर अचर काल- कर्म यहां तक की त्रिदेव भी इसके वश वर्ती हैं। यह समस्त जगत को नचाने वाली है। इसने जगत के सृष्टि विधाता को भी कईबार नचाया है।

श्रीमद्भागवत महापुराण का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म के निरुपण के साथ साथ सर्ग वर्णन भी अन्यतम है। इसीलिए सर्ग एवम् विसर्ग वर्णन में स्थूल दोनों ही रुप माया द्वारा क्रियाशील हैं।[1] भागवतकार का कथन है कि ईश्वर की प्रेरणा से गुणों में क्षोभ होकर रुपान्तरण होने से जो आकाशादि पंचभूत शब्दादि तन्मात्राएं, इन्द्रिया, अहंकार और महतत्व की उत्पत्ति हुई, उसे ही सर्ग संज्ञा से विभूषित किया गया है।[2] उस विराट पुरुष से उत्पन्न ब्रह्मा जी के द्वारा जो विभिन्न चराचर सृष्टियों का सृजन हुआ, उसे ही विसर्ग कहा गया है।[3]

१- श्रीमद्भागवत- २।१०।२५

२- श्रीमद्भागवत- २,१०।३- भूत मात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः।

श्रीमद्भागवत-१२।७।११- अव्याकृत गुण क्षोभान्महतस्त्रि वृतोऽहमः।
भूतमात्रेन्द्रियाधानां सम्भवः सर्गउच्यते।

३-श्रीमद्भागवत- २।१०।३- ब्रह्मणो गुण वैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः।

,, -१२।७।१२ - पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद बीजं चराचरम्।।

ब्रह्मा की सृष्टि का नाम 'विसर्ग' है।
ब्रह्मा के द्वारा जीवों की वासना के अनुसार जो एक बीज से दूसरे बीज का होना- चराचर की सृष्टि है, वही विसर्ग है।

वासना विशिष्ट सृष्टि का नाम विसर्ग है।

इन्हीं दो प्रकार की सृष्टियों से ही विश्व आच्छादित है आवरण युक्ता है, यह सब माया का ही प्रपंच है। पुराणकार का लक्षण ही सृष्टि वर्णन से सन्निहित होता है, काव्यकार की संयोजना में प्रतिपाद्य के निरूपण में माया का यत्र तत्र वर्णन करना ही – सहायक कार्य है।

अतः तत्वतः भागवतकार स्वम् तुलसी माया को अद्वितीय ब्रह्म की अभिन्न शक्ति रूप में ही अभिव्यक्त करते हैं। जिनका यह नाम रूपात्मक दृश्य सारोप है।

- -

माया का स्वरूप :-

तुलसी साहित्य के अन्तर्गत ब्रह्म राम की शक्ति को माया कहा गया है। वह शक्ति विश्व प्रपन्च की बीज भूता, ईश्वर की अपृगभूता, त्रिगुणात्मिका एवम् अनिर्वचनीया शक्ति है। ब्रह्म राम की शक्ति होने के कारण श्रीराम मायापति कहलाते है।[१] दूसरे शब्दों में उनकी यह व्यक्ताव्यक्त माया शक्ति सीता है।[२] तुलसी ने अपने साहित्य में माया और सीता को एक ही सम शील अर्थों में अभिव्यन्जित किया है।[३] जिस प्रकार ब्रह्म राम के निर्गुण और सगुण दो रूप माने गये है उसी प्रकार सीता (माया) के भी व्यक्त और अव्यक्त दो रूप बतलाए गये है।[४] ~~सन्तन~~ तुलसी ने व्यक्त रूपा सीता को माया तथा अव्यक्त माया को सीता कहा है। क्योंकि वही व्यक्त माया साकार रूप में वाणी का विषय होने से सीता कहलाती है।[५] राम जिस प्रकार निर्गुण है अर्थात अव्यक्त है और व्यक्त रूप में अवतार लेकर सगुण कहला ते हैं, उसी प्रकार सीता रूपी माया भी अवतार ग्रहण करती है।[६] श्रीमद्भागवत में रुक्मिणी को माया आदि शक्ति की सहायिनी रूप में घोतित किया गया है।[७]

१- रा०मा०- २।२९८।२ , विनयपत्रिका- १७७।३, दोहावली- २६७ वैराग्य संदीपनी- ४,

२- रा०मा०- १।१५२।२, २।१२३।१, गीतावली- २।२८।३

३- ,, - १।१।श्लोक-२।१२६।छन्द

४- सीतोपनिषद- ५, महामायाऽव्यक्त रूपिणी व्यक्ता भवति।'

५- रा०मा०- १।१।श्लोक-६ 'यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं'

रा०मा०- २।१२६।छन्द - 'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।'

६- रा०मा०- १।१५२।२ 'आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।'

७- श्रीमद्भागवत-

तुलसी पूर्व भारतीय मनीषियों ने अपने वांगमय में माया शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में व्यक्त किया है। शास्त्रों में माया को योग शक्ति,[१] शक्ति,[२] मोहकारिणी अनादि प्रकृति,[३] रहस्यमयी देवी शक्ति[४] भ्रान्ति कारिणी रचना,[५] इन्द्र जाल की शक्ति,[६] कपट प्रज्ञा,[७] अविद्या कार्य[८] एवम् शक्ति का कार्य,[९] जगत का वैतथ्य[१०] अविद्या[११] मोहकारिणी शक्ति[१२] इत्यादि विविध अर्थों में प्रयोग दर्शनीय है। कवि-वर तुलसी भी भारतीय मनीषा के प्रौढ चिन्तन के अनुकरणीय कवि हैं उन्होंने वेद पुराणों, महाभारत, स्मृति तथा आगमिक ग्रंथों में अनुस्यूत माया के शब्द व्यवहार को अनेक अर्थों में उद्धृत किया है। कविवर तुलसी ने माया

१- महाभारत उद्योगपर्व - ५।१६०।५६

२- ऋग्वेद- १।१५१।९, १।१६७।२, ४।३०।२१ और ५।३०।६ पर सायण भाष्य।

३- गौडपादकारिका- १।१६

४- श्वे०उ०- ४।६, महाभारत वन पर्व - ३१।३७, गीता ४।६

५- अभिज्ञान शाकुन्तल - ६।१०

६- ऋग्वेद- ३।५३।१ , महाभारत उद्योगपर्व- १६०।५४-५८ , गीता- ७।३५

७- ऋग्वेद ३।२७।७, ३।३४।६, और ४।१६।६ पर सायण भाष्य।

८- विवेक चूड़ामणि - ४०६

९- ऋग्वेद- १०।५४।२

१०-गौडपादकारिका- १।१७,२।३१

११- विवेक चूड़ामणि- ११०

१२- महाभारत वन पर्व- ३०।३२

की प्रकृति,[1] ईश्वर की आदि शक्ति,[2] अद्भुत, रहस्यमयी, अज्ञेय एवम् अनिर्वचनीय शक्ति[3] विश्व को नचाने वाली ईश्वरीय शक्ति,[4] ईश्वर की कारयित्री शक्ति,[5] अविद्या,[6] अपने- पराये का भेदभाव युक्ता,[7] दुर्जेय या आसुरी शक्ति,[8] इन्द्रजाल प्रवर्तिका,[9] मोह,[10] मोहकारिणी शक्ति,[11] जीव को बन्धन में फांसने वाली पाशशक्ति,[12] जगत को सत्य भासित करने वाली,[13] जी वभ्रामक शक्ति,[14] मिथ्या प्रतीति युक्ता,[15]

१- रा०मा०- ३।१३।३, ५।५६।२

२- रा०मा०- १।१५२।२

३- दोहावली- १२७,२००, रा०मा०- १।१।श्लोक -६

४- विनयपत्रिका ६८।३, १०३।३, रा०मा०- १ ।२०२।२

५- रा०मा०- १।१६२। छंद ३, १।२२५।२, श्रीमद्भागवत- ११।३।१६

६- रा०मा०- १।१८६।छंद-, ३।३६क, श्रीमद्भागवत- १।८।१६

७- विनयपत्रिका- ४७।५, रा०मा०- ३।१५।१

८- रा०मा०- १।१२६।१, १।१७१

९- रा०मा०- १।१८३।२, ५।१३।२

१०- रा०मा०- ४।२३।३, दोहावली- ६६ वैराग्य संदीपनी -३२

११- दोहावली- २६३, २७६ , रा०मा०- १।१४०।४,श्रीमद्भा०-१०।८४।१६

१२- विनयपत्रिका- ६०।८, रा०मा०- १।२००।२, ४।२१।१

१३- रा०मा०- १।११७।४, रा०मा ०- ३।१५।२

१४- विनयपत्रिका- ११६।१, १२३।१, १३६।१, रा०मा०- १।५१ ,
श्रीमद्भागवत- १०।८४।१६

१५- रा०मा०- ३।४३ ,
कवितावली- ७।११४,

छल कपट या धोखा आदि अमानवीय, गुणभूता[1] इत्यादि विविध अर्थों में "माया" शब्द व्यवहार को धोतित किया है। इस माया ने चराचर जगत के सुर असुर नाग नर, सभी प्राणियों को यहां तक कि काल, कर्म, और त्रिदेवों को भी वश में कर[2] अपनी अमित प्रभावोत्पादकता अभिव्यन्जित की है। इसने चराचर जगत के विधाता को भी कई बार नटी सदृश नचाया है और सम्पूर्ण जगत को नचाने का कार्य इस शक्ति की स्वाभाविकता है।[3] तुलसी ने इस माया को भगवान राम की दासी स्वम् उनके भ्रू संकेत पर नाचने वाली नटी बताया है।[4]

१- रा०मा०- २।३३।३, २।२१८।२

२- रा०मा०- ७।१३। छन्द-२, विनयपत्रिका - १०१।३ ,

रा०मा०- ७।७२।१, विनयपत्रिका- ६८।३, रा०मा०- ७।६०।२,

३- रा०मा०- ६०।२ -

"मन महुं करइ विचार विधाता।
मायावश कवि कोविद ज्ञाता।
हरि माया कर अमित प्रभावा।
विपुल बार जेहिं मोहि नचावा।।

श्रीमद्भागवत- १०।६०।३७-

" दृष्टवा मया ते बहुशो दुरत्यया माया विभो-
-विश्व सृजश्च मायिनः।

४- रा०मा०- ७।७१, ७।७२।१, ७।११६।२,

विनयपत्रिका- २४६।३,

कविवर तुलसी ने अपने साहित्य में राम की शक्ति रूपा माया के दो भेद विद्या औरअविद्या गिनाए हैं।[1] विद्या माया में जीव की बुद्धि देह से भिन्न आत्मा को चेतन मानती है, यही विद्या माया संसार की निवृत्ति का हेतु है।[2] तुलसी ने मानस में विद्या माया को राम जगत सृष्टि की प्रेरक शक्ति[3] एवम् विश्व सृजन की क्रियात्मक शक्ति माना है।[4] यह शक्ति राम की वशवर्ती होने के कारण प्रकृति के तीनों गुणों की संचालिका है। इसी माया के अधीन इन्द्रिय जगत, अतीन्द्रिय जगत तथा बौद्धिक जगत के अधिष्ठाता एवम् समस्त दृश्यमान सत्ता इसका स्वरूप है।[5] इसमें उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी विद्यमान है। अर्थात इसमें सृष्टि रचना का सामर्थ्य एवम् सृष्टि के कार्यों (अखिल ब्रह्माण्ड) के कार्य की शक्ति भी अन्तर्निहित है।[6]

१- रा०मा०- ३।१५।२- तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ।

अध्यात्म रामाय- ३।३।३२- (मायाद्विधाभाति विद्या विद्येति)

२- अ०रा०- २।४।३३-३४, ३।३।३३

३- रा०मा०- ३।१५।३- एक रचै जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।

४- श्रीमद्भागवत- ४।२४।६१ (यो माययेदं पुरुरूपया सृजत)-
अ०रा- १।१।१८,१।२।१५

५- रा०मा०- ३।१५।२- गो गोचर जहं लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।।

६- रा०मा०- ३।१३।३- ऊमरि तरु विसाल तव माया।
फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया।।

माया का दूसरा भेद अविद्या माया है जो जीव के सांसारिक भवबन्धन का हेतु है।[1] तुलसी ने कहीं कहीं माया[2] आदि समशील शब्दों का प्रयोग अविद्या के रूप में उपस्थापित किया है।[3] अनात्म पदार्थों में देह विषयक बुद्धि ज्ञान अविद्या है।[4] इसे हम यों भी कह सकते हैं असत्य को सत्य और सत्य को मिथ्या समझना ही अविद्या है।[5] यह षडविकारयुक्ता होती है, काम क्रोध लोभ मोह, मद, मात्सर्य तथा राजसी एवम् तामसी प्रकृतियां इसका आधान हुआ करती है। यह मोहकारिणी आवरण शक्ति संयुक्त होने के कारण धरती के ढावर पानी की भांति जीव को मलावृत किये हुए है।[6] इस अविद्या के दुष्प्रभावी परिणाम के कारण मूढ़ जीव अपने

१- रा०मा०- ३।१५।३- एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा।।

२- रा०मा०- ७।७१।४, ७।७१, दोहावली- २५३, वि०प०- १३६।१

३- रा०मा०- २।२६, ७।७८।१, ७।११३, ७।११८।२

४- विष्णुपुराण- ६।७।११, -
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या(स्वविषया) मतिः।
अ०रा०- २।४।३३- " देहोऽहमिति या बुद्धिर विद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते।"

५- विनयपत्रिका- १६०।६- साँच्यों जान्यो झूठ को झूठे कहं सांचो जानि।"
योगसूत्र- २।५- अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्म ख्यातिरविद्या।"

६- रा०मा०- ४।१४।३, भूमि परत भा ढावर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी।।"

आत्म स्वरूप एवम् भावत्स्वरूप से विस्मृत रहता है। इसी विस्मृति की धारणा से भवबन्धन का ग्रास बनता है।[1] अविद्या संसार के भवबन्धन का हेतु है और विद्या संसार की निवृत्ति का।[2]

तुलसी के साहित्य में सभी दर्शनों का प्रभाव है इसीलिए तुलसी सभी दार्शनिकों के सारग्राही विचारों को चिन्तन का आधार बनाकर साहित्य का सृजन करते हैं। सांख्य दर्शन में विश्व की प्रकृति (अव्यक्त) जड़ को ही स्वतन्त्र माना है लेकिन तुलसी चेतन परमात्मा राम को ही जड़प्रकृति का प्रेरक एवम् नियंता मानते हैं।[3] अद्वैत वेदान्तकार ने माया, अविद्या, अज्ञान को एक ही समशील शब्दों में अभिव्यक्त है।[4] उन्होंने विक्षेप और आवरण दो शक्तियों को अविद्या माया से उद्भूत माना है। सभी प्रवृत्तियों का कारण और रजोगुण की क्रियात्मक शक्ति विक्षेप कहलाती है। और आवरण शक्ति तमोगुण प्रधान होने के कारण जीव को संशय भ्रम रूप में

१- रा०मा०- १।११७।२, श्रीमद्भागवत- १।८।९६,
विनयपत्रिका- १३६।१, अ०रा०-१।१।१६-२२,

२- अ०रा०-२।४।२४ - अविद्या संसृते हेतु विद्या तस्या निवर्तिका।"

३- रा०मा०-१।५६।३ - "बहुरि राम मा यहि सिरु नावा।
पेरि सतिहि जेहिं झूंठ कहावा।"

रा०मा०- १।१२६।४- "श्रीपति निज माया तब प्रेरी।
सुनहु कठिन करनी तेहि केरी।।"

रा०मा०-३।४३।१- "राम जबहि प्रेरेहु निज माया
मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया।।"

४- ब्रह्मसूत्र- १।४।३- पर शांकर भाष्य, विवेक- चूड़ामणि- १ १०

किसी वस्तु में कुछ का कुछ अवभासित कराती है। यह शक्ति जीव की संसृति का निदान एवं उपर्युक्त विक्षेप शक्ति के प्रसार का हेतु है।[१] तुलसी ने भी विक्षेप शक्ति को विद्या और आवरण शक्ति को अविद्या माना है।[२] विद्यारण्य स्वामी चिदानन्द मय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति की दो विधाएं मानी है- माया और अविद्या। शुद्ध सत्व गुण प्रधान प्रकृति को उन्होंने माया कहा है वह सर्वज्ञ नियन्ता ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। मलिन सत्व गुण प्रधान प्रकृति अविद्या है। जीव उसका वशवर्ती है वह जीव का कारण शरीर है।[३] विद्यारण्य स्वामी का मत और तुलसी का विवेचन वस्तुत: एक ही है। नाम एवं शब्दों के भेद से अन्तर आना परिलक्षित होता है - ब्रह्म की मूल शक्ति को ही एक ने प्रकृति कहा है और दूसरे ने माया। उसी शक्ति के दो पदार्थों को एक ने 'माया' तथा अविद्या नाम दिया है और दूसरे ने विद्या माया और अविद्या माया। अत: तुलसी सर्व दर्शन के मतावलम्बी हैं।

१- विवेक चूड़ामणि- ११३,११५, -

'विक्षेपशक्ती रजस: क्रियात्मिका यत: प्रवृत्ति: प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्या: प्रभवन्ति नित्यं दुखादयो ये मनसो विकारा: ।।
एषावृतिर्नाम् तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा ।+
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्ते: प्रसरस्य हेतु: ।।'

२- अ०रा०-३।४।२२-२६

३- पञ्चदशी - १।१५-१७

(ख)- जीव का स्वरूप:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

श्रीमद्भागवत में भी जीव को ईश्वर का अंश नित्यअविनाशी व सनातन सखा बताया गया है ।[१] क्योंकि यह जीव अनादि काल से ईश्वर के साथ शरीर रूप वृक्ष के अन्दर हृदय में घोंसला बनाकर दो पक्षी के रूप में सखावत रह रहा है । इस हृदय के घोंसले में निवास करना दोनों की लीला है । अन्तर इतना है कि यह चेतन जीव शरीर रूप वृक्ष के सुख- दुख फल का भोक्ता है और ईश्वर अभोक्ता है । वह सुख- दुख आदि के कर्मफल से असंग स्वयम् मुक्त है , वह केवल साक्षी रूप है दृष्टा होने के कारण ज्ञान ऐश्वर्य, आनन्द , और सामर्थ्य आदि में भोक्ता जीव से श्रेष्ठ है ।[२] और जीव देह इन्द्रिय प्राण और मन में स्थित सभी क्रियात्मक व्यापारों में ही अभिमान किए हुए है तभी से वह जीव संज्ञा से विभूषित होगया । इसी सूक्ष्माति-सूक्ष्म आत्मा की मूर्ति को गुण, कर्मों से आवृत्त (बना हुआ) जीव का लिंग शरीर कहते हैं । इसे ही कहीं सूत्रात्मा के नाम से पुकारते है तो कहीं महतत्त्व । यही काल रूप परमेश्वर के अधीन होकर जन्म-मृत्यु रूप संसार में भटकाव लेता है ।[३] इसी के कारण मन की तीन अवस्थाएं जाग्रत,

---

१- श्रीमद्भागवत- ६।१६।८- ११।११।६ , रा०मा०-४।११।३, रा०१।२०।२, रा०मा०- १।२१७।२, वि०प०- १६३।६

२- श्रीमद्भागवत- ११।११।६- सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न -
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ।।

३- श्रीमद्भागवत-११।२८।१६- देहेन्द्रिय प्राण मनोऽभिमानो ।
जीवोऽन्तरात्मा गुण कर्म मूर्तिं ।।
सूत्रम् महानित्युरुधेव गीतः, संसार आधावति काल तंत्रः ।

स्वप्न सुषुप्ति तथा त्रिगुणात्मक स्थिति के आधार जगत के ३ भेद परिलक्षित होते हैं -- अध्यात्म (इन्द्रियां) अधिभूत (पृथ्वादि) और अधिदैव (कर्ता) आदि इन्ही त्रिविधताओं की सत्ता से वह विमोहित हो रहा है। वास्तव में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि भौतिक ये त्रिरुप अविद्या के कारण प्रतीयमान है।[१] जिन त्रिताप से जीव नाना क्लेश उठता है।[२] इन्हीं से देहेन्द्रियादि में जन्मना रहना बढ़ना बदलना, घटना, और नष्ट होना भावविकार अन्तर्भूत है।[३] यथार्थतः ये भाव विकार समष्टि शरीर या लिंग शरीर में ही देखे गये हैं, मूल प्रकृति की शरीरवत जितनी भी संरचना है, यह विकार सभी में अनुस्यूत हैं क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का स्वभाव है। ये भाव विकार आत्मा में नहीं है, क्योंकि ये विकारों की सत्ता अविद्या जनक एवम् असत्य है। यदि तत्वतः विचार किया जाय तो यह आत्मा शरीर से पूर्व थी , अन्त में रहेगी केवल बीच में शरीरवत प्रतीत हो रही है, यह माया की क्रीड़ा है।[४] वस्तुतः जीव और ईश्वर में यहीपार्थक्य है। भागवत में जीव का बन्धन अहंकार ही बताया है जो जीव को मोहित करता है।[५] क्योंकि अहंकार के ३ भेदों के आधार पर ही जीव की सत्ता है , सात्विक अहंकार से एकादश देवता एवम् एक मन की सृष्टि हुई तथा राजस अहंकार से इन्द्रियादि एवम् तन्मात्राओं का सृजन हुआ।[६]

१- श्रीमद्भागवत - ११।२८।२०

२- श्रीमद्भागवत - ३।३२।३८,६।१७।१८, १०।५४।४५, वि० १३६।१,
 रा०मा० - ३।१५।३, ७।११७।२-४, दोहावली- २४३ ,

३- श्रीमद्भागवत- १०।५४।४७

४- श्रीमद्भागवत- ११।१६।७

५- श्रीमद्भागवत- ११।२२।३२, ११।२४।६, वैराग्य संदीपनी- ५३
 रा०मा०- ७।१२१।१५-१६

६- श्रीमद्भागवत- ११।२४।६-८ ,

और राजस अहंकार से पंचमहाभूत एवम् स्थूल जगत की सृष्टि हुई जिसमें इस जीव का अनादि बन्धन पृथ्वी भी है।[1] इन सबके संयोग के कारण जीव अभिमानी होकर कर्मफल का भोक्ता हो गया।[2] इसी के कारण स्थूलता, कृशता, आधि व्याधि, भूख प्यास, भय, कलह, बुढ़ापा निद्रा प्रेम क्रोध, अभिमान और शोक ये सभी धर्म देहाभिमान के कारण जीव में विद्यमान हैं।[3]

१- श्रीमद्भागवत- ५।१०।११

२- श्रीमद्भागवत- १०।२४।१३, १७ ,
११।३।६-७, १८,२०,
रा०मा०- २।२१६।२ - करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा ।।

३- श्रीमद्भागवत- ५।१०।१० -
स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च
निद्रा रतिर्मन्युरहंमतः शुचो।
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ।।

(ख)- जीव का स्वरूप:-

तुलसी साहित्य में -

तुलसी पूर्व आचार्यों एवम् तुलसी ने अपने साहित्य में जीव को ईश्वर का अंश,[1] नित्य[2], अविनाशी,[3] स्वयं प्रकाशमान[4] सर्वकालवर्ती, अज,[5]

१- (I) रा०मा०-७।११७।१-२-" ईश्वर अंश जीव अविनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ।।
सो मायावश भयउ गोसाईं ।
बंध्यो कीर मर्कट की नाईं ।।

(II) गीता-१५।७- ममैवांशो जीव लोके जीवभूत: सनातन: ।"

(III) मु०उ०- २।१।१-"यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा... तथाक्षराद्विविधा सोम्य भाव: ।"

ब्र वै०पु०-१।१७।३७-" अंशांशिनोर्न भेदश्च ब्रह्मवह्निस्फुलिङ्गवत् ।"

२- रा०मा०-४।११।३- प्रगट सो तनु तव आगे सोवा ।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ।।

श्रीमद्भागवत-६।१६।८, गीता- २।२०-२४, अध्यात्म रा०-४।३।१४-१६

३- रा०मा०-७।११७।१- ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।

गीता- २।१०- न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय:।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

४- तत्वत्रय, पृ०- ६-"अजडत्वं नाम ज्ञानेन विना स्वयमेव प्रकाशमानत्वम् ।"

५- गीता- २।१०

निर्विकारी,[1] निर्मल निरंजन, सहज सुखराशि[2] सहज अनुभव रूप[3] तथा ईश्वर का सनातन सखा बताया गया है।[4] जब जीव अविद्या, अज्ञान आदि से ग्रस्त हो जाता है तो वह अचेतन स्वरूप भासित होने लगता है, सच तो यह है कि यह कार्य त्रिगुणात्मक प्रकृति का परिणाम है, चेतन जीव का नहीं। इस लिए तुलसी ने जीव के लिए कहीं कहीं जड़ शब्द का प्रयोग विशेषण रूप में किया है[5] जो अज्ञान, अविद्या, असत् का ही बोधक है। चेतन जीव का नहीं। क्योंकि चराचर जगत का पार्थिव विधान अनित्य एवम् गतिशील है जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना ये सारे विकार शरीर में ही परिलक्षित होते हैं, आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।[6] अतः आत्मा निर्विकार स्वरूप है। यह सब क्रिया कलाप देहादि जड़ पदार्थों से सम्बद्ध है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्यागकर नया वस्त्र ग्रहण करता है उसी प्रकार चेतन या अविनाशी जीवात्मा जीर्ण शरीर को

१- तत्वत्रय, पृ०-१३ -

'निर्विकारत्वं नामाचिद्विकारत्वेन विकेन रूपतयाऽवस्थानम्।

२- रा०मा०- ७।११७।१

३- विनयपत्रिका- १३६।२

'निज सहज अनुभव रूप तव खलभूलि तव आयो तहं।
निरमल निरंजन निरविकार उदार सुख तैं परि हर्‌यो।।
निःबाज राज विहायनृप इव सपन कारागृह पर्‌यो।।

४- श्रीमद्भागवत- ११।११।६, श्वेताश्वतरोपनिषद- ४।५-७
विनयपत्रिका- १६३।६, रा०मा०- १।२०।२, १।११७।२,

५- रा०मा०- १।१२।४, १।६६, ७।१११ख, वि०प०- १७७।३

६- श्रीमद्भागवत- १०।५४।४७, ११।१६।७

त्यागकर नये शरीर में प्रवेश करता है।[1] यह जीव की जीवान्तरण अनादि काल की क्रिया का ही परिणाम है, परमशक्ति या नियन्ता की लीला है।[2] बिना भगवत्कृपा के इस क्रिया से मुक्त होना असम्भव है।

मानस में जीव की संख्या अनन्त निर्दिष्ट की गयी है,[3] विधाता की चार प्रकार की योनियों में सर्वत्र जीव ही विद्यमान है।[4] इसके साथ-साथ अन्य शास्त्रों में इसे सूत्रात्मा, महत्वतत्व, काल, जीव वेद लोक, धर्म आदि अनेक नाम बताये गये हैं।[5]

१- रा०मा०-७।१०६ग- जोइ तनु धरौं तजौं पुनि अनायास हरि जान।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान।

गीता- २।२२ -
'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्याति नरोऽपराणि।

अ०रा०- २।७।१०४-
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयति नवानि देही ।।

२- श्रीमद्भागवत- ११।११।६

३- रा०मा०- ७।७८।४- जीव अनेक
रा०मा०- १।५५।१ अनेक प्रकारा
रा०मा०- ३।१५।१ जीव निकाया
वि०प० - १३६।४ जीव निकाय

४- रा०मा०- १।७ध।१- आकर चारि लाख चौरासी,
जाति जीव जल थल नभ वासी।
रा०मा०- १।४४।४- आकर चारि जीव जग अहहीं।
रा०मा०- १।दोहा २।४- जलचर, थलचर नभचर नाना।
जे जड़ चेतन जीव जहाना ।।

५- श्रीमद्भागवत- ११।२८।१६, ११।१०।३४

इस चेतन जीव का ईश्वर से वियोग होने के कारण अविद्या माया के प्रभाव से यह अपने वास्तविक आत्म स्वरुप से विस्मृत होकर संसाराभिमुखी होगया है । यह संसाराभिमुखता जीव का मिथ्या संसार है, यह बन्धन युक्ता है । मानस में श्रीराम लक्ष्मण को जीव माया के लक्षण में इसी तथ्य की उपस्थापना करते है --

माया जीव न आपु कहुं जान कहिअ सो जीव ।[1]

यद्यपि माया का मिथ्या बन्धन होने पर भी जीव कीर और मर्कट की भांति भ्रान्त होकर भवकूप में पड़ा हुआ अनेकों प्रकार के क्लेशों को सहता रहता है।[2] जब ईश्वर ही जीव पर कृपा करते हैं, तब जीव को ब्रह्म ज्ञान की

१- रा०मा०- ३।१५

२- वि०प०-१३६।१-

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो । तब तें देह गेह निज जान्यो ।
माया बस स्वरुप बिसरायो । तेहिभ्रम तें दारुन दुख पायो ।।

पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख लेस सपनेहुं नहिं मिल्यो ।
भव सूल, सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो ।
बहु जोनि जनम, जरा विपति, मति मंद ! हरि जान्यो नहीं ।।

रा०मा०- ३।१५।३- एक दुष्ट अतिसय दुःख रुपा ।
जा बस जीव परा भव कूपा ।।

रा०मा०-७।११७।२-४-

सो माया वश भयउ गोसाईं ।बंध्यो कीर मर्कट की नाईं ।।
जड़ चेतन ग्रंथि परि गईं । जदपि मृषा छूटत कठिनई ।
तब ते जीव भयउ संसारी ।छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाईं । छूट न ~~ग्रंथि न हो~~ अधिक अधिक अरुझाईं।।
जीव हृदय तम मोह विसेषी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी ।।

दोहावली- २४३- हम हमार आचार बड़ भूरि भार धरि सीस ।
हठ सठ बरबस परत जिमि कीर कोस कृमि कीस ।।

श्रीमद्भागवत- में भी इसी तथ्य पर अनेक प्रसंगों में उपदेश हुआ है --

रा०मा०- १।७०।१- मम दरसन फल परम अनूपा ।
जीव पाव निज सहज सरुपा ।।

प्राप्ति होती है, इस तत्व ज्ञान के प्राप्त होते ही जीव की सम्पूर्ण जगताश्रित आसक्तियां नष्ट हो जाती है। अनासक्त स्वरूप में ही जीव भगवत्स्वरूप हो जाता है। यही दशा भक्ति के लक्ष्य की प्राप्ति में भी है-- आसक्त मय ईश्वर के प्रति किया गया प्रेम ही निष्काम अनुरक्ति है, यही निष्कामता ही जीव के स्वरूप अनुसंधान का फल है।

रामचरित मानस में शिव पार्वती संवाद में हर्ष, विषाद ज्ञान, अज्ञान, अहमिति और अभिमान- ये ६ जीव के धर्म अभिव्यक्त किए हैं[१]-- हर्ष- अवैषायिक भगवत्जनित आराधन द्वारा उत्पन्न जीव की सुखानुभूति है। विषाद इसका विलोम है। ईश्वर माया और निज के स्वरूप का साक्षात्कार ज्ञान है। सांसारिक मिथ्या प्रतीति को सत्य समझना अज्ञान है। अपने को ईश्वर से भिन्न सर्व समर्थ एवं स्वतन्त्र समझना ही अहमिति है। पार्थिव स्थूल जड़ पदार्थों में ममत्व की एक निष्ठता अभिमान है। इसी अभिमान को पुरावांगमय में जीव की अभ्यान्तर ग्रन्थि,[२] हृदय ग्रंथि[३] तथा मन: की गांठ कहागया है। क्योंकि सात्विक, राजस एवं तामस अहंकार द्वारा ही सम्पूर्ण इंद्रियां एवम् उनके अधिष्ठातृ देवता तथा मन की उत्पत्ति बतायी गयी है, यही ईश्वरसे विपरीत असत सत्ता को सत्य अवभासित कराती है। यही देहादि जड़ पदार्थों में चेतन का अवभाषण बोध कराती है। तुलसी इसी को जड़ चेतन की ग्रन्थि, अभिमान, अभिमान की चित ग्रंथि कहते हैं।[४]

१- रा०मा०- १।११६।४- हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना।

२- वि०प०-११५।१ - बाहिर कोटि उपाय करिय अभ्यन्तर ग्रंथि न छूटै।

३- श्रीमद्भागवत- ३।२६।२, ११।३।४७, मुण्डकोपनिषद- २।२।८

४- वि०प०- २०६।४ - चिद ग्रंथि अभिमान की -
रा०मा०- ७।११७।२- जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई
रा०मा०- ४।१० छन्द- १- मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु
कहेउ राखि सरीर हीं।।

वास्तव में जीव अविधा माया से आच्छन्न होने के कारण संसार के कर्म जन्य सुख दुख का कर्ता स्वयम् भोक्ता भी कहा है।[1] यही जीव की सांसारिक आसक्ति ही भोग कही जाती है।[2] इसीलिए इसे भोक्ता भी कहा गया है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु फल भोगने में परतन्त्र है, वह अपने कर्म के अनुसार ही भोग करता है, कर्मवश विविध योनियों में जन्म लेता है। कर्म से ही उसे सद्गति मिलती है।[3] जीव के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इस फल भोग का नियामक ईश्वर ही है।

जीव ईश्वर के भेद को यहां अंकित करना अप्रासंगिक न होगा - ईश्वर अंशी है[4] जब कि जीव ईश्वर का अंश मात्र है।[5] ईश्वर एक है[6] जबकि

१- विनयपत्रिका- १३६।३-४

राoमाo- २।२१६।२ - "करम प्रधान विस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा।।"

२- गीता-१३।२० पर शङ्कर भाष्य-
"सुख दुःख संभोगः संसारः
पुरुषस्य च सुख दुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वम्।"

३- राoमाo- २।१२।२, २।६२।२, राoमाo- २।२४।३, ४।१०।छन्द- २, राoमाo- ३।३१।४

४- राoमाo- ७।११७।१

५- राoमाo- ७।११७।१

६- राoमाo-(१।२३।३)

जीव अनेक है,[१] ईश्वर मायापति है[२] जबकि जीव मायावशवर्ती है[३] ईश्वर माया प्रेरक है[४] जबकि जीव माया प्रेरित है[५] ईश्वर में ईश शक्ति अनुस्यूत है[६] जबकि जीव में नहीं, अतः जीव अनीस है।[७] ईश्वर स्ववश[८] एवम् स्वतंत्र है[९] जबकि जीव ईश्वराधीन[१०] एवम् परवश है[११]; ईश्वर विश्व का कर्ता भर्ता एवम् हर्ता है[१२] जबकि जीव में इस सामर्थ्य का अभाव है[१३] ईश्वर काल कर्म स्वभाव एवम् गुणों का भक्षक[१४] एवम् स्वामी है।[१५] जबकि जीव काल कर्म, स्वभाव एवम् गुणों का वशवर्ती[१६] एवम् ईश्वर का दास है।[१७]

१- रा०मा०- ~~७।११७।२~~ (१।५५।१)
२- ~~स०म०~~ दोहावली-२७६
३- विनयपत्रिका- १३६।१
४- रा०मा०- ३।१५
५- रा०मा०- ७।४४।३
६- रा०मा०- १।७०।१
७- रा०मा०- १।७०।१
८- विनयपत्रिका -१४६।५
९- रा०मा०- ६।७३।२
१०- रा०मा०-६।६।५
११- सि०प०- १३६।३
१२- कवितावली- ७।१४६
१३- दोहावली- २४४
१४- रा०मा०- ३।३५।४
१५- रा०मा०- २।७१
१६- रा०मा०- ७।४४।३
१७- रा०मा०- २।७१

ईश्वर जीव का प्रेरक,[1] बन्ध मोक्ष प्रदायक[2] एवम् जीव की गति, अगति का संचालक है[3] जबकि जीव ईश्वर का अनुयायी है। ईश्वर अखण्ड विज्ञान सम्पन्न[4] परमानन्द रूपा[5] सर्ववासी,[6] सर्वव्यापक[7] सर्वरूप[8] एवम् सर्वाधार[9] है जबकि जीव हर्ष विषाद, ज्ञान, अज्ञान, अहमिति तथा अभिमान संयुक्ता[10] तथा सीमाओं में बंधा हुआ है।

१- रा०मा०- ७।१३।१-२

२- रा०मा०- ३।१५

३- विनयपत्रिका- १११।२

४- रा०मा०- १।११६।३

५- रा०मा०- १।११६।४

६- विनयपत्रिका- ५५।७

७- रा०मा०- १।१३।२

८- विनयपत्रिका- ५४।२

९- रा०मा०- ६।७०।२

१०-रा०मा०- १।११६।४

(ग)- परमसत्ता का स्वरुप:-

तुलसी साहित्य में -

तुलसी साहित्य के अनुसार भक्त शिरोमणि तुलसी दास ने श्री राम को ही परम सत्ता का स्वरुप माना है।[१] सृष्टि के आदि मध्य एवम् अन्त में उन्ही की साहिबी है।[२] वही जगत के आधार[३] कर्ता, भर्ता एवं संहर्ता है।[४] वही सृष्टि और सृष्टा दोनों है[५] उन्हें ही जगत के सत्तावान त्रिशक्तियों का जनक भी बताया गया है।[६] वह कार्य कारण[७] तथा कारणों के भी कारण है[८] अर्थात भगवान राम सृष्टि के निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है।[९] इसलिए उन्हें परम कारण भी कहा जाता है।[१०]

१- रा०मा०- ७।६१।३, - "प्रभु प्रतिपाद्य रामुभगवाना।"

२- विनयपत्रिका- ७८।३, आदि मध्य अन्त राम साहबी तिहारी।"

,, ,, - ५४।४-

आदि मध्यान्तभगवन्तत्वं सर्वगतमीश पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी।

यथा पटतन्तु घट मृत्तिका सर्पस्रग दारु कीर कनक कटकांग वादी।

३- रा०मा०- ३।१२।४

४- रा०मा०- ६।७।२ तासु भजन कीजिअ तहं भरता।

जो करता पालक संहर्ता।।"

५- विनयपत्रिका- ५३।७

६- रा०मा०- १।१५।३,

७- रा०मा०- श्रीमद्भागवत- ५।१८।५

८- कवितावली- ७।१२६ -"कालहु के काल, महाभूतन के महाभूत,

- करम निदान के निदान हों।"

९- रा०मा०-१।१८६।छंद-३, जेहिं सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।

१०- रा०मा०- ६।१०३- छन्द १, ५३।७

वही ब्रह्म[१] सच्चिदानन्द घन स्वरूप[२] परमात्मा,[३] भगवान,[४] ईश्वर,[५] प्रभु[६] सर्वज्ञ[७] सर्व समर्थ[८] एवम् परम सत्य[९] रूप से जाने जाते हैं। वही

१- रा०मा०- १।५१।छन्द, १।१०८।३, १।११६।४, १।१२०।३,१।१९८, २।२०६।१, २।१२३१, ३।७।२, ३।३२।छं०, ४।२८।४, वि०प०- ४३।१,५०।८,५२।७, ५६।३,७६।३,गीतावली- १।२५।१,१।६३।४, ७।३८।१, दोहावली- ३१,

१- रा०मा०- २।९३।४- `रामु ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा।।`

२- रा०मा०- ७।२५,दोहा-११४- ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोइ सच्चिदानन्द घन कर नर चरित उदार।।`

३- रा०मा०- १।११९।३, ७।४८।४

४- रा०मा०- २।२५४।१, ७।७२।२, वि०प०- ५६।२,दोहा०- ११३

५- रा०मा०- ३।४।६, ५।३९।१ कवितावली- ७।१२७,रा०मा०-५।१।श्लोक-१

६- रा०मा०- ३।४।६ , विनय पत्रिका- १०७।५

७- रा०मा०- २।२११।२, २।२५७।४,
विनयपत्रिका- ५१।८, १५४।२

८- रा०मा०- ७।११९ख ,दो०- १२८, वि०प०- १३९।११,गी०-५।३।४

९- रा०मा०- १।११७।४,
जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया।।`

रा०मा०- १।१।श्लोक-६,
यत्सत्वाद मृषैव भाति सकलम् रज्जौ यथा हे भ्रमः।`

विष्णु[1], नारायण,[2] हरि[3], केशव,[4] माधव,[5] और शिव नाम[6] वाची हैं। उन्होंने ही नर नारायण ;कपिल मत्स्य कूर्म वराह नृसिंह वामन परसुराम कृष्ण बुद्ध और कल्कि[7] इत्यादि विविध रूपों में अवतार लेकर जीव के कल्याणार्थ[8] चरित्र एवम् लीला[9] की।

अत: स्पष्ट है कि वही राम वेदों में प्रतिपादित ब्रह्म स्वरूप है इसलिए उन्हें वेदान्त वेद्य भी कहते हैं।[10] श्रुतियां[11] जिस ब्रह्म राम के

१- रा०मा०- १।५१।१, वि०प०- ५४।३, रा०मा०- ३।४।६, ७।१४।१, गीता०- २।४।५, ७।१६।५, कविता०-७।१३२, वि०प०-४६।५, ११६।१ रा०मा०- १।१८२।छं०-१-४, रा०मा०- १।१२१।१

२- वि०प०- ६०।१, रा०मा०- ४।१।५

३- रा०मा०- ५।५।४, वि०प०- ११८।१, गीता०-५।४४।४, वि०प०-१०२।१ वि०प०-११७।१, ११६।१, १२०।१, १२१।१, १६०।१, २१६।१, २४४।१

४- वि०प०- १११।१, ११२।१,

५- वि०प०- ६२।१, ११३।१, ११४।१, ११५।१, ११६।१

६- रा०मा०-३।१५

७- वि०प०- ५२, रा०मा०- ६।११०।४, कविता०-७।१२८, दोहा०-३६६।४६४, रा०मा०- १।५८ ।१, २।२६५।३, रा०मा०१।१४२।३-४, वि०प०-६०।१ रा०मा०- १।२०।३ बरवै रामायण- २२

८- श्रीमद्भागवत- ८।१२।११

९- श्रीमद्भागवत- १।३।३६, ३।६।१४, ४।७।४३, ७।८।४०, १०।५०।३०

१०- रा०मा०-२।१६६, ३।११।६, १।२११। छन्द-२, ६।१।श्लोक१, ५।१।श्लोक१

११- रा०मा०- २।१२६, दो० १६६-

राम स्वरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।।

रा०मा०-१।३४२।१- महिमा निगम नेति कहि कहई।
जो तिहुं काल एक रस अहई।।

निरुपण में नेति नेति कहकर उनके स्वरुप का वास्तविक बखान नहीं कर पाती है वही अनिर्वचनीय स्वरुप तत्व श्री राम है ।[1] वही पाञ्चरात्र आगम में प्रतिपादित नारायण के षाड्गुण्यों ज्ञान, शक्ति ऐश्वर्य बल वीर्य तथा तेज से संयुक्त है ।[2] वही पुराणों में नाम, रुप, गुण, लीला धाम आदि से सगुण रुप में व्याप्त (अधिष्ठित) सनातन पुराण पुरुष है ।[3] वही सात्वत तंत्रों में विद्यमान भग के ६२ लक्षणों से युक्त भगवत् स्वरुप हैं ।[4] निष्कर्षत:

१- (I) रा०मा०- ७।१२४।१- महिमा निगम नेति करि गाई ।"
  (II) रा०मा०- १।१४४।३, नेति नेति जेहि वेद निरूपा ।
    रा०मा०- ६।११७ - ध्यान न पावहिं जाहि मुनि नेति नेति कह वेद ।"
    विनयपत्रिका- नेति नेति नेति नित निगम करत ।" २५१।४,
    गीतावली- १।१०८।१०,
    दोहावली- १६६
२- विनयपत्रिका ५४।५, रा०मा०- १।१५२।२, वि०प०- ६१।६,
  रा०मा०- १।२२५।२, २।६३।४, १।१८६।छन्द- ३,

३- रा०मा०- १।११६।४, गीतावली- १८८।४-
  " जान्यो अवतार भयो पुरान पुरुष को ।"

४- रा०मा०- १।२०६।२ ,

तुलसी ने जिस परम तत्व[1] राम का वर्णन अपने साहित्य में निरुपित किया है, वह वेदों, श्रुतियों, पुराणों स्वम् आगमिक तथा ऐतिहासिक आर्ष ग्रंथों से प्रमाणित एवं प्रभावित है। उनकी यह समन्वित दृष्टि सनातन धर्म साधिता का परिणाम है। विभिन्न प्रकार से वेदों पुराणों, स्वम् श्रुतियों द्वारा बखान करना मनीषियों, साहित्यकारों, स्वम् कवियों, भक्तों का बौद्धिक अनुमानित[2] मति विलास है[3] जिसमें युगीन परिस्थिति, शिक्षा, दर्शन, धार्मिक स्वम् ऐतिहासिक, राजनैतिक गतिविधियां तथा सामयिक राष्ट्रीयता स्वम् समाज की आचार सभ्यता स्वम् संस्कृति का बोध अनुस्यूत होता है।

१-रा०मा०- १।११७।३-४ -

सब कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई।
जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू।
मायाधीश ज्ञान गुन धामू।

२- रा०मा०- १।११८।२- आदि अन्त कोउ जासु न पावा।
मति अनुमान निगम अस गावा।
निज निज मुखनि कही निज होनी।

३- रा०मा०- ७।९२२, छन्द-

येहि भांति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं।

(ग)- परम सत्ता का स्वरूप:-

श्रीमद्भागवत के अनुसार -

श्रीमद्भागवत सनातन धर्म स्वम् सर्वदर्शन की प्रस्थापित मान्यताओं का पौराणिक विश्व कोश है उसमें ब्रह्म के असंख्य अवतारों[१] के निरुपण का भी संकेत निहित है। पर बाइस अवतारों का विशेष उल्लेख निर्दिष्ट किया गया है।[२] उसमें भगवान के निर्गुण स्वम् सगुण तथा तटस्थ सभी लक्षणों को अनुस्यूत कर प्रत्यक्षत: स्वम् परोक्ष रूप से परम सत्ता का ही विस्तार उपदेशित किया गया है।परम सत्ता तत्वत: अकल[३] अव्यक्त,[४] अरूप[५] अनाम,[६] आदि-अन्तरहित[७] नि:सीम[८] मनवाणी से अगोचर[९] अतर्क्य[१०] अप्रमेय[११] अदृश्य आदि से है। वेदान्त जिसे ब्रह्म कहता है, भागवतकार को परम सत्ता का वही तात्विक रूप अभिमत है।

१- श्रीमद्भागवत- १।३।२६
२- ,, - १।३।६-२५
३- ,, - ८।५।२६
४- ,, - ४।११।२३
५- ,, - ६।१६।२१
६- ,, - ६।१६।२१
७- ,, - ८।५।२६
८- ,, - ८।१।१२
९- ,, - ८।३।२१
१०- ,, - ८।५।२६
११- ,, - ४।११।२३

श्रीमद्भागवत वैष्णव ग्रंथ होने के नाते महाविष्णु के अवतारों की मीमांसा भी उपलक्षित है। भागवतकार ने भगवान कृष्ण को परिपूर्णतम् अवतार के रूप में समादृत किया है।[1] जबकि तुलसी राम को परब्रह्म तो मानते हैं और जगत की त्रियात्मक शक्ति- ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी उनके अंश से प्रादुर्भूत हुआ करते है।[2] किन्तु उन्हें अवतार रूप में चित्रित करते हुए परिलक्षित नहीं होते। अतः लीलावतारत्व, गुणावतारत्व, आवेशावतारत्व या स्वल्पावतारत्व का तो प्रश्न ही उठना असम्भव है। अतः पूर्णावतार अंशावतार, कलावतार, शक्त्यावतार आदि रूपों में भगवान ~~है + अतः~~ के "भगभेद प्रदर्शन" का सिद्धान्त तुलसी को मान्य नहीं है।[3] जब कि भागवतकार राम को कलांश की श्रेणी में परिगणित करते हैं। अतः अवतार कलांश भेद में व्यास अपने आराध्य कृष्ण को राम से श्रेष्ठ बतलाते है।[4]

भगवान श्रीकृष्ण निर्गुण दारु की भांति अव्यक्त होते हुये भी अग्नि सदृश सगुण स्वम् व्यक्त है।[5] उनके सगुण या अवतार का लक्ष्य उनकी लीला है।[6] उनका अवतरण साधारण जीवों की भांति जन्मना

१- श्रीमद्भागवत- १।३।२८, ३।५।४२

अन्ये चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवानस्वयम्।

२- रा०मा०- १।१४४।३

३- तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ- ८५

४- श्रीमद्भागवत- ३।५।४२

५- श्रीमद्भागवत- ४।२१।३५

६- श्रीमद्भागवत- १।३।३५,१।८।३०, १०।३७, १०।४६।३८

तुलना-रा०मा०- १।५१।४- ,१।१३६,१।१६२।६०-१

नहीं , क्योंकि जीव उनकी माया द्वारा नियम्य है , माया भगवान की प्रेरित शक्ति है । अर्थात भगवान नियामक है ।[1] अत: उनके अवतार का लक्ष्य साधुओं, ऋषिमुनि भक्तगण ब्राह्मण भूमि देवता नर नाग आदि का परित्राण करना है ।[2] इसके साथ-साथ अधर्मियों, दुष्टों एवम् असुरों का विनाश करना भी सन्निहित है ।[3] तथा अपने ऐश्वर्य परिज्ञान की परमसत्ता की प्रस्थापना हेतु श्रुति सम्मत धर्म का संस्थापन एवम् अधर्म का नाश करना भी केन्द्रित है ।[4] इसे हम यों भी कह सकते हैं कि रजोगुण और तमोगुण के प्रबल होने पर सत्वगुण के प्रभावोत्पादन और संतुलन को स्थिर करने के लिए अवतार का प्रयोजन है ।[5]

१- श्रीमद्भागवत- १।७।५- यथा संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत् कृतं चाभिपद्यते ।।

२- श्रीमद्भागवत- ६।४।३३।, १०।८८।७, रा०मा०-१।१३।२-३,
वि०प०- ५२।७,रा०मा०- १।२४६।४, २।२०५, ३।२०, ५।३४।४,
६।७१।५, ७।१२।छं-१, गीतावली-१।३।२, ३।१७।६, ६।६।८,
कवितावली- ६।५८, रा०मा०- ५।४८।४,रा०मा- १।१२१।३ दो० ,

३- श्रीमद्भागवत- ११।५।५०, १०।५०।६, १०।७०।२७,३।३३।५, १०।५०।१०,
रा०मा०- १।१२१,वि०प० ५०।८,रा०मा०- २।२५४।२,३।२२।४ ,१।२०६।३,

४- श्रीमद्भागवत- १०।३३।२७, १०।६३।३७
रा०मा०- ५।३६।२, ७।२४।१, रा०मा०- २।५४।२, ७।२६।१
रा०मा०- ३।१।श्लोक-१, रा०मा०-२।४८, रा०मा०- १।२१८।४,

५- श्रीमद्भागवत- १०।४८।२३

भगवद् अवतार का एक और भी लक्ष्य उनकी लीला है । डा० उदय भानुसिंह ने उनके अवतार का एक कारण लीला भी स्वीकार किया है --" जिसप्रकार जगत की उत्पत्ति, स्थिति, और लय भगवान का लीला- विलास है , उसी प्रकार शरीर धारण करके चरित्र करना भी उनकी लीला है । भक्त के केन्द्र बिन्दु से अवतार लीला का एक निश्चित प्रयोजन है -- भक्तों को भक्ति रस का दान।"[१] इसलिए भागवतकार स्वम् तुलसी भगवान के इस लीला वैशिष्ट्य के आधार पर लीलातनु[२] कौतिकी आदि शब्दों का प्रयोग करते है । इच्छामय[३] या माया मनुष्य[४] के रूप में अवतरण उनकी नाम रूपात्मक , नटचर्या जैसी उपाधियां परिलक्षित की गयी हैं ।[५]

श्रीमद्भागवत में दो प्रकार की गीताओं में परमसत्ता के स्वरूप को उजागर किया गया है । प्रथम भगवान के श्रीमुख से उपदेशित भगवद् - गीताओं में तथा द्वितीय भक्त सन्तों, द्वारा उपदेशित भक्त गीताओं में

१- "तुलसी दर्शन मीमांसा- पृष्ठ- ७१

२- श्रीमद्भागवत- १०।६०।४६,
   रा०मा०- १।१४४।४

३- श्रीमद्भागवत- १०।२७।११,११।३१।११ ,
   रा०मा०- १।१५२।१,१।१६२, ७।७२, ७।७३।१

४- श्रीमद्भागवत- ११।५।४६,
   रा०मा०- ४।१।श्लोक-१, ५।१।श्लोक-१,

५- श्रीमद्भागवत- १।३।३७,१।११।३५, १०।६६।१३-४३,१०।८६।२६,
   श्रीमद्भागवत- १०।३।४६
   रा०मा०- १।२०१।२८४, ७।६।२-४

परम सत्ता विषयक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इन दोनों गीताओं का समाहार श्रीमद्भागवत एवम् तुलसी के 'मानस' में ग्रथित हुआ है । श्रीमद्भागवत में कपिल, नृसिंह, श्रीकृष्ण , वामन, श्रीहंस ,श्रीनारायण आदि द्वारा उपदिष्ट गीताएं भगवद् गीताएं कही जायेंगी और शंकर सूत जी, शुकदेव जी, नारद, दत्तात्रेय, योगीश्वर ,सनकादि तथा विविध भक्त सन्तों द्वारा उपदेशित गीताएं भक्त गीताएं है । देवस्तुति में परमसत्ता विषयक स्वरूप अवलोकनीय है :--

परमसत्ता का व्रत अर्थात् संकल्प सत्य है । उसकी प्राप्ति का साधन भी सत्य है । वह तीनों कालों में (भूत, भविष्यत्, वर्तमान)अर्थात् सृष्टि से पहले, सृष्टि के समय और सृष्टि के अनन्तर प्रलयकाल में सत्य है । पृथ्वी, जल , तेज, वायु , आकाश इन पांच दृश्यमान सत्यों की परम सत्ता ही कारण है और वही अन्तर्यामी रूप से इन में समायी हुई है । इस दृश्यमान जगत् का परमार्थ परमेश्वर ही है । वह इस प्रकार सत्य का सत्य है । ऋत और सत्य परम सत्ता के दो नेत्र हैं । उस सत्यात्मक परमसत्ता के प्रति हम प्रणत हैं ।[1]

ब्रह्म ही भागवतकार के अनुसार विष्णु हैं जो समस्त अवतारों का मूल है । इसी लिए उसे अध्यात्मदीप कहा है । वैष्णवों के लिए ब्रह्म , परमेश्वर, परमसत्ता जो कुछ भी कहें वह विष्णुतत्व ही है । विष्णु शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ भी व्यापक होता है ।[2] देवकी श्रीकृष्ण जन्म से पूर्व विष्णु रूप के दर्शन कर उनकी स्तुति करती हैं--' वेदों अथवा विद्वानों

१- श्रीमद्भागवत- १०।२।२६ +२-विष्लृ व्याप्तौ धातु

ने आपके जिस रूप को अव्यक्त और सबका कारण बताया है, जो ब्रह्म, ज्योतिस्वरूप, समस्त गुणों से हित और विकार हीन है, जिसे विशेषण रहित, अनिर्वचनीय, निष्क्रिय एवं विशुद्ध सत्तारूप कहा जाता है वही अध्यात्मदीप साक्षात् विष्णु हैं। ब्रह्मा की आयु द्विपरार्ध समाप्त हो जाने पर कालशक्ति के प्रभाव से सब लोक नष्ट हो जाते हैं। पंचमहाभूत पृथ्वी आदि अहंकार में और अहंकार महतत्व में, इसी प्रकार महतत्व मूल प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त (विष्णु) आप ही शेष रह जाते हो। काल भी आपकी चेष्टा है जिसके कारण सब परिवर्तन होते हैं।[1]

भागवत प्रारम्भ करते हुये ग्रंथकार ने जो मंगलाचरण में श्लोक लिखे हैं उनमें वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म का ही स्तवन हुआ है। पहले श्लोक में तो 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम चार सूत्रों को ही पद्य बद्ध कर दिया है। ज्ञातव्य है कि ब्रह्मसूत्र की यह चतुः सूत्री वेदान्त सिद्धान्त का ही मूल माना जाता है। श्लोक में कहागया है कि उस परम सत्यमय परमेश्वर का हम ध्यान करते हैं जिससे इस जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय होते हैं। वह सभी सद् रूप पदार्थों में अनुगत हैं और असत् पदार्थों से पृथक् है। वह जड़ नहीं चेतन है, परतंत्र नहीं स्वयं प्रकाश हैं, जैसे सूर्य रश्मियों में जल का, जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता है उसी प्रकार जिसमें असत् त्रिगुणमयी सृष्टि का उस अधिष्ठान सत्ता के कारण सत् होने का भ्रम होता रहता है। वह अपनी ज्योति से माया एवम् माया जन्य सृष्टि को इसप्रकार निरस्त कर देता है जिसप्रकार सूर्य कुहरे को हटा देता है।[2]

१- श्रीमद्भागवत- १०।३।२४-२६

२- श्रीमद्भागवत- १।१।१,

परमेश्वर के अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है। जो अतिरिक्त रूप में प्रतीत होता है वह सत्य नहीं है।[1] परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् की एक मात्र आत्मा है। वह अपने ज्ञान और ऐश्वर्य से विश्व को आनंदित करता है।[2]

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सब छोटे- बड़े, चर-अचर जीवों को भगवान् ने अपने वश में कर रखा है। वही महा पराक्रमी, सर्वशक्तिमान् प्रभु काल हैं। समस्त प्राणियों का इन्द्रियबल, मनोबल, देहबल, धैर्य एवम् इंद्रिय भी वही है। वह अपनी शक्तियों के द्वारा इस विश्व की रचना, रक्षा और संहार करता है। वह तीनों गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) का स्वामी है।[3]

परमेश्वर विशुद्ध सत्वप्रधान चेतन सत्ता है। इसीसे भक्त लोग उसकी वेद, कर्मकाण्ड, योग, तप समाधि -- आदि के द्वारा आराधना करते हैं। इस सत्वप्रधान रूप की सहायता से प्राणी को अज्ञान-जन्य भेद का नाश करने वाला ज्ञान प्राप्त होता है। बुद्धि उसका अनुमान ही कर सकती है। साक्षात्कार नहीं।[4]

इसप्रकार परमसत्ता के विषय में भागवतकार ने अनेकत्र गम्भीर दार्शनिक विचार अभिव्यक्त किये हैं सबका सार यही है कि परमसत्ता तत्वतः अलक्ष्य, अदृश्य व्यापक और एक है। वह प्राकृतगुणों से मुक्त होता है तो सगुण साकार बन जाता है और जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय करता है। पर जीव की भाँति गुणों में आबद्ध नहीं है।

१- श्रीमद्भागवत- २।४।१

२- श्रीमद्भागवत-२।६।२१

३- श्रीमद्भागवत- ७।८।६

४- श्रीमद्भागवत- १०।२।३४-३६

अपने तात्विक रूप में परम सत्ता प्राणियों के लिए अलक्ष्य है । वह बाहर भी है और अन्दर भी । वह माया जवनिका में आच्छन्न है , ढकी हुई है ।[1] वह शरीर धारियों के हृदय में अधिष्ठित है । तत्वत: वह एक है पर दृष्टि भेद से अनेक प्रतीत होता है । विश्व अपने भूत, भविष्यत् और वर्तमान में भगवान् का ही स्थूल रूप है । ब्रह्म से भिन्न संसार में कुछ नहीं है ।[2] परमेश्वर सत्व, रजस और तमस् इन प्राकृतिक गुणों का आश्रयण कर जगत् की सृष्टि , पालन, और संहार करता है । प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से विराजमान रहता है पर बुद्धि उसे पाने का मार्ग भी नहीं पहचानती ।

> नम: परस्मै पुरुषाय भूयसे ,
> सदुद्भव स्थान निरोध लीलया ।
> गृहीत शक्ति त्रितयाय देहिनाम् ,
> अन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ।।[3]

परमेश्वर पंचमहाभूतों से इन विविधशरीरों का निर्माण करके इनमें जीवरूप से शयन करते हैं । वह पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण और एक मन इन सोलह कलाओं से वेष्टित होकर विषयों का भोग करता है । तब वह जीव कहलाता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं भगवान् नारायण में अवस्थित स है । वह स्वयम् तो प्राकृत गुणों से रहित हैं पर सृष्टि के प्रारंभ में माया के द्वारा बहुत से गुण ग्रहण कर लेते हैं ।[4]

१- श्रीमद्भागवत- १।८।१८

२- श्रीमद्भागवत- २।२।२४-३६

३- श्रीमद्भागवत- २।४।१२

४- श्रीमद्भागवत- २।५।२३

तुलसी साहित्य पर श्रीमद्भागवत महापुराण का प्रभाव दो रूपों में देखा जा सकता है :- -

१- प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से ।

२- प्रतिपादन शैली की दृष्टि से ।

श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर एक है । वह अनिर्वचनीय है । नाम रूप उसकी उपाधियां हैं । विष्णु शिव देवी राम कृष्ण आदि उसी के विभिन्न नाम हैं । स्वेच्छानुसार भक्त उसे किसी भी रूप में भज सकता है । परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं । निर्गुण और सगुण हैं अनादि अनन्त अक्षर अकल अनीह निर्विकार, निरुपाधि, निरंजन अगोचर और गुणातीत है । ज्ञान बल बुद्धि ऐश्वर्य दया , कृपा भक्त वत्सलता आदि दिव्य गुणों वाला है । सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक, सर्वान्तरयामी, सर्वज्ञ , सर्व रूप और सर्वशासक है । वह विरोधी गुणों का आश्रय भी है । जगत का कर्ता पालक और संहर्ता है । वही ब्रह्मा रूप से सृष्टा, विष्णु रूप से पालक और शिव रूप से संहारक है । ईश्वर की शक्ति माया है । वही प्रकृति है उसी से विश्व का विकास हुआ । उसी से प्रलय होता है । सृष्टि भगवान का लीला-विलास है । विश्व रचना का दूसरा प्रयोजन है जीव का कल्याण । भगवान से ही काल, कर्म, स्वभाव और गुणों की उत्पत्ति होती है । उसी की प्रेरणा से महदादि क्रम से सृष्टि विस्तार होता है। विविध प्रकार के भोगायतनों, भोगस्थानों तथा भोग्य पदार्थों की रचना होती है । असंख्य लोक वाला यह यह ब्रह्माण्ड भगवान का ही रूप है । सर्व व्यापक होते हुये भी वे अपने विशिष्ट दिव्य लोक में निवास करते है । धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने पर भक्तों के परित्राण, संस्थापन एवम् दुष्टों के विनाश तथा लीला के लिए आवश्यकतानुसार अवतरित होते है । अवतार असंख्य हैं । उनमें अधिक

लोक प्रसिद्ध दस हैं। उनमें भी राम और कृष्ण की विशेष ख्याति है। जीव ईश्वर का अंश, नियाम्य, नित्य चेतन और आनन्द मय है। माया के कारण उसका ज्ञान और आनन्द तिरोहित हो जाता है। वह कर्ता और भोक्ता है। कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु फल भोगने में ईश्वराधीन है। कर्मवश अनेक योनियों में भ्रमता हुआ त्रिविधतापों से पीड़ित होता है। भगवान की अहैतुकी कृपा से उसकी बन्धन मुक्ति होती है। मोक्ष के प्रत्यक्ष साधन ज्ञान और भक्ति हैं। भक्ति श्रेष्ठ है, अनिवार्य और अमोघ है। कर्म, योग, वैराग्य आदि उन साधनों के ही साधन हैं। मुक्त जीव भगवान के दिव्य धाम में पहुंच कर दिव्य शरीर से आनन्द भोग करता है। फिर इस संसार चक्र में नहीं पड़ता है। ये मान्यतायें अतिशय विस्तार के साथ श्रीमद्भागवत में अनुस्यूत हैं।

तुलसी ने अपनी माधुकरी वृत्ति के अनुसार श्रीमद्भागवत में जो कुछ भी आदेय प्रतीत हुआ उसे बिना किसी संकोच के ग्रहण किया।[1] विभिन्न प्रसंगों में श्रीमद्भागवत से जो शब्दार्थ ग्रहण किया है उसका दिग्दर्शन मात्र ही तुलसी दर्शन को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।[2] अनेक स्थलों पर उन्होंने श्रीमद्भागवत के श्लोकों के आशय तथा आलंकारिक विधान का भी अनुसरण किया है।[3] ⟶

१- रा०मा०- १।१।श्लो० २, - भागवत पर श्रीधर कृत टीका, मंगल- श्लोक

२- रा०मा०- १।१०।२-३ श्रीमद्भागवत- १।५।१०-११

रा०मा०-	१।२३।२	,, -	१।२।३२
,,	१।२३।२	,, -	४।२९।३५
,,	१।६८।४	,, -	१०।३३।३०
,,	१।७३।२	,, -	२।६।२३
,,	१।७३।२	,, -	६।४।५०

देखिए- शेष अगले पृष्ठपर-

यह उनकी पुराण निष्ठा का ही परिणाम है । रामचरितमानस तुलसी के

देखें- शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी-

रा०मा०- १।११२।१।१	श्रीमद्भागवत-१०।१४।२५-२८
,, १।२०१।२-४	,, - १०।३६।४१-४३
,, ३।५।४-५	,, - १०।२६।२५
,, ३।२६।३	,, - १०।७४।३४
,, ४।१४	,, - १०।२०।१६
,, ४।१५।१	,, - १०।२०।६
,, ४।१५।३	,, - १०।२०।८
,, ४।१६।४	,, - १०।२०।३८
,, ४।१६।५	,, - १०।२०।४३
,, ४।१६	,, - १०।२०।४६
,, ४।१७।३	,, - १०।२०।४२
,, ५।४१।४	,, - ६।५।४४
,, ५।४२।२ दोहा	,, - १०।३८।३-२३
,, ६।२३-ग	,, - १०।६०।१५
विनयपत्रिका- ६८।२	,, - ५।१।१४,१०।१६।१४
,, - ११३।२	,, - ३।६।६
,, - २४६।४	,, - १।१३।४२
दोहावली - २००	,, - १०।६३।२६
३-रा०मा० - १।११३।१	,, - २।३।२०
,, - १।११३।२	,, - २।३।२२
,, - १।११३।३ दोहा	,, - ८।२४।५६
,, - २।२१६।२	,, - ६।१७।२२
,, - ७।११५।१	,, - १०।१४।४

दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक प्रधान ग्रंथ है। और श्रीमद्भागवत पौराणिक शैली में लिखा गया शास्त्र महाकाव्य है। यह और बात है कि श्रीमद्भागवत का वस्तु विन्यास व्यास शैली में किया गया है किन्तु 'रामचरितमानस' का विषय निरूपण काव्यानुसार कहीं व्यस्त है और कहीं समस्त। अनेक स्थलों पर, अनेक दृष्टियों से, तुलसी ने श्रीमद्भागवत का अविकल अनुशरण किया है। जैसे श्रीमद्भागवत के मंगल श्लोक में अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उसीप्रकार रामचरितमानस में भी।"[१]

श्रीमद्भागवत की भांति मानस का प्रतिज्ञा वाक्य भी उसकी निगम् संमतता की घोषणा करता है।[२] श्रीमद्भागवत पुराण की भांति 'रामचरितमानस' की रचना भी रोचक संवाद शैली में हुई है, अपेक्षानुसार सामान्य और विशिष्ट वक्ता श्रोताओं की योजना की गयी है। श्रीमद्भागवत के आधार पर ही रामच-रितमानस में भी दार्शनिक सिद्धान्तों का बहुत कुछ निरूपण मंगलाचरण[२] विभिन्न स्तुतियों[३] और गीताओं के माध्यम

१- श्रीमद्भागवत- १।१।१,
   रा०मा०- १।१।श्लोक--६

२- रा०मा०- में देखिए- सातों सोपानों के मंगल-श्लोक।

३- रा०मा०- १।१८६।१-४, १।१६२।२-४, १।२११।२-४, १।२३५।३, १।२६३।२, १।२८५।१-३, ३।४।१-१२, ३।११।१-११, ३।३२।१-४, ६।११०।२-६, ६।११।१।११, ६।११३।१-६, ६।११५।१-५, ६।१३।१-६, ७।१४।१- दोहा(क), ७।३४।१ दोहा, ७।५१।१-५, ७।१०८।१-८, तथा वि०प० की स्तुतियां।

से किया गया है। गीताएं दो प्रकार की हैं -- स्वयं भगवान राम द्वारा कही गयी भगवद्गीतायें[1] और भक्तों द्वारा कही गयीं भक्त गीतायें।[2] भगवान से लेकर खलों तक की व्यापक वंदना, सन्त, असन्त लक्षण, सम्पूर्ण प्रबन्ध और प्रबंधांशों की फलश्रुतियाँ, शकुनापशकुन, अलौकिकरामचरित आदि की वर्णन शैली पर भी श्रीमद्भागवत का अन्यतम प्रभाव है।

श्रीमद्भागवत में सनातन धर्म के सभी अंगों का उल्लेख हुआ है। वे हिन्दू विचार धारा की समस्त मान्यताओं के आकर हैं। उनमें स्मार्त धर्म की अखिल विधाओं का सांगोपांग निरूपण करते हुये वर्णाश्रम धर्म का मुख्यतया प्रतिपादन किया गया है। उनकी दृष्टि मानवतावादी

१- रा०मा०- ३।१५।१, ३।१६, ३।३५।४, ३।३६।५, ३।३७।३ ,३।३८, ३।४३।२,३।४४, ३।४५।३, ३।४६।४, ४।११।२-३,५।४३।४-५, ५।४४।३, ५।४८।१-दोहा, ६।२।३, ६।३।२, ६।६०;२ दोहा-क, ७।३७।३, ७।४१। ७।४३।२, ७।४६, ७।८६।१, ७।८७ ,

२- रा०मा०- १।११२।१, १।११६।३, २।६२।२, २।६४।१, ३।५।२ सो०, ५।२१।२, ५।२३, ५।३८।३, ५।३६।४, ६।६।३ ,६।७।४ , ६।१४।४, ६।१५, ६।३६।१, ६।३७, ७।७०।३, ७।७३, ७।७८।२, ७।७६। २, ७।८६।३ , ७।६२, ७।१११।२-३ , ७।११५।१, ७।१२३।१, ७।१२६।१, ७।१२७ ,

रही है । अतः मानव धर्मों का वर्णन दोनों ग्रन्थ प्रणेताओं ने किया है । उनके काव्य एवम् पुराण में अनेकता में एकता के दर्शन अवलोकनीय है । स्मार्त पंचदेवोपासना की महत्ता स्वीकार करते हुये एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा भी कम महत्व नहीं रखती ? अतः दोनों प्रणेताओं ने समन्वयवादी विचार धारा का अनुशरण किया है । जिसप्रकार श्रीमदभागवत में उपनिषाद, गीता एवम् ब्रह्मसूत्र का अविकल प्रभाव है, उसी प्रकार तुलसी के दर्शन पर निगम , उपनिषाद ,आगम एवम् पुराण का प्रभाव अन्यतम है। लेकिन पौराणिक मान्यता ही तुलसी का संलक्ष्य है । इसीलिए उन्होंने वैष्णव, शैव , शाक्त आदि सम्प्रदायों के आराध्य देवों में समन्वय स्थापित करते हुए उन्हें एक ही परमात्मा का स्वरुप माना है । विष्णु शिव आदि को उसी की शक्ति विशेष के रुप में स्वीकार की है। श्रीमद्-भागवत में जो सर्ग, और विसर्ग के माध्यम से सृष्टि क्रम दरसाया गया है । उसी परमसत्य को तुलसी श्रीराम को कहते हैं, तुलसी की दृष्टि में राम ही परमसत्य, ब्रह्म , सच्चिदानन्द और सगुण साकार भगवान हैं । श्रीमद्-भागवत महापुराण का मुख्य प्रतिपाद्य भगवान के अवतारों और उनकी लीला का प्रदर्शन करना भी संलक्ष्य है । तुलसी की रचनाएं श्रीमद्भागवत की इस धार्मिकता, समन्वय भावना, अवतार वादिता और भक्ति निष्ठा से आपी-पान्त अनुप्राणित है ।

अतः स्पष्ट है कि तुलसीदास का रामभक्ति दर्शन साम्प्रदायिक दर्शन नहीं, श्रीमद्भागवत की प्रतिपाद्य वस्तु, शब्दार्थ और शैली का इतना अधिक अनुशरण इस स्थापना का अकाट्य प्रमाण है । उनकी विचारधारा व्यापकार से मेल खाती है, उनका दर्शन समन्वयवादी होते हुए, श्रीमद्भागवत महापुराण के अत्यधिक निकट है ।

अतः स्पष्ट है कि तुलसी साहित्य पर वेदपुराण आगम तथा नाना प्रभृति ग्रन्थों का दार्शनिक एवम् सैद्धान्तिक प्रभाव निश्चित प्रभावानुविष्ट है। यह उनके मंगलाचरण के प्रतिज्ञा वचन[1] से तथा प्रासंगिक वक्ता के उद्बोधन[2] द्वारा यथार्थतः सिद्ध हो जाता है।

१- रा०मा०- १।१। श्लोक- ६,

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्।
रामायणे निगदितं क्वचिद न्यतोऽपि ।।

२- रा०मा०-१।३६।१- संत पुरान उपनिषद गावा।
रा०मा०-१।१४४।३- नेति नेति जेहि वेद निरूपा।
रा०मा०-१।३४१।४- महिमा निगम नेति कह कहई।
रा०मा०-३।२७।६- निगम नेति सिव ध्यान न पावा।
रा०मा०- १।११८- जेहि इमि गावहि वेद बुध।

अष्टम-अध्याय

भक्ति का जनजीवन और साहित्य पर प्रभाव

क- भागवती भक्ति का जनजीवन पर प्रभाव

ख- भागवती भक्ति का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

ग- तुलसी की भक्ति का जनजीवन पर प्रभाव

घ- तुलसी की भक्ति का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

अष्टम अध्याय

भक्ति का जनजीवन और साहित्य पर प्रभाव

(क)- भागवती भक्ति का जनजीवन पर प्रभाव:-

धर्म प्रवणता भारत- भूमि का वैशिष्ट्य है। हमारे देश का एक-एक रज-कण धर्मालोक से रंजित, दार्शनिक चेतना से स्पन्दित और भक्ति भाव से आन्दोलित प्रतीत होता है। एक विदेशी मनीषी ने इस देश की धार्मिक वृत्ति को देखकर ही कहा था कि हर भारतीय जन्म से दार्शनिक है। यहां के जन-मानस के सरोवर में धर्म एवम् दर्शन की चेतना- तरंगें प्रतिपल उठती गिरती रहती हैं। प्रत्येक भारतीय इन्हीं लहरों से क्रीड़ा करती हुई अपनी जीवन-नौका को परम सत्य के सुरम्य तट तक ले ले जाता है। ब्रह्म-जीव-जगत् के रहस्यों से सम्बद्ध समन्वित चिन्तन भारतीय जन-मानस की परम विभूति कहा जा सकता है। ऐहिक सुख हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। प्रत्येक हिन्दू की जीवन- यात्रा का उद्देश्य आमुष्मिक सत्य की उपलब्धि है। इस देश का हर बच्चा जीव, जगत् एवम् प्रकृति से परे परिलक्षित अथवा इनके आवरणों में से भासित परम् सत्य (जिसे सामान्यत: ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् तथा ईश्वरादि अभिधानों से अभिहित किया जाता है।) को प्राप्त करने का अभिलाष पालते हुए दिखायी देता है। हर भारतीय जन्म से लेकर मृत्यु तक चरम सत्य को उपलब्ध करने की चेष्टा करता रहता है। उसके प्रयत्नों की शृंखला जन्म- जन्मान्तर तक फैली रहती है। उसके समस्त क्रिया-कलाप ब्रह्मोन्मुख रहते हैं। पार्थिव कर्मों की धारा के नीचे भी आध्यात्मिक प्रयासों की अन्तर्धारा का प्रवाह भारतीय जन-मानस का वैशिष्ट्य कहा जाता है। सकामता के गर्भ में निष्कामता का अंकुर लहलहाता रहता है। हमारे लौकिक कर्म, सुख एवम् अभिलाष पारलौकिक प्रयत्नों, सुखों तथा कामनाओं से अनु-

प्राणित रहते हैं। हम मरण के पालने में झूलते हुए भी अमरत्व की प्राप्ति पर दृष्टि गड़ाये रहते हैं। हम असत्य के गह्वर तथा अज्ञान के प्रकोष्ठ में बन्दी बनकर भी सत्य के प्रांगण और ज्ञान के गवाक्ष में झांकना हमारा स्वभाव है। वर्ड्स्वर्थ के स्काइलार्क की तरह भारतीय लोक-मानस का एक नेत्र पार्थिवता पर और दूसरा अपार्थिवता पर लगा रहता है। इस देश का लोक-मानस कल-कल, छल-छल करते हुये प्रपातों और स्रोतों में ईश्वरीय महिमा के गीत सुन सकता है। उसे हिमाच्छादित भूधर ब्रह्म के ध्यान में समाधिस्थ दिखायी देते हैं और वह हरे-भरे तरुओं को परम् सत्ता के रूप की झलक से प्राप्त आनन्द में झूमते हुए देखता है। उसे पक्षी परमात्मा के नाम-जप तथा गुण-स्मरण आदि से मुखर प्रतीत होते हैं। गृह-नक्षत्र,तारागणादि सभी परम सत्ता के सन्धान में लीन लगते हैं। नक्षत्र कभी-कभी परम चेतना के प्रेम का मौन निमंत्रण लाते हुये प्रतीत होते हैं। हंसते-मुस्कराते पुष्प परमात्मा द्वारा विविध रंगों वाली स्याही में लिखित प्रेम-पत्र अनुभूत होते हैं। परम सत्ता को प्राप्त करने की ज्ञान, कर्म एवम् उपासना की त्रिवेणी लोक-मानस के तट पर ही नहीं, प्रत्युत अचेतन प्रकृति के प्रांगण में तथा मानवेतर चेतन सृष्टि के वक्ष पर भी प्रवहमान कही जा सकती है। भारतीय साधना की इस त्रिवेणी की एक धारा के प्रबल या उद्दाम हो जाने पर शेष दो धाराएं तिरोभूत प्रतीत होने लगती हैं, किन्तु सर्वक्षय किसी का नहीं होता। साधारण जन उपासना की गंगा के अधिक समीप खड़े दिखायी देते हैं। तात्पर्य यह है कि भारतीय जन-मानस को भक्ति की भागीरथी सर्वाधिक प्रिय है। दार्शनिक, धार्मिक कहे जाने वाला जन-मानस वैदिक युग से ही दिव्यानुराग के पीयूष सरोवर में अवगाहन करता रहा है। ज्ञान एवम् कर्म का आश्रय विरले लोग ही ले सके हैं। जिस देश के लोक-मानस की संघटना जिस रूप में होती है,उसे उसी के अनुरूप मानसिक खाद्य की अपेक्षा हुआ करती है। भक्ति में प्रवृत्त जन-मानस के पोषण के लिए भागवत जैसा ग्रन्थ शिशु के विकासार्थ माता के क्षीर के समान प्रतीत होता है। भारतीय जन-मानस को सर्वाधिक पोषक तत्व इसी पुराण से प्राप्त हुए हैं। भक्ति की ओर झुकी हुई जनता की

कामना की तृप्ति करने में 'भागवत' का योगदान सर्वाधिक कहा जा सकता है। भारतीय जन-मानस को अभीष्ट साध इसी पुराण से उपलब्ध हुआ है। भारत के लोक-मानस के निर्माण एवम् पोषण में भागवत की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण रही है। भारतीय जन-जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करने वाले अष्टादश पुराणों में भागवत को पौराणिक माला का सुमेरु कहा जा सकता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में --' यह पुराण संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम- कल्पतरु का स्वयं गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है।'[१] वेदत्रयी (ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् एवम् गीता) में ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय मानव -जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन माना गया है। ज्ञान -कर्म -भक्ति एक- दूसरे के पूरक बताये गये हैं। ज्ञान से कर्म और भक्ति को आलोक प्राप्त होता है। भक्ति से ज्ञान तथा कर्म उद्रिक्त होते हैं। कर्म दोनों के निष्पादन में सहायक होता है। तीनों की समन्विति परम सत्य को उपलब्ध करने के लिए अनिवार्य हो जाती है। 'गीता' में तीनों का महत्व वर्णित होते हुये भी भक्ति की अनुगूंज पग-पग पर सुनायी पड़ती है। 'भागवत' में भी भक्ति को ज्ञान और कर्म से उच्चासन प्रदान किया गया है। ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की संतान माना गया है। तात्पर्य यह है कि 'भागवत' पुराण परम सत्य की उपलब्धि के लिए भक्ति को सर्वस्व मानता है। इस पुराण में भक्ति को साधन ही नहीं, साध्य भी बताया गया है। 'भागवत'

१- पुराण- विमर्श , पृष्ठ- १४५

रूपी कल्पतरु की एक-एक पत्ती दिव्य प्रेम से अभिसिक्त दिखायी देती है। भक्ति के समस्त भेदोपभेद, अंग तथा साधनादि इस ग्रंथ में वर्णित हैं। यहाँ भक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ- व्यावहारिक रूप की भव्य झांकी भारतीय जन-जीवन के मानसी नेत्रों को सुख-शान्ति प्रदान करती है। भक्ति का ऐसा पारावर अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है। ऐसा हिन्दू शायद ही कहीं मिले, जिसके व्यक्तित्व का परिधान इसकी तरंगों से अस्पृष्ट हो। इसके सीकर हर भारतीय के जीवन की चादर पर दिखायी देते हैं। इसकी बूंदें किसी पर प्रत्यक्ष रूप में और किसी पर परोक्षत: पड़ी दिखायी देती हैं। जन-जीवन को प्रभावित करने की दृष्टि से अष्टादश पुराणों में "भागवत" को शीर्षस्थ कहा जा सकता है। इस पुराण में लोक-मानस की रग - रग को स्पर्श करने की अपूर्व शक्ति है। साधारण जनता ज्ञान के उत्तुंग शिखर तक पहुंचने में असमर्थ होती है अर्थात उसकी बुद्धि के चरण वहां तक नहीं जा पाते और इसीप्रकार कर्म की शुष्क शिलाओं पर कर पटकते- पटकते वह शीघ्र थक जाती है, उसका मन ऊब जाता है, उदास बन बैठता है। उसे भक्ति सर्वाधिक सुलभ प्रतीत होती है। भक्ति को सर्व-सुलभ बनाने वाले ग्रन्थों में "भागवत" को अग्रणी कहा जा सकता है। हर वर्ग, जाति, वर्ण, धर्म, संप्रदाय के व्यक्ति के मानसी कोष में भागवती भक्ति की संपदा का अंश परिलक्षित होता है, कहीं पुष्कल राशि, कहीं अल्पांश, किन्तु किसी की जेब इसके सिक्कों से खाली नहीं दिखायी देती। राजा-रंक, उत्तम -अधम, उच्च-नीच, धनी-निर्धन, शिक्षित- अशिक्षित सभी भागवती भक्ति के प्रासाद में एक साथ विश्राम करते हैं। मद्रासी, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्री, सिन्धी, पंजाबी तथा राजस्थानी आदि लोग इस पुराण की भक्ति से कहीं प्रत्यक्षत:, कहीं परोक्षत: प्रभावित दिखायी देते हैं। निर्गुणिया सन्तों, बौद्धों- जैनों, योगियों पर भी इसका प्रभाव द्रष्टव्य है। कोई "भागवत" की वैधी भक्ति का अनुयायी दिखायी देता है, तो कोई इसकी रागानुगा या प्रेमलक्षणा भक्ति से प्रभावित प्रतीत होता है। किसी भक्त में इसकी सख्य-भाव की अभिव्यक्ति होती है, तो कोई माधुर्य- भाव का पोषण करता रहता है।

- - किसी में वात्सल्य की फलक मिलती है, तो किसी में दास्य भाव आविर्भूत है। कोई शान्त-भाव का अनुसरण करता है। 'भागवत' की नवधा भक्ति का एक - न - एक प्रकार सामान्यतः हर व्यक्ति में व्यक्त दिखायी देता है।

सामान्य रूप से शिक्षित व्यक्ति तुलसी के 'मानस' का नियमित पाठकर सकता है, जबकि भागवत' का नित्य स्वाध्याय संस्कृत भाषा का पण्डित ही कर सकता है, फिर भी साधारण शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही नहीं, अपितु अशिक्षित जन भी भागवती भक्ति से दूर- दूर तक प्रभावित दिखायी देते हैं। 'भागवत' के पाठक या वाचक कम संख्या में मिलते हैं, किन्तु इसके श्रोता स्थान -स्थान पर प्राप्त हो जाते हैं। भागवती भक्ति की संपदा जन साधारण तक श्रौत पथ से ही अधिक पहुंची है। इसका रस सामान्य लोगों को सुधी पाठकों, मर्मज्ञ वाचकों या विद्वान् व्यासों की वाणी के माध्यम से प्राप्त हुआ है। 'भागवत' की भाषा- टीका के प्रकाशित हो जाने पर भी कम पढ़े लिखे लोगों की रुचि इसके श्रवण में अधिक दिखायी देती है -- 'पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।' स्थान-स्थान पर सहस्र -सहस्र श्रोताओं के कानों में भागवती भक्ति के रस को उड़ेलने वाले कथा-वाचक इसी देश में उपलब्ध हैं। विशेष सज- धज, धूम- धाम, धार्मिक प्रेरणा और भक्ति- भाव से 'भागवत' पु पुराण का जैसा वाचन एवम् श्रवण हमारे यहां होता है, विशेषकर उत्तर भारत में, वैसा किसी धार्मिक ग्रन्थ का पाठ एवम् श्रवण अन्यत्र कदाचित ही दिखायी दे। बाइबिल, कुरान और गुरु ग्रन्थ साहब का पठन- श्रवण भी इस रूप में नहीं होता। इन ग्रंथों का ही नहीं 'मानस' का पठन-श्रवण भी उतने विस्तीर्ण फलक और वैसी भव्यता के साथ नहीं होता। 'मानस' का अखण्ड पाठ तो स्थान-स्थान पर मिलता है, किन्तु इसका पठन-श्रवण उस विश्लेषण-विवेचन और धार्मिकानुष्ठान के साथ नहीं होता, जैसा 'भागवत' के वाचन और श्रवण के साथ परिलक्षित होता है। 'भागवत' का पठन-श्रवण

भव्य समारोह, धार्मिकानुष्ठान, दान- दक्षिणा तथा विशाल जन-
भोज के साथ हमारे देश के कोने-कोने में होता है। इस प्रकार का आयोजन
पाषाण-हृदय को भी सरस- कोमल बना देता है। 'भागवत' के पाठ का
भव्यायोजन भागवती भक्ति के प्रचार-प्रसार का द्योतक है। दरिद्र- से- दरिद्र
व्यक्ति उधार धन लेकर इस तरह के आयोजनों की व्यवस्था कर अपने भक्ति-
भाव को तृप्त और भौतिक मनोरथों को पूर्ण करने का उपक्रम करते हैं व्यास
जी के श्रीमुख से 'भागवत' की कथाओं को सुनकर कई श्रोता भगवद्भक्त बन
जाते हैं। भारतीय जन-जीवन की भूमि पर वैष्णव भक्ति की बल्लरी को
उगाने में 'भागवत' पुराण की कथाओं के रोचक वाचन और मधुर श्रवण
की भूमिका अति महत्वपूर्ण रही है। 'भागवत' का अनुष्ठानिक वाचन-श्रवण
कहीं मासिक ,कहीं पाक्षिक और कहीं साप्ताहिक हुआ करता है। कितने
दिनों का आयोजन है , जब व्यवसायी व्यास भी भाव-विभोर होकर 'भागवत'
का विवेचनात्मक पाठ सरस वाणी में करते हैं, तथा व्यास गद्दी के चारों
ओर एकत्र श्रोताओं के हृदयों में भागवती भक्ति की ज्योति अवश्य जाग उठती
है। यदि 'भागवत' कराने वाले यजमान का मनोरथ पूर्ण हो गया ,तो उसका
भक्ति भाव और भी अधिक पुष्ट हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के पुष्ट भक्ति-
भाव को देखकर दूसरे लोग भी उसका अनुसरण करते हैं। इसप्रकार 'भागवत'
का वाचन- श्रवण एक हृदय से दूसरे हृदय में भक्ति की ज्योति जगाता है तथा
कभी-कभी यह शिखा कई श्रोताओं के अन्तर्मनों में एक साथ जाग उठती है।
'मानस' के आनुष्ठानिक पाठ का भी ऐसा ही प्रभाव परिलक्षित होता है ,
किन्तु जो समय और धनादि 'भागवत' के पाठ में व्यय होता है, वह
'मानस' के पाठ में नहीं लगता है 'मानस' का पाठ किसी जाति ,धर्म एवम्
संप्रदाय वाला व्यक्ति स्वयं कर लेता है तथा वह उसका विवेचन-विश्लेषण
श्रोताओं के लिए नहीं करता , जब कि 'भागवत' का विवेचनात्मक (व्याख्यात्मक)
वाचन सामान्यत: ब्राह्मण जाति वाला व्यास उसके श्रोताओं के लिए करता
है। जिस स्तर पर 'भागवत' का पाठ होता है, उस स्तर पर 'मानस' का

विधिपूर्वक वाचन ब्राह्मणों से कराना आवश्यक नहीं माना जाता ।[1] जो भी हो, जन- जन के हृदय में भक्ति की पावन सरिता 'भागवत' तथा 'मानस' दोनों ने ही प्रवाहित की है।

भारतीय हिन्दू संस्कृति वर्ण आश्रम धर्म प्रधान रही है आज भी समाजवाद उस शिखर पर नहीं पहुंच सका है जहां वर्ण व्यवस्था का अन्त हो जाय । श्रीमद्भागवत के नित्य पारायण से ब्राह्मण जाति को ऋतम्भरा प्रज्ञा अर्थात तत्व ज्ञान को प्राप्त कराने वाली बुद्धि की प्राप्ति हो जाती है। क्षत्रिय को विशाल ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात समुद्र से भूमण्डल तक उसका यश प्रकाशित हो जाता है, वैश्य कुबेर का पद प्राप्त कर लेता है। अर्थात वह श्रीमान् हो जाता है। और शुद्र पाप मुक्त हो जाता है।[2] भागवतकार का जयघोष है कि भागवत कथा के श्रवण से पुत्र, धन, स्त्री हाथी, घोड़े, वाहन, यश, मकान और सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति हो जाती है।[3] यदि पुरुष श्रीमद्भागवत के आश्रय से जीवन व्यतीत करता है तो उसे परमभक्ति एवं परमगति प्राप्त हो जाती है।[4]

१- कुछ स्थानों पर 'मानस' के व्याख्यात्मक सस्वरवाचन के माध्यम से कुछ कथा-वाचक अपने श्रोताओं से अपनी जीविका अर्जित करते रहते हैं, किन्तु 'भागवत' की तरह 'मानस' का सप्त पाठ श्रोता अपनी ओर से कम- ही कराते हैं।

२- श्रीमद्भागवत-१२।१२।६४,

विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् ।
वैश्यो निधिपतित्वं चशूद्रः शुद्ध्येत पातकात् ।।

३- श्रीमद्भागवत-४।३५, धनं पुत्रांस्तथा दारान् वाहनादि यशो गृहान् ।
महात्म्य - असापत्न्यं च राज्यं च दद्याद् भागवती कथा ।।

४- श्रीमद्भागवत-४।३६, इह लोके वरान् भुक्त्वा भोगान् वै मनसेप्सितान् ।
माहात्म्य - श्रीभागवतसङ्गेन यात्यन्ते श्रीहरेः पदम् ।।

इस भागवत धर्म या भक्ति ने मात्र हिन्दू जाति को ही अपने प्रभाव से प्रभावित नहीं किया बल्कि इसने देश-विदेश की विविध जातियों को भी पवित्र कर दिया है। जैसे किरात, हूण, आन्ध्र ,पुलिन्द ,पुल्कस, आभीर,कंक, यवन, और खस आदि नीच जातियां तथा दूसरे पापी लोग केवल शरणागत भक्तों की शरण में ही रहकर परमगति प्राप्त कर सके हैं, फिर भागवत भक्ति की तो कहना ही क्या ।[1] यह भागवती भक्ति न केवल अपने दुराचरणों को ही नष्ट कर देती है बल्कि कर्म संस्कारों को भी लकड़ी के ढ़ेर के सदृश भष्म कर देती है ।[2] अत: भागवती भक्ति का सरल सीधा सुखदायी एवम् श्रेयस्कर मार्ग में कोई भी जाति का पथिक आकर विश्रान्ति ले सकता है । चाहे जन्म से चाण्डाल या शूद्र ही क्यों न हो ।[3] स्त्री एवम् अन्त्यज जातियां भी भागवत की कथा श्रवण या पारायण से साध्वी एवम् पतिपरायण तथा भगवन्मुखी हो जाती है ।

अत: संक्षेप में कह सकते हैं कि भागवती भक्ति से मानव मन की असत्प्रवृत्तियां समूल नष्ट हो जाती है।शुद्ध विवेक दृष्टि उद्भूत हो जाती है।और जनसाधारण की स्थिति में असाधारण हो जाता है। समस्त जगत् का सुहृदय एवम् हितैषी बन जाता है। उनका जीवन अन्तर्जगत के अनुसंधान में ही आत्मीय प्रेम की पराकाष्ठा में अखण्ड भरोसा एवम् विश्वास की एक निष्ठता में भगवद्-दर्शन करता है । वह अपने हृदय में प्रकाशमणि तो प्रज्वलित करता ही है बल्कि वह हमारे राष्ट्र एवं विश्व में भी अखण्ड ज्योति का प्रकाश पथप्रदर्शक की तरह प्रकाशित करता है ।

-:-

१- श्रीमद्भागवत-२।४।१८,
किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा, आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रया:, शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।

२- श्रीमद्भागवत-११।१४।१९, यथाग्नि:सुसमृद्धार्चि: करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ।।

३- श्रीमद्भागवत-११।१४।२१, भक्ति:पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ।।

(ख)- भागवती भक्ति का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव :-

भागवती भक्ति का परवर्ती साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव से पहले यह बात नितान्त विचारणीय है कि श्रीमद्भागवत वैष्णव धर्म का उपजीव्य ग्रंथ है।[1] श्रीप्रह्लाद द्वारा उपदिष्ट नवधा भक्ति उक्त धर्म में अनुस्यूत है।[2] आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार वैष्णव धर्म का प्रभाव भारतीय साहित्य पर बड़ा ही गहरा तथा तलस्पर्शी है। भगवान् विष्णु के अवतार भूत राम और कृष्ण में भक्तत्व के द्विविध पक्ष का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम में ऐश्वर्य भाव का प्राधान्य विद्यमान है तो लीला पुरुषोत्तम कृष्णचन्द्र में माधुर्य भाव। एक मर्यादा पुरुष हैं तो दूसरे लीला पुरुष। राम भक्ति कवि राम के लोक संग्रही

१- श्रीमद्भागवत- ७।११।८-१२,

'सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ।
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणाम् विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ।।
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यः यथार्हतः ।
तेष्वात्म देवता बुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ।।
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्म समर्पणम् ।।
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ।।'

२- श्रीमद्भागवत- ७।५।२२,

रूप के चित्रण करते समय जीवन के नाना पदार्थों के प्रदर्शन में कृत कार्य होता है। कृष्ण भक्त कवि का वर्ण्य विषय है-- बाल कृष्ण की माधुर्य गर्भित ललित लीलायें। फलत: उनकी दृष्टि कृष्ण के लोक रंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। क्षेत्र समिति होने पर भी वह भाव समुद्र के अन्तरंग में प्रवेश करता है। और चमकते हुए हीरों तथा मोतियों को ढूंढ़ निकालने में सफल होता है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्ण कवि सर्वथा कृत कार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णव धर्म के उत्कृष्ट भाव से भारतीय साहित्य सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है, जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है, जीवन सरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करने वाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा श्रृंगार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु चित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस अथवा रस स्निग्ध है, उतना ही वह भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्म समर्पण की भावना से कोमल तथा हृदयावर्जक है। यह साहित्यिक प्रभाव भारत वर्ष की प्रत्येक प्रान्तीय भाषा के ऊपर पड़ा है। इन भाषाओं का सुन्दरतम साहित्य वही है जो भागवत भावनाओं से स्पन्दित, उत्साहित तथा स्फुरित होता है।[१] भागवती भक्ति का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर (३) रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम- कुछ आचार्यों ने श्रीमद्भागवत पर टीकाएं या भाष्य लिखकर वैष्णवता सिद्ध की है। द्वितीय- कुछ आचार्यों ने अपने साहित्य सृजन का आधार राधाकृष्ण के प्रेम को लिया है। और तृतीय- रूप में श्रीहरि के अनेकों नाम रूप गुण लीला तथा नाना अवतारों की कथाओं का आश्रय लेकर उनके माहात्म्य ऐश्वर्य के प्रति अपने मानसोद्गार अभिव्यक्त किए हैं।

१- उपाध्याय, आचार्य बलदेव, 'वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धांत'

सर्व प्रथम हम श्रीमद्भागवत पर लिखी जाने वाली टीकाओं का विवेचन उपयुक्त समझेंगे। श्रीमद्भागवत पर टीका लिखे जाने में अद्वैत संप्रदाय के प्रधानाचार्य श्री चित्सुखाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[1] इसका उल्लेख श्री मध्वाचार्य और विजयध्वज की टीका में भी मिलता है। यद्यपि आज यह अनुपलब्ध है तथापि — इसके अस्तित्व में सन्देह निर्मूल ही है। वर्तमान काल की उपलब्ध टीकाओं में श्रीधर स्वामी की टीका सर्वाधिक प्राचीन और श्रेष्ठ प्रतीत होती है। श्रीधराचार्य श्रीशंकराचार्य के अनुयायी थे। इन्होंने निजकृत विष्णु पुराण की टीका में चित्सुखाचार्य की चर्चा की है जिसमें इनका चित्सुखाचार्य का परवर्ती होना सिद्ध होता है। इन्होंने नृसिंह भगवान् की कृपा से स्वयं को श्रीमद्भागवत का सरहस्य अर्थ समझने में सर्वाधिक सक्षम बताया है।[2] "श्री चैतन्य चरितामृत" की अन्त्यलीला के सप्तम परिच्छेद के अनुसार श्री बल्लभाचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु को अपनी टीका सुनाना चाहते थे पर महाप्रभु को जब यह विदित हुआ कि उन्होंने श्रीधर स्वामी का खण्डन किया है तब उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया और कहा कि श्रीमद्भागवत पर सर्वोत्कृष्ट टीका श्रीधर स्वामी की है, उसको न मानना अनुचित है।[3] यहां विचारणीय है कि महाप्रभु अद्वैत मतानुयायी नहीं थे तथापि उन्होंने उसी सम्प्रदाय के श्रीधर स्वामी की टीका की प्रशंसा की। इससे उस टीका की निष्पक्षता और सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित होती है।

१- चित्सुखाचार्य श्री शंकराचार्य की तीसरी पीढ़ी में हुए हैं।

२- व्यासोवेत्ति शुकोवेत्ति राजावेत्ति नवेत्ति वा।
श्रीधर: सकलं वेत्ति श्री नृसिंह प्रसादत:॥
(लोकोक्ति रूप में प्रसिद्ध श्रीधर जी की उक्ति)

३- देखिए श्री चैतन्य चरितामृत-- प्रकाशक श्रीराधारमणजी का मन्दिर - वृन्दावन।

तोताद्री पीठाधीश के अनुसार विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायाचार्य श्री रामानुजाचार्य ने श्रीमद्भागवत पर एक-दो निबन्ध लिखे थे परन्तु इसका उनके कथन के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं मिलता। श्री रामानुजाचार्य के भानजे एवं शिष्य श्री वरदराजाचार्य के शिष्य श्री सुदर्शन सूरि की 'शुकपक्षीया' नामक टीका प्राप्त होती है। 'सम्प्रदाय वैशिष्ट्यम् ग्रंथ' के अनुसार भगवान् रंगनाथ ने उन्हें उक्त टीका के लिए प्रेरित करते हुए 'व्यास' की उपाधि दी थी।[1] इनकी टीका विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों के अनुसार है। सन् १३५७ ई० में दिल्ली सम्राट अलाउद्दीन के सेनापति ने दक्षिण विजय के लिए मथुरा तथा श्रीरंगम पर आक्रमण किया और उसमें ही श्री सूरि मारे गए।[2] उनके समकालीन श्री वीर राघवाचार्य ने भी श्रीमद्भागवत पर 'भागवत चन्द्रिका' नामक इनकी अपेक्षा विस्तृत टीका लिखी थी। श्री वीर राघवाचार्य भी सुदर्शन सूरि के ही अनुयायी थे। इस सम्प्रदाय के अन्य टीकाकारों में श्री वैष्णवशरण, श्रीनिवास सूरि आदि प्रसिद्ध हैं।

श्रीमध्वाचार्य ने 'भागवत तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रन्थ लिखा था एवम् उनके अनुयायी श्री विजय ध्वज तीर्थ ने भागवत पर 'पदरत्नावली' नामक सुप्रसिद्ध सारगर्भित, विद्वतापूर्ण टीका लिखी थी। अपनी टीका के आरम्भ में उन्होंने आनन्द तीर्थ (मध्वाचार्य) तथा विजय तीर्थ की कृति के आधार पर अपना भाष्य लिखना स्वीकार किया है, जिससे विदित होता है कि इस सम्प्रदाय में भागवत भाष्य लेखन की परम्परा पर्याप्त विकसित हुई है।[3]

१- सुदर्शन सूरि का काल- 'सम्प्रदाय वैशिष्ट्यम्' के अनुसार १४वाँ शतक है।

२- कल्याण भागवतांक के अनुसार 'दक्षिण विजय का सम्वत् १३५८ है परन्तु इतिहासकारों के मतानुसार १३२३ अतः इस घटना का काल यदि १३०६ से १३२३ का मध्य माना जाय तो अधिक संगत होगा।
(देखिये- 'भारत का इतिहास' डा० श्याम बिहारी पाण्डेय पृ०१७७ तथा 'भागवतांक' पृ०-१२२)

३- 'पद रत्नावली' नामक प्रकाशित टीका बम्बई नि०सा०प्रे०से प्राप्य है तथा उसमें विजयध्वज तीर्थ का प्रारम्भिक कथन यह है— शेष आगे पृष्ठपर-

श्री चैतन्य गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को प्रस्थानत्रयी का भाष्य स्वीकार करते हुए श्रीधर स्वामी की टीका को ही प्रामाणिक माना था अतः इन्होंने श्रीमद्भागवत पर स्वयं कोई स्वतन्त्र टीका नहीं की परन्तु इनके अनुयायियों ने श्रीमद्भागवत के आधार पर अनेक ग्रन्थ लिखे । श्रीरूप गोस्वामी का "भक्ति रसामृत सिन्धु" उनके भाई की दशम् स्कन्ध पर "बृहद् वैष्णवतोषिणी" टीका जिसे विद्वान् "दशम् टिप्पणी" कहते हैं तथा भागवत पर आधारित अनेक रचनायें प्रसिद्ध हैं । श्रीरूपस्वामी के भतीजे श्री जीव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत पर कई निबन्ध, टीका एवं टिप्पणियां लिखी हैं । उनके षट्सन्दर्भ "क्रम सन्दर्भ" तथा "वैष्णवतोषिणी" आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं । इनकी टीका अतीव तात्विक एवम् विद्वता पूर्ण है और इसलिए उनके विरोधी भी मुक्त कण्ठ से इनकी विद्वता को स्वीकार करते हैं । इस सम्प्रदाय के सर्वाधिक मधुर टीकाकार हैं श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती । इनकी "सारार्थ दर्शिनी" नामक टीका पाषाण हृदय को भी विगलित करने में समर्थ है ।

पुष्टिमार्ग के आचार्य श्री वल्लभाचार्य ने सम्पूर्ण भागवत पर नहीं अपितु कतिपय प्रारम्भिक स्कन्धों तथा दशम स्कन्ध पर अतीव गम्भीर और विचार पूर्ण "सुबोधिनी" नामक व्याख्या लिखी है । इन्होंने आध्यात्मिक, आधि भौतिक एवम् राजस तामस आदि भेद से श्रीमद्भागवत का कई रूप में विभाजन कर नवीन अर्थों की उद्भावना की है । रचना काल १६वीं शती है । अपना भाव प्रणवता के सम्बन्ध में वे अपनी टीका के आरम्भ में कहते हैं कि—

देखिये - पिछले पृष्ठ का पादटिप्पणी १ का शेष -

आनन्द तीर्थ विजय तीर्थौ प्रणम्य मत्स्वरिश्वरवन्द्यौ ।
तयो कृतिं स्फुटमुपजीव्य प्रवच्मि भागवतं पुराणम् ।।

"वाक्पति भगवान् वैश्वानर के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के अर्थ निर्णय की शक्ति और किसी में नहीं है। भगवान् विष्णु ने शरीर धारण कर "व्यास" के समान ही कृपाकर मुझे आज्ञा दी है अतः व्यास और भगवान् के प्रिय अनेक गूढार्थ में प्रगट कर रहा हूं।"[1] श्रीवल्लभाचार्य के अतिरिक्त उनके वंशज श्री गिरिधराचार्य की टीका भागवतीय स्कन्धों के विभाजन एवम् आध्यात्मिक अर्थों के प्रगटीकरण के कारण विशेष प्रसिद्ध है।[2]

निम्बार्क सम्प्रदाय स्वभावतः ही संक्षेप प्रिय है। इसके प्रवर्तक स्वयं निम्बार्काचार्य ने अत्यल्प लिखा है। इनके अनुयायी श्री शुकदेवाचार्य ने श्रीमद्भागवत पर अत्यन्त संक्षिप्त, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की प्रतिपादक "सिद्धान्त प्रदीप" नामक व्याख्या लिखी है। इन्होंने अपने गुरुओं में भगवान् हंस, सनत्कुमार, देवर्षि नारद तथा निम्बार्काचार्य का नाम लिया है। इनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के कई महात्माओं ने भागवत के प्रसंग विशेष पर टीका निबन्ध आदि लिखे हैं। श्रीमद्भागवत इस सम्प्रदाय का प्रधान ग्रन्थ है।

१- अर्थोऽस्य विवेक्तुं नहि विभुर्वैश्वानराद् वाक्पते
रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्च पतिः।
दत्वाऽऽज्ञां च कृपावलोकन पटुर्यस्मादतो हं मुदा
गूढार्थं प्रकटी करोमि बहुधा व्याख्याय विष्णोः प्रियम्।
"सुबोधिनी"

२- श्री गिरिधराचार्य का विभाजनः-- प्रथम स्कन्ध में १-२ तक अध्यात्म ज्ञानाधिकार, ४ - ६ तक मध्यमाधिकार, ७-१९ तक उत्तमाधिकार, द्वितीय स्कन्ध में १-२ तक तत्वध्यान का निरूपण, ३-४ तक साधिका प्रकार का निरूपण ५-१० तक मनन का निरूपण आदि।

'श्रीमद्भागवत तात्पर्य निर्णय' के अनुसार हनुमान नामक एक विद्वान् ने श्रीमद्भागवत पर टीका की थी, परन्तु आज यह सर्वथा अप्राप्य है। श्रीमद्भागवत पर एक 'हनुमद् भाष्य' प्राप्त होता है तथा हनुमान कृत 'हनुमन्नाटक' भी उपलब्ध होता है, परन्तु इससे यह निर्णय नहीं हो पाता कि उक्त कृतियां एक ही व्यक्ति की है अथवा पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की। श्री मधुसूदन सरस्वती ने भी श्रीमद्भागवत पर कोई टीका लिखी थी जो आज पूर्णतः उपलब्ध नहीं होती किन्तु प्राप्त एक-दो श्लोकों की टीका से उनकी टीका-कारिता सिद्ध हो जाती है। प्रथम श्लोक में वे सम्पूर्ण भागवत पर टीका लिखने की इच्छा व्यक्त करते हैं तथा द्वितीय श्लोक (मंगलाचरण) में जीवन के चरम लाभ की प्राप्ति के लिए अपने परिश्रम की व्याख्या करते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के अनेक प्रसंगों पर श्री किशोरीलाल जी की 'विशुद्ध रस दीपिका' श्री रामनारायण जी की 'भाव भाव विभाविका' श्री धनपति सूरि की 'भागवत गूढ़ार्थ दीपिका' 'गण दीपिका' एवं श्रीराम कृष्ण, राधामोहन आदि की टीकायें मिलती हैं। इसके साथ ही अन्य महत्वपूर्ण टीकाओं में श्री गंगासहाय की विद्या वाचस्पति की 'अन्वितार्थ प्रकाशिका' श्री वंशीधर जी की 'वंशीधरी' 'चूर्णिका' 'सुबोधिनी' आदि अनेक टीकायें श्रीमद्भागवत पर हैं। प्रमुख अष्ट विद्वानों (आचार्यों) की टीका को आज भी समादृत किया जाता है। विशेषकर 'वंशीधरी' को क्योंकि वह सबसे पश्चात् लिखी जाने के कारण सबके सार से युक्त है।

1- श्रीकृष्णं परमं तत्वं नत्वा तस्य प्रसादतः ।
श्रीभागवत पद्यानां कश्चिद् भावः प्रकाश्यते ।।

अनुदिन मिदमायुः सर्वदा सत प्रलोभैर्बहुविध परितापैः क्षीयतेऽव्यर्थ मेव ।
हरिचरित्र सुधाभिः सिच्यमानं तदेतत्, क्षणमपि सफलं स्यादित्ययं मे - श्रमोऽत्र ।।

'मधुसूदन सरस्वती'

संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त तेलुगू में पी० नारायणाचार्य, वावलिया राम-स्वामी शास्त्री, पोतन्ना, बेली गन्दना आदि की टीकाएं तथा मराठी में एकनाथ की भागवत, कवि श्रीधर कृत हरिविजय नामक पद्यानुवाद, मोरोपन्त का आर्यावृत्त में श्रीमद्भागवत का पद्यानुवाद तथा कृष्ण दयार्णव कृत हरिवंद ५ भाग सभी अनुवाद और टीकाएं श्रीमद्भागवत की महिमा का प्रख्यापन करती हैं। हिन्दी में लल्लू लालजी कृत सुख सागर, प्रेम सागर गीता प्रेस का हिन्दी अनुवाद आदि प्रसिद्ध है। हिन्दी की विभिन्न बोलियों में भागवत के कई प्रसंग प्रसिद्ध हैं एवम् विदेशों में भी इसकी टीकाओं पर ध्यान दिया जा रहा है।

अन्त में श्रीमद्भागवत की टीकाओं के सम्बन्ध में यह कहना असमीचीन न होगा कि उक्त सभी टीकाओं में विद्वानों ने अपने सिद्धान्तों और भावों के अनुसार श्रीमद्भागवत के भावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जिन्होंने भावद्प्रीति और लोक कल्याण के लिए यह प्रयास किया है उसमें भाव गाम्भीर्य और मार्मिकता ही नहीं मंजुलता भी आ गयी है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी मंजुलता के ही तो दर्शन मानस के प्रारम्भ में कराए हैं।[१] वास्तविकता यही है कि श्रीमद्भागवत का भाष्य श्रीमद्भागवत ही है। यह विद्वानों के लिए परीक्षाभूमि अवश्य है, परन्तु भक्तों के लिए तो यही अतीव सरस, सरल मोक्षक ग्रंथ रत्न है। श्रीमद्भागवत के अनुसार इसका अर्थ केवल भक्ति द्वारा ही ग्राह्य है।[२] अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार ही इसका अर्थ ग्रहण कर इसके अलौकिक महत्व को प्रतिपादित करता है।

१- स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथ गाथा,
भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति ।।
रा०मा० ७ श्लो०

२- " भक्त्या भागवतं ग्राह्यम् "

कल्याण के भागवतांक में इन गद्यात्मक टीकाओं के अतिरिक्त अन्य टीकाओं का इस प्रकार उल्लेख किया गया है--"गोदावरी तट वासी कश्यप गोत्री श्री० पं० हरिशर्मा ने १७१६ शकेसं० में "श्रीहरिभक्ति रसायन" नामक अतीव विशद पद्यात्मक टीका भागवत दशम स्कन्ध पर लिखी है। इसमें कुल ४६ अध्याय और विभिन्न छन्दों में पांच हजार पद हैं। श्रीहरि शर्मा ने अपने रसायन के उपक्रम में भगवदाशीर्वाद द्वारा सम्पूर्ण रहस्यों के निज हृदय में प्राकट्य का उल्लेख कर अपनी अनन्यता गम्भीरता भाव प्रणवता को सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है।[1]

अत: स्पष्ट है कि भागवती भक्ति सभी सम्प्रदायों के टीकाकार निश्चित प्रभावानुविष्ट हैं।उसी प्रकार हिन्दी साहित्य के निर्गुण एवम् भक्त कवियों में भी कहीं न कहीं से भागवती प्रेरणा अभिव्यक्त हुई है। इस पौराणिक प्रभाव से कोई भी सन्त ,भक्त कवि अछूता नहीं रह सका है। संपुष्टि के लिए विविध कवियों की कतिपय पंक्तियों द्वारा भागवती भक्ति का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव देखा जा सकता है :--

---

१- देवत्वद् गुणवर्णने किल सहस्रास्योऽपि नेशो भृशं
त्वत् सौन्दर्य विवेचनेऽपिच सहस्राक्ष: क्षणं नक्षम: ।
सेवायां न सहस्रबाहुभिरलं युक्तो पिशक्तोऽर्जुन
स्तत्राहं जगदीश्वरैक्वदनो ह्यक्षो द्विबाहु: कियान् ।।
इत्थं भूरि समर्थित: स भगवान् प्रोत्साहनं मे ह्यदाद्
यद् यद् बीज महं निधाय हृदये क्रीड़ा मकार्षं तदा ।
तत्सर्वं तव बुद्धि गोचर मनायासं करिष्ये लिखत्वं
निरशंक मिहाभीति समूहत्न प्रवृत्युद्गम: ।। श्रीहरि:
कल्याण भागवतांक वर्ष १६, अंक १ पृ० १३३,१६६८ वि०

भागवत की नवधा भक्ति के आधार पर वर्णन उल्लेखनीय है :--

(१)- गुण श्रवण:-

(।)- गोव्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि ।
हरता पाणीं ना पिऊं मति वै धोये जाहि ।।
(कबीर- ग्रंथावली- पृ० ७६, दो० ७५)

(।।) कहै कबीर कठोर के सबद न लागै सार ।
सुध बुध कै हिरदै भिदै उपजि विवेक विचार ।।
(कबीर ग्रंथावली-पृ० ८४, दो० ७)

थिति पाई मन थिर भया, सत गुर करी सहाइ ।
अनिन कथा तन आचरी हिरदै त्रिभुवन राइ ।।
(कबीर ग्रंथावली- पृ० १४,दोहा २६)

सुनिअ तहां हरि कथा सुहाई । नाना भांति मुनिन्ह जो गाई ।
जेहि महं आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ।
जाइह सुनत सकल संदेहा । राम चरन होइहि अति नेहा ।।
(रा०मा०- ७।८५)

राम चरित जे सुनत अघाहीं । रस विशेष जाना तिन नाहीं ।
जीवन मुक्त महा मुनि जेऊ । हरि गुन सुनहि निरन्तर तेऊ ।।
(रा०मा०- ७।७७)

(२)- नाम गुण कीर्तन:-

(।)- कबीर कूता क्या करै, गुण गोविन्द के गाइ ।
कबीर आपण रांम कहि औरा राम कहाइ ।।
(कबीर ग्रंथावली-पृ०-६,दो० २३)

हरि जैसा है, तैसा रहा, तूं हरषि गुण गाइ ।।

कैसो कहि कहि कूकिये , ना सोइये असरार ।
राति दिवस कै कूकणै मति कबहुं लगै पुकार ।।
(कबीरग्रंथावली- पृ० ६,दो० १६)

करता दीसै कीरतन, ऊंचा करि करि तूंड ।
जाणै बूझै कुछ नहिं , यौं ही आंधा रूंड ।।
(कबीर ग्रंथावली- पृ० ३८ दो०-५)

कलि जुग जोग न जग्य न ग्याना ।
एक अधार राम गुन गाना ।।
सब भरोस तजि जो भजि रामहिं ।
प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं ।।
(तुलसी रा०मा०- ७।१६४)

रामहि सुमिरिय गाइय रामहिं ।
संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहिं ।।
(तुलसी- रा०मा०-२२२)

३- पादसेवन:-

(१)- चरननि लागि करौं बरियाई ।
प्रेम प्रीति राखौं उरझाई । (कबीर ग्रंथा०पृ-८७,पद ३)

कबीर हरि चरणौं चल्या, माया मोह थैं टूटि ।
गगन मंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि ।।
(कबीर ग्रंथावली-पृ० ७६,दो०-३)

(२) - बिचरहिं अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किए । वि०पृ०१३५,

४- अर्चन:-(१) पाहण केरा पूतला,करि पूजै करतार, कबीरग्रंथा०पृ०४४,दो-१
पांहन कूं का पूजिये, जे जनम न देई जाबा ।। ,,पृ०४४,दो-३

(२)- तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं ।
प्रभु प्रसाद पट भूषन धरही ।।
कर नित करहिं राम पद पूजा ।
राम भरोस हृदय नहि दूजा ।
मंत्रु राजु नित जपहिं तुम्हारा ।
पूजहिं तुमहि सहित परिवारा ।
तरपन होम करहिं विधि नाना ।
विप्र जिमाय देहि बहु दाना ।। रा०मा०-२।१३०

५- <u>वन्दन</u>:- कबीर मन तीषा किया, बिरह लाइ पर सांण ।
चित्त चर्णूं में चुभि रह्या , तहां नहीं, काल का पाण ।।
कबीर ग्रंथावली-पृ० ७६,दो०-५

बीनती एक राम सुनि थोरी । अबकी बचाइ राखि पति मोरी ।।
कबीर ग्रंथावली-पृ०११३, पद-७८,

कहै कबीर चरन तोहि बन्दा । घर में घर दे परमानन्दा ।।
कबीर ग्रंथावली- पद- ७६

बन्दौ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ।
तुलसी- रा०मा०-१।१२६

६- <u>दास्य</u>:- साईं सूं सब होत है, बंदे थै कछु नाहिं ।
राइ थैं परबत करै, परबत राई मांह ।
कबीर ग्रंथावली-पृ० ६२,दो०१२

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि । तुलसी-रा०मा०७।२०४

७- <u>सख्य</u>:- जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ।
कबीरग्रंथावली-पृ०१३,दो० १२

एक न दोसत हम किया,जिस गलि लाल कबाय।
सब जग धोबी धोइ मरै, तौं भी रंग न जाय ।।
कबीरग्रंथावली-पृ०२६,पद-११

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भए समर सागर कह बेरे ।।
मम हित लागि जनम इन हारे । भरतहु ते मोंहि अधिक पियारे ।।
तुलसी-रा०मा०- ७।१८

आत्मनिवेदन:-

(१)- तुम बिन राम कवन सौं कहिये ।
लागी चोट बहुत दुख सहिये ।
बेध्यौ जीव विरह के भाले, राति दिवस मेरे उर साले ।।
को जाने मेरे तन की पीरा । सतगुरु सबद बहि गयौ सरीरा ।
तुमसे वेद न हमसे रोगी। उपजी बिथा कैसे जीवे बियोगी ।
निस बासुरि मोंहि चितवत जाई ।अजहुं न आइ मिले राम राई ।।
कहत बीर हमकौं दुख भारी ।बिनु दरसन क्यूं जीवहिं मुरारी ।।
कबीर ग्रंथावली-पद-२८७ ,

(२)- रामचन्द्र रघुनाथ तुमसौं हौं विनती केहि भांति करौं ।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौं ।।
विनयपत्रिका- १४१ ,

प्रेम की अनन्यता:-

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न औंगुण बक सहु मेरा ।
सुत अपराध करै दिन केते। जननी के चित रहे न तेते ।।
कर गहि केस करै जौ घाता ।तऊ न हेत उतारै माता ।
कहैं कबीर एक बुधि-बिचारी। बालक दुखी दुखी महतारी ।।
कबीर ग्रंथावली- पद १११

३- जायसी:- काढ़ि पुरान जनम बरयाये । -पद्मावत- दो०सं० ५२
दीन्ह पुरान पढ़ै बेचारी ।। -पद्मावत- दो०सं० ५३

उहै धनुक किरसुन पै अहा । उहै धनुक राघौ कर गहा ।
उहै धनुक रावन संघारा । उहै धनुक कंसासुर मारा ।
उहै धनुक बेधा हुत राहू । मारा ओहीं सहस्सर बाहू ।।

पद्मावत -दोहा-१०२,

कान्ह चले तजि सब गयेउ माजी कौ बजागि करै बासारे ।
गोकुल छांडा छाए मधुवन किए कुबजा घर बासारे ।।

(महरी बाईसी-पद सं० २१)

सूरदास:- ऊधौ विरही प्रेम करै ।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौ रंग न रस परै ।
ज्यौं घर देह बीज अंकुर मरि तौ सत फरनि फरै ।

सूरसागर- पद ४६४०,

(उपर्युक्त पद श्रीमद्भागवत के गोपी की विरह वेदना से अनुप्राणित है)

परम विरह की एकादश अवस्थाएं :-

स्मरण:- हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ ।
हरि चरनार बिंद उर धरौ ।। सू०सा०३४४

गुणकथन:- तुम अनादि अविगत अनन्त गुन पूरन परमानन्द ।।
सूरदास पर कृपा करौ प्रभु श्रीवृन्दावनचन्द्र ।।सू०सा०१६३

अभिलाषा:- चकई री चलि चरन सरोवर जहां न प्रेम वियोग ।
जहं भ्रम निसा होति नहिं कबहूं सो सागर सुख जोग ।।

सूर सागर-३३७

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जौं दिखावहु,नाहिनें रुचि आन ।।

सूर सागर- १०६

उद्वेग(व्याकुलता):- मेरी तौं गति पति तुम,अन्तहिं दुख पाऊं ।
हौं कहाई तिहारौ , अब कौन कौं कहाऊं ।।
सूर सागर- १६६

अबकै राखि लेहु भगवान ।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया, पारिधि साधे बान ।। सू०सा० ६७,

विवशता:- अपनी रुचि जितही तित सैंचति इन्द्रिय ग्राम गटी ।
हौं तित ही उठि चलत कपट लगि बांधे नयन पटी ।।

व्याधि:- दिन दिन हीन छीन भइ काया, दुख जंजाल जटी ।
चिन्ता गई अरु भूख भुलानी, नींद फिरत उचटी ।।सू०सा० ६८

बिहारी:- (।)- कौन भांति रहिहै बिरदु, अबदेखिबी मुरारि ।।
बीधें मोसौं आइकै गीधे गीधहिं तारि ।।
(।।)- करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न दीनदयाल ।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगीलाल ।।
बिहारी सतसई ।

केशव कवि:- लहै सुभक्ति लोक लोक अंत मुक्ति होहि ताहि ।
पढै कहै सुनै गुनै जु रामचन्द्र चन्द्रिकाहि ।।(रामचंद्रिका)

घनानन्द:- रमन तुम्हारे सुफल दायक ।
रमन भूमि ब्रजमंडल सुनहु सांवरे गोकुल नायक ।
रस बिलास सम्पदा स्वामी सुख निधान सुमिरिबे सुभायक।
आनन्द घन अमोघ रस मूरति सरनागतभय हरन सहायक ।।

लेखक-डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना-(हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि)-
पृष्ठ- ४६५,

तुमही गति हौ तुमही मति हौ तुमही पति हौ अतिदीनन की।
नित प्रीति करौ गुन हीनन सौं यह रीत सुजान प्रवीननि की ।
लेखक-डा०द्वारिकाप्रसाद सक्सेना- पृ० ४६६

महाकवि देव:-(1)कंस-रिपु अंस अवतारी जदुबंश कोई।

कान्ह सौं परम हंस कहे तौ कहा सरौ।

हम तौ निहारे ते निहारे ब्रजवासिन मैं।

देव मुनि जाकौ पचिहारे निसि बासरौ।।

(11) जाही की समति एक पुरुष पुराण दोऊ।

अश्विनी कुंवर तीन्यौं दानव दुवन पर।

चारयौ जुग, पांचौ भूत, छहौं ऋतु, सातौ सिन्धु

आठौ वसु नवौ ग्रह निग्रह उवन पर।

दसहुं दिगीस ईस एकादश, दिनकर-

द्वादश त्रयोदस समुद्र के सुवन पर।

मानत प्रमान देव माया जू की आन-आन।

आन चरचा न चलै चौदहौं भुवन पर।।

लेखक-डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना-

(हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि)पृष्ठ- ३२८,

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत महापुराण की भक्ति का प्रभाव हिन्दी के निर्गुण एवम् सगुण भक्त कवियों पर प्रत्यक्षतः एवम् परोक्ष रूप से व्यक्त होता है।वैसे यह परम्परा आधुनिक कवियों में भी दृष्टिगोचर होती है। पर बौद्धिकता का प्राधान्य है, हृदय की रागात्मिका वृत्ति की सहजता एवम् प्रपन्नता जैसी भक्तिकाल में मुखरित हुई है वैसी आधुनिक कवियों में अविद्यमान है।

:-:

अष्टम-अध्याय

(ग)- तुलसी की भक्ति का जन-जीवन पर प्रभाव

भागवतकार का कथन है कि सत् पुरुष जैसा आचरण कर कर्म को धर्मानुकूल प्रमाणित कर देते हैं, उसी को आधार बनाकर साधारण जन उस मार्ग या आप्त सिद्धान्त का अनुकरण कर निश्चिन्तता एवम् सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं।[१]

तुलसी का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब अमानवीय वृत्तियों के स्वभाव जन्य पुरुषों का बोल बाला था। मुगल साम्राज्य के दुःसहनीय राजतंत्र की क्रिया ने तथा इस्लामी पंथी मुसलमानों के अत्याचार से भारतीय जनता का मन असहाय, क्लान्त एवम् उद्विग्न हो रहा था आश्रय एवम् संरक्षण का कहीं ठिकाना न था। साधुता-मय जीवन बिताने वाले लोग दुखी, एवम् आश्रयहीन हो रहे थे। और असाधुजन (दुष्ट) विलासिता एवम् ऐश्वर्यता से मदान्ध होकर प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे।[२] कृषकों को खेती के लिए

१- श्रीमद्भागवत- ६।२।४-५- " यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत दीहते।
यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।
यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपितिनिर्वृतः
स्वयं धर्ममधर्म वा न हि वेद यथा पशुः ।।+

२- विनयपत्रिका-१३९।४-१० -आश्रम बरन धरम विरहित जग लोक वेद -
मरजाद गई है।
प्रजापतित पाखंड पापरत अपने अपने रंग रई है।
सान्ति सत्य सुभरीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदति साधु साधुता सोचति खल विलसत हुलसति खलई है।"

कोई साधन नहीं था, भिक्षुक भिक्षा से विमुख हो रहा था, अर्थात सारा भारतीय समाज आलम्बन एवं आश्रय की राह के लिए व्याकुल था।[1] श्रुति पुराण शास्त्रों के आध्यात्मिक मार्ग बन्द कर दिए गए थे, और निरर्थक भट्टाचार्य मनगढ़न्त मार्ग को प्रशस्त एवं प्रसारित कर रहे थे।[2] शूद्र जन ब्राह्मणों से मिथ्या वाद-विवाद कर ब्रह्म ज्ञानी बनने का दम्भ बखान करते थे।[3] अनाधिकार चर्चा, भक्ति एवम् साधुता का दम्भ इतना बढ़ रहा था कि स्त्री-पुरुष ब्रह्म ज्ञान के सिवा दूसरी बात नहीं करते थे।[4] योग-मार्गी गोरखनाथ चमत्कार एवम् सिद्धि की प्रभुता से लोगों को भक्ति के सीधे सरल मार्ग से पदच्युत करते जा रहे थे।[5] अर्थात दम्भीजन श्रुति प्रमाणित

१- कवितावली-उत्तरकाण्ड--पद ९७-

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को न बनिज न चाकर को न चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बश।
कहैं एक एकन सों कहां जाइ का करी।।"

२- दोहावली- दो- ५५४- "साखी, सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान
भगति निरुपहिं भगत कलि निन्दहिं वेद पुरान।।

३- दोहावली- ५५३, "बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुमते कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर आंखि देखा नहि डाटि।।"

रा०मा०- ७।९९(ख)

४- रा०मा०- ७।९९(क)- ब्रह्म ग्यान बिनु नारि-नर कहहिं न दूसरि बात।

५- कवितावली- उत्तरकाण्ड-८४, तृतीयचरण -
गोरख जगायो जोगु भगति भगायो लोगु।
निगम-नियोगतें सो कलि ही छरो सो है।"

मार्ग से हटकर मनगढ़न्त आध्यात्मिक रास्तों का निर्माण कर मिथ्यालाप द्वारा जनता को पथ भ्रष्ट करते जा रहे थे यों कहिए कि इस समय वैदिक एवम् स्मृति परम्परा ही लुप्त हो चुकी थी।[१] इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को लिखना पड़ा कि- "हम्मीर के समय चारणों का वीर गाथाकाल समाप्त होते ही हिन्दी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्ति पथ और प्रेम पथ की ओर चल पड़ा देश के मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक संचार के लिए वह स्वतन्त्र क्षेत्र न रह गया - देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल पराक्रम का ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य काल था, जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखायी देता था। रामानन्द और बल्लभाचार्यनेजिस भक्ति रस का प्रभूत संचय किया - कबीर और सूर की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतवन जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपने प्रबन्ध रचना द्वारा प्रेम पथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुख भुलाया उसका मन बहला।××××× भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन भारतीय स्वरूप को लेकर चला था अर्थात भागवत सम्प्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था। और दूसरा विदेशी परम्परा का अनुयायी लोक धर्म से उदासीन तथा समाज व्यवस्था और ज्ञान विज्ञान का विरोधी था। यह द्वितीय वर्ग जिस ओर

१- रा०मा०- ७।१००(ख)- एवं दोहावली- ५५५-

"श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।।"

रा०मा०-९७(क)-" कलि मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद ग्रंथ।
दंभिन्ह निजमति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।।"

नैराश्य की विषाम स्थिति में उत्पन्न हुआ । उसीके सामन्जस्य साधन में सन्तुष्ट रहा । उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहां भी जाह थी । मुसलमानों के बीच रहकर इस बार के महात्माओं का भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करने वाला और दुष्टों का विनाशकर धर्म को स्थापित करने वाला है । इससे उन्हें भारतीय भक्ति मार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रुप के स्थान पर निर्गुण रूप है इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रुप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनता हुई।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसी के समय का चित्रण इसी नैराश्य मनोदशा के साथ विस्तृत किया है ।[2] ऐसी विषाम परिस्थित में भारतीय समाज की दयनीय दशा को देखकर करुणावश रामचरित प्रबंध काव्य द्वारा समाज को सैद्धान्तिक स्वम् श्रुति प्रमाणित भक्ति पथ पर पुन: प्रतिष्ठित किया तथा भारतीयता के दिव्य गुणों का भगवान् राम के चरित्र के साथ जोड़कर सदाचार मय चर्या का संदेश प्रस्तुत किया है । सुतरां उनके (राम के) शक्ति शील सौन्दर्य के अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप भारतीय जनमानस के समक्ष रखकर एक अद्भुत एवम् अलौकिक कार्य को सम्पादित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - भगवान् का जो प्रतीक तुलसी ने लोक के सम्मुख रखा- भक्ति का जो प्रकृत आलम्बन खड़ा किया उसमें सौन्दर्य शक्ति और शील - इन तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है । सगुणोपासना के ये तीन सोपान है जिनपर हृदय क्रमश: टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है ।[3]

१- गोस्वामी तुलसीदास- पृष्ठ- १-२

२- सिंह-उदयभानु सिंह, संपादक-तुलसी- 'सफलता का रहस्य' पृष्ठ- २३५ निबंध से ।

३- गोस्वामी तुलसीदास - पृष्ठ- ५३-५४,

तुलसी ने नाना सम्प्रदायों की लोकविरोधी भावना पर बड़ी निर्ममता के साथ कठोर प्रहार कर परम्परागत सनातन धर्म के अनुकूल प्रेमपूर्ण भक्ति के यथार्थ स्वरुप को समाज के समक्ष उपस्थित किया । उनकी दृष्टि में भक्ति का मार्ग तो सीधा सादा भाव एवम् प्रेम का मार्ग है । इसमें करामात, चमत्कार ,अलौकिक ज्ञान एवम् सिद्धि आदि के लिए कोई अवकाश नहीं है। अत: उन्होंने सभी प्रकार के आडम्बरों की भर्त्सना करते हुए भक्ति की प्राप्ति के लिए मन वचन एवम् कर्म की निर्मलता तथा सरलता पर बल दिया है।[१] भक्ति तो संसार के समस्त प्राणियों के लिए अन्न और जल की भाँति सुलभ है।[२] यही कारण है कि हिन्दू जनता में मुसलमान पीर फकीरों द्वारा प्रसारित अन्ध विश्वासों की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की है।[३] केवल निर्गुणवाद का स्थान-स्थान पर उन्होंने बड़े जोश के साथ खण्डन किया है।[४] इसी प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम धर्म के विरोधियों का उपहास किया है।[५] काशी[६] अयोध्या[७] प्रयाग[८] चित्रकूट[९] रामेश्वर[१०]

१- दोहावली-दो-१५२- सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूती ।।

२- रा०मा०-५।४४।५- निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।

२- दोहावली-८०(उ०)- अंबु असन अव-लोकियत सुलभ सबै जग मांह ।।

३- दोहावली- ४६६,

४- रा०मा०- १।११४।७, १।११६, दोहावली- १६,२५१

५- रा०मा०- ७।६६(ख), ७।१००।६

६- रा०मा०- ४।सो०१, विनयपत्रिका- २२,

७- रा०मा०- ६।१२०।६,७।४।२-७, ७।६६।८(पू०)

८- रा०मा०- २।१०५।२-, २।१०६।१, ६।१२०।८

९- रा०मा०- २।१३२।३, २।१३३।४, वि०प०-पद- २३,२४

१०- रा०मा०- ६।३।१-२,

आदि तीर्थ स्थानों की महिमा का कीर्तन कर उन्हें उनका महात्म्य अक्षुण्ण रखा है। वे भोजन[११] और आचरण[१२] की शुद्धता के अत्यन्त पक्षपाती हैं। उन्होंने राम को केवल मानव समझने वाले व्यक्तियों पर गहरा क्षोभ प्रगट किया है।[१३] और अपने लिए राम प्रेम ही परम कर्तव्य बतलाया है चाहे वह मनुष्य हो या देव।[१४]

इस प्रकार तुलसी की भक्ति के प्रचार प्रसार ने धर्मोपदेशकों की वृत्ति में एक नया परिवर्तन प्रस्तुत किया थोथा निर्गुण वाद शिथिल पड़ गया। वर्णाश्रम धर्म की भर्त्सना करने वाले संकुचित होने लगे। तीर्थों एवम् व्रतों पर से लोक श्रद्धा हटाने की किसी को हिम्मत नहीं हुयी। राम को कहने वाले की बात का कोई मूल्य नहीं रहा। हाट-बाट, गांव, नगर और जंगल-पहाड़ सब राम नाम से गुंजित हो गये। सब प्रकार की धार्मिक संकीर्णताओं एवम् भेद भावों की जड़े उखड़ गयी। भारतीय जनता में एक नव जीवन का संचार हुआ और उसमें नए साहस, नए बल, नयी आशा, नयी उमंग और नयी स्फूर्ति का प्रवाह फूट पड़ा। अब किसी भी धर्म परिवर्तन करने वाले को साहस नहीं हुआ कि वह वैदिक धर्म के प्रतिकूल आवाज बुलन्द करे। यदि कोई कुछ कहने का दुःसाहस भी करता था तो जनता उसे अनसुनी कर देती थी। हिन्दू धर्म के प्रचारकों एवम् व्याख्याताओं की धूम मच गयी और उनके हाथ में तुलसी के ग्रंथ रामचरितमानस एवम् विनयपत्रिका की एक-एक अवश्य प्रति दिखाई पड़ती थी। इन ग्रंथों ने अनेक साधु महात्मा योगी-साधक धर्मोपदेशक उत्पन्न किए। बहुत सी रामायण मण्डलियां स्थापित हुई।

११- रा०मा०- ७।८८(क)

१२- दोहावली- ५४७, ५४८

१३- रा०मा०- १।११७।८, १।११८, ६।२६।१-६, ६।३३।८, ६।३३(क),

१४- दोहावली- ६९

राम जन्मोत्सव का बहुत महत्व बढ़ गया और प्राय: सर्वत्र रामलीलाएं होने लगी । ऐसे अवसरों पर धर्मोपदेशक मानस धर्म की व्याख्या कर जनता को आह्लादित एवम् प्रभावित करने के लिए प्रवचन करने लगे । इस प्रकार तुलसी के मानस की मुक्तियों ने धर्मोपदेशकों के हृदय, मस्तिष्क एवम् नैतिकता पर अमिट छाप डाल दी है।

अत: तुलसी की भक्ति का प्रभाव जन जीवन पर विभिन्न प्रभावों द्वारा अभिव्यन्जित करेंगे :--

१- साहित्यिकों पर प्रभाव:-

तुलसी की भक्ति ने न केवल भारतीय जन मानस को प्रभावित किया बल्कि देश विदेश में भी इसकी गूंज गुंजायित हो गयी । हिन्दी में रामचरित मानस को लेकर ही अनेक सभा समितियों के मुख्य पत्रों के रुप में पत्रिकाएं प्रकाशित की जाने लगी तथा तुलसी की भक्ति का प्रचार और प्रसार होने लगा । इस सम्बन्ध में मानस संघ रामवन सतना से 'मानस-मणि' भोपाल से तुलसी दल श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मन्दिर वाराणसी से 'मानस- मयूख' एवम् रामनगर (चम्पारन), विहार से प्रकाशित मानस सन्देश के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। जो पत्र -पत्रिकाएं सीधे मानस से सम्बन्धित नहीं है। उनमें भी समय समय पर मानस की भक्ति के विभिन्न अंगों पर विवेचन छपा करते हैं। गीताप्रेस गोरखपुर के कल्याण ने तो अपने पत्र का विशेषांक ही 'मानसांक' के नाम से सन् १९३८ ई० में प्रकाशित किया था । जुलाई सन् १९३० ई० में प्रकाशित उसके रामायणांक में भी अनेकानेक निबन्ध 'मानस' से सम्बन्धित है। यहां से प्राय: जितने भी विशेषांक निकलते हैं उनमें तुलसी की भक्ति से सम्बन्धित कुछ न कुछ निबन्ध रहते ही हैं। हिन्दी विषय में जितना अनुसंधान कार्य तुलसी के ग्रंथों पर हुआ है तुलना में उतना किसी कवि पर नहीं । मीमांसा परक समीक्षाएं एवं

आलोचनाएं तथा ऐतिहासिक, सामाजिक राजनैतिक विवेचनविश्लेषण अभूतपूर्व है। अर्थात: तुलसी की सम्पूर्ण कृतियों में रामचरित-मानस, विनयपत्रिका का ही सर्वाधिक प्रचार है। देशविदेश के अधिकांश साहित्य रसिकों को इसने अपने सौन्दर्य पर मुग्ध किया है। और सबों ने अपने अपने ढंग से इस पर सारगर्भित आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं।[१] तुलसी की जन्म-तिथि या मृत्यु-तिथि को प्राय: समग्र हिन्दी भाषी भारत के स्कूलों, कालेजों एवम् साहित्यिक संस्थाओं में तुलसी जयन्ती बड़े ही धूम धाम से मनायी जाती है। ऐसी जयन्ती न केवल श्रावण शुक्ल तीज या सप्तमी को ही वरन् उसके एक पक्ष आगे पीछे तक चलती रहती है।

२- लोक नेताओं पर प्रभाव:-

तुलसी की भक्ति ने भारतीय जगत् के नेताओं को भी प्रभावित किया है। इनके ग्रन्थों में प्रतिपादित त्याग एवम् नैष्कर्म्य तथा निष्ठा के माध्यम से शासन तंत्र को चलाना लोक नेताओं का लक्ष्य भी रहा है। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की शुरुआत में महात्मागांधी ने गीता के ही सदृश 'मानस' को भी अपने जीवन का आधार मानकर उन्होंने जनता को संबोधित किया था कि अगर कोई भारत वर्ष में फोपड़ियों से महलों तक पहुंचाने वाला ग्रंथ है तो केवल रामचरितमानस। इसने जन-जीवन में भी अपना स्थान पा लिया है।[२] वे इसे सर्वोच्च भक्ति मार्ग का आदरणीय ग्रन्थ मानते हैं।[३]

१- साहित्यसंदेश- भाग-१८, अंक-६, दिसम्बर-१९५६, पृ०-२३१-२३५

२- गांधी जी की सूक्तियां, पृष्ठ- ८५

३- गांधी जी की सूक्तियां- पृष्ठ- ८४-८५, तथा कल्याण मानसांक प्रथम- पृष्ठ- ५२, 'रामचरितमानस से श्रद्धा की प्राप्ति'- - निबन्ध से उद्धृत।

हमारे लोक नेतागण मानस के श्रीराम[1] एवम् श्रीभरत[2] के प्रसंगों से निश्चित ही प्रभावित रहते हैं क्योंकि इन दोनों के संवाद में लोकोत्तर राजनीति एवं समाजनीति तथा धर्म तत्व का सार समाविष्ट हुआ है। इस तरह रामचरितमानस एक ऐसा महान् क्रान्तिकारी ग्रन्थ है जो पद दलित राष्ट्र को अपने धैर्य साहस और सदाचार के बल पर अत्याचारियों का विध्वंश कर जाग्रत होने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करता है। यही कारण है कि महात्मा गांधी[3] महामना मालवीय[4] डा० राजेन्द्र प्रसाद, तिलक[5] एवम् सरपल्ली राधाकृष्णन

१- रा०मा०- २।२६४।६, २।२६४-

राम:- राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी।
तासु वचन मेटत मन सोचू।
तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू।

तापर गुरु मोहि आयसु दीन्हा अवसि जो कहहु चहउं सोइ कीन्हा।

मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्य संध रघुवर वचन सुनि भा सुखी समाज।।

२- रा०मा०- २।२६६।६, २।२६६- निज सिर भारु भरत जियँ जाना।
करत कोटि विधि उर अनुमाना।

करि विचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपन नीका।
प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देव।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब।।

३- गांधी जी की सूक्तियां - पृ०८४-८५, कल्याण मानसांक रामचरितमानस से - श्रद्धा की प्राप्ति।

४- कल्याण-मानसांक प्रथम पृ० ५२; मानस के द्वारा अनुपम सुख और शान्ति। - निबन्ध से।

५- कल्याण मानसांक- पृ० ५४, रामायण से धर्म

तथा न जाने कितने तुलसी के सिद्धान्त के अनुयायियों ने जिन्दगी का यही सार समझकर देश को स्वतन्त्र कराया तथा रामचरितमानस के लंका काण्ड के धर्ममय रथ से प्रेरणा ग्रहण कर भारत को इस रथ से आरुढ़ होकर बन्धन मुक्त कराया एवम् स्वतन्त्रता की विजय पताका लहरायी ।

डा० सत्य नारायण शर्मा के स्वर में स्वर मिलाते हुये कह सकते हैं कि --

वस्तुत: तुलसी के राजनैतिक कौशल का मर्म है । जनता के समक्ष राम-राज्य का आह्लाद पूर्ण चित्रण और कलियुगी शासन के विकृत स्वरूप का चित्रण । आखिर महात्मागांधी से लेकर छोटे बड़े सभी नेताओं ने इस नीति से भिन्न-भिन्न आचरण कहां किया है ? उन्होंने ब्रिटिश शासन को शैतानी शासन कहा और जी भरकर उसकी बुराइयों का पर्दाफाश किया । साथ ही उन्होंने भावी कांग्रेसी शासन को राम-राज्य की संज्ञा देकर ब्रिटिश सत्ता के प्रतिकूल एक अदम्य क्रान्ति की उत्पत्ति की । तुलसी ने मानस के लंकाकाण्ड में जिस धर्म रथ [1] का उल्लेख किया जा सकता है । वस्तुत: उन्होंने भी उसी रथ पर बैठकर विजय प्राप्त की थी ।[2]

३- <u>तुलसी की भक्ति का कृषकों एवम् श्रमजीवियों पर प्रभाव:-</u>

आचार्य शुक्ल के शब्दों में -- "आज तो हम फिर झोपड़ों में बैठे किसानों को भरत के भायप-भाव पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृ भक्ति पर, पुलकित होते हुये पाते हैं, वह गोस्वामी जी के ही प्रसाद से +

१- रा०मा०- ६।८०।५-११

२- रामचरितमानस में भक्ति - पृष्ठ- ३८७ ,

.... गोस्वामी जी ने रामचरित 'चिन्तामणि' को छोटे बड़े सबके बीच बांट दिया जिसके प्रभाव से हिन्दू समाज यदि चाहे सच्चे जी से चाहे तो सबकुछ प्राप्त कर सकता है।[१]

रामचरित मानस की कथा भारतीय ग्रामीणों के अन्चलों में आबाल वृद्ध वनिता सबकी जिह्वा पर रहती है और जन्म-मरण, शादी-यज्ञोपवीत आदि जीवन के सारे संस्कारों उनके गीत मुखरित होते जाते है। मानस के संसर्ग से ही हमारे देश के देहाती किसान किसी भी अन्य देश के किसानों से अधिक सच्चरित्र स्वम् सुसंस्कृत है।

४- तुलसी की भक्ति का शासकों पर प्रभाव:-

तुलसी की भक्ति का प्रभाव हिन्दू शासकों पर ही नहीं पड़ा बल्कि मुगल शासक भी इससे अछूते नहीं रह सके। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल के शब्दों में — उस समय हिन्दी कविता अकबरी दरबार में पहुंच चुकी थी और उसने अकबर दरबारियों को बहुत कुछ प्रभावित कर लिया था।[२] अतः स्पष्ट है कि मुगल काल में बादशाह अकबर स्वम् खान-खाना रहीम भी इनकी भक्ति से प्रभावित थे। अब्दुल खान खाना रहीम रामचरितमानस के सम्बन्ध में कहते हैं कि --

रामचरितमानस बिमल संतन जीवन प्रान।
हिन्दुआन को वेद सम जमनहि प्रगट कुरान।।'[३]

१- गोस्वामी तुलसीदास - पृष्ठ- ३४-३५

२- अकबर दरबार के हिन्दी कवि -पृष्ठ- २५-३२

३- मानस मणि- मणि-२ आलोक-५, पृ० १८६, पं०रामकुमार दास जी लिखित 'मानस महत्व और प्रचार' निबन्ध से उद्धृत।

गोस्वामी तुलसीदास ने तत्कालीन मुगलशासकों और उनके दरबारी राजाओं महाराजाओं के उत्पात का भी दिग्दर्शन कराया है।[1] उन्हीं की ओर संकेत करते हुये कहते हैं कि --

"गोंड़ गवांर नृपाल महि जमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल।।"[2]

आचार्य के शुक्ल के शब्दों में -- "किसी नरहरि बन्दी जन की कविता को सुनकर उसने गोवध बन्द करा दिया था।"[3]

आज के भी शासक यदि राम और भरत के आदर्श को अपने सामने रखकर त्याग एवम् सेवा भाव से शासन का संचालन करे तो निश्चय ही स्नेह की ऐसी पारिवारिक व्यवस्था हो सकती है जिसमें शासक शासक न होकर परिवार के ही पिता, भाई आदि सदस्य के रूप में सम्मानित हो सकता है।[4]

५- शिक्षित वर्ग पर प्रभाव:-

तुलसी की रामभक्ति का सर्वाधिक प्रभाव प्रशिक्षित हिन्दू जनता पर पड़ा है। श्रीमद्भागवत के समान इसकी कथा का घर घर प्रचार हो गया। आगे चलकर मुद्रण यंत्रों का आविष्कार हो जाने से इसकी असंख्य प्रतियां बिकने लगी और मुस्लिम काल तक तो मानस का प्रचार पाठशालाओं में नहीं हुआ था।

१- रा०मा०- १।१८३।६-८

२- दोहावली- ५५६

३- हिन्दी साहित्य का इतिहास -११६

४- रामचरितमानस के भक्ति।- पृ० ३८३

किन्तु अंग्रेजों के आते ही मानस पाठ्य पुस्तक के रुप में अनेक परीक्षाओं में भी स्वीकृत हुआ। ज्यों ज्यों विद्यालयों, महाविद्यालयों स्वम् विश्व-विद्यालयों की संख्या बढ़ती जा रही है त्यों त्यों इसके अध्ययन अध्यापन का प्रचार प्रसार होता जा रहा है। हिन्दी धर्म और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, कम पढ़े लिखे लोगों के लिए या विदेशियों के लिए इससे बढ़कर उत्तम ग्रंथ अन्य कोई नहीं है। इसलिए हिन्दू भक्तों स्वम् साहित्यकारों के अतिरिक्त उदार हृदय मुसलमान स्वम् इसाइयों ने भी इसे अपनाया है। उन्होंने इसे पढ़कर जो उदगार व्यक्त किए है उनसे यह प्रतीत होता है कि राम चरित मानस ने उन्हें अप्रभावित नहीं छोड़ा।[1] दूसरी भक्ति भावना साहित्यिकता स्वम् सामाजिक जीवन पर इसके सुखद प्रभाव से वे सर्वथा विस्मय विमुग्ध है। संसार की प्राय: प्रत्येक भाषा में 'मानस' का अनुवाद हो चुका है। और यह 'बाइबिल' की तरह ख्याति प्राप्त कर चुका है। चाहे धर्म की दृष्टि से, चाहे दर्शन की दृष्टि से, चाहे साहित्यिक या सांस्कृतिक दृष्टि से, कोई मानस का अध्ययन क्यों न करे उसको यह अद्भुत आनन्द स्वम् ज्ञान प्राप्त करने वाली वस्तु है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में -- "तुलसी के काव्यों में उनका निरीह भक्त रुप बहुत स्पष्ट हुआ है। पर वे समाज सुधारक, लोक नायक, कवि पण्डित और भविष्य सृष्टा भी थे। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें से उनका कौन सा रुप अधिक आकर्षक और प्रभावशाली था। इन सब गुणों ने तुलसी में एक अपूर्व समता ला दी थी। इसकी संतुलित प्रतिभा ने उत्तर भारत को वह महान साहित्य दिया जो दुनियां के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानता।"[2]

१- मिश्र आचार्य बल्देव- तुलसी-दर्शन - पृष्ठ १६६

२- सिंह उदय भानु ~~सिंह~~ संपादक- तुलसी- लेखक-हजारीप्रसाद द्विवेदी, - सफलता का रहस्य निबंध-से -उद्धृत।

६- तुलसी की भक्ति का तीर्थों एवम् देवमन्दिरों पर प्रभाव:-

डा० सत्यनारायण शर्मा के शब्दों में:--

"तुलसी के बाद भगवान् राम एवं हनुमान के मन्दिरों का निर्माण बहुत जोरों से हुआ है। अयोध्या एवम् काशी में "मानस मन्दिर" के निर्माण, काशी के संकट मोचन भी विशेष प्रसिद्ध तथा ऐसे अन्यान्य देव मन्दिरों, आश्रमों एवम् तीर्थस्थानों का निर्माण रामचरितमानस की भक्ति के प्रभाव के ही प्रतीक है।"[१]

वैसे हमारा देश शैव, वैष्णव तथा शाक्त अवतारों की क्रीड़ा-भूमि है, गांव-गांव में शहर-शहर में तथा वनों में भी देव प्रतिमाएं एवम् मन्दिरों का कार्य आदिकाल से चला आरहा है, फिर भी तुलसी ने अयोध्या[२] काशी[३] प्रयाग[४] चित्रकूट[५] तथा रामेश्वर[६] का जो दिव्य निरुपण किया है वह प्रभावशाली माहात्म्य हिन्दी एवम् अन्य भाषाओं की संस्कृतियों से अद्वितीय एवम् अनुण्य है। क्योंकि इन स्थानों पर तुलसी के आराध्य ने चरित्र एवम् क्रीड़ाएं की थी। भक्त आराध्य की क्रीड़ा स्थलों को पवित्र एवम् श्रद्धाभाव से नमन करता है।[७] बिना इन स्थानों पर दिव्यानुराग एवम् प्रेमाभक्ति का उदय भगवान् के स्थानों का दर्शन हो कतिपय पंक्तियां-अवलोकनीय हैं:--

---

१- रामचरितमानस मे भक्ति- पृ० ३६५,

२- रा०मा०- ६।१२०।६, ७।४।२-७, ७।२६।८(पू०)

३- रा०मा०- ४।सो०१, वि०प० २२ ,

४- रा०मा०- २।१०५।२, २।१०६।१, ६।१२०।८

५- रामा० - २।१३२।६, २।१३३।४, वि०प० २३-२४

६- रा०मा०- ६।२।१-२

७- रा०मा०- २।१२६।५

१- जिंह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ ।
भव मगु अगमु अनन्दु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ ।।

२- अजहुं जासु उर सपनेहु काऊ ।
बसहुं लखन सिय रामु बताऊ ।
राम धाम पथ पाइहि सोईं ।
जो पथ पाव कबहुं मुनि कोईं ।।

३- राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह वन सिय रघुवीर बिहारु ।।

४- भरत राम रिपुदवन , लखन के चरित सरित अन्ह वैया ।
तुलसी तबके से अजहुं जानिबे रघुवर-नगर, बसैया ।।

५- जे जन रुखे विषय रस चिकने राम सनेह ।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहि कि गेह ।।[१]

७- तुलसी की भक्ति का संस्कारों पर प्रभाव:-

हिन्दू संस्कृति के अनुसार मनुष्य योनि में जन्म के उद्देश्य षोडश संस्कारों की आधार शिला पर निर्भर है। अत: तुलसी ने भी मर्यादावाद की संरक्षा के लिए संस्कारों को भी अपनी लेखनी का आधार बनाकर काव्य की अलंकारता को द्विगुणित रूप दिया है। तुलसी ने

१- क्रमश:-देखिये- रा०मा०२।१२३,२।१२४।१-२, २।३१,
गीतावली- बालकाण्ड-पद ८,पंक्ति ११-१२,दोहावली- ५१,

२-

रामचरित में नान्दी मुख श्राद्ध[1] जातकर्म[2] नामकरण[3] चूड़ाकरण[4] यज्ञोपवीत[5] तथा विवाह संस्कार[6] का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। 'जानकी मंगल' एवम् 'पार्वती मंगल' दोनों खण्डकाव्य श्रीसीताराम एवं शिव-पार्वती के विवाह संस्कार से अनुप्राणित है पर पार्वती मंगल भारतीय ललनाओं का चित्र है।[7] राम लला नहछू में 'नहछू' नामक संस्कार का उल्लेख है। दशरथ मरण के अवसर पर श्रीभरत द्वारा अन्त्येष्टि[8] एवम् श्राद्ध को क्रियान्वित किया गया है।

अतः स्पष्ट है कि तुलसी की रामभक्ति ने जनमानस के संस्कारों को राम मय बना दिया है-- डा०सत्य नारायण शर्मा के शब्दों में--

'जनता के हृदय पर 'मानस' ने इतना गहरा प्रभाव डाला है कि आज ~~ओ०~~ ॐ, ब्रह्म, शिव नारायण राधा-कृष्ण आदि नामों की अपेक्षा राम नाम का ही व्यापक प्रचार प्रसार है। बहुत जगह तो लोग अभिवादन

१- रा०मा०- १।१६३

२- रा०मा०- १।१६३

३- रा०मा०- १(१६७।२, १।१६८।१ (पू०)

४- रा०मा०- १।२०३।३

५- रा०मा०- १।२०४।३

६- रा०मा०- १।३१४, १।३२६

७- पार्वती मंगल- अन्तिम पद पंक्ति- १२ -

'मृग नयनि विधु वदनी रचेउ मनि मंजु मंगल हार सो।
उर धरेहुं जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा सार सो।'

८- रा०मा०- २।१००।१-५

के अवसर पर "श्री जय राम जी की' या जय सीता राम" ही कहा करते हैं। अधिक क्या कहा जाय तुलसी के आराध्य राम जन मानस के इतने समीप जा चुके थे कि शव संस्कार के लिए शव को ले जाते हुये भी लोग "राम नाम सत्य है" का उद्घोष किया करते हैं और संस्कार काल में मानस के दशरथ- मरण प्रकरण का ढोल मजीरे के साथ सस्वर पाठ किया करते हैं। वस्तुत: तुलसी ने भारतीय हिन्दू का समग्र जीवन राम मय बना दिया है।[१]

८- प्रचार के साधनों पर प्रभाव:-

तुलसी की राम भक्ति का प्रभाव रंग मंचों, टेलीविजन, आकाशवाणी, तथा चल चित्रों में लोक मानस को आकृष्ट करने के लिए अवसर -अवसर पर रामचरितमानस एवम् अन्य ग्रंथों से चित्र प्रदर्शित किए जाते हैं जैसे रामायण, रामलीला, भरत मिलाप, पवन पुत्र हनुमान, गोस्वामी तुलसीदास आदि। प्रात: कालीन टेलीविजन पर विनयपत्रिका एवम् रामचरितमानस- इन दोनों के छन्द संगीत लहरी में गाये जाते हैं। तथा यह भी सन्देश व्यक्त करते हुये जान पड़ते हैं कि आपका दिन मंगलमय एवम् शुभवर्ती हो। विविध नाट्य मंचों के माध्यम से रामलीला का आयोजन होता है। साहित्य में राम के जीवन को लेकर अनेक नाटकों का प्रणयन किया गया, जो तुलसी के पात्रों से प्रभावित है। ऐसे नाटकों में महाराज विश्वनाथ सिंह कृत "आनन्द रघुनंदन" पं०राधेश्याम कथा वाचक कृत सीता वन वास और श्रवण-वध," ठाकुर बघुनायक सिंह लिखित "परशुराम और अंगद पैज" पंडित राम गोपाल पाण्डेय शारद रचित बजरंगवली या अन्जनी कुमार, श्री वामनाचार्य गिरि विरचित "वारिदनाद वध" लाला भगवानदीन

१- रामचरितमानस में भक्ति- पृष्ठ- ३६१

लिखित "धनुष यज्ञ मन्जरी" आदि के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। समय-समय पर ये नाटक हिन्दी रंग मंच पर भी खेले जाते है। आकाशवाणी से तो तुलसी के सभी ग्रंथों का विशेष विनयपत्रिका एवम् रामचरितमानस का विशेष सम्बन्ध है। तुलसी जयन्ती एवम् रामनवमी के दिन भारत के प्राय: प्रत्येक हिन्दी भाषी प्रान्तों के रेडियों स्टेशन से तुलसी के जीवन एवम् साहित्य सम्बन्धी महान् साहित्यिकों एवम् महापुरुषों के प्रवचन होते हैं। इसके अतिरिक्त समय-समय पर तुलसी के सम्बन्ध में साहित्यिकों के विचार विमर्श भी हुआ करते हैं तथा मानस सम्मेलन तथा कवि सम्मेलनों में तुलसी को स्मरण किया जाता है। साथ ही यदाकदा "भजनामृत" के कार्यक्रमों में रामचरित मानस की भक्ति पूर्ण चौपाइयां स्त्रियों या पुरुषों द्वारा श्रुति मधुर ध्वनि में गाकर प्रसारित की जाती है। चैत्र शुक्ल रामनवमी के दिन तो विशेष रुप में मानस के राम जन्म प्रकरण से सम्बन्धित चौपाइयों, दोहे एवम् छन्द प्रसारित किए जाते हैं।

अत: स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति ने राजकीय प्रतिष्ठान एवं सरकारी संसाधनों में भी अपना प्रभाव एवम् अमिट छाप रख छोड़ी है।

६- लोकोत्सव व्रत एवम् पूजा पाठ पर प्रभाव:-

हमारे देश में मनुष्य प्रत्येक वर्ष एक न एक व्रत, पूजा एवम् पर्व से अछूता नहीं रहता है। हिन्दुओं में रामनवमी, कृष्णजन्माष्टमी, दुर्गापूजन तथा मुसलमानों के ईद, ईसाइयों के ईसामसीह का जन्म दिवस आदि। लोकोत्सव होते ही रहते हैं। वैसे हिन्दुओं में प्रधान पर्व रक्षाबन्धन, दीपावली या लक्ष्मीपूजा, बसन्तोत्सव की सरस्वती पूजा आदि भी उल्लेखनीय है। परन्तु जो सम्मान श्रीकृष्ण जन्माष्टमी रामनवमी एवम् विजय दशमी को प्राप्त है वह अन्य लोकोत्सव को नहीं। इन तीनों में दो भगवान राम के चरित्र से

सम्बन्धित है और पहला भी विष्णु के अवतार अतएव श्रीराम से अभिन्न, श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव है। यह परम्परा दो रूपों में हमारे देश में चल रही है जिसकी संपुष्टि डा० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में --

'पौराणिक, प्रवाह के अनुसार वाराणसी के दो विभाग हैं- केदारखण्ड और काशी खण्ड। दक्षिणी का नाम केदारखण्ड और उत्तरी का नाम काशी खण्ड है। केदारखण्ड की राम लीला के प्रवर्तक स्वयं तुलसीदास जी कहे जाते हैं और काशी खण्ड की रामलीला के प्रवर्तक मेघाभगत। भगत जी उनके मित्र थे। और वाराणसी के कमच्छा स्थान में रहा करते थे। जनश्रुति है कि भगत् जी पहले वाल्मीकीय रामायण के अनुसार लीला करते थे। तुलसी-दास के अनुरोध पर मानसानुसारी लीला प्रचारित की है।[1] ^ ^ ^ ^ ^ मानस की रामलीला की जो पद्धति सुप्रचलित है उसमें मानस का पाठ पहले होता है और पाठानुसारिणी लीला एवम् संवाद तदनन्तर। ...... राम-चरितमानस के आधार पर इस प्रकार की रामलीला प्राय: प्रतिवर्ष हिन्दी भाषी ग्राम-नगर में की जाती है और सीता स्वयं, परसुराम लक्ष्मण संवाद राम वन गमन, भरत- मिलाप सीता-हरण लंका दहन तथा राम-राज्याभिषेक आदि इसके प्रमुख अंशों को देखकर सुनकर असंख्य स्त्री-पुरुष आह्लादित एवम् पुलकित होते हैं। लीला के अन्त में रामायण की आरती होती है। जिसे सभी दर्शक भी लेते हैं। अयोध्या काशी एवम् मिथिला राम-लीला के प्रधान केन्द्र है। काशी के निकटस्थ रामनगर में जो रामलीला होती है वह तो विश्वविख्यात ही है।[2]

1- रामचरितमानस, काशिराज, संस्करण आत्मनिवेदन, पृ० १७-१८

2- राम स्वयंवर - पृ०- ६६६ -पंक्ति २-६

'राम नगर गंगा तट माहीं। निवसत गौतम भूप तहांही।
कतहुं न भरत खण्ड महं ऐसी। करहिं राम लीला नृप जैसी।।'

१०- तुलसी की भक्ति का वैयक्तिक साधना पर प्रभाव:-

डा० सत्यनारायण शर्मा के शब्दों में :-

'मानस की भक्ति भावना ने हिन्दी भाषी प्रान्तों के साधुसन्तों तथा गृहस्थों के वैयक्तिक जीवन को जितना अधिक प्रभावित किया है, उतना अधिक न तो कोई ग्रंथ, न कोई साधना मार्ग और न कोई महात्मा ही कर सका है। प्रत्येक हिन्दू के हृदय पर कुछ न कुछ मानस की भक्ति का प्रभाव किसी न किसी रूप से अवश्य है।[१] तुलसी की भक्ति का उद्देश्य भगवान् राम के चरणों में प्रेम का होना एवं भवरस से विरति पाना है।[२] इनकी वैयक्तिक साधना में स्वान्त सुखाय[३] के साथ-साथ सर्वजनहिताय की अन्तर्दृष्टि निहित है। सकामभाव से किया गया पारायण से अनुष्ठानी को सुख सम्पत्ति एवम् नाना फलों की प्राप्ति होती है।[४] एवम् कपट रहित गान से मानव मन की सम्पूर्ण कामनायें सिद्ध होती हैं।[५] भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है। मनुष्य सांसारिक बन्धन से मुक्त हो जाता है। साधक ज्ञान वैराग्य से युक्त होकर समाज का प्यारा हो जाता है तथा इसके साथ वह षडविकारों से मुक्त होकर परोपकार परायण समष्टिवादी दृष्टि को प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति को इस विश्व के कण-कण में भगवान राम एवं सीता का स्वरूप दिखायी देने लगता है उसकी भेद दृष्टि अभेदता में बदल जाती है।

१- रामचरितमानस में भक्ति- पृ० ३७८,

२- रा०मा०-२।३२६

३- रा०मा०-१श्लोक-७,१।३१।४,७ अंतिम श्लोक-१,तृतीय चरण।

४- रा०मा०-७।१५।३- जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं।
सुख सम्पत्ति नाना विधि पावहिं।।
रा०मा०-७।१२६।५- मन कामना सिद्धि नर पावा।
जे यह कथा कपट तजि गावा।।

५- अन्यत्र- १।१६।३-५, १।२६।५

अत: तुलसी की भक्ति ने भारतीय जन जीवन की भावनाओं को राम मय बनाने का पूर्ण प्रयास किया । तुलसी के ग्रंथो में विशेषकर राम-चरित मानस ने हिन्दू जाति एवम् हिन्दू धर्म की रक्षा एवम् अभिवृद्धि के लिए एक अभूत पूर्व कदम उठाया । भारतीय समाज को लोक चेतना का मस्तिष्क प्रदान किया है । तुलसी का साहित्य भारतीय समाज के लिए लौकिक एवं पारमार्थिक स्तर से पथ प्रदर्शन कारक है ।

(घ)- तुलसी की भक्ति का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव:-

संस्कृत के दो विशालग्रन्थ बाल्मीकि रामायण और महाभारत कवियों एवम् नाटककारों के लिए पहले से ही उपजीव्य रहे हैं। अनेक प्रबंधकाव्य नाटक और खण्डकाव्य रामायण के रामचरित एवम् महाभारत की कथाओं को लेकर लिखे गये हैं। रामचरित मानव मूल्यों को उजागर करने वाली ऐतिहासिक कथा है। और इस लिए संस्कृत, अपभ्रंश एवम् आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामकथा को रचना का आधार बनाया गया है। इससे यह भी अनुमान होता है कि रामकथा अपने गुणों के आधार पर पहले से ही लोक विश्रुत रही है।

हिन्दी में रामचरित मानस के प्रणयन के बाद उसकी इतनी लोकप्रियता बढ़ गयी कि रामकथा को लेकर प्रणीत रचना पर किसी न किसी रूप में उसका प्रभाव पड़ा है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। प्रभावत: तुलसी ने रामकथा के द्वारा जिन मानव मूल्यों को उभारा है और उसके द्वारा संपूर्ण हिन्दू संस्कृति का जो चित्र उपस्थित किया है उसने कवियों और लेखकों को प्रभावित किया। मैथिलीशरण जी की इस सन्दर्भ में साकेत में उक्ति है -- "राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है। कोई कवि बन जाये, सहज संभाव्य है।" इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है --

१- ध्यान मंजरी:-

यह रचना तुलसीदास जी के समकालीन स्वामी अग्रदास जी की है। वह रामभक्ति के महान् साधक थे। उन्होंने ध्यानसाधना के लिए राम और सीता की युगल-मूर्ति का इसमें वर्णन किया है। अपने आराध्य के सौन्दर्य वर्णन में मानस्कार की सी तन्मयता और निर्विकार प्रेमभावना रचना में व्यक्त हुई है।

नगन जरे छवि भरे विविध भूषण अस सोहैं ।
सुन्दर अंग उदार विदित चामीकर कोहैं ।।
अलक झलकता श्याम पीठ सोभित कल वेणी ।
सुन्दरता की सींव किधौं राजति अलिश्रेणी ।। [1]

इसकी तुलना में तुलसी की यह उक्ति सटीक बैठती है --

भूषन सकल सुदेस सुहाये ।
अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये ।। [2]

रामचरित के प्रति श्रद्धा पुलकित जैसे तुलसीमें हैं वैसे ही अग्रदासमें हैं । श्री सीताराम के ध्यान को दोनों ने परमकल्याणकारी कहा है । जिस तरह तुलसी ने राम को अज आदि देवताओं का सेव्य एवम् वन्दनीय बताया है। उसी प्रकार "ध्यान मंजरी" के प्रणेता ने भी उन्हें "भवचतुरानन" आदि देवताओं के लिए वन्दनीय माना है । जिसप्रकार तुलसी ने ज्ञान, तप एवं योग से भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है उसी प्रकार ध्यानमंजरी कार ने भी माना है, उपर्युक्त बातों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अग्रदास जी इस ग्रंथ की रचना में तुलसी के मानस से बहुत कुछ प्रभावित थे । [3]

१- ध्यान मंजरी पद्य संख्या- ४९-५० - डा० सूर्यनारायण शर्मा के- "रामचरितमानस में भक्ति" के पृष्ठ- २६५ से उद्धृत ।

२- रा०मा०- बाल- २४८

३ - रामचरितमानस मेंभक्ति -पृ० २६६

२- रामाष्टयाम:-

रामचरित को मानवीय जीवन मूल्यों की खोज के सन्दर्भ में वाल्मीकि, भास, तुलसी आदि ने व्याख्यायित किया है पर कुछ भक्तों ने कृष्ण चरित के समान रसिकता के सन्दर्भ में भी इसका वर्णन किया है। नाभादास जी का "रामाष्टयाम" इसी प्रकार की रचना है। यह मानस की शैली पर दोहा- चौपाइयों में ही ब्रजभाषा में लिखी गयी है। इसमें राम एवम् सीता के दिवारात्र की चर्या और उनकी मानसिक पूजा का वर्णन है।

नाभादास जी तुलसी के समकालीन थे। वे तुलसी की मृत्यु के बाद भी कुछ वर्ष जीवित रहे। इस रचना में तुलसी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। भगवान् राम के सौन्दर्य वर्णन की जिस शब्दावली का तुलसी ने प्रयोग किया है लगभग वही शब्दावली कुछ हेर-फेर के साथ रामाष्टयाम में प्रयुक्त है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत हैं।

उर मनिहार पदिक की शोभा।
विप्र चरण देखत मन लोभा।।[१]
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई।
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला।
पदिक हार भूषन मनि जाला।।[२]

इसके समानार्थक नाभादास जी की निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं ---

---

१- रा०मा०- १।१९९।- ४।७(पू०)

२- रा०मा०- १।१४७।६

कोउ ध्रुपद कोउ माल सुहाये ।

कोउ श्रीवत्स चिन्ह मन लाये ।।

कोउक पदिक की रचना चितवैं ।

कम्बुकंठ रेखा अति हितवैं ।।[1]

डा० शर्मा ने अपने शोधग्रंथ 'रामचरितमानस' में भक्ति अनेक साम्यसूचक पद्य दोनों कवियों नेसंकलित किये हैं । उनका मत है कि -- 'मानसकार का रामाश्वमेधाकार पर स्पष्ट प्रभाव है ।'[2]

३- रामचन्द्रिका :-

महा कवि केशव का रामकथा पर लिखा महाकाव्य 'रामचन्द्रिका का ' आकार प्रकार में मानस के ही समान है । दोनों की आधार भूमि एक है । वस्तुगत आयाम भी एक है -- समग्र रामकथा को रचना की काव्य वस्तु बनाना ' पर दोनों कृतिकारों की मानसिकता में अन्तर है । तुलसी सर्वात्मना दास्यभाव के भक्त है । केशव प्रमुखरुप से संस्कृतज्ञ, अलंकारी कवि हैं । इसलिए भक्ति भावना के स्वरुप ,अभिव्यक्ति के प्रकार , रामकथा के तात्पर्य ग्रहण , उसमें मानव मूल्यों की अभिव्यक्ति आदि बातों में तुलसी और केशव असमान हैं ।

पर दोनों में विचारों का साम्य अनेकत्र मिलता है । दोनों के राम अन्तर्यामी, निर्गुण, सगुण, एवम् अरुप हैं । रजोगुण, सत्वगुण एवम् तमोगुण उन्हीं के रुप हैं जिनसे ब्रह्मा , विष्णु एवम् शिव संसार का सृजन,

---

१- डा० सत्यनारायण शर्मा- रामचरितमानस में भक्ति ,पृ० २६६ से उद्धृत ।

२- रामचरितमानस में भक्ति- पृ० २६६

पालन और संहार करते हैं। राम के नाम की अपार महिमा दोनों ने व्यक्त की है। रामु न सकहि नाम गुन गाई,-तुलसी । नाम देहि मुक्ति को - केशव

डा० सत्यनारायण शर्मा दोनों कवियों की कतिपय समानताओं का उल्लेखकर अन्त में अपना निष्कर्ष प्रकट करते हुये कहते हैं कि---"सम्पूर्ण रामचन्द्रिका के सांगोपांग अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राम जैसे मर्यादापुरुषोत्तम पर ब्रह्म को इस काव्य का नायक बनाकर भी उनके महच्चरित्र का गुणगान करना केशव का उद्देश्य नहीं है। यथार्थत: उनका उद्देश्य छन्द, अलंकार विषयक अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन करना है।"[१]

४- रहिमन विलास:-

अब्दुल रहीम खानखाना की समस्त कविताओं का संग्रह 'रहिमन विलास' है। रहीम थे तो कृष्णभक्त पर रामभक्ति में भी उनकी आस्था थी । वह राम के चारित्रिकगुणों के प्रशंसक थे। तुलसी के वह मित्र थे। इससे तुलसी की भक्तिभावना का उन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। तुलसी की भांति रहीम की भक्ति भावना जाति, कुल धर्म और देश आदि की सीमा में आबद्ध नहीं है। वह सब देवताओं की वंदना करते हैं। राम के जीवनादर्शों की प्रशंसा रहीम ने अनेक पद्यों में की है। रामदीन दुखियों के सहायक हैं। "अच्छे दिनों में तो सभी मित्र बन जाते हैं पर राम मनुष्य की विपत्ति में सहायता करते हैं।"

१- रामचरित मानस में भक्ति- पृष्ठ- ३०५

तुलसी की तरह रहीम ने भी राम के नाम की अमोघ शक्ति को स्वीकार किया है। कामादि से ओतप्रोत व्यक्ति यदि धोखे में भी -राम का नामस्मरण कर ले तो उसे निश्चय ही परमगति प्राप्त होती है।

रहिमन धोखे भाव से मुख से निकसे राम।
पावत पूरन परमगति कामादिक को धाम ।।[1]

तुलसी जाके वदन ते धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम ।।[2]

५- कवित्तरत्नाकर:-

कवित्तरत्नाकर सेनापति की विक्रम की अठारहवीं शती के प्रारम्भ की रचना है। इसमें तुलसी की भक्तिभावना का अनेकत्र साम्य दिखायी देता है। तुलसी के व्यक्तित्व में भक्त की इतना प्रमुखता है कि उनके अन्य गुण भक्ति के साधन बनाये हैं। सेनापति में कवित्व की भावना भक्ति भावना के समकक्ष होकर व्यक्त हुयी।उनके भक्ति सम्बन्धी भावोद्गार बड़े मर्म-स्पर्शी और चमत्कारपूर्ण है। वस्तुत: रामभक्ति की मर्यादावादी परंपरा में सेनापति भी एक सांस्कृतिक कड़ी हैं। गोस्वामी जी की तरह उन्होंने भी अपने जीवन को राममय बना कर राम का सान्निध्य प्राप्त कर लिया था। जब सेनापति अपने आराध्य राम का अधीर होकर आवाहन करते हैं तब उनका उत्कट आत्मनिवेदन, अपार विश्वास, मर्मस्पर्शी कारुण्य एवम् भावावेश तुलसी की भक्ति भावना का स्मरण कराते हैं।

१- रहिमनविलास -दोहावली- २०६
२- तुलसी वैराग्य संदीपिनी - ३७

ऐसे रघुवीर कौं, अधीर ह्वै सुनावौ पीर,
बंधु-मीर आगे सैनापति भली मौन है।
सांवरे-बरन, ताही सारंग-धरन बिन,
दूजौ दुख-हरन हमारौ और कौन है ।।[1]

तुलसी की तरह सेनापति के राम भी अपरिमित शक्ति सम्पन्न, धर्म धुरीण, राक्षसों की सेना का संहार करने वाले, देवताओं, ब्राह्मणों और दीनों के कष्ट दूर करने वाले पूर्ण ब्रह्म के अवतार हैं।[2] सेनापति राम के सगुण रूप को दृष्टि का और निर्गुणरूप रूप को चिन्तन का विषय मानते हैं। उनका यह समन्वयवादी सिद्धान्त तुलसी की मान्यताओं के समान है।[3]

तुलसी के समान सेनापति भी राम के शील,शक्ति और सौन्दर्य तीनों गुणों के उपासक हैं। उनमें विनयभावना भी तुलसी के ही समान है। उनका हितसाधन राम की कृपा से ही हुआ है। भगवान् राम के शरणापन्न होकर अपने अटल विश्वास एवम् आशा के बल पर उन्होंने भी अपने उद्धार के लिए राम के समक्ष निश्छल आत्म निवेदन किया है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि सेनापति की भक्ति,उनका कवित्व और भगवान् राम के रूप की परिकल्पना बहुत कुछ तुलसी के समान है।

१- कवितरत्नाकर- रामरसायन - १५
२- कवित्तरत्नाकर- रामायण वर्णन- ७
३- कवित्तरत्नाकर- रामरसायन- १

६- राममंगल:-

'राममंगल' काष्ठ जिह्वा स्वामी की रचना है। उनका समय विक्रम की उन्नीसवीं शती का अन्तिम दशक है। इस ग्रंथ में स्वामी जी ने भगवान् राम के रूप का ध्यान नाम, लीला ,गुण और धाम की दिव्यता पर प्रकाश डाला है और इस दृष्टि से इस ग्रंथ पर मानस की भक्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि इनका सम्बन्ध रसिक सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है पर इनकी उपासना माधुर्य भाव की न होकर दास्यभाव की ही है।

> अहंभाव को धूप बनायौ मंदिर में महमह महकायौ ।
> दासभाव तनमन में छायौ गुरु असिराह बतायौ ।।[1]

७- विश्रामसागर:-

विश्राम सागर के रचयिता अयोध्या के सुप्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदास रामसनेही हैं। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १६११ है। इसके तीन खण्ड हैं-- इतिहासायन, कृष्णायन और रामायण ।रामायण खण्ड तुलसी के 'मानस' से इतना प्रभावित है कि उसकी छाया रचना सा लगता है। 'विश्रामसागर' का 'मानस' से मिलाकर पाठ करने पर इसके पृष्ट पृष्ट पर तुलसी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।भाव, भाषा एवम् शैली सभी दृष्टियों से विश्रामसागर मानसकार से पूर्णतया प्रभावित है।[2]

१- वैराग्य प्रदीप- पृ० ८५, पद- २- रामचरितमानस में भक्ति के पृ० ३१६ से - उद्धृत ।

२- रामचरितमानस में भक्ति - पृष्ठ- ३२०

डा० सत्यनारायण शर्मा ने अपने शोधप्रबन्ध "रामचरितमानस में भक्ति" में अनेक-- समानाकार पद्य उद्धृत किये हैं। दो उदाहरण उसी में नीचे दिये जा रहे हैं।

१- ज्ञानसागर-

" राम करहुं किमि सुमुख बड़ाई।
चिदानन्द तुम सब सुखदाई ।।
सेवक समुझि दरशन्वहिं दीन्हों।
सब विधि ते आपन करि लीन्हों ।।
तदपि एक बर दीजे अबहुं।
मन तब पद परिहरे न कबहुं ।।"[1]

रामचरितमानस -

राम करौं केहि भांति प्रशंसा।
मुनि महेश मन मानस हंसा।
सबहिं भांति मोहि दीन बड़ाई।
निज जन जानि लीन अपनाई।
बार बार मांगउं कर जोरे।
मनु परि हरै चरन जनि मोरे ।।"[2]

२- ज्ञानसागर-

सियराम जन्म विवाह मंगल मुदित सुनहिं जे गाइहैं
रघुनाथ ते पर कृपा करि हरि जगह में सुख पाइहैं ।।"[3]

१- ज्ञानसागर- पृ० ४३६-४३६

२- रा०मा०- बाल०- २१६

३- वि०सा० पृष्ट- ४७३

रामचरितमानस

" सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं ।
तिन्ह कहुं सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु ।। "[1]

८- रामस्वयंवर :-

रामस्वयंवर रीवं नरेश श्री विश्वनाथ सिंह के पुत्र श्री रघुराज सिंह की रचना है। इसका रचनाकाल संवत् १८३८ है। रघुराजसिंह अपने पिता के समान राम के परमभक्त थे। उन्होंने भक्ति विषयक अनेक रचनाओं का प्रणयन किया। उनमें 'राम स्वयंवर' का स्थान सर्वोपरि है। यह एक वर्णनात्मक प्रबंध काव्य है जिसमें तेईस प्रबन्ध हैं। इनमें से बाईस प्रबन्धों में मानस की बालकाण्ड तक की कथा का वर्णन है। शेष एक प्रबन्ध में रामकथा के शेषभाग को संक्षेप में कह दिया है। ग्रंथकार ने भगवान् राम और उनके भाइयों के विवाहोत्सव का बड़ा विस्तृत और हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। इसी अभिप्राय से उन्होंने ग्रन्थ का नाम 'रामस्वयंवर' रखा है।

डा० सत्यनारायण शर्मा के शब्दों में "मानस के बाद राम चरित संबंधी 'मानस' के जितने भी अनुकरण हुये हैं उनमें "राम स्वयंवर" का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रन्थकार ने अपने कृतित्व के लिए तुलसी, वाल्मीकि, सूरदास आदि भक्ति कवियों के छायानुकरण को स्वयम् स्वीकारा है।

१- रामा०च० बाल०- ३६१

२- रामस्वयंवर - पृष्ठ- ६

उक्ति युक्ति तुलसीकृत केरी और कहां मैं पाऊं ।
वाल्मीकि अरु व्यास गोसाईं सूरहि को शिर नाऊं ।।[1]

रामस्वयंवर के अनेक पद तुलसी के पदों से हूबहू मिल जाते हैं । जैसे :--

मानस:- छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई ।
करौं प्रणाम चरण शिर नाई ।।[2]

रामस्वयंवर:-

छमी रसिक जन मोरि ढिठाई ।
करौं प्रणाम चरण शिर नाई ।।[3]

रामचरितमानस:-

तेहि अवसर भंजन महि भारा ।
हरि रघुवंस लीन्ह अवतारा ।।[4]

रामस्वयंवर:-

अवनि उतारन भार को ,
हरि लीन्ह्यो अवतार ।

१- रा०मा०- बाल- ८
२- रामस्वयंवर पृ०- ६८८
३- रा०मा०-बाल०- ४८
४- रामस्वयंवर- पृ० ५

रामस्वयंवर में पग पग पर 'रामचरितमानस' के भाव, भाषा वाक्य ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं। भक्त होने के नाते रघुराज सिंह जी इसे अपनी त्रुटि नहीं समझते। इस रचना की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें ग्रन्थकार ने राम कथा के स्थल विशेषों को विशेष विस्तार दिया है। रामसीता का विवाह उनमें से एक है। रचना का नामकरण इसीलिए 'रामस्वयंवर' रखा है सामान्यरूप से ग्रन्थकार तुलसी के अनुसार ही चला है।

८- साकेत :-

मैथिली शरण गुप्त की रचना 'साकेत' भी रामकथा के उतने रूप को लेकर लिखी गया है जितना 'रामचरितमानस' में है। गुप्त जी स्वयम् ही नहीं उनका पूरा परिवार परम्परा से रामभक्त है। अतः गुप्त जी पर तुलसी दास का प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक है। पर इसमें तुलसी-प्रभाव से हटकर भी बहुत कुछ आगया है। उसका कारण समय का प्रभाव है। साकेत की रचना उस समय हुयी है जब देश जागरण के प्रकाश में जी रहा था, हिन्दी साहित्य के इतिहास का यह सुधार काल था। सुधार के पुरोधा थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। द्विवेदी जी ने तुलसी द्वारा मानस में उर्मिला की उपेक्षा किए जाने का प्रश्न उठाया था। मैथिलीशरण जी ने उसी सूत्र को पकड़कर 'साकेत' में रामकथा उर्मिला प्रधान रूप में उपस्थित किया। इसी फलस्वरूप तुलसी ने जो राम का व्यापक अनेक गुणमंडित मानवावतार, शील-शक्ति-सौन्दर्य समन्वित समग्र बिम्ब परिकल्पित किया है और कथा के हर विकास में राम की ही प्रधानता दिखायी है वह 'साकेत' में नहीं है। इसे हिन्दी के अनेक आलोचक 'स्वार्थी महाकाव्य' बताते हैं। फिर भी प्रकृत्या राम भक्त होने के कारण गुप्त जी की उक्तियों में स्थान स्थान पर तुलसी का स्वर सुनायी पड़ जाता है।

डा० सत्यनारायण शर्मा के शब्दों में -- "यह सत्य है कि उन्होंने राम के समग्र चरित्र का 'मानस' की भावगरिमा के साथ अंकन नहीं किया है तथापि सगुण ब्रह्म राम तथा उनकी आह्लादिनी शक्ति सीता के प्रति उनकी (गुप्त जी की) भक्ति ठीक वैसी ही है जैसी तुलसी की । यथार्थतः तुलसी गृहस्थाश्रम से विरक्त रहने वाले और गुप्त जी उसका पालन करने वाले भक्त थे । अतः युग प्रभाव एवम् कर्मभेद की दृष्टि से दोनों में थोड़ा अन्तर होना स्वाभाविक है अन्यथा यदि नयी भाषा शैली एवम् आधुनिक आन्दोलनों के प्रभाव को साकेत से निकाल दिया जाय तो गुप्त जी और तुलसी के शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जायगा ।"[1] 'मानस' और साकेत की कतिपय समान उक्तियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जारहा है । --

१-मानस - मन मतिरंक मनोरथ राऊ ।[2]

साकेत - नृपहेम-मुद्रा और रंक वराटिका -

मंगलाचरण के पूर्व के पद्य में,

२- दोहावली- जौं जगदीस तौ अति भलौ जौं महीस तौ भाग ।[3]

साकेत- राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?

विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?

तब मैं निरीश्वर हूं, ईश्वर क्षमा करे,

तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ।

मंगलाचरण ।

३- मानस- अगुन अरूप अलख अज जोई ।

भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।[4]

१- डा०सत्यनारायण शर्मा-रामचरितमानस में भक्ति, पृ० ३६१

२- रा०मा०- १।८

३- दोहावली-६१

४- रा०मा०- ७।१११

साकेत- हो गया निर्गुण सगुण साकार है ।
ले लिया अखिलेश ने अवतार है ।।[1]

४- मानस - जनक सुकृत मूरति वैदेही ।
दशरथ सुकृत रामु धरें देही ।।[2]

साकेत- धन्य दशरथ जनक पुण्योत्कर्ष है ।[3]

५- मानस - तीर तीर देवन के मंदिर
चहुं दिसि तिनके उपवन सुन्दर ।[4]

साकेत- तीर परहैं देव मंदिर सोहते ।

< < < < <

हंस रही हैं खिलखिलाकर क्यारियां ।[5]

६- मानस - चारु चित्र शाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ ।
राम चरित जे निरखि मुनि ते मन लेंहि चुराइ ।

< < < < < <

बाजार रुचिर न बनइ बरनत वस्तु बिन गथ पाइए ।

< < < < < <

१- साकेत- पृष्ठ- १२

२- रा०मा०- २।३१०

३- साकेत- पृष्ठ- १२

४- रा०मा०- २९(उ०)

५- साकेत- पृष्ठ- १५

६-

सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर शिशु जरठजे ।
रमानाथ जहं राजा सो पुर बरनि कि जाइ ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ ।।"[१]

साकेत:- धान्य धन परिपूर्ण सब के धाम हैं ।
रंगशाला से सजे अभिराम हैं ।
नगरों की पात्रता , नव नव कला ।
क्यों न दे आनन्द लोकोत्तर भला ?
ठाठ हैं सर्वत्र घर या घाट है ।
लोक लक्ष्मी की विलक्षण हाट है ।।"[२]

निष्कर्ष में कह सकते हैं कि तुलसी के समकालीन एवम् उत्तर-कालीन हिन्दी के राम काव्यों पर उनका प्रभाव रहा है । कृष्णभक्ति से प्रभावित होकर कुछ रामभक्तों ने रामकथा में शृंगार का पुट अवश्य दिया है । रस धारा पर आधारित ही रामभक्ति का रसिक सम्प्रदाय है । पर इन रचनाओं में भी तुलसी की तरह भगवान् राम के नाम , रूप , लीला आदि के लिए आग्रह और दीनता के भाव विद्यमान हैं , आधुनिक काल के राम काव्यों में यह प्रभाव कम होता गया है । उनमें रामकथा के ऐसे पात्रों के चरित्रांकन पर विशेष बल है जो तुलसी की परिकल्पना में द्वितीय कोटि के हैं । इनमें कतिपय ये हैं --

वैदेही वनवास - हरिऔध, साकेतसंत- डा०बलदेव प्रसाद मिश्र, कैकेयी - केदारनाथ मिश्र , प्रभात , उर्मिला- बालकृष्ण शर्मा नवीन,

---

१- रा०मा०- ७।२८।८-१२

२- साकेत- पृष्ठ- १६

राम की शक्ति पूजा- निराला, पंचवटी- मैथलीशरण गुप्त, अशोक वन- पं० गोकुल चन्द्र शर्मा आदि ।

इनमें बुद्धिवादी दृष्टि अपनायी गयी है और आधुनिक मान्यताओं के आधार पर उपेक्षित पात्रों के चित्रांकन को विस्तार दिया गया है ।

--
-:-

नवम -अध्याय

:

उपसंहार

नवम-अध्याय

उपसंहार

श्रीमद्भागवत की प्रशंसा करना नितान्त कठिन है, संस्कृत साहित्य के एक अनुपम रत्न होने के अतिरिक्त भक्ति शास्त्र का यह सर्वस्व है। यह निगम कल्पतरु का स्वयं गलित फल है, जिसे शुकदेव जी ने अपनी मधुर वाणी से संयुक्त कर अमृत बना डाला है। व्यास जी की पौराणिक रचनाओं में इसे सर्वश्रेष्ठ कहना पुनरुक्ति मात्र है इसकी भाषा इतनी ललित है, भाव इतने कोमल तथा कमनीय है कि ज्ञान तथा कर्मकाण्ड की संतत सेवा से ऊसर मानस भी यह भक्ति की अमृत मय सरिता बहाने में समर्थ होता है। मेरी दृष्टि में वैष्णव धर्म के अवान्तर-कालीन समग्र सम्प्रदाय भागवत के ही अनुग्रह के विलास हैं, विशेषत: बल्लभ सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय- जो उपनिषद भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के साथ-साथ भागवत को भी अपना उपजीव्य मानते हैं। बल्लभाचार्य भागवत को महर्षि वेद व्यास की समाधि भाषा मानते हैं। जिन परमतत्वों की अनुभूति व्यास देव को समाधि दशा में हुयी थी। उन्हीं का विशद प्रतिपादन भागवत में किया गया है। बल्लभ तथा चैतन्य के सम्प्रदायों को अधिक सरस रसस्निग्ध तथा हृदया-वर्जक होने का यही रहस्य है कि उनका मुख्य उपजीव्य ग्रंथ यही है --श्रीमद्-भागवत। श्रीमद्भागवत की भाषा इतनी ललित है, इतनी सरस है कि वह पाठकों और श्रोताओं के हृदय को बलात आकृष्ट कर आनन्द सागर में डुबो देती है। उसमें सरस गेय गीतियों की प्रधानता है, परन्तु भागवत की स्तुतियां इतनी आध्यात्मिकता से परिप्लुट है कि उनको बोध गम्य करना विशेष शास्त्र मर्मज्ञों की ही क्षमता की बात है।[1]

१- उपाध्याय, आचार्य बलदेव,- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धांत,

पृष्ठ-

श्रीमद्भागवत संस्कृत वांगमय के अन्तर्गत वैष्णव धर्म का अद्वितीय ग्रंथ है। भागवत धर्म की प्राचीनतम संज्ञा वैष्णव धर्म है। इसमें भगवान विष्णु के अवतारों का विशद विवेचन अनुस्यूत है। पांचरात्र मत के अनुसार षडैश्वर्य सम्पन्न विष्णु ही श्रीमद्भागवत के साध्य तत्व हैं। इन्हीं साध्य तत्व के साधक को भागवत कहते हैं।[1] यह धर्म भगवान विष्णु के भक्तों द्वारा उपास्य होने के कारण भागवत धर्म कहलाया। भागवत 'धर्म ही श्रीमद्भागवत का भक्ति तत्व है।[2] आचार्य बलदेव उपाध्याय इसी के उदय

१- उपाध्याय, आचार्य बलदेव, - वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और - सिद्धान्त - पृष्ठ- ६४,

"वैष्णव धर्म की प्राचीनतम संज्ञा भागवत धर्म तथा पांचरात्र मत है। षडैश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण विष्णु ही भगवत शब्द से अभिहित किए जाते हैं और उनकी भक्ति करने वाले साधक भागवत कहलाते हैं। विष्णु भक्तों के द्वारा उपास्य धर्म होने के कारण यह धर्म कहलाता है- भागवत धर्म।।"

-श्रीमद्भागवत- ११।२।४३

२- श्रीमद्भागवत- ११।२।११-१२ -

"यत पृच्छसे भागवतान धर्मास्त्वंविश्वभावनान।
श्रुतोऽनुपठितोध्यात आदृतो वानुमोदित:।
सद्य: पुनाति सदधर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि।।
त्वया परम कल्याण: पुण्य श्रवण कीर्तन:।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम।।

की लीला स्थली भगवान कृष्ण का लीला निकेतन वृन्दावन तथा मथुरा मण्डल मानते हैं।[1] यह ग्रंथ भगवद तत्व को प्रकाशित करने वाला वैष्णव ग्रंथ है, इसमें समस्त वेदों का सार संग्रह सन्निहित है। घोर अज्ञानान्धकार से पार जाने के लिए आध्यात्मिक तत्वों को प्रकाशित करने वाला अद्वितीय ज्ञान दीप है।[2] इसमें जीवन मुक्त परमहंसो एवम् आत्माराम मुनियों के चरितांश सन्निहित हैं, इतना ही नहीं भगवद्भक्तों के संवाद का भी उज्ज्वल प्रदर्शन हुआ है। वैष्णव अवतारों की लीलाओं में वैराग्य, ज्ञान योग एवम्

१- उपाध्याय, आचार्य बलदेव - वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धांत, पृष्ठ- ६३,

'भागवत धर्म के उदय की लीला स्थली है भगवान कृष्ण का लीला निकेतन वृन्दावन तथा मथुरा मण्डल। कृष्ण यादव वंशीय या सात्वत वंशीय क्षत्रियों में उत्पन्न हुये थे। भागवत धर्म का उदय इसी क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, चारों व्यूहों का नामकरण यादव वंश के महनीय पुरुषों के नाम के ऊपर किया गया है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये चतुर्व्यूह कृष्ण उनके ज्येष्ठ भ्राता पुत्र तथा पौत्र के नाम पर क्रमशः अवलम्बित है।'

२- श्रीमद्भागवत- १।२।३ -

'यः स्वानुभावमखिल श्रुति सार -
मेकमध्यात्म दीप मति तितीर्षतां तमोऽन्धम।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराण गुह्यं
तं व्यास सूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥

भक्ति से युक्त नैष्कर्म्य का उपदेश- सन्देश अभिव्यक्त हुआ है ।[1] इसके साथ-साथ उपनिषद,गीता एवम् ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थान त्रयी का भी निचोड़ सन्निहित है । इसीलिए बल्लभाचार्य श्रीमद्भागवत को वेदव्यास की समाधि भाषा बताते हैं ।[2] जिन परम तत्वों का अनुभूति वेद व्यास को समाधि भाषा में हुई थी उन्हीं का विषद प्रतिपादन भागवत में कियागया है ।[3] चूंकि इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिष्ठापन होने के साथ-साथ मुरली मनोहर की अनिन्द्य सौन्दर्य युक्त दिव्य लीलाओं ने अखण्ड रूप में एकाकार शुकदेव जी की वृत्ति को अपनी ओर आकृष्ट करके भक्ति रस का अजस्र प्रवाह रसिक भगवद् प्रेमियों के लिए प्रवाहित किया है ।[4] यह निगम कल्पतरु का स्वयं गलित फल है जिसे शुकदेव जी ने अपनी मधुर वाणी में संयुक्त कर अमृत रूप बना दिया है।[5]

१- श्रीमद्भागवत - १२।१३।१८ -

"श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं ।
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परम गीयते ।
तत्र ज्ञान विराग भक्ति सहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन्विपठन विचारण परो भक्त या विमुच्येन्नरः ।।"

२- शुद्धाद्वैत मार्तण्ड पृष्ठ- ४६-

"वेदा श्रीकृष्ण वाक्यानि व्यास सूत्राणि चैव हि ।
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम ।।

३- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, पृ० ६६

४- श्रीमद्भागवत माहात्म्य - १।१

श्री सच्चिदानन्द घन स्व रूपिणे कृष्णाय चानन्त सुखाभि-
-वर्षिणे ।
विश्वोदभव स्थान निरोध हेतवे नुमो वयं भक्ति रसाप्तयेऽनिशम"।

५- श्रीमद्भागवत-१।१।२-

"निगम कल्प तरोर्गलितं फलं शुक मुखाद मृतद्रव संयुतम् ।
पिवत भागवतं रस मालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।"

अतः स्पष्ट है कि श्रीमद् भागवत में ज्ञान कर्म एवम् भक्ति की त्रिवेणी का संगम परिलक्षित होता है। फिर भी भागवतकार एवम् तुलसी ने भक्ति की महिमा का गायन किया है।[1] भक्ति के जितने भी लोक विश्रुत धर्म[2] प्रतिपादित किए गए, उन सबका लक्ष्य अनन्यप्रेम रूपा साध्य भक्ति की प्राप्ति करना है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद, नारद नौयोगीश्वरों, कपिल, ऋषभदेव, प्रचेता गुण, और श्रीकृष्ण एवम् नाना प्रसंगों में साधन, भाव एवं प्रेम अर्थात भक्ति के साधन एवम् साध्य रूप का ही व्याख्यान किया गया है।[3]

१-(क)- श्रीमद्भागवत:- १।२।६, १।२।१४, १।२।२२, १।५।१२, १।५।१५, १७,१८,१६, १।७।४,६,१०, २।१।५, २।२।१४, ३३, २।३।१०, ३।५।४६-४७, ३।२५।१६, १४, ३।२६।२८-३३, ४।८।४१, ४।२१।३१, ३६, ४।२२।३६, ४।२४।५४, ५।६।१८, ५।१८।१२, १४, ६।१।१५, १६,१७,१८, ६।३।२४-२६, ७।७।२६, ४०,५१,५२, ७।६।६,१०, ८।६।२८,२६, ८।२४।३०, १०।२।३७, १०।१४।३, ४,५,८, २६, १०।४६।३३,११।२।३३, ३७,४२,४३, ११।५।४१, ४२, ११।६।६, ११।१६।६, १२।४।४०,

(ख)-तुलसीसाहित्य:- रा०मा०- ३।१६।२ दोहा, २।१२८।२, २।१३१, ७।४३।३, ७।४६, ३।३५।४, ३।३६।४, ।
विनयपत्रिका- १२६,१३६।१०-१२, १७२, २०३, २०५,
कवितावली- ७।८४-८८ ,

२-(क) श्रीमद्भागवत- ७।११।८-१२ -

क्रमशः काले पृष्ठ पर देखें:-

क्रमश: पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें:-

---

*सत्यं दया तप: शौचं तितिक्षेक्षा शमोदम: ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्याग: स्वाध्याय आर्जवम् ।
संतोष: समदृक: सेवा ग्राम्ये हो परम: शनै: ।
नृणाम विपर्ययेहेक्षा मौनमात्म विमर्शनम् ।।
अन्नाद्यादे: संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हत: ।
तेष्वात्म देवता बुद्धि: सुतरां नृषु पाण्डव: ।।
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरण महतां गते: ।
सेवेज्यावनतिदास्यं सख्यमात्म समर्पणम् ।
नृणा मयं परो धर्म: सर्वेषां समुदाहृत: ।
त्रिंशल्लक्षणान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ।।

(ख)- तुलसीसाहित्य - रा०मा०- ७।४६ -

*जप तप , नियम जोग निज धर्मा ।
श्रुति सम्भव नाना शुभ कर्मा ।
ग्यानु दया दम तीरथ मज्जन ।
जह लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।।
आगम निगम पुरान अनेका ।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ।
तव पद पंकज प्रीति निरंतर ।
सब साधन कर यह फल सुंदर ।।
छूटइ मल कि मलहि के धोएं ।
घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएं ।

क्रमश:- अगले पृष्ठ पर देखें-

क्रमश: शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें:-

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई ।
अभि अंतर मल कबहुं न जाई ।
सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पण्डित ।
सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित ।
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई ।
जाके पद सरोज रति होई ।
नाथ एक बर मागउं । रामकृपा करि देहु ।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुं घटै जनि नेहु ।।

रा०मा०- ७।१२६।२-४- " मन क्रम बचन जनित अघ जाई ।
सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ।
तीर्थाटन साधन समुदाई ।
जोग बिराग ग्यान निपुनाई ।
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना ।
संजम दम जप तप मख नाना ।।
भूतदया द्विज गुर सेवकाई ।
बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई ।
जहं लगि साधन बेद बखानी ।+
सब कर फल हरि भगति भवानी ।।

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई ।
रामकृपां काहूं एक पाई ।।

क्रमश: अगले पृष्ठ पर देखें:-

क्रमशः पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें:-

दो०- मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास ।
जे यह कथा निरन्तर सुनहिं मानि विश्वास ॥

३- श्रीमद्भागवत-

क्रमशः:- ७।५।२३ (प्रह्लाद), ७।७।३०-३६ (नारद), ११।३।२३-३१-(योगीश्वर प्रबुद्ध), ११।२६।६-१६, ११।१६।२०, ११।११।३४-४१-(श्रीकृष्ण), ३।२६।१५-१६, ३।२८।२-६, ३।२७।२१-२३ (कपिल), ५।५।१०-१३ (ऋषभदेव), नानाप्रसंग अंबरीष- ६।४।१८-२०, नलकूबर- १०।१०।३८, श्रुतदेव- १०।८६।४६, सनत्कुमार-४।२२।२२-२५, शुकदेव- २।१।५, २।२।२६, सूतजी- १।२।२४, शौनकजी- २।३।१६-२४ , इत्यादि ।

तुलसी ने भी 'मानस' में भगवान् श्रीराम के श्रीमुख से लक्ष्मण शबरी, स्वम् सार्वजनिक जनता को तथा काकभुशुण्डि द्वारा गरुड़ को और शिव द्वारा पार्वती को, इसके साथ-साथ विभिन्न देवों सन्तों की स्तुतियों में भक्ति का ही चरम परिपाक अभिव्यक्त हुआ है।[1] साधन भक्ति की दृढ़ता

१- रा०मा०- ३।१६।२- दोहा, रा०मा०-३।३५।४, ३।३६।४,
क्रमशः- रा०मा०-७।४३।३, ७।४६, ७।१२६।२-४, ७।१२६, ७।१३०(ख),

(१)- <u>तुलसी संतों से स्तुति में:-</u>

१- बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु।

<u>गणेश की स्तुति से -</u>

२- मांगत तुलसिदास कर जोरें।
बसहिं रामसिय मानस मोरें।

<u>भास्करकी स्तुति में-</u>

३- वेद पुरान प्रगट जस जागै।
तुलसि राम भगति बर मागै।।

<u>शंकर की स्तुति में-</u>

४- देहु कामरिपु राम चरन रति।
तुलसिदास कहं कृपा निधाना।।

५- तुलसि दास जाचक जस गावै।
बिमल भगति रघुपति की पावै।

६- देहु काम रिपु राम चरन रति।

७- तुलसि दास हरि चरन कमल वर देहु भगति अविनाशी।

क्रमशः अगले पृष्ठपर देखें ---

क्रमश: पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें:-

भवानी की स्तुति में-

१- देहि मां मोहि पन प्रेम यह नेम निज राम घन स्याम -
तुलसी पपीहा ।

२- रघुपति पद परम प्रेम तुलसी चहं अचल नेम देहु ।

गंगा की स्तुति में-

१- तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुवंश वीर विचरत मति देहु ।

२- देहि रघुवीर पद प्रीति निर्भर मातु ।

(२)- मनु शत रूपा:-

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपाकरि देहु ।।
रा०मा०- १।५०

अहिल्या:- विनती प्रभु मोरी मैं मति मोरी नाथ न मांगउं वर आना ।।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ।।
रा०मा०-१।२१०

(३)- जनक:-

बार बार मागउं कर जोरें । मनु परिहरै चरन जनि मोरें ।
रा०मा०- १।३४१।३,

श्रीभरत:- अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउं निरवान ।
जनम जनम रति राम पद यह वरदानु न आन ।।
रा०मा०-२।२०४

क्रमश: अगले पृष्ठपर देखें--

क्रमशः पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी-

अत्रिमुनिः- प्रसीद मे नमामि ते। पदाब्ज भक्ति देहि मे।
विनती करि मुनि नाइ सिरु कह कर जोरि बहोरि।
चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुं तजै मति मोरि।।
रा०मा०- ३।२४

शरभंगमुनिः- मम हिय बसहुं निरन्तर सगुण रूप श्रीराम। रा०मा० ३।८

सुतीक्ष्णः- अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हि गगन इंदु इव बसहुं सदा निह काम।। रा०मा०-३।१३

आस्तः- यह वर मागउं कृपा निकेता। बसहुं हृदय श्री अनुज समेता।।
अविरल भगति विरति सत संगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा।।
रा०मा०- ३।१२।५-६

नारदः- राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन विमल बसहुं भगत उर व्योम।। रा०मा०३।४२(क)

सुग्रीवः- अब प्रभु कृपा करहुं एहि भांती।
सब तजि भजनु करउं दिन राती।। रा०मा०- ४।६।११

बालिः- जेहि जोनि जन्मौ कर्म बस तहं राम पद अनुरागऊं।
रा०मा०- ४।६।छं०२

विभीषणः- अब कृपालु निज भगति पावनी देहु सदा सिव मन भावनी।।
रा०मा०-५।४८।४

हनुमानः- एक मन्द मैं मोह बश कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीन बन्धु भगवान।।
रा०मा०- ४।५

क्रमशः अगले पृष्ठ पर देखें ---

कृमश: पिछले पृष्ठ की पाद्टिप्पणी देखें:-

बृह्माजी:- नृप नायक दे वरदान मिदं चरनाबुंज प्रेमु सदा सुभदं ।

रा०मा०- ६।१०।छंद-११ ,

इन्द्र :- वैदेहि अनुज समेत । मम हृदय करहुं निकेत ।

मोहि जानिए निज दास । दे भक्ति रमा निवास ।।

रा०मा०- ६।११।छंद-८

शंकर:- बार बार वर मागयउं हरषि देहु श्रीरंग ।

पद सरोज अन पायिनी भाति सदा सत्संग ।। रा०मा०७।१४ क

वेद:- करुणायतन प्रभु सद गुनाकर देव यह वर मांगहीं ।

मन वचन कर्म विकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ।।

रा०मा०-७।१२।छंद-६

सनकादि ऋषि बालक:-

प्रेम भाति अनपायिनी देहु हमहि श्रीराम । रा०मा०-७।३४

वशिष्ठ:- नाथ एक मागउं राम कृपा करि देहु ।

जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुं घटै जनि नेहु ।रा०मा० ७।४६

काकभुशुण्डि:- भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिन्धु सुख धाम ।

सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ।।

रा०मा०- ७।८४

(१)- गोस्वामी जी उनकी भी वन्दना करते हैं जो राम भक्ति से जुड़े हैं:-

१- बंदउ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद ।

२- प्रनवउं परिजन सहित बिदेहू ।

जाहि राम पद गूढ़ सनेहू ।।

कृमश: अगले पृष्ठ पर देखें-

शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें-

---

(३) प्रनवउं पवनकुमार खल वन पावक ग्यान घन ।
जासु हृदय आगार, बसहि राम सर चाप धर ।।

४- प्रनवउं प्रथम भरत के चरणा ।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ।।

५- राम चरन पंकज मन जासू ।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।।

६- वन्दहुं पद सरोज सब केरे ।
जे बिनु काज राम के चेरे ।।

(२)- भगवान राम और बाल्मीकि संवाद:-

१- जाहि न चाहिअ कबहुं कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहुं निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु ।।
(रा०मा०- २।१३१)

(३) श्रीराम द्वारा लक्ष्मण को दियागया भक्ति योग:-

बचन कर्म मन मोरि गति, भजहुं करहिं निष्काम ।
तिन्हके हृदय कमल महुं करउं सदा विश्राम ।। रा०मा० ३।१६

(४)- भगवान राम द्वारा शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश:-

नव महुं एकउं जिन्हके होई ।
नारि पुरुष सचराचर कोई ।
सोइ अतिशय प्रिय भामिनी मोरे ।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ।। रा०मा०-३।३५।४

क्रमशः अगले पृष्ठ पर देखें:-

क्रमशः पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखें:-

(५)-भगवान राम द्वारा नारद को उपदेश :-

गुनागार संसार दुख रहित विगत संदेह ।
तजि मम चरन सरोज रज तिन्ह कहुं देह न गेह ।
राoमाo- ३।४६

(६)-विभीषण द्वारा रावण को भक्ति का निवेदन:-

सब परिहरि रघुबीरहिं भजहुं भजहि जेहिं संत ।। राoमाo ५।३८

(७)-मन्दोदरी द्वारा रावण को राम भक्ति का निवेदन:-

नाथ भजहुं रघुनाथहिं अचल होइ अहिवात । राoमाo ६।७

(८)-राजाराम द्वारा प्रजाजनों को भक्ति संदेश:-

सुलभ सुखद मारग यह भाई ।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई ।। राoमाo-७।४४।१,

(९)-भगवान राम द्वारा भक्त काकभुशुण्डि को भक्ति का सिद्धान्त:-

"मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग ।
काय बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग ।। राoमाo ७।८५(ख)
अस बिचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल,
भजहुं राम रघुबीर करुनाकर सुन्दर सुखद ।
सत्य कहउं खगतोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिया।। राoमाo-७।८७

(१०)- काकभुशुण्डि जी द्वारा गरुड़ जी को भक्ति का उपदेश:-

"भाव वश्य भगवान सुख निधान करुना भवन ।
तजि ममता मद मान भजिय सदा सीता रमन ।।"
राoमाo- ७।९२

ही भाव की अनन्यता है और भाव का उदात्तीकरण ही फल भक्ति या प्रेमाभक्ति है। यही साध्य तत्व है। यह भक्ति स्वयं में शान्ति रूपा, प्रमाणरूपा, परमानन्दरूपा तथा अमृत स्वरूपा है यही अनन्य फलवती है। दोनों ही मूर्धन्य साहित्यकारों ने स्व प्रणीत ग्रंथों में इस भक्ति की चरम महत्ता सिद्ध की है। इस भक्ति की अनन्यता में भक्त भगवत्सेवा के अतिरिक्त संसार के किसी भी प्रलोभन इत्यादि की आकांक्षा नहीं करता। क्योंकि इसका क्रियात्मक चरण निष्काम एवम् निर्हेतुक होने के कारण भक्त ब्रह्म पद, चक्रवर्ती साम्राज्य का वैभव एवम् लोकाधिपत्य प्रभुता तथा विविध योग सिद्धियों को भी अपनी दृष्टि में हेय समझता है। सालोक्य, सार्ष्टि, सायुज्य, सामीप्य सारूप्य, इन पांचों मुक्तियों को भक्त भगवत्सेवा के अतिरिक्त तुच्छ समझता है।[1]

१- श्रीमद्भागवत- ३।२६।१३-१४,

"सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।
स एव भक्ति योगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते।।"

श्रीमद्भागवत- ११।१४।२४, ९।४।६७,

"मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् काल विद्रुतम्।।"

अन्यत्र- ७।६।२४, ४।२०।२४,

-- रा०मा०- ७।११६क।४(पूर्वार्द्ध)-

"अस बिचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने।।

भागवतकार एवम् तुलसी ने भगवन्नाम (राम नाम महिमा), भजन महिमा एवम् सत्संग पर विशेष बल दिया है।[1] ये प्रमुख अंग भक्ति लाभ के संचालक हैं।

१- श्रीमद्भागवत-

(नाम महिमा)- १।१।१४, २।१।११, ३।३३।७, ३।६।१५, ५।२४।२०, ५।२५।११ , ६।२।७,८, १३,१५,१८,१६, ६।२।४५-४६, १०।३४।१७, ११।५।३६-३७, १२।३।५१-५२ , १२।१२।४६, १२।१२।४६, १२।१३।२३, १०।२।३७ ,।

श्रीमद्भागवत- ५।५।१८ -

"गुरुर्न स स्यात्स्व जनो न स्यात पिता न स स्यान्जननी न
- सा स्यात ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेय: समुपेतमृत्युम् ।।

" जो अपने प्रिय सम्बन्धी को भगवद् भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फांसी से नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं , इष्टदेव इष्टदेव नहीं है ।"

श्रीमद्भागवत- ६।३।२२-

"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसाम धर्म: पर: स्मृत: ।
भक्तियोगो भगवति तन्नाम ग्रहणादिभि: ।।"

शेष कृपा: अगले पृष्ठ पर देखें ----

शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखिये :-

इस जगत में जीवों के लिए सबसे बड़ा कर्तव्य एवम् धर्म यही है कि वे नाम संकीर्तन आदि उपायों से भगवान के चरणों में भक्ति भाव प्राप्त कर लें।"

श्रीमद्भागवत- ६।३।२६ -

"जिह्वा न वक्ति भगवद् गुण नाम धेयम ,
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि ,
तानानयध्वमऽसतो कृत विष्णु कृत्यान् ।।

जिसकी जीभ भगवान के गुणों और नामों का उच्चारण नहीं करती , जिनका चित्त उनके चरणार विन्दों का चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर भगवान कृष्ण के चरणों में नहीं झुकता , उन्हीं भगवत्विमुख पापियों को इस दण्डपुरी में लाया करो ।

श्रीमद्भागवत- ४।३१।९ , -----

वही जन्म सफल है ,वे कर्म सुकर्म है वही आयु सुआयु है, वही मन सात्विक मन है वही वाणी सार्थक है जिनके द्वारा विश्वात्मा भगवान का नाम एवम् सेवा की जाय।

"तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ।।"

शेष अगलेपृष्ठपर देखें -

शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखिए-

श्रीमद्भागवत- १०।८०।३-४ - "सा वाग यया तस्य गुणान गृणीते ।
करौ च तत्कर्म करौ मनश्च ।
स्मरेद वसन्तं स्थिर जङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्य कथा: स कर्ण:
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेवदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षु: ।
पादौवां यानि भजन्ति नित्यम् ।।

श्रीमद्भागवत- (सत्संग महिमा):- ११।१२।२,३,६,६, १।२।१८,
११।२६।३१, ३।२५।२०, ४।६।१२,
१०।५१।५४,१।१८।१३,११।१२।१-२, ५।५।२

तुलसी साहित्य- (नाममहिमा):- बरवैरामायण-६८-
"नाम भरोस,नाम बल,नाम सनेहु ।
जनम जनम रघुनन्दन तुलसिहि देहु ।।"

दोहावली-१०, "राम नाम को अंक है सब साधन है सून ।
अंक गएं कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून ।।

दोहावली-८, "सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि ।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि ।।

रा०मा०-१।२१, दो०-६, "राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहरहुं जौं चाहसि उजियार ।।"

अन्यच - रा०मा०- ४।१श्लोक-२, रा०मा०१।१६।१, १।२८।१,कविता०७।७३-६३
विनयपत्रिका- ६८-७०, १२६-३०, २५४-५५ ,

रा०मा०- १।४६।१- "राम नाम कर अमित प्रभावा ।
संत पुरान उपनिषद गावा ।।

देखें- क्रमश: अगले पृष्ठपर ---

शेष पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी देखिये-

रा०मा०- १।४६।२ - ' संतत जपत संभु अविनासी ।

शिव भगवान ज्ञान गुन रासी ।।

विनय०- २२८।५ - राम तें अधिक नाम करतब जेहि किए नगर-गत गामो ।।

कवितावली- ७।७६ - ताकी महिमा क्यों कही है जाति जामें ।

अन्यत्र - रा०मा०- १।२२।१-२, १।२३।१, १।२१।१-२, विनय०- ६६।५,

कविता०-७।७१, ७।६७, ७।६०,७।८८,रा०मा०- १।१६।३,

रा०मा०-१।२६।१-४,१।१६।२, १।१६।३-४, ३।४२क ,१।२६।४,

१।२३।३ दोहा, १।२१।२-३, रा०मा०-२।११६।२,बरवै रामायण- ५८,

- रा०मा०-३।२०क, दो०१४, रा०मा०- ४।२६।२, ५।२०।२ ,

सत्संग महिमा :-रा०मा०- ४।१५(ख) -

बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ।

दोहावली- ३५८-६४, ३६६, रा०मा०-१।३।२-५, १।७।२ दोहा(क),७।४१।४,

रा०मा०- ७।३३- ' संत संग अपवर्गकर कामी भव कर पंथ ।

विनय०- २०३।२०- भवसागर कहं नाव शुद्ध संतन के चरन

रा०मा०- ७।३३।४- 'बड़े भाग पाइअ सतसंगा ।

बिनहि प्रयास होइ भव भंगा ।।'

रा०मा०- ७।४१।२, ७।४५।३, ७।७८१, ७।१२०(क) ।

भागवतकार एवं तुलसी ने ज्ञान कर्म तथा वैराग्य सत्संग इत्यादि मोक्ष के साधनों को भक्ति के साधन के रुप में अभिव्यक्त किया है। जहां-जहां ज्ञान, सत्संग, कर्म की साधनता को महत्व दिया गया है वहां दोनों साहित्यकारों का लक्ष्य ज्ञान कर्म एवम् सत्संग का प्रशंसन मात्र है, भक्ति का अपकर्षण नहीं। ज्ञानी भक्त दोनों के आराध्यों को प्रिय है।[1] अतः ज्ञान, का अर्थवाद दोनों ग्रंथों में वर्णित भक्ति सिद्धान्त का पोषक है। धर्मशील ज्ञानी, विज्ञानी आदि सभी के निस्तार के लिए सेवक -सेव्य भाव की ही भक्ति को अनिवार्य बताते हैं।[2] भागवतकार का कथन है कि जो साधक भक्ति की अपेक्षा केवल ज्ञान के लिए कष्ट उठाते हैं उनका प्रयत्न भूसी कूटने की भांति निष्फल एवम् क्लेश मात्र का कारण ही बनता है।[3] इसी

१- रा०मा०- 'ज्ञानी प्रियहि विशेष पियारा'

श्रीमद्भागवत- ११।१६।३- 'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम।

२- रा०मा०- ७।११६ (क),

'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि।।

श्रीमद्भागवत-१०।१४।३०-

'तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो,

भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम्।।

येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पाद पल्लवम्।।

३- श्रीमद्भागवत- १०।१४।४-

'श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,

क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यथा स्थूल तुषाव घातिनाम्।

प्रकार शुकदेव जी परीक्षित से कहते हैं कि वह निर्मल ज्ञान जो मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् साधन है यदि भगवान की भक्ति से रहित है तो वह निश्चय ही अशोभा कारक है ।[1]

तुलसी ने भी भक्ति का परिहार करके ज्ञान मात्र के लिए श्रम करने वाले जीव को जड़ कहा है वे दूध के लिए घर में ही स्थित कामधेनु को छोड़कर आक खोजते फिरते हैं ।[2] चतुर्वर्ग दायक सभी साधन भक्ति के बिना जल हीन सरिता के समान हैं, भक्तिहीन उपाय के द्वारा सुखाभि लाषिता शठता है, तरणी के बिना महासिन्धु के संतरण का हास्यास्पद प्रयास है ।[3]

१- श्रीमद्भागवत- १२।१२।५२ -

"नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरन्जनम् ।"

२- रा०मा०- ७।११५।१- "जे असि भगति जानि परिहरहीं ।
केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी ।
खोजत आकु फिरहिं पय लागी ।।

३- रा०मा०- ७।११५।२ -

"सुनु खगेस हरि भगति विहाई ।
जे सुख चाहहिं आन उपाई ।।+
वि०प०१६२।३,ते सठ महासिन्धु बिनु तरनी ।
पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ।।"

तुलसी का कथन है कि जो नर ज्ञानवंत होकर भी राम भजन के बिना ही निर्वाण पद की कामना करता है वह महा मूढ़ पशु है।[1] अतः स्पष्ट है कि दोनों महाशास्त्रकारों ने भक्ति को ही जीव संतप्त दुःख निवृत्ति का माध्यम कहा है।[4] भक्ति ही भगवान की अनन्य प्रिया[2] होने के नाते वे भक्त के वशीभूत रहते हैं।[3] भक्ति में किसी जाति विशेष का बन्धन है।[4] इसको सभी

१- रा०मा०-७।७८(क)- "रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वानि।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूंछ विषान ।।

रा०मा०-७।८७(क)- पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ।।

रा०मा०-३।३६ छं०।५- मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा ।।"

२- रा०मा०- ७।११६क।२- "माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ।।

पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अतिमाया ।।

३- श्रीमद्भागवत- ६।४।६३-६४-६८,

४- श्रीमद्भागवत- ७।६।८-६,१० -

रा०मा०- ३।३५।२-३ - "अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महं मैं मतिमन्द अघारी।
कह रघुपति सुनु भामिनी बाता।
मानहु एक भगति कर नाता ।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धनबल परिजन गुन चतुराई ।।

रा०मा०-३।३६-छं०३- नव महुं एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई ।।

अधिकारी हैं। भक्ति ही श्रेयस्कर पवित्र एवम् अमोघ है।[१] अतः भक्ति पथ ही सरल बोधगम्य एवम् अनुकरणीय है।[१] भक्ति ही सुख की खानि सर्वगुण सम्पन्न एवम् सद्यः फल दायक है।[३] इसके साथ साथ यह परम पुरुषार्थ रुपा एवम् प्रकाश मणि है[४] यही कलियुग में व्याप्त अविद्या की विध्वंश रुपा है।

१- श्रीमद्भागवत- ६।१।१७

२- 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजुत विरति विवेक ।।

३- गीतावली- ७।१५।४' सब सुख सुलभ सब तुलसी
प्रभु पद प्रयाग अनुरागे ।।

रा०मा०- ३।१६।१ - 'जातें बेगि द्रवउं मैं भाई ।
सो मम भगति भगत सुख दाई ।।

गीतावली- २।५०।६ - 'तुलसी सकल सुकृत सुख लागे -
मानो राम भगति के पाछे ।।

रा०मा०- ६।११४।२- जो इच्छा करिहहु मन माही ।
प्रभु प्रसाद कछु दुर्लभ नाही ।।

४- वि०प०- १६६।३- आगम निगम ग्रंथ रिषि मुनि सुर संत सबही को एक मत'.

रा०मा०- २।२०७, ७।८५।२-३, कवि० ५।३०,७।१४०

रा०मा०- २।२८६।४ - साधन सिद्धि राम पग नेहूं ।
मोहि लखि परत भरत मत एहू ।।

वि०प०-११६।५, रा०मा०- २।२६६।१, रा०मा०-२।७५।२,गीता० २।५०।६,
रा०मा०- ७।४६।१-२, ७।८५।३, ७।१२६।२-४

रा०मा०- ७।१२०।१-२-' राम भगति चिंतामनि सुन्दर ।
बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ।।
परम प्रकाश रुप दिन राती ।
नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती ।।'

तुलसी साहित्य पर श्रीमद्भागवत की भक्ति का प्रभाव दो रूपों में देखा जा सकता है -- १- प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से ,२- प्रतिपादन शैली की दृष्टि से (चूंकि यह वर्णन शोध के प्रसंग से इतर है फिर भी भावनात्मक अभिव्यक्ति का आधार भाषाशैली है निर्णीत किया जाता है) श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर एक है, उस अनिर्वचनीय है। नाम रूपात्मक संज्ञा ही उसकी उपाधियां हैं। उसी परम सत्ता के विष्णु शिवदेवी , राम-कृष्ण आदि स्वरूप हैं। भक्त की सरलता के लिए भागवतकार ने एकता में अनेकता का प्रतिपादन किया है तत्वत: अनेकता में एकता है। त्रिदेव समन्वय का सिद्धान्त दोनों मनीषियों को मान्य है। यह निर्गुण, निराकार निर्विकार, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा जीवों के कल्याणार्थ सगुण रूप में अवतार ग्रहण कर लीला का संपादन करता है।[१] भक्तों के लिए उनकी वास्तविकी लीला एवम् विषयी जनों के लिए व्यावहारिकी लीला दृष्टि भेद से प्रतीत होती है।[२] उनके अवतार का प्रयोजन सत्पुरुषों,

---

१- रा०मा०- ७।७२(क) - भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरे तनुभूप ।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ।।

श्रीमद्भागवत- ११।३१।११- 'राजन परस्य तनु भृज्जननाप्ययेहा -
माया विडम्बनम वेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वा त्मनेदमनुविष्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिमोपरत: स आस्ते ।।

गीतावली- १।८८।४- जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को ।।

२- श्रीमद्भागवत-माहात्म्य- ३।७२

गो ब्राह्मण, भूमि , सुर ,नर, नाग भक्तगण आदि के परित्राण [१] हेतु तथा असत्पुरुषों एवम् असुरों के विनाश के लिए [२] च श्रुति सम्मत धर्म का संस्थापन [३] और अधर्म के विनाशार्थ अवतारण का विधान है। अत: दोनों मूर्धन्य साहित्यकारों के प्रणीत ग्रंथों में परमेश्वर का अवतार सिद्धान्त सादृश्यता का सूचक है। फिर भी तुलसी को श्रीमद्भागवत में जो कुछ भी विन्यास रुचिकर लगा उसे नि: संकोच अधिग्रहण किया [४] यह उनकी उदारता एवम् प्रौढ़ समन्वय वादिता की ओर संकेत करती है। विभिन्न प्रसंगों में श्रीमद्भागवत से जो शब्दार्थ ग्रहण किया उसका संकेत मात्र ही तुलसी की भक्ति को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। [५]

१- श्रीमद्भागवत -६।४।३३,१०।८८।७,
   तुलसीसाहित्य में- रा०मा०-५।४८।४, १।१२१।३दो०,रा०मा०-१।१३।२-३,
   वि०प०- ५२।७, गीतावली- १।३।२, ३।१७।६, ६।६।८,कविता०६।५८,
   रा०मा०- १।२४६।४,२।२०५,३।२०, ५।३४।४,६।७१।५,रा०मा० ७।१२।छं०१,
२- श्रीमद्भागवत- ११।५।५०, १०।५०।६, १०।७०।२७,३।३३।५,१०।५०।१०
   तुलसीसाहित्य में- रा०मा०-१।१२१,२।२५४।२, ३।२२।४,१।२०६।३
   वि०प०- ५०।८
३- श्रीमद्भागवत- १०।३२।२७।,१०।३३।३७, १०।४८।२३,
   तुलसीसाहित्य में- रा०मा०- ५।३६।२, ७।२४।१, २।५४।२, ७।२६।१,
   रा०मा०- ३।१ श्लोक-१, २।२४८, १।२१८।४,
   वि०प०- २४८।२,रा०मा०- ४।६।३,
४- रा०मा०- १।१।सो०-२ — श्रीमद्भागवत-पर श्रीधरकृत टीका मंगल श्लोक
५- रा०मा०- १।१०।२-३ — ,, १।५।५।१०-११
   रा०मा०- १।२३।२ — ,, १।२।३२
   रा०मा०- १।२३।२ — ,, ४।२१।३५
   रा०मा०- १।६६।४ — ,, १०।३३।३०

क्रमश: अगलेपृष्ठ पर देखें--

अनेक स्थलों पर उन्होंने श्रीमद् भागवत के श्लोकों के आशय तथा आलंकारिक विधान का भी अनुशरण किया है।[१] ये सार्वभौमीय सिद्धान्तों

शेष पिछले पृष्ठ की पाद्टिप्पणी देखिये :-

रा०मा०- १।७३।२	श्रीमद्भागवत-२।६।२३
,, १।७३।२	,, ६।४।५०
,, १।११२।१	,, १०।१४।२५-२८
,, १।२०१।२-४	,, १०।३६।४१-४३
,, ३।५।४-५	,, १०।२६।२५
,, ३।२६।३	,, १०।७४।३४
,, ४।१४	,, १०।२०।१६
,, ४।१५।१	,, १०।२०।६
,, ४।१५।३	,, १०।२०।८
,, ४।१६।४	,, १०।२०।३८
,, ४।१६।५	,, १०।२०।४३
,, ४।१६	,, १०।२०।४२
१- रा०मा०- ५।४१।४	श्रीमद्भागवत- ६।५।४४
,, - ५।४२।२ दोहा-	,, १०।३८।३-२३
,, ६।२३ ग	,, १०।६०।१५
,, ६८।२	,, ५।१।१४, १०।१६।१४
,, ११३।२	,, ३।६।६
वि०प० - २४६।४	श्रीमद्भागवत- १।१३।४२
दोहावली- २००	,, १०।६३।२६
रा०मा०- १।११३।१	,, २।३।२०
रा०मा०- १।११३।२	,, २।३।२२
रा०मा०- १।१२१।३ दो०	,, ८।२४।५६
रा०मा०- २।२९६।२	,, ६।१७।२२
रा०मा०- ७।११५।१	,, १०।१४।४

का अनुकरण कवि तुलसी की पुराण निष्ठा का ही परिणाम दीखता है। श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित कलियुग वर्णन का तुलसी साहित्य पर अंकित प्रभाव देखा जा सकता है ऐसा मालुम होता है कि कलियुग वर्णन की आधार पृष्ठभूमि तुलसी ने श्रीमद्भागवत से अनुकृत की हो।[1]

मानस में प्रयुक्त सत्संग महिमा, भावन्नाम महिमा एवम् भजनमहिमा तथा श्रीराम द्वारा लक्ष्मण को उपदिष्ट भक्ति योग, ये तत्वत: श्रीमद्भागवत के ही आधार पर तुलसी ने अपने काव्य में विवेचना का आधार प्रस्तुत किया है। श्रीमद्भागवत पौराणिक व्यास शैली में लिखा गया शास्त्र महाकाव्य है, और तुलसी का मानस प्रबन्ध काव्य है लेकिन ग्रन्थ में कथात्मक शैली का प्रवाह व्यासानुक्रम है। दर्शन की दृष्टि से भी यदि विचार करें तो तुलसी ने मंगल श्लोक में ही भागवत के अनुसार अद्वैत सिद्धान्त का उपस्थापन किया है।[2]

श्रीमद्भागवत की भांति मानस का प्रतिज्ञा वाक्य भी उसकी निगम संमतता की घोषणा करता है।[3] श्रीमद्भागवत पुराण की भांति रामचरित मानस की रचना भी रोचक संवादशैली में हुई है, अपेक्षानुसार सामान्य और विशिष्ट वक्ता श्रोताओं की योजना की गयी है। श्रीमद्भागवत के

१- श्रीमद्भागवत- १२।३।१-१३,१२।२।१-५, १२।३।१८-३०,
१२।३।२९-४२

तुलसीसाहित्य में- रा०मा०- ७।१०३।१-२, ७।९७(ख), ७।९८ क,७।९८(ख),
७।९९(ख)।१-४, ७।१००(क)।१-५, ७।१०१(ख)।१-५,
७।१०२(ख)।१-५, ७।१०३(ख)।१-४ ,

कवितावली- एवं विनयपत्रिका में अंतिम पद -

२- रा०मा०- १।१। श्लोक-६ श्रीमद्भागवत- १।१।१

३- रा०मा०में देखिए- सातों सोपानों के मंगल श्लोक ,

आधार पर ही रामचरित मानस में भी भक्ति एवं दर्शन के सिद्धान्तों का बहुत कुछ निरूपण मंगलाचरण[1] विभिन्न स्तुतियों[2] गीताओं के माध्यम से किया गया है । गीताएं दो प्रकार की हैं- स्वयं भगवान राम द्वारा कही गयी भागवद्गीताएं[3] और भक्तों द्वारा कही गयीं भक्त गीताएं ।[4] भगवान से ऊपर सैलों तक की व्यापक वंदना , संत ,असंत लक्षण, सम्पूर्ण प्रबन्ध और प्रबंधांशों की फलश्रुतियाँ, शकुनापशकुन, अलौकिक राम चरित आदि की वर्णन शैली पर भी श्रीमद्भागवत का अन्यतम प्रभाव है ।

१- रा०मा० - मे देखिए- सातों सोपानों के मंगलश्लोक ,

२- रा०मा०- १।१८६।१-४, १।१६२।२-४, १।२११ ।२-४, १।२३५।३ , १।२३६।२, १।२८५।१-३, ३।४।१-१२, ३।११।१-११, ३।३२।१-४, ६।११०।२-६, ६।११।१-११, ६।११३।१-६, ६।११५।१-५, ७।१३।१-६ ७।१४।१ दोहा(क), ७।३४।१ दोहा, ७।५१।१-५, ७।१०८।१-८, तथा विनयपत्रिका की स्तुतियां ।

३- रा०मा०- ३।१५।१, ३।१६, ३।३५।४, ३।३६।५, ३।३७।३, ३।३८, ३।४३।२, ३।४४, ३।४५।३, ३।४६।४, ४।११।२-३, ५।४३।४-५, ५।४४।२, ५।४८।१ दोहा, ६।२।३, ६।३।२, ६।८०।२ दोहा(क) ७।३७।३, ७।४१, ७।४३।२, ७।४६, ७।८६।१, ७।८७,

४- रा०मा०- १।११२।१, १।११६।३, २।६२।२ , २।६४।१, ३।५।२ सो०, ५।२१।२, ५।२२, ५।३८।२, ५।३६।४, ६।६।३ ,६।७।४, ६।१४।४, ६।१५, ६।२६।१, ६।३७, ७।७०।३ ,७।७२, ७।७८।२, ७।७६।२, ७।८६।३, ७।६२, ७।१११।२-३,७।११५।१, ७।१२२।१, ७।१२६।१, ७।१२७ ,

श्रीमद्भागवत में सनातन धर्मों के सभी अंगों का उल्लेख हुआ है। वे हिन्दू विचार धारा की समस्त मान्यताओं के आकर है। उनमें स्मार्त धर्म की अखिल विधाओं का सांगोपांग निरुपण करते हुए वर्ण आश्रम धर्म का मुख्य तया प्रतिपादन किया गया है। उनकी दृष्टि मानवतावादी रही है। अत: मानव धर्मों का वर्णन दोनों ग्रन्थ प्रणेताओं ने किया है। उनके काव्य एवम् पुराण में अनेकता में एकता के दर्शन अवलोकनीय है। स्मार्त पंचदेवोपासना की महत्ता स्वीकार करते हुये एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा भी कम महत्व नहीं रखती ? अत: दोनों प्रणेताओं ने समन्वय वादी विचार धारा का अनुसरण किया है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत में उपनिषद, गीता एवम् ब्रह्म सूत्र का अविकल प्रभाव है, उसी प्रकार तुलसी के दर्शन पर निगम ,उपनिषद, आगम एवम् पुराण का प्रभाव अन्यतम है। लेकिन पौराणिक मान्यता ही तुलसी का संलक्ष्य है। इसीलिए उन्होंने वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के आराध्य देवों परमात्मा का स्वरुप माना है। विष्णु शिव आदि को उसी की शक्ति विशेष के रुप में स्वीकार की है। श्रीमद्भागवत में जो सर्ग, और विसर्ग के माध्यम से सृष्टि क्रम दरसाया गया है। उसी परम सत्य को तुलसी श्रीराम को कहते हैं, तुलसी की दृष्टि में राम ही भक्त के भजनीय परमसत्य, ब्रह्म, सच्चिदानन्द और सगुण साकार भगवान हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण का मुख्य प्रतिपाद्य भगवान के अवतारों और उनकी लीला का प्रदर्शन करना भी संलक्ष्य है। तुलसी की रचनाएं श्रीमद्भागवत की इस धार्मिकता, समन्वय भावना, अवतार वादिता और भक्ति निष्ठा से आद्योपांत अनुप्राणित अत: स्पष्ट है कि तुलसीदास का रामभक्ति दर्शन सांप्रदायिक दर्शन नहीं, श्रीमद्-भागवत की प्रतिपाद्य वस्तु शब्दार्थ और शैली का इतना अधिक अनुसरण इस स्थापना का अकाट्य प्रमाण है। उनकी विचार धारा व्यासकार से मेल खाती है, उनका भक्ति-दर्शन समन्वय वादी होते हुये, श्रीमद्भागवत महापुराण के अत्यधिक निकट है।

अत: स्पष्ट है कि तुलसी साहित्य पर श्रीमद्भागवत की भक्ति का साध्य एवम् साधन दोनों रूपों का प्रभाव देखा जा सकता है। पुराण मर्मज्ञ आचार्य बलदेव उपाध्याय के स्वर में अपना मत सम्पृक्त करते हुये उपसंहार करते हैं -- " गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को प्रभावित करने वाले संस्कृत ग्रन्थों में श्रीमद्भागवत अन्यतम है। भागवत के दार्शनिक दृष्टिकोण को अपना कर गोस्वामी जी ने अपने रामायण को सर्वजन तथा सर्वलोक के लिए उपादेय तथा आवश्यक बनाया है। रामचरितमानस के दार्शनिक दृष्टिकोण के विषय में मानस मर्मज्ञ विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग अद्वैत को तथा इतर लोग विशिष्टाद्वैत को ही रामायण का प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं। मेरी दृष्टि में इस विषय में भागवत् से तुलसीदास ने अत्यधिक स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण की है। भागवत का सिद्धान्त पक्ष है अद्वैत तथा साधनापक्ष है भक्ति, और रामचरितमानस का भी यही प्रतिपाद्य है - अद्वैत से समन्वित भक्तियोग।"[१]

१- उपाध्याय, आचार्य बलदेव- पुराण विमर्श - पृष्ठ- १०६ ,

परिशिष्ट: सहायक ग्रंथ -सूची

सहायक ग्रंथ सूची

श्रीमद्भागवत महापुराण - (दो खण्डों में) : महर्षि वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन प्रणीत सं०- हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर ।

कवितावली - : गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएं गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०००

कृष्णगीतावली- : तुलसी ग्रंथावली (दूसरा खण्ड में संकलित)

जानकी मंगल- : गीताप्रेस गोरखपुर ।

तुलसी ग्रंथावली - : दूसरा खण्ड (तीसरा सं०) सं०-रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्न दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २००४,

दोहावली- : सं०-हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर- सं० २०१६ ,

पार्वतीमंगल - : गीताप्रेस- गोरखपुर ।

बरवै रामायण- : गीता प्रेस-गोरखपुर ।

रामचरितमानस- : गीताप्रेस गोरखपुर षष्ठ संस्करण-२०२५,

रामलला नहछू- : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

रामाज्ञा प्रश्न- : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

वैराग्य संदीपनी- : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

हनुमान बाहुक - : सं०-महावीरप्रसाद मालवीय, गीताप्रेस गोरखपुर सं० २०१५

अन्य प्रमुख - सहायक ग्रंथ

अध्यात्म रामायण- : संस्कृत मूल तथा मुनि लाल कृत-हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस, गोरखपुर- सं० १९८९

अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय- : डा० दीन दयाल गुप्त-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग- सं० २००४,

अपरोक्षानुभूति - : शंकराचार्य

अमरकोश - : हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला-३०चौखम्भा, संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी-१, पं० हरगोविन्द शास्त्री, सं० २०१४, ई०१९५७,

अहिर्बुध्न्यसंहिता - : वाराणसी

आप्टेकोश, (संस्कृत, इंगलिश-डिक्सनरी) तीन भागों में - : सं० पी०के०गोडे तथा सी०जी कर्वे, प्रसाद प्रकाशन, पूना- ई०१९५७,

इनसाइक्लोपीडिया आफ रैलिजन एण्ड एथिक्स-वाल्यूम-२ : जेम्सहेस्टिंग्स एडिन बर्ग एण्ड टी०टी क्लार्क न्यूयार्क।

इण्डियन फिलासफी- (इण्डियन एडीसन) : सर पल्ली राधाकृष्णन जार्ज एलेन एण्ड अन्विन लिमिटेड लन्दन, १९४० ई०

उज्ज्वल नील मणि- (द्वितीय संस्करण) : रूपगोस्वामी सं० म०म०दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री निर्णय सागरप्रेस, बम्बई, १९३२ ई०

उन्नीसवीं शती का राममक्ति--साहित्य : डा० भगवती प्रसाद सिंह

ऐतरेय उपनिषद - : आचार्य श्रीराम शर्मा,

कैन उपनिषद- : श्रीराम शर्मा आचार्य ,

कल्याण वार्षिकांक- :(गीतातत्वांक, भक्ति अंक, योगांक, रामायणांक, मानसांक, संतांक, राम बचनामृतांक, कृष्णावचनामृतांक, भागवतांक, साधनांक, उपासनांक, भगवत्तत्वांक) गीताप्रेस, गोरखपुर ।

गांधी जी की सूक्तियां- : सं० ठाकुर राजबहादुर सिंह , हिन्दी पाकेट बुक्स प्रा० लि०, जी०टी०रोड,शाहदरा,दिल्ली- ३२

गीता- शाङ्करभाष्य : गीताप्रेस, गोरखपुर- सं० २००८

गीता पर ज्ञानेश्वरी (हिन्दी- - ज्ञानेश्वरी) : ज्ञानेश्वर, अनुवादक- रामचन्द्र वर्मा , हिन्दी साहित्य कुटीर,बनारस,सं०२०१०,

गीता रहस्य एवं कर्मयोगशास्त्र- : बालगंगाधर तिलक अनुवादक माधवराव प०- जयन्त श्रीधर तिलक ५६८ नारायण पे० पूना,१९५६ ई०

गोस्वामी तुलसीदास - : पं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा,काशी- सं० २००८

गोस्वामी तुलसीदास- : डा०श्यामसुन्दर दास और पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ,हिन्दुस्तानी एकेडेमी,उ०प्र० इलाहाबाद, १९५२ ई०

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय- - भावना : व्योहार राजेन्द्र सिंह नागरी प्रचारिणी सभा,काशी

गोस्वामी तुलसीदास(व्यक्तित्व, -दर्शन,साहित्य) : रामदत्त भारद्वाज,भारतीय साहित्य मन्दिर ,दिल्ली, १९६२ ई० ।

गोस्वामी तुलसीदास- : शिवनन्दन सहाय,
बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, १९६१ ई०

गोस्वामी तुलसीदास संबंधी समीक्षाओं और शोधों का अनुशीलन, : वीरेन्द्र पाल श्रीवास्तव,
स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद-प्रथम संस्करण सन् १९७४,

गोस्वामी तुलसीदास- : डा० माताप्रसाद गुप्त,
हिन्दीपरिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय- प्रयाग, सन् १९७२,

चिन्तामणि- : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, १९५३ ई०

तत्वत्रय (भाष्योउपबृंहित)- : लोकाचार्य, चौखम्भा संस्कृत सीरीज
बनारस, सन् १९३८ ई०

तुलसीदास-(एक समालोचनात्मक-अध्ययन) : डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद,
प्रकाशन प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग-१९७२ई०

तुलसी-काव्य-मीमांसा- : डा० उदयभानुसिंह,
छात्र संस्करण, दिल्ली-७, सन् १९६६ ई०

तुलसी की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन : श्रीधरसिंह, प्रथम संस्करण,
वाराणसी, १९६८ ई०

तुलसी की विचार धारा - : डा० नारायण प्रसाद बाजपेयी,
प्रथम संस्करण, लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद- १९७० ई०

तुलसी दर्शन-मीमांसा - : डा० उदयभानुसिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ, सं० २०१८

'तुलसी' - : सं० उदयभानुसिंह,
राधा कृष्ण- प्रकाशन, दिल्ली ।

तुलसी और उनका काव्य- : रामनरेश त्रिपाठी, तृतीय संस्करण,
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ।
अगस्त १६२८ ई० ।

तुलसी चिन्तन और कला- : सं० इन्द्रनाथ मदान,दूसरा संस्करण
दिल्ली -१६६५ ई० ।

तुलसी:जीवनी और विचारधारा- : डा०राजाराम रस्तोगी ,
अनुसंधान प्रकाशन कानपुर,सं० २०२०

तुलसी दर्शन- : डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

तुलसी रसायन : डा०भगीरथ मिश्र, प्रथम संस्करण
साहित्य भवन लिमिटेड,इलाहाबाद १६५४ई०

तुलसी का घर द्वार- : श्री रामदत्त भारद्वाज- बम्बई- २००६

तुलसी के चार दल - : श्री सद्गुरु शरण अवस्थी,
इण्डियन प्रेस, सन् १६३५ ई०।

तुलसी चर्चा- : रामदत्त भारद्वाज तथा भद्रदत्त शर्मा ,
लक्ष्मीप्रेस कासगंज- सं० २००५ ,

दर्शन का प्रयोजन - : डा० भगवानदास,तृतीय संस्करण ,
ज्ञान मण्डल लिमिटेड,बनारस-सं० २०१०

दश श्लोकी- : श्रीमच्छंकराचार्य

दोहावली पर सिद्धांत तिलक- : श्री महात्मा कान्त शरण जी

नारदभक्ति सूत्र(प्रेमदर्शन) : सं०-हनुमानप्रसाद पोद्दार,बारहवां संस्करण
गीताप्रेस,गोरखपुर-सं० २०२४,

नारद पांच रात्र- : सं० रामकुमार राय ,

निरुक्तम् मूल निघण्टु सहितम- : संस्कृत हिन्दी टीका द्वयोपेतम
प्र०-मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास- नई दिल्ली-१९६४

पद्म् पुराण-(प्रथम एवं द्वितीयभाग): आनन्द आश्रम ग्रंथावली ,पूना १९८३,१९८४

प्रमेय रत्नार्णव - : बालकृष्ण भट्ट

पातन्जल योगदर्शन- : गीताप्रेस,गोरखपुर

पुराण विषय समनुक्रमणिका- : यशपाल टण्डन
विश्वेवरानन्द,वैदिक- शोध संस्थान,
साधू आश्रम,होश्यारपुर- १९५२ ई०

पुराण-विमर्श- : आचार्य बल्देव उपाध्याय ,
चौखम्भा विद्या भवन,वाराणसी ।

पुराण कथा कौमिदी- : रघुनाथ दत्त `बन्धु`-
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

पुराणानुशीलन- : लेखक- म०म० गिरिधर शर्मा ,
प्रकाशक -बिहार राष्ट्र भाषा परिषद
पटना - १९७० ई०

पुराण धर्म- : बाबूराम शास्त्री-(कानपुर) ।

पुराण तत्व मीमांसा- : श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी(वाराणसी १९६१)

पौराणिक कोश- : सं० राणा प्रसाद शर्मा,प्रथम संस्करण
ज्ञान मण्डल,लिमिटेड ,वाराणसी-सं०२०२८

भक्तमाल- : नाभादास जी टीकाकार रुकला जी

भक्ति सिद्धान्त- : डा० आशा गुप्त,लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद ।

भक्ति का विकास- : डा०मुंशीराम शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन,
वाराणसी- १९५८

भक्ति आन्दोलन का अध्ययन- : डा० रतिभानुसिंह नाहर, किताब महल, इलाहाबाद ।

भक्ति तरंगिणी- : केशव देव शर्मा, साधना सदन- १६४१ ई०

भक्ति चन्द्रिका (शाण्डिल्य भक्ति सूत्र पर) भाग-१ : नारायण तीर्थ, सं०- गोपनीनाथ कविराज, सरस्वती भवन, बनारस- १६२४ ई०

भाग-२ : सं० मंगलदेव शास्त्री, प्र० सुपरिन्टेण्डेन्ट प्रिन्टिंग प्रेस एण्ड स्टेशनरी, गवर्नमेण्ट, संस्कृत प्रेस, इलाहाबाद- १६३८ ई० ।

भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना- : डा० नारायण प्रसाद बाजपेयी प्र०- राजपब्लिशिंग हाउस, सीलमपुर, पूर्व दिल्ली ।

भक्ति आन्दोलन और साहित्य- : डा० एम०जार्ज, प्रगति प्रकाशन आगरा-३

भक्ति साहित्य में मधुरोपासना- : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी- २०१८ प्रयाग,

भक्ति रहस्य- : गोपीनाथ कविराज- कल्याण का हिन्दू संस्कृति अंक, पृ०- ४३६- ४४४,

भक्ति सुधा - : स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी महाराज) राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान- नेता जी सुभाषचन्द्र रोड, कलकत्ता ।

भक्तियोग- : स्वामी विवेकानन्द प्र०- सन्मार्ग प्रकाशन, लाजपत राय मार्केट दिल्ली ।

भक्ति रहस्य- : स्वामी विवेकानन्द प्र०- प्रभात प्रकाशन दिल्ली। सं०-राजेश दीक्षित, प्रथमसंस्करण-१६५६ ई०।

भक्तिविलास- : महाराज रघुराजसिंह, भारत भ्राता प्रेस, रीवा- १८६१ ई०,

भगवद्गीता- : राधाकृष्णन प्रथमसंस्करण, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, नवम्बर- १६६२ ई०

भागवत दर्शन- : डा० हरवंश लाल शर्मा

भागवतसम्प्रदाय- : आचार्य बल्देव उपाध्याय प्रथम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं०- २०१० ।

(नोट:- भागवत सम्प्रदाय का - संशोधित एवम् परिवर्धित रूपवैष्णव संप्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है)।

भारतीय दर्शन- : आचार्य बल्देव उपाध्याय, पंचम संस्करण शारदा मन्दिर, वाराणसी, १६५७ ई० ।

भारतीय दर्शन सार- : आचार्य बल्देव उपाध्याय, प्र० सस्ता साहित्य मण्डल -दिल्ली ।

मनीषी की लोक यात्रा- : सं० भगवतीप्रसादसिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन चौक वाराणसी।

मध्ययुगीन वैष्णव-संस्कृति और-तुलसीदास : रामरतन भटनागर, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली (१६६२ ई०) ।

मणि रत्न माला-(प्रश्नोत्तरी) -: श्रीमत् शंकराचार्यकृत, प०-गीताप्रेस, गोरखपुर

मानसदर्शन- : डा० श्रीकृष्णलाल काशी (सं०-२००६) वितरक-आनन्दपुस्तक भवन, बनारस- कैण्ट ।

मानस पीयूष- : बाबा अन्जनीनन्दन शरण जी,
मानस-पीयूष- कार्यालय, गायघाट अयोध्या।

मध्यकालीन-राम काव्य धारा- पर कृष्ण भावना का प्रभाव : तपेश्वरनाथ प्रसाद चौखम्भा ओरियन्तालिया वाराणसी।

मानस-मन्थन- : सं० डा० बल्देवप्रसाद मिश्र, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ - १६३६ ई०

मानस माधुरी- : डा० बल्देवप्रसाद मिश्र साहित्य रत्न भण्डार आगरा।

मानस में रामकथा- : डा० बल्देव प्रसाद मिश्र, वंगीय हिन्दी परिषद कलकत्ता, १६५२ ई०

मूल गोसाईं चरित- : बेनी माधवदास कृत गीताप्रेस गोरखपुर (सन् १६१६)

रामकथा: (उत्पत्ति और विकास)- : कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद, प्रयाग, सन् १६६२ ई०।

रामचरितमानस में भक्ति- : डा० सत्यनारायण शर्मा, प्रथमसंस्करण, सरस्वतीपुस्तक सदन आगरा, सं० २०२६।

रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव - : बदरीनारायण श्रीवास्तव, प्रथम संस्करण हिन्दी परिषद प्रयाग वि० वि० सन् १६५७ ई०

रामायण मीमांसा- : स्वामी करपात्री जी महाराज
प्र०- धर्मसंघ शिक्षा मण्डल दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, सन् १६७८ ई०

रामचरित मानस में पुराख्यानतत्व- : डा० चन्द्रशेखर द्विवेदी, प्र०-नन्दन प्रकाशन मोतीकटरा, लखनऊ- ३,

रामचरितमानस पर विजयाटीका-: विजयानन्द त्रिपाठी, प्र०-मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपरा, बनारस-१९५५ ई०

'रामचरितमानस' पर सिद्धान्त -तिलक, (प्रथमसंस्करण) : महात्मा कान्त शरण जी, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, और पटना ।

रामभक्ति में रसिक संप्रदाय- : डा० भगवतीप्रसाद सिंह, अवध साहित्य मंदिर बलरामपुर, सं० २०१४ ,

रामभक्ति शाखा- : रामनिरंजन पाण्डेय, नव हिन्द पब्लिकेशन्स, बेगम बाजार, हैदराबाद, १९६० ई०

वाङ्मयार्णव: - : म०म० राम वतार शर्मा पाण्डेय, ज्ञान मण्डल वाराणसी, सं० २०२४ ,

विनयपत्रिका पर हरि तोषिणी - टीका- : वियोगीहरि- प्र० साहित्य सेवा सदन बनारस, सं० २००७

विनयपत्रिका और तुलसीदास- : नरदेव पाण्डेय, सन् १९५८ ई०

विनयपत्रिका दर्शन- : तपेश कुमार चतुर्वेदी । द्वितीय संस्करण- १९५७ ई०

विनयपत्रिका विवेचन- : प्रतापसिंह चौहान, प्रथम संस्करण प्रद्युम्न प्रकाशन, कानपुर, सन् १९५८ ई०

विनयपत्रिकासमीक्षा- : दान बहादुर पाठक

विवेक चूड़ामणि- : आद्य शंकराचार्य, सं०-मुनिलाल-सोलहवां संस्करण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१४

विनय पीयूष- : बाबा अञ्जनीनन्द शरण जी-प्र० रामचन्द्रदास बड़ौदा ।

वैष्णव भक्ति आंदोलन का -अध्ययन- : डा० मलिक मोहम्मद पहला संस्करण, राज पाल एण्ड संस्करण- १९७१

वैष्णव साधना और सिद्धांत- : डा० भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव'
वैष्णिज्म शैविज्य एण्ड माइनर : आर०सी० भण्डारकर-पूना सं० १६६०
-सैक्टस -
वैष्णव धर्म- :परशुराम चतुर्वेदी- विवेक प्रकाशन इलाहाबाद।
संस्कृत साहित्य का इतिहास- : आचार्य बलदेव उपाध्याय,प्र० शारदा मन्दिर काशी।

साकेत- : मैथिलीशरण गुप्त
सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह - : श्रीमत् आद्य शंकराचार्य
साहित्यिक निबंध - : डा० गणपति चन्द्र गुप्त
साहित्य सन्देश - : साहित्य रत्न भण्डार, आगरा से प्रकाशित, भाग-१८,,अंक-६,सन् १६५६ ई० ।

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ- : सं० द्वारिकाप्रसाद शर्मा,तथा तारिणीश शर्मा प्र०-रामनरायण लाल, प्रयाग, १६५७ ई०

शाण्डिल्यभक्तिसूत्र - : गीताप्रेस गोरखपुर ।
श्रीमद् भक्तिरसायन- : मधुसूदन सरस्वती, अच्युत ग्रंथ माला, कार्यालय, काशी,प्र० सं०- सन् १६८४ ई०

श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु- : श्री रूपगोस्वामी,अच्युत ग्रंथ माला, कार्यालय- काशी, सन् १६८८ ई०

षट सन्दर्भ- : जीव गोस्वामी-दे०भागवत संदर्भ (वाराणसी)
श्रीमद्भागवत रहस्य- : स्वामी अखंडानन्द सरस्वती सत्साहित्य प्रकाशन, बम्बई ।

सरस्वती पत्रिका- : जिल्द ११, भाग १,जिल्द १३,भाग २, जिल्द १६-२०,जिल्द २६ भाग-२ ,
स्कन्दपुराण- : व्यास,नवलकिशोर प्रेस लखनऊ।
हिन्दी साहित्य का इतिहास- : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,काशी नागरी प्रचारिणी सभा- वाराणसी।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक -इतिहास- : डा० रामकुमार वर्मा ।
रामनरायन लाल, प्रयाग सन् १९४८

हिन्दी साहित्य का इतिहास- : डा० नगेन्द्र , नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली ।

हिन्दी विश्व कोश- : नगेन्द्र नाथ वसु,प्राच्य विद्या महार्णव
९ विश्व कोट लेन,बागबाजार कलकत्ता ।

हिन्दी साहित्य की दार्शनिक -पृष्ठभूमि : विश्वम्भर उपाध्याय,साहित्य रत्न भंडार
आगरा ।

हिन्दी साहित्य की भूमिका - : हजारी प्रसाद द्विवेदी,
प्र० हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय,
बम्बई- सन् १९४० ई०

हलायुध कोश- : सं०- जय शंकर जोशी,सरस्वती भवन,
वाराणसी- सं०- १८७६

ज्ञानी गुरु - : स्वामी निगमानन्द परमहंस,
प्र०-स्वामी पूर्णानन्द स्वामी
आसाम बंगीय सारस्वत म० पो० हाली -
शहर ,जिला २४,परगना पश्चिमी-बंगाल ।